# योगदर्शनम्

# YOGADARSANAM

of

**MAHARSHI PATANJALI**

with the Swaminarayana Bhashya and
Commentary Kiranavali

By

Sri Krishnavallavacharya Svaminarayana
and also the Vritti Rajamartanda of Bhojadeva

❃

**Vyas Prakashan**

VARANASI

302

# YOGADARSANAM

of

MAHARSHI PATANJALI

with the Swaminarayana Bhashya and

Commentary Kiranavali

By

Sri Krishnavallabhacharya Svaminarayana

and also the Vritti Rajamartanda of Bhojadeva

Vyas Prakashan

VARANASI

Publisher :
VYAS PRAKASHAN
D. 16/13, Manmandir
Varanasi-221001 ( India )

•

First Edition 1939

Second Edition 1991

•

PRICE : Rs. 200/-

•

Printed by :
ANAND KANAN PRESS
D. 14/65, Tedineem
Varanasi.

* श्रीमत्पतञ्जलिमहर्षिप्रणीतम् *

# योगदर्शनम्

श्रीकृष्णवल्लभाचार्य्यस्वामिनारायणभाष्यसहितं

'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' विरचित 'किरण'—

## विभूषितया

श्रीभोजदेवविरचित 'राजमार्तण्डाऽख्यवृत्त्या'

समन्वितश्च ।

*

व्यास प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक :
व्यासप्रकाशन
डी. १६/१३ मानमन्दिर
वाराणसी

•

प्रथम संस्करण १९३९
द्वितीय संस्करण ११९१

•

मूल्य : २००.००

•

मुद्रक :
आनन्द कानन प्रेस
डी. १४/६५ टेढ़ीनीम
वाराणसी

# भाष्यकाराणां-वक्तव्यम्

दार्शनिकदिव्यसम्वित्सूरिसंघप्रसूतनिःश्रेयसं विभिन्नवित्तिविषयभावं भजमानं नैकरूपैरुपाम्यन्त बहुरूपाण्यनुभवद्भिः शाब्दिकन्यायाध्यात्मोद्भूत-विप्रतिपत्तिकैस्तत्त्वभिरुचिकैः, तत्र सर्वत्र समनुगतस्य प्रतिकूलवेदनाविषयस्य सजातीयाऽन्तराऽनाविर्भावाऽसमानसामयिकया अतिशयभाविन्या विनिवृत्ते-स्तत्त्वं चेतनस्य स्वरूपप्रतिष्ठितत्वस्य वा तत्त्वमित्यावेदयितुं तत्त्वविवेकस्य बहुतन्त्रसिद्धस्य साक्षात्तत्सम्पादकत्वमित्यविरोधयन्निहाऽप्यसीमेश्वरभावाद्या-पादकसिद्धिसमवायप्रदर्शनेन दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यमभिव्यञ्जयन् कारु-णिको भगवान् पतञ्जलिः शेषोऽप्यशेषतया यथापेक्षं स्वल्पपरिकरं स्वयोगकरं योगं सूत्रितवान्, भाषितवांश्च तत्समानावतारो व्यासोऽप्य-व्यासेनैनम्, समपेक्ष्यते चाऽनेकप्रस्थानतत्त्वगर्भत्वादयं दार्शनिकयावद्भू-मिभवं भाष्यमित्यालोच्याऽस्माभिरपि वाराणस्यां सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-पदवाक्य-प्रमाणप्रमेयपारावारपारीणास्मदीयबहुविधदर्शनशास्त्रीयविद्यागुरु — श्री-मन्माध्वसम्प्रदायाचार्य्य-दार्शनिकसार्वभौम—साहित्यदर्शनाद्याचार्य्य—तर्क-रत्न—न्यायरत्न—श्री १०८ गोस्वामि'दामोदर'शास्त्रिचरणानां,—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-नैयायिकचक्रसम्राड्विद्वद्वृन्दाग्रगण्य - तर्कतीर्थ - न्यायाचार्य्य-पूज्य-पाद—श्री १०८ 'वामाचरणभट्टाचार्य'गुरुचरणानां च कृपालेशात् समधि-गतविविधविषयपरिबृंहितं 'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य्यस्वामिनारायणभाष्यं' संदृब्धम्, तदत्र पदार्थतत्त्वा-ऽऽत्मवाद-बन्धवाद-प्रमाणवाद-भक्तिप्रकार-ब्रह्म-परब्रह्मभेदाऽद्वैतादिमतनिरास-शरीरचक्र-साकारवाद-ख्यातिवाद-यावदासन-धौतिबस्त्यादिबहुविधक्रियामुद्रा-जीवेश्वरब्रह्मलोकसंयम-मोक्षादयः सविस्तरं निरूपिताः, तदन्यानि च नाऽन्तरीयकतत्त्वान्यपि स्पष्टीकृतानि मूलतत्त्वानि च विस्तरशो निरूपितानि। सर्वशास्त्रप्रतिपाद्यं परब्रह्म परमात्मानं हि वयं 'श्रीस्वामिनारायण'नाम्ना समुपास्महे इति तन्नाम्ना तत्र तदुपासना-ऽभीष्टत्वादेतद्दर्शनाऽविरुद्धत्वाच्च क्वचित् किञ्चिद्वर्णिता। परीक्षानियत-श्रीभोजवृत्तेः क्वचित्काठिन्यात् तत्स्पष्टीकरणपूर्वकं 'किरणम्' अपि विर-चितम्। तदत्र क्वचिदनवधानादिना संजातस्खलनानि सुसंस्कृत्य परिष्कृत्य च समुल्लसयन्तु कमनीयां मदीयां कृतिमिमां गुणगणविवेकिनो विद्वांस इत्य-भ्यर्थयते—

पण्डित'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्य्य'स्वामिनारायणः।

# ❀ भाष्यविषयसूची ❀


| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| मङ्गलम् | १ | १ |
| मोक्षस्वरूपम् | २ | ४ |
| योगपरम्परा | ३ | ६ |
| साधनचतुष्टयस्य मोक्षप्रयोजकत्वम् | ,, | ११ |
| जीवन्मुक्तेर्मोक्षे द्वारत्वम् | ४ | १२ |
| अवैदिकत्वशंकासमाधाने | ५ | २ |
| अन्यशास्त्रागतार्थत्वशंकासमाधाने | ,, | ९ |
| प्रथमसूत्रेऽथशब्दार्थः | ६ | २ |
| शास्त्रत्वम् | ,, | १८ |
| अनुबन्धचतुष्टयम् | ,, | २५ |
| षड्विंशतिपदार्थाः | ७ | ४ |
| त्रयोदशकरणदेवताः | ९ | १८ |
| अन्याऽभिमतपदार्थान्तर्भावः | १० | १४ |
| पदार्थेषु प्रस्थानान्तरम् | ११ | १४ |
| परमपुरुषार्थः | १२ | १८ |
| सांसिद्धिकत्वौपाधिकत्वे | १३ | २ |
| ध्वंसप्रागभावप्रतीतिनिर्वाहः | ,, | १६ |
| बुद्धिधर्माणामात्मन्युपसंक्रान्तिः | ,, | २५ |
| दुःखत्रयनिरूपणम् | १४ | ११ |
| प्रमाणार्थश्चतुर्विधः | १५ | १ |
| द्वितीयसूत्रे योगनिरूपणम् | १५ | १३ |
| तत्त्वज्ञानस्वरूपम् | १६ | ८ |
| परमयोगत्वम् | ,, | २७ |
| चित्तस्य पञ्च भूमिकाः | १७ | १ |
| अपरवैराग्यस्य त्रैविध्यम् | ,, | २४ |
| अपरयोगस्य चातुर्विध्यम् | १८ | ४ |
| परवैराग्यस्वरूपम् | १९ | १ |
| चित्तभूमिका-कोष्टकम् | २० | १ |
| योगसामान्यलक्षणम् | २१ | ७ |
| तृतीयसूत्रे द्रष्टुः स्वरूपम् | ,, | २६ |
| आत्मनाशित्वादिनिरूपणम् | २२ | ५ |
| आत्मनोऽकर्तृत्वम् | २४ | २ |
| आत्मनः प्रकाशत्वे वैशेषिकमतम् | २४ | २३ |
| सुषुप्त्यादावस्वायोगः | २५ | ९ |
| आत्मनः परिमाणे आर्हतमतम् | २५ | २१ |
| आत्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणत्वे मतान्तरं | २६ | १९ |
| अणुपरिमाणत्वे वेदान्तिमतम् | ,, | २१ |
| आत्मनि चार्वाकमतम् | २७ | १४ |
| चार्वाकमतखण्डनम् | २९ | ३ |
| इन्द्रियात्मवादिमतम् | ३० | २७ |
| इन्द्रियात्मवादिमतखण्डनम् | ३१ | ७ |
| मनआत्मवादिमतम् | ३१ | २८ |
| तन्मतखण्डनम् | ३२ | ३ |
| प्राणात्मवादिमतम् | ३३ | १ |
| क्षणिकविज्ञानात्मवादिमतम् | ,, | २४ |
| तन्मतखण्डनम् | ३४ | २३ |
| नित्यविज्ञानात्मवादिमतम् | ३५ | ८ |
| तन्मतखण्डनम् | ,, | २० |
| आत्मनि शुद्धाद्वैतवादिमतम् | ३७ | १८ |
| आत्मनः स्वरूपे अद्वैतमतम् | ३८ | १५ |
| तत्र निम्बार्कादिमतानि | ३९ | १ |
| आत्मनोऽनेकत्वम् | ,, | १२ |
| आत्मन एकत्वे वेदान्तिमतम् | ,, | १७ |
| तन्मतखण्डनम् | ४० | ५ |
| प्रतिबिम्बमतं तत्खण्डनं च | ४२ | १२ |
| जीवात्मलक्षणम् | ,, | २० |
| चतुर्थसूत्रे वृत्तिसारूप्यव्याख्या | ४४ | ४ |
| आत्मनः सुखादिमत्त्वे वैशेषिकमतं तत्खण्डनं च | ,, | २१ |
| शुद्धात्मप्रतिबिम्बशंकासमाधाने | ४५ | ६ |
| प्रतिबिम्बे तान्त्रिकमतम् | ४६ | १९ |
| योगमते बन्धस्वरूपम् | ४७ | १५ |
| क्षणिकविज्ञानवादिमते बन्धः, | ४८ | १ |
| कालनिरूपितबन्धवादिमतम् | ५० | १२ |
| दिगुपाधिकबन्धवादिमतम् | ,, | २२ |
| मीमांसकमते बन्धः | ,, | २७ |
| चार्वाकमते बन्धः | ५१ | १७ |
| आर्हतमते बन्धः | ५२ | ७ |
| अद्वैतवेदान्तिमते बन्धः | ,, | १९ |
| शुद्धाद्वैतमते बन्धः | ५४ | १२ |
| माध्वमते बन्धः | ,, | २९ |
| विशिष्टाद्वैतमते बन्धः | ५५ | ५ |
| तत्र शैवादिमतानि | ,, | २५ |
| वृत्तीनां क्लिष्टाऽक्लिष्टत्वे | ५६ | ७ |
| वृत्तीनामुद्देशः | ५७ | २ |
| प्रमाणवृत्तिनिरूपणम् | ,, | १५ |
| प्रमायां मतान्तरं तत्खण्डनं च | ५८ | १ |
| प्रमाणसामान्यलक्षणम् | ,, | २७ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम् | ५९ | १९ |
| सन्निकर्षाः | ,, | २९ |
| अनुमानसामान्यलक्षणम् | ६० | ३२ |
| कारणत्रैविध्यम् | ६१ | १४ |
| अनुमानत्रैविध्यम् | ६१ | २० |
| अवयवाः | ,, | २६ |
| अनुमानत्रैविध्ये मतान्तरम् | ६२ | १ |
| अनुमानद्वैविध्ये मतान्तरम् | ,, | २२ |
| असद्धेतवः | ६३ | १ |
| प्रकृतिविशेषकानुमानादि | ६४ | २० |
| शब्दप्रमाणलक्षणम् | ६५ | १६ |
| शक्तिनिरूपणम् | ,, | ३० |
| लक्षणानिरूपणम् | ६६ | १ |
| पदचातुर्विध्यम् | ,, | १६ |
| शाब्दबोधे कारणानि | ,, | २३ |
| शाब्दस्यानुमितित्वे वैशेषिकमतम् | ६७ | ३ |
| तत्र काणादमतम् | ,, | २३ |
| उपमानस्य प्रमाणान्तरतानिरासः | ६८ | ७ |
| अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरतानिरासः | ,, | २६ |
| अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरतानिरासः | ६९ | १८ |
| सम्भवस्य प्रमाणान्तरतानिरासः | ७० | ११ |
| ऐतिह्यस्य प्रमाणान्तरतानिरासः | ,, | १६ |
| चेष्टायाः प्रमाणान्तरतानिरासः | ,, | २० |
| प्रमाणैः पदार्थानां सिद्धिः | ,, | २५ |
| विपर्ययनिरूपणम् | ७२ | २८ |
| भ्रमसंशययोर्विपर्ययत्वम् | ७३ | १४ |
| पञ्चपर्वाऽविद्यानिरूपणम् | ,, | १७ |
| विकल्पनिरूपणम् | ७४ | १८ |
| विकल्पलक्षणम् | ७५ | १० |
| निद्रानिरूपणम् | ७६ | ७ |
| सुषुप्तौ मतान्तरनिरासः | ७७ | ११ |
| स्मृतिनिरूपणम् | ,, | ३१ |
| प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतित्वे मतान्तरम् | ७८ | १४ |
| स्मृतेर्द्वैविध्यम् | ,, | २९ |
| तत्र मतान्तरम् | ,, | ३१ |
| वृत्तिनिरोधप्रकारः | ७९ | २७ |
| अभ्यासनिरूपणम् | ८० | १३ |
| अभ्यासदार्ढ्यरीतिः | ८१ | २ |
| वशीकारवैतृष्ण्यम् | ८२ | ५ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| अपरवैराग्यभेदाः | ,, | १३ |
| विदेहमुक्तिः | ८३ | ९ |
| ईश्वरकोटयः | ,, | १८ |
| परवैराग्यलक्षणफले | ८४ | ८ |
| सम्प्रज्ञातचातुर्विध्यम् | ८५ | १ |
| असम्प्रज्ञातनिरूपणम् | ,, | २५ |
| असम्प्रज्ञातस्य भवकारणकत्वम् | ८६ | ११ |
| असम्प्रज्ञातस्योपायकारणकत्वम् | ८७ | ४ |
| योगिभेदात् समाधितारतम्यम् | ,, | ३१ |
| ईश्वरप्रणिधानव्याख्या | ८९ | २ |
| प्रेमभक्तित्वम् | ,, | १७ |
| श्रवणभक्तिः | ,, | २७ |
| कीर्तनभक्तिः | ९० | २३ |
| स्मरणभक्तिः | ९१ | १२ |
| पादसेवनभक्तिः | ,, | २७ |
| अर्चनभक्तिः | ९३ | २ |
| वन्दनभक्तिः | ,, | १७ |
| दास्यभक्तिः | ,, | २८ |
| सख्यभक्तिः | ९४ | १२ |
| आत्मनिवेदनम् | ,, | १९ |
| परमेश्वरलक्षणम् | ९६ | १५ |
| ब्रह्म-परमात्मभेदः | ९७ | १७ |
| परमात्मनि प्रमाणानि | ९९ | १ |
| रुद्रस्य परमात्मत्वे पूर्वपक्षः | १०० | १५ |
| तत्रोत्तरपक्षः | १०१ | २ |
| अद्वैतमतेन जीवेश्वरयोरैक्यम् | १०७ | ११ |
| तत्र श्रुतयः | ,, | १८ |
| तत्र स्मृतयः | १० | ५ |
| तत्र सूत्राणि | ,, | २७ |
| 'द्वा सुपर्णा' इति श्रुतेरन्तःकरण-जीवपरत्वम् | १०८ | १ |
| निरस्तनिखिलभेदं ब्रह्मेत्यद्वैतिमतनिरासः | १०९ | २५ |
| समानाधिकरणशब्दानामखण्डार्थत्वाऽनुपपत्तिः | ११० | २३ |
| सगुणनिर्गुणवाक्यानां विशेष्यमात्रे ब्रह्मणि तात्पर्याऽनुपपत्तिः | ११२ | ६ |
| समानाधिकरणवाक्यानां विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबोधकत्वमण्डनम् | ११३ | ५ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| ब्रह्मणः प्रतिबिम्बाऽनुपपत्तिः | ११४ | १८ |
| ब्रह्मणोऽज्ञानपराभवाऽनुपपत्तिः | ११५ | १२ |
| भेदप्रतिक्षेपकश्रुतीनां योगमते-समन्वयः | ११६ | १२ |
| 'तत्त्वमसी'त्यादौ सामानाधिकरण्यतयाऽन्वयबोधसंगतिः | ११७ | २४ |
| स्मृतीनांभेदाऽविरोधेनाऽर्थपरत्वम् | ११९ | ६ |
| सूत्राणामपिभेदाऽविरोधेनाऽऽशयः | १२१ | ४ |
| 'द्वा सुपर्णे'तिश्रुतेरन्तःकरणजीव-परत्वनिरासः | १२२ | १९ |
| भेदे न्यायमतम् | १२३ | २८ |
| भेदाऽभेदमतनिरासः | १२४ | ३० |
| परमात्मनः सर्वज्ञत्वम् | १२५ | ८ |
| सर्वज्ञत्वादौ प्रमाणवचनानि | १२६ | १५ |
| योगमतेन सृष्टिप्रक्रिया | १२७ | १५ |
| वेदादीनांपरमेश्वरमूलत्वात्प्रामाण्यम् | १२८ | ६ |
| चतुर्विधप्रलयकालसंख्या | १२९ | १७ |
| प्रणवस्य परमेश्वरवाचकता | १३० | २१ |
| प्रणवजपादिप्रदर्शनम् | १३१ | १९ |
| प्रणवजपादिफलम् | १३२ | २९ |
| अन्तरायनिरूपणम् | १३३ | १८ |
| विक्षेपसहभुवां निरूपणम् | १३४ | ७ |
| विक्षेपादिप्रतिषेधोपायप्रदर्शनम् | ,, | २५ |
| चित्तक्षणिकतावादिमतम् | ,, | २८ |
| तस्य खण्डनम् | १३५ | ६ |
| मैत्र्यादीनां चित्तप्रसादसाधनता | १३६ | ८ |
| प्राणनिरोधादेश्चित्तप्रसादसाधनता | ,, | २३ |
| विषयवत्याः प्रवृत्तेश्चित्तस्थि-तिसाधनता | १३७ | ११ |
| नेत्रादौ सूर्यादिध्यानस्य चित्तप्रसाद-द्वारा परमब्रह्मप्रापकत्वम् | १३८ | १ |
| विशोकाया ज्योतिष्मत्याः प्रवृत्तेश्चित्तप्रसाद-साधनता, बुद्धिसाक्षात्कारक्रमश्च | १३९ | २८ |
| हृदयपुण्डरीकादिकानि | १४० | १ |
| वीतरागविषयपरचित्तालम्बना-देश्चित्तप्रसादसाधनता | १४१ | १३ |
| यथाभिमतवस्तुध्यानस्य-चित्तैकाग्र्यसाधनता | १४२ | २३ |
| शरीरस्थचक्राणि | १४३ | २ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| स्थिरचित्तस्य फलम् | १४४ | १२ |
| स्थिरचित्तस्य गृहीत्रादौ परिणामः | १४५ | २ |
| सवितर्कादिसम्प्रज्ञात-समाधिनिरूपणम् | ,, | २१ |
| निर्वितर्कादिसम्प्रज्ञातसमा-धिनिरूपणम् | १४६ | २१ |
| परमाणुपुञ्जवादिबौद्धस्य शंका | १४७ | ८ |
| तत्समाधानम् | ,, | १२ |
| सविचारनिर्विचारसम्प्रज्ञात-निरूपणम् | १४८ | २४ |
| विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोगस्य-सूक्ष्मविषयकत्वप्रदर्शनम् | १५० | २२ |
| यावतां पदार्थानां साकारत्वे युक्तयः | १५१ | २२ |
| सबीजसम्प्रज्ञातसमाधिपरिचयः | १५५ | १३ |
| तस्य षड्विधत्वम् | ,, | २३ |
| निर्विचाराया अन्याभ्यो विशेषः | १५६ | ८ |
| ऋतम्भरा प्रज्ञा | ,, | १९ |
| आत्मविषयकप्रज्ञा | १५७ | २ |
| ऋतम्भराफलम् | ,, | २१ |
| निर्बीजाऽसम्प्रज्ञातसमाधिः | १५८ | १९ |
| क्रियायोगोपदेशः | १६० | ९ |
| तपःप्रकाराः | ,, | १४ |
| स्वाध्यायः | १६२ | ४ |
| ईश्वरप्रणिधानम् | ,, | २७ |
| क्रियायोगफलम् | १६४ | २२ |
| पञ्च क्लेशाः | १६५ | ३ |
| क्लेशानामविद्यामूलकत्वम् | ,, | १२ |
| क्लेशानां प्रसुप्त्यादिभेदाः | ,, | १३ |
| प्रकृतिः जगदुपादानं सत्कार्यवादश्च | १६७ | १६ |
| असतः सज्जायते इति बौद्धमतम् | ,, | २३ |
| तन्मतनिरासः | १६८ | १० |
| योगाचारमतम् | १६९ | २२ |
| तस्य खण्डनम् | १७० | १० |
| सौत्रान्तिकवैभाषिकमतम् | १७१ | १५ |
| तन्मतखण्डनम् | १७२ | २ |
| तत्र जैनमतम् | १७५ | ७ |
| तन्मतखण्डनम् | १७५ | १५ |
| सतःअसज्जायतेइतिन्यायवैशेषिकमतम् | १७६ | ७ |
| तन्मतखण्डनम् | १७७ | २ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| विशेषतो वैशेषिकमतखण्डनम् | १७९ | १ |
| चार्वाकमतम् | १७९ | २१ |
| अद्वैतिनो मतम् | १८१ | १९ |
| तन्मतखण्डनम् | १८२ | १६ |
| विज्ञानभिक्षुमतम् | १८३ | २४ |
| द्वैतिनो मतम् | १८४ | ८ |
| निम्बार्कादिमतम् | ,, | १६ |
| माहेश्वरमतम् | ,, | २८ |
| वैयाकरणमतम् | १८५ | ६ |
| 'सतःसज्जायते' इति शुद्धाद्वैतिमतम् | १८६ | २० |
| तत्खण्डनम् | १८७ | १२ |
| योगमतम् | १८८ | ६ |
| सत्कार्यसिद्धिप्रकारः | ,, | १७ |
| अद्वैतिमते मायास्वरूपम् | १९० | ३१ |
| तन्मतखण्डनम् | १९१ | ७ |
| शुक्तौ रजतप्रतीतेर्विपर्ययेणैव मिथ्यात्वेऽनिर्वचनीयमायायाः निष्प्रयोजनता | १९२ | २२ |
| योगमतेऽविद्यास्वरूपम् | १९३ | २९ |
| अस्मितास्वरूपम् | १९५ | १० |
| रागद्वेषाभिनिवेशस्वरूपाणि | १९६ | ५ |
| क्लेशानां हेयताप्रदर्शनम् | १९७ | २९ |
| क्लेशमूलककर्माशयस्य दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयता | १९८ | २२ |
| कर्माशयफलं जात्यायुर्भोगाः | १९९ | २८ |
| अनियतविपाकस्यापि त्रिधागतिः | २०१ | ३ |
| जात्यायुर्भोगत्यागे बीजम् | २०२ | ११ |
| विवेकिनः सर्वत्र दुःखाभासः | ,, | २८ |
| परिणामजदुःखम् | २०४ | १ |
| तापजदुःखम् | २०५ | ३ |
| संस्कारजदुःखम् | ,, | १९ |
| गुणवृत्तिविरोधाद्दुःखम् | २०६ | ३ |
| अनागतदुःखस्य हेयता | २०७ | ३ |
| हेयहेतुसंयोगप्रदर्शनम् | ,, | २१ |
| संयोगस्वरूपम् | २०८ | ११ |
| संयोगाऽनुपपत्तिशंका | ,, | २३ |
| तत्समाधानम् | २०९ | १५ |
| दृश्यस्य स्वभावस्वरूपप्रयोजनानि | २१० | १६ |
| कार्यैक्यस्य गुणानामानन्त्यम् | ,, | २८ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| दृश्यस्य धर्माः | २११ | २० |
| विशेषनिरूपणम् | २१२ | २६ |
| विशेषत्रैविध्यम् | २१३ | ११ |
| अविशेषनिरूपणम् | २१४ | १४ |
| लिङ्गमात्रनिरूपणम् | ,, | २२ |
| बुद्धेः प्रधानलिङ्गत्वेऽनुमानानि | २१५ | ८ |
| अलिङ्गस्य निरूपणम् | २१५ | २१ |
| द्रष्टृस्वरूपप्रदर्शनम् | २१६ | १० |
| दृश्यस्य द्रष्टर्थत्वम् | २१७ | ५ |
| दृश्यस्य नष्टत्वाऽनष्टत्वव्यवस्था | २१८ | ३ |
| पुनः संयोगस्य भोगप्रयोजनकत्वम् | ,, | २६ |
| संयोगस्य हेतोर्निरूपणम् | २१९ | १३ |
| पुरुषस्य कैवल्यम् | २२० | २१ |
| मुक्तात्मस्वरूपम् | २२१ | १ |
| सेवा—मुक्तिः | ,, | १२ |
| सेवापारतन्त्र्यस्यापि न दुःखावहत्वम् | २२१ | २३ |
| सातिशयत्वशंकासमाधाने | २२२ | १५ |
| भगवद्रूपमुक्तिशंकासमाधाने | २२३ | १८ |
| हानोपायनिरूपणम् | २२४ | ४ |
| विवेकख्यातिमद्योगिनः सप्तधा प्रज्ञा | ,, | २० |
| योगाङ्गानुष्ठानफलम् | २२५ | २२ |
| योगस्याऽष्टाङ्गानि | २२६ | २ |
| पञ्चयमाः | ,, | ११ |
| वैदिकहिंसाया अप्यनर्थावहत्वम् | २२७ | ६ |
| सत्यम् | २२८ | १ |
| अस्तेयम् | २२९ | १० |
| ब्रह्मचर्यम् | ,, | २५ |
| सार्वभौममहाव्रतम् | २३० | ८ |
| पञ्च नियमाः | २३१ | ११ |
| प्रतिपक्षभावनम् | २३२ | १८ |
| हिंसादीनां कृतकारितादिभेदेनाऽऽनन्त्यम् | २३३ | २३ |
| अहिंसायाः फलम् | २३५ | ४ |
| सत्यस्य फलम् | ,, | २३ |
| अस्तेयस्य फलम् | २३६ | ९ |
| ब्रह्मचर्यस्य फलम् | २३७ | ४ |
| अपरिग्रहस्य फलम् | २३८ | १२ |
| शौचस्य फलम् | ,, | २५ |
| सन्तोषस्य फलम् | २३९ | ११ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| तपसः फलम् | ,, | २४ |
| स्वाध्यायस्य फलम् | २४० | ११ |
| परमेश्वरप्रणिधानफलम् | ,, | १८ |
| आसनानि | २४१ | ४ |
| आसनानां फलम् | २५१ | १३ |
| धौतिः | २५१ | २५ |
| वस्तिः | ,, | २८ |
| नेतिः | २५२ | १ |
| त्राटकम् | ,, | ४ |
| नौलिः | ,, | ७ |
| कपालभातिः | ,, | १० |
| प्राणायामः | ,, | १६ |
| रेचकपूरकौ | ,, | २७ |
| कुम्भकभेदाः | २५२ | २९ |
| सूर्यभेदनम् | २५३ | २ |
| उज्जायी | ,, | ६ |
| सीत्कारी | ,, | ९ |
| शीतली | ,, | १३ |
| भस्त्रिका | ,, | १५ |
| भ्रामरी | ,, | २५ |
| मूर्छा | ,, | २७ |
| प्लाविनी | ,, | २८ |
| केवलकुम्भकः | २५५ | ११ |
| प्राणायामफलम् | ,, | २८ |
| कुण्डलीप्रबोधोपायाः | २५६ | ९ |
| महामुद्रा | ,, | १९ |
| महाबन्धः | ,, | ३० |
| महावेधमुद्रा | २५७ | ७ |
| खेचरीमुद्रा | ,, | १४ |
| उड्डीयानबन्धः | २५८ | १० |
| मूलबन्धः | ,, | १७ |
| जालन्धरमुद्रा | ,, | ३० |
| विपरीतकरणीमुद्रा | २५९ | ९ |
| वज्रोली | ,, | १९ |
| अमरोली | ,, | ३२ |
| शक्तिचालिनी | २६० | २ |
| प्रत्याहारः | ,, | २७ |
| प्रत्याहारफलम् | २६१ | ७ |
| द्वितीयपादसमाप्तिः | ,, | १६ |

| विषयाः | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|
| चक्रेषु धारणा | २६२ | ७ |
| मूलाधारम् | २६३ | ८ |
| स्वाधिष्ठानम् | ,, | ३० |
| मणिपूरकम् | २६४ | ७ |
| अनाहतम् | ,, | १४ |
| विशुद्धम् | ,, | २३ |
| आज्ञाचक्रम् | २६५ | ३ |
| सहस्रदलकमलम् | ,, | १८ |
| चक्रभेदक्रमः | २६६ | १५ |
| प्राणारोपणप्रकारः | ,, | २६ |
| सबिन्दु धारणा | २६७ | ३ |
| भगवद्रूपे धारणा | ,, | १३ |
| ध्यानम् | ,, | २६ |
| समाधिः | २६८ | २ |
| संयमः | ,, | १७ |
| तत्फलमुपयोगश्च | ,, | २० |
| अन्तरङ्गबहिरङ्गे | २६९ | ११ |
| निरोधपरिणामः | ,, | २४ |
| तत्फलम् | २७० | ७ |
| समाधिपरिणामः | ,, | १४ |
| एकाग्रतापरिणामः | ,, | २१ |
| सर्वत्र त्रिधा परिणामः | २७१ | ३ |
| धर्मिलक्षणम् | ,, | २८ |
| परिणामभेदहेतुः | २७२ | २० |
| परिणामसंयमजा विभूतिः | २७३ | ५ |
| सर्वभूतरुतज्ञानम् | ,, | १५ |
| पूर्वजातिज्ञानम् | २७४ | ८ |
| परचित्तज्ञानम् | २७५ | ४ |
| अन्तर्धानम् | ,, | २४ |
| अपरान्तज्ञानम् | २७६ | ४ |
| मरणचिह्नानि | ,, | १६ |
| मैत्र्यादिसंयमफलम् | २७७ | १७ |
| सूक्ष्मादिज्ञानम् | २७८ | ४ |
| भुवनज्ञानम् | ,, | ११ |
| चतुर्दशलोकाः | २७८ | १८ |
| आवरणज्ञानम् | २७९ | १ |
| प्रकृतिलयज्ञानम् | २८१ | २१ |
| विराजज्ञानम् | २८२ | १० |
| कैलासज्ञानम् | | २५ |

तदत्र प्रथमे समाधिपादे 'क्षिप्त—मूढ—क्षिप्ताऽवस्थचित्तवृत्तीनां नाशेन एकाग्रावस्थायां सम्प्रज्ञातसमाधिं निरुद्धावस्थायां चाऽप्रज्ञातसमाधिं सम्प्राप्य परमं कैवल्यं विन्दते योगीति—विषयः।

सर्वैः साध्यो मोक्षः, स च योगशास्त्रमते 'दुःखत्रयाऽत्यन्ताभावविशिष्टा या परमात्मस्वरूपशरणाऽवाप्तिस्तदात्मकः।

यद्यपि परमात्मस्वरूपदर्शनरूपाऽवाप्तिस्तु योगिनां संसारदशायामपि स्वहृदि समाधिना सम्भवति, तथापि न सा परमा मुक्तिः, यतः समाध्यवस्थायां दुःखकारणात्मिकाया मायायाः सूक्ष्मसंसर्गस्य सत्त्वेन तिरोभूतस्वभावं कारणात्मकमपि दुःखत्रयं संसृष्टमेवाऽऽत्मनीति भवितुमर्हति, समाध्यनन्तरं पुनस्तेषामेव योगिनां मायोपाध्यादिदर्शनात्, तदा जीवनमुक्तिस्तु सम्भवत्येव। दुःखत्रयाऽत्यन्तनिवृत्तिस्तु कारणनिवृत्त्यधीना, कारणं हि माया, मायानिवृत्तौ दुःखत्रयाऽत्यन्ताभावः, तदैव चिन्मयप्रदेशे सच्चिदानन्दस्वरूपस्य परमात्मनः सन्निधिर्भवत्यथ नित्यसुखं भुङ्क्ते पुरुषः स्वस्वरूपाऽवस्थितः सन्निति।

तथा च 'दुःखत्रयाऽत्यन्ताभावविशिष्ट—परमात्मस्वरूपाऽवाप्तिरूपां मुक्तिं प्रति परमात्मभक्ति—तत्त्वज्ञान—विषयवैराग्याणीति साधनत्रयविशिष्ट—योगधर्मस्य प्रयोजकत्वमिति योगसिद्धान्तः। योगधर्मरूपमुख्यसाधने परमात्मभक्तेः सहकारित्वन्तु 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'इत्यादिना प्रदर्शितम्। तत्त्वज्ञानस्य सहकारित्वन्तु—'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्य'—मित्यनेनाऽऽवेदितम्। वैराग्यस्य सहकारित्वन्तु—'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्य 'मित्यनेन विज्ञापितम्। योगस्य साक्षात्साधनत्वन्तु—'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाऽधिगच्छति' ( गीता—अ—५ श्लोक ६ ) 'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते' ( गीता—अ—५—श्लोक २१ ) 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति' ( गीता—अ—५—श्लोक २४ ) 'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः। शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति' ( गीता—अ—६—श्लोक १५ ) इत्यादिस्मृतिभिरभिहितम्।

मुक्तिसाधनानि ह्यनेकानि स्वसरणमावेदयन्ति, यथा—साङ्ख्यमते तत्त्वज्ञानमेव वेदान्तमते ब्रह्मज्ञानमेव, मीमांसकमते कर्मकलाप एव, न्याय—वैशेषिकमते पदार्थज्ञानमेव, नारदादिमते भक्तिरेवेत्यादीनि, तथापि तानि साधनानि एतन्मते गौणीभूतानि, योगधर्मस्तु—परब्रह्मपरमात्मनि सच्चिदानन्दस्वरूपे संसारनिर्मितिपूर्वमपि सत्त्वमुपपन्नं, ततोऽस्य जगतः संसरणक्रमेणाऽऽविर्भूतान् ब्रह्मादीन् संप्रदर्शितवान् भगवानिति।

तद्यथा—इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ।
स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥

( गीता–अ–४–श्लोकाः–१–२–३ )

अत एव 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति–योगियाज्ञवल्क्यवाक्यमपि भगवत्सकाशात्परम्परया योगावतरणबोधकतया सङ्गच्छते ।

केचित्तु–योगपदस्य चित्तवृत्तिनिरोधार्थकत्वाद् यत्र यत्र चित्तवृत्तिनिरोधसत्ताऽनुभूयते, तत्सर्वमपि योगात्मकम्, तथा च भक्तिरपि योगः, ज्ञानमपि–योगः, वैराग्यमपि–योगः, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽपि योगात्मकाः, तत्तद्योगस्य च स्वातन्त्र्येण मुक्तिकारणत्वमिति वदन्ति ।

अत्रेदं विचार्यते–नहि प्रत्येकेन स्वतन्त्रसाधनेनाऽभिमतमुक्तिसिद्धिरुपपद्यते, न वा केनचिदेकेन रहितेन त्रिकेनाऽपि स्वाभिमतमुक्त्यवगमो भवति, यतोहि धर्मरहितो हि शिवभक्तिं कुर्वाणोऽपि रावणोऽधर्मदृष्ट्या सीताहरणकरणकल्मषात्त्र मुक्तिं जगामेति ।

एवं ज्ञानरहिता हि वैराग्यमात्रानुगामिनोऽपि त्वाद्यादिकमात्मानं मन्यमाना अत एवाऽज्ञानिनः प्रकृतिलयान् गच्छन्तीति । तथा वैराग्यविरहेण भगवद्भक्तिभावितान्तःकरणयोरपि पर्वत–नारदयोः रूपाभिलाषया कपिमुखता समापतिता । एवं विरागस्यापि विभाण्डकर्षिपुत्रस्य श्रृङ्गवैरंगिकायोगाद्बन्धनं स्मर्यते । भक्तिपरिहीनस्य धर्मादिसाधनत्रययुक्तस्यापि विनाशिस्वर्गादिलोकप्राप्तिः, न तु नित्यसच्चिदानन्दभगवद्धामप्राप्तिरिति । जनकविदेहिनस्तु साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य भगवद्धामाऽवाप्तिरेव मुक्तिः समापन्नेति ।

भगवताऽपि साधनचतुष्टयं गीतायां व्यञ्जितं–यथा—

"प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥इति॥

अत्र 'मनसाऽचलेने'त्यनेन–वशीकारसंज्ञकवैराग्यवत्त्वं–प्रदर्शितम् । 'भक्त्यायुक्त' इत्यनेन–तत्त्वज्ञानवत्त्वम् प्रदर्शितम् । 'योगबलेने'त्यनेन–योगधर्मवत्त्वं निवेदितम् । 'परं दिव्यं पुरुष' मित्यनेन–परमात्मशरणगामित्वेन भक्तिरपि निवेदिता । अत एव साधनचतुष्टयसमवायस्यैव मुक्तिप्रयोजकत्वमिति सिद्धान्तः । इदं पुनरिहाऽवधेयम्–अष्टाङ्गयोगो व्यापकपदार्थः, भक्तिज्ञानवैराग्याणि तदन्तःस्थानि तदङ्गानि व्याप्यानीति, अतो योगस्य प्राधान्यमिति । भगवता कणादर्षिणाऽपि 'यतोऽभ्युद-

तोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इति वैशेषिकदर्शनस्यादिमसूत्रे साक्षान्मुक्तिप्रयोजकत्वं धर्मस्यैवोक्तमिति ।

ननु सपरिकरयोगधर्मात्मकसाधनस्य मुक्तिं प्रति प्रयोजकत्वाद् योगसाधनसम्पत्त्यव्यवहितोत्तरसमयावच्छेदेनाऽवश्यं मुक्तिर्भाव्या–'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाऽधिगच्छति' 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणमचिरेणाऽधिगच्छति' इत्यादिना योगधर्मसम्पत्त्यनन्तरं तूर्णमेव मुक्त्यवगमो भवति पुरुषस्येति सिद्धान्तात्, अत्र तु सपरिकरयोगधर्मात्मकसाधनसम्पत्तावपि प्रारब्धकर्मभोगं कुर्वतः शरीरेऽवस्थितस्य योगियाज्ञवल्क्यस्य महायोगिपतञ्जलेश्च न स्मर्यते मुक्त्यवगमो द्रागिति, तथा च कारणसत्त्वेऽपि कार्याऽनुपलम्भादन्वयव्यभिचारापाताद् मुक्तिर्न योगसाध्या, इति–चेन्नैतद्युक्तम् । नहि साधनत्रयविशिष्टयोगस्य सामान्यतः साक्षान्मुक्तित्वावच्छिन्नं प्रति प्रयोजकत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु जीवनमुक्तिद्वारैव, तथा च सपरिकरयोगसाधनसम्पत्तौ सत्यामयं योगी यावच्छरीरस्थितिस्तावज्जीवनमुक्त इति व्यपदिश्यते । स चाऽयं स्मृतिष्वपि प्रसिद्धः—

'दृष्टिरेव नरो मुच्येत्तिष्ठन्मुक्तोऽपि विग्रहे । कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः । पूर्वाभ्यासबलात्कार्ये न लोको न च वैदिकः । अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥' इति ( नारदीयस्मृतिः ) ।

अत्रायं योगिनां कृते विशेषः—सम्यक् साधनसम्पत्तावपि प्रारब्धकर्मभोगक्षयेऽपि मुक्तिप्राग्भारयोग्यत्वेऽपि यद्यभिलषति 'मे परा मुक्तिः स्याद्' इति तदैवाऽयं मुक्तिं गृह्णाति, नाऽभिलषति चेत् न स्वीकरोति । अतएव मुक्त्यङ्गीकरण–परिहरणादौ स्वतन्त्रो योगी भवतीति । तथा च सम्यक् साधनसम्पत्तावपि मुक्तिविषयकस्वाभिलाषायाः सहकारित्वमभ्युपेयम्, एवं च स्वाभिलाषात्मकसहकारिविरहेण याज्ञवल्क्यादीनां न द्राक् परममुक्त्यवस्थावस्थितिरिति । तथाविधमहायोगिनान्तु प्रारब्धकर्मक्षयाऽनन्तरमस्मिन्नेव शरीरे साधनसम्पत्तिमत्त्वेन परममुक्तिप्रतिकृतिरूपा मुक्तिस्तु समनुवर्तते, अतो न द्राक् परममुक्तिग्रहणाऽपेक्षेति–तत्त्वम् ।

ननु तथापि कथमिदं शास्त्रं यावन्मुमुक्षुजनाऽवधेयवचनं स्यात् ? यतो हि वेदप्रतिपाद्यस्वर्गादिफलप्रदयागादिकर्मकलापस्त्वनेन नोपदिश्यते, अतोऽस्य यावद्वेदाभिमतसिद्धान्ताऽप्रतिपादकत्वेनाऽवैदिकत्वात्–असङ्गततयाऽवधेयवचनत्वविरहेणोपेक्षाविषयत्वमापद्येतेति चेन्न, नह्यवैदिकत्वसाधने यावद्वैदिकसिद्धान्ताऽप्रतिपादकत्वमितिप्रयोजकं भवितुमर्हति, वेदाऽनभिमतसिद्धान्ताऽप्रतिपादक–वेदान्तर्गतयत्किञ्चित्सिद्धान्तप्रतिपादकवेदान्तादिदर्शनेषु व्यभिचारात् । अतो नैतच्छास्त्रमवैदिकं येनाऽनवधेयवचनं स्यात् ।

अथाऽत्र किन्नामाऽवैदिकत्वम् ! तद्यदि 'वेदाभिमतसिद्धान्तार्थप्रतिपादकभिन्न-

त्वम्, तदाऽहिंसादिपुण्यादिसिद्धान्तार्थप्रतिपादकबौद्धाऽऽर्हतादिशास्त्राणामवैदिकत्वं न स्यात्, किन्तु 'वेदाभिमतसिद्धान्तार्थविरुद्धार्थप्रतिपादकभिन्नत्वं, वेदप्रामाण्याऽनभ्युपगन्तृपुरुषप्रणितत्वं वाऽवैदिकत्वम्। तच्च बौद्धाऽऽर्हतादिनास्तिकशास्त्रेषु सङ्गतमेव। वेदाङ्गात्मक—योगादिदर्शनानान्तु तन्न सम्भवत्येवेति, तथा चाऽस्य शास्त्रस्य वैदिकतया मुमुक्षुभिरवधेयवचनत्वं न व्याहतमिति। एवमास्तिकपुरुषप्रणितत्वेनाऽप्यस्याऽवधेयवचनत्वम्, आस्तिकत्वन्तु—'वेदप्रामाण्याऽनभ्युपगन्तृत्वविशिष्टेश्वराऽनभ्युपगन्तृभिन्नत्वम्, तच्च पतञ्जल्यादीनामस्त्येवेति तत्प्रणितत्वाद् ग्राह्योऽस्योपदेश इति।

ननु तथापि वैशेषिकदर्शनस्य धर्मप्रतिपादकत्वेन यावत्पदार्थतत्त्वविवेचकत्वेनेश्वरतत्त्वाऽभ्युपगन्तृपुरुषप्रणितत्वेन तेनैवैतदभिमतप्रयोजनसामञ्जस्ये कथञ्चिदं पुनरपेक्षाविषयं सम्भवेत्! तेनैवास्य गतार्थत्वादिति चेन्नैतद्युक्तम्। यतो हि वैशेषिकदर्शने तु कणादर्षिणा द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभिधानानां पदार्थानां तत्त्वज्ञानात्मकमुख्यसाधनेनैव सुखदुःखत्रयाऽत्यन्ताभावरूपा जडमुक्तिर्भवतीत्युपदिश्यते। अत्र तु तत्त्वज्ञानादिसहकृतयोगधर्मात्मकमुख्यसाधनेन दुःखत्रयाऽत्यन्ताऽभावविशिष्ट—परमेश्वरस्वरूपशरणाऽवाप्तिरूपा मुक्तिर्भवतीति प्रतिपाद्यते, तथा च फलविशेषस्य साधनविशेषस्य च प्रतिपादकत्वेन शास्त्रस्याऽस्य न वैशेषिकदर्शनेन गतार्थत्वमिति॥ एवं न्यायदर्शनस्यापि षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानात्मकसाधनेन सुखदुःखरहिता जडरूपा मुक्तिर्भवतीति विलक्षण—साध्य-साधन—निरूपकत्वात् तेनाऽपि न गतार्थत्वमस्य॥ तथैव साङ्ख्यशास्त्रस्याऽपि सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानस्य साधनस्य साध्या दुःखत्रयात्यन्ताभावरूपा चेतनस्य स्वस्वरूपावस्थानोपबृंहिता मुक्तिरिति विलक्षणसाध्य—साधन-संवेदकत्वान्न तेनापि गतार्थत्वमस्य शास्त्रस्येति॥ एवं वेदान्तदर्शनस्यापि ब्रह्मविषयकश्रवणमनननिदिध्यासनादिज्ञानाभ्यासाद् ब्रह्माऽवाप्तिरेव मुक्तिरिति प्रतिपादकत्वाद् योगाङ्गादिकर्मयोगस्य तु दूरोत्सारितत्वान्न तेनापि गतार्थत्वमस्य शास्त्रस्य॥ मीमांसादर्शनस्य काम्यस्वर्गादिप्रापकयागादिकर्मणामेवाऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनत्वमिति तत्रापि विलक्षण-साध्य-साधननिरूपणान्न तेनाऽपि गतार्थत्वमस्य शास्त्रस्य। अत एव स्वतन्त्रदर्शनमिदमिति बोध्यम्।

'अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा देवं धीरो हर्षशोकौ जहाती'त्यादिश्रुतिषु मुक्तिर्योगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीपते। तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' इत्यादि स्मृतिषु च मोक्षसाधनतयाऽभिहितस्यास्य योगस्य किं स्वरूपम्! कति च सहकारिसाधनसमवायः! किम् प्रयोजनम्! इत्येवं त्रिधायां मुमुक्षूणां विविदिषायां सपरिकरप्रयोजनयोगं प्रतिपिपादयिषुर्भगवान्पतञ्जलिर्योगाऽधिकृतं शास्त्रमिदमिति प्रतिज्ञां प्रकटयति—

## "अथ योगानुशासनम्" ॥ १ ॥

अथ—शब्दोऽयमधिकारार्थः, अधिकारस्य योगरूढतयाऽऽरम्भणे एव मुख्यत्वाच्छास्त्रस्याऽत्राऽधिकार्यत्वं मुख्यमेवाऽस्तीति,—यथा 'अथैष ज्योति'रित्यत्राऽधिकार्यशास्त्रविषयत्वमथशब्दस्य । न च तत्राऽर्थस्याऽधिकार्यत्वमिति शङ्क्यम्, तत्र तस्य गौणत्वात्, शास्त्रस्यैवाऽधिकार्यत्वमुख्यत्वात् । न चाऽत्र—शास्त्रस्याऽनधिकार्यत्वम्—अनिरूप्यत्वात्,—इति वाच्यम्, निरूप्यस्य योगस्य प्रतिपादकत्वेन शास्त्रेऽधिकार्यत्वस्य सध्रीचीनत्वात्, प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोरविनाभावसम्बन्धसत्तया प्रतिपाद्यस्य योगस्याऽधिकार्यत्वे तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्य त्वधिकार्यत्वमनुषङ्गादुपपन्नमिति।

ननु शिष्यस्य तत्त्वज्ञानजिज्ञासाप्रश्नाद्यनन्तरमपि योगस्य निरूपणमुपपद्यते तेन आनन्तर्यार्थक एव भवत्वथशब्दोऽत्रेति चेन्न । उपादेयस्य वस्तुनः प्रामाणिकत्वेन तत्त्वज्ञानजिज्ञासाप्रश्नाद्यभावेऽपि निरूपणे सति ग्राह्यत्वात्, अप्रामाणिकस्य तु तत्त्वज्ञानजिज्ञासा-प्रश्नाद्यधीननिरूपणे सत्यप्यनुपादेयत्वात्, तथा च नाऽत्राऽऽनन्तर्यार्थोऽतीवाऽपेक्षाविषय इति । अथशब्दोऽत्र माङ्गलिकोऽप्यवसेयः—'ॐकारश्चाऽथशब्दश्च निःश्रेयसकरावुभा'विति महदुक्तेः । युजसमाधावित्यस्माद् व्युत्पन्नः समाधिवाचको योगशब्दः, समाधिश्च यावच्चित्तवृत्तिनिरोधः, तस्य—अनुशासनम्—परमात्मसकाशात् परम्परया हिरण्यगर्भद्वारा प्राप्तस्याऽस्य योगस्य प्रतिपादनं मया पतञ्जलिनाऽनुसन्धीयते-इति हृदयम् ।

योगानुशासनेतिविचक्षणेनाऽस्य शास्त्रत्वं विज्ञापितं भवति । सकलशास्त्रार्थसूचकमेव शास्त्रमिति । सकलपदार्थानां स्वातन्त्र्येण निरूपकत्वाच्च दर्शनमपि सिद्धम् भवति । न तु प्रकरणमिदं, प्रकरणत्वन्तु यत्किञ्चिदंशप्रतिपादकत्वम्, यथा साधनपादे साधनप्रकरणम्, विभूतिपादे विभूतिप्रकरणमित्यादि, तादृशप्रकरणानां समवायः शास्त्रे युज्यते, तथा च 'यावत्तत्त्वविषयकबोध-सर्ग-स्थितिलय-मुक्तितत्साधनेश्वरादिलक्षणादिप्रतिपादकत्वं—शास्त्रत्वं'—यथा न्यायदर्शनादिकम्, तथैवेदमपि योगदर्शनं शास्त्रमिति ।

शास्त्रे हि भवत्यनुबन्धचतुष्टयम्,—सम्बन्धविषयप्रयोजनाऽधिकारिण इति । अत्र ज्ञान—वैराग्य—'भक्तिसहितो योगः प्रतिपाद्यः, प्रतिपादकस्तु वक्ता, द्वयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावाऽभिधानः सम्बन्धः । विषयो—ज्ञानवैराग्यभक्तिसहकृत—योगाभ्यास एव । प्रयोजनम्—आत्यन्तिकदुःखत्रयाऽत्यन्ताभावविशिष्टपरमात्मस्वरूपशरणाऽवाप्तिरूपा मुक्तिः । अधिकारिणश्च—मुक्त्यभिलाषिणो योगानुरक्तमानसा मुमुक्षव इति ॥ तदत्र प्रतिपाद्यस्य विषयस्य पदार्थतत्त्वात्मकस्य बोधे ज्ञानवैराग्यभक्त्यादिस्वरूपाण्यपेक्षितानि, ज्ञाने सति तु वैराग्यभक्त्यादिकम् अना-

यासेन भवति, अतो ज्ञानं प्राधान्येनाऽपेक्षितम्, तत्त्वज्ञानं प्रति विषयाणां कारणत्वात् कानि तानि तत्त्वानि कति चेति जिज्ञासा भवति, तन्निवृत्त्यर्थं प्रकृतितः समुत्पन्नानां पदार्थानां निरूपणमत्र प्रस्तुतं भवति ।

योगदर्शनाऽभिमतानि पदार्थतत्त्वानि षड्विंशतिसङ्ख्याकानि प्रसिद्धानि, तद्यथा–परमात्म–जीवात्म–प्रकृति–महदहंकारमनः–श्रोत्र-त्वक्–चक्षू–रसना–घ्राण-वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थ-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वाकाशानीति षड्विंशतिपदार्थाः, ते च सर्वेऽपि द्रव्यपदवाच्याः ॥ तत्र–परमेश्वर एक एव 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर' इत्यनेन सूत्रेण वक्ष्यते । जीवात्मानस्तु प्रतिशरीरं भिन्ना अपरिमिता नित्याश्चेतना अल्पज्ञाः सुखादिमन्त इति, तदपि 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमि'ति सूत्रस्य भाष्ये वयं सविस्तरं जीवात्मस्वरूपं निरूपयिष्यामः । प्रकृतिः–माया, अविद्या, अन्धतमः, अजा, त्रिवर्णा, सत्त्व-रजस्तमोगुणानां साम्यावस्था, संसारस्य मूलकारणात्मिका, नित्या, जडा, कर्त्री च बोध्या, 'अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इति सूत्रभाष्ये मायावादं सविस्तरं निरूपयिष्यामः, तस्या एव प्रकृतेरस्य संसारस्योत्पत्तिरभिमता, तद्यथा—

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सांख्यकारिका)

सृष्टिप्रारम्भसमये पुरुषार्थप्रेर्यमाणाः सत्त्वरजस्तमोगुणा विरूपपरिणामाः सन्तो न्यूनाधिकबलवन्तो भवन्ति, तदा त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेर्न्यूनपरिमाणं महत्तत्त्वमंशांशिभावापन्नं समुद्भवति, तत्रांशा बुद्धितत्त्वाऽभिधाना जीवात्मसमसङ्ख्याकाः शरीरप्रवेशयोग्यपरिमाणका जीवात्मने भोगदानाय भवन्ति । तदुक्तम् 'सविकारात्प्रधानात्तु महत्तत्त्वमजायत । महानिति यतः ख्यातिस्तदहङ्कारकारणम् ॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥' इति तच्चेदं महत्तत्त्वम् बुद्धिसंज्ञकमन्तःकरणमित्युच्यते, तस्याऽध्यवसायो नाम व्यापारः, स च 'ममेदं कर्तव्य'मित्याकारको निश्चयो दीपशिखावद् बुद्धेः परिणामो वृत्तिर्धर्मोऽवस्थाविशेष इति च ख्यायते । चैतन्यस्य सत्त्वस्वभावस्य विषयभोगसम्पादनाय,–इन्द्रियाणां च स्ववृत्त्युपपत्तये,–मनसश्च मदिष्टसाधनत्वप्रकारकबुद्धौ मदंशाभानाय,–अहंकारस्य च कृत्यसाध्ये सूर्याऽऽनयनादौ प्रवृत्तिप्रतिरोधकस्याऽकर्तव्यत्वप्रकारकनिश्चयस्य सम्पादनाय,–बुद्धितत्त्वस्याऽऽवश्यकत्वमिति । येन बुद्धितत्त्वेन सर्वोऽपि लोकजातः स्वकीयैरिन्द्रियैर्विषयमालोच्य– मनसा विकल्प्य– अहंकारेण चाऽभिमत्य– ममेदं कर्तव्यमितिबुद्ध्याऽध्यवस्यति, तदनन्तरञ्च प्रवर्तते, सोऽन्न–

व्यवसायो बुद्धेरसाधारणव्यापार इति। 'तादात्म्यसम्बन्धेन तादृशव्यापारवत्त्वं' 'अहंकारकारणत्वे सति प्रकृतिकार्यत्वम्' वा बुद्धेर्लक्षणं बोध्यम्। अस्यैव महत्तत्त्वस्याऽपराऽभिधानं चित्तमिति विज्ञेयम्।

तदेतस्माद्बुद्ध्यपराभिधानान्महत्तत्त्वादणुपरिमाणोंऽशांशिभावापन्नोऽहङ्कारः प्रादुर्भवति, तदंशा अहंकाराख्या जीवात्मसमसंख्याकाः सूक्ष्मा आत्मने भोगदानाय भवन्ति। अहङ्कारस्याऽसाधारणव्यापारोऽभिमानमिति। तद्यथा—यद्धि—बहिरिन्द्रियैरालोचितं तन्मनसा सङ्कल्प्य 'अत्राऽहमधिकृतोऽस्मिन्नहं शक्तो मदर्था एवाऽमी विषया मत्तो नान्यः कश्चिदत्राऽधिकृतोऽतो ममैवाऽधिकार' इति योऽभिमानो व्यापारस्तादात्म्यसम्बन्धेन तादृशव्यापारवत्त्वमहंकारस्य लक्षणं बोध्यम्। अथवा—'पञ्चतन्मात्रजनकत्वे सति महत्तत्त्वजन्यत्वम्' 'एकादशेन्द्रियजनकत्वे सति महत्तत्त्वजन्यत्वञ्च लक्षणं बोध्यम्॥ अहङ्कारोऽप्यन्तःकरणमिति। स चाऽयं त्रिविधः—सात्त्विकाहंकारः, राजसाहंकारः, तामसाहंकारश्चेति भेदात्। तत्र सात्त्विकाहंकारात्—मनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसना-घ्राण-वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि सात्त्विकान्येकादशेन्द्रियाणि समुद्भवन्ति। तत्र मनसः—संकल्प एव व्यापारः, प्रथमं बाह्येन्द्रियैरालोचितं—'वस्त्विद'मिति सम्मुग्धम्, ततश्च 'इदमेवं नैव'मिति सङ्कल्पयति-विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयति, स एव मनसोऽसाधारणव्यापारः, 'तादात्म्यसम्बन्धेन तादृशव्यापारवत्त्वम्' मनसो लक्षणम्। मनोऽप्यन्तःकरणमिति,—इन्द्रियमपि च भवति, 'सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वम्' इतीन्द्रियलक्षणात्। बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च मनसाऽधिष्ठितान्येव स्वस्वकार्यजननसमर्थानि भवन्ति न तु मनसाऽनधिष्ठितान्यपि। ज्ञानेन्द्रियसहकारितया मनसो ज्ञानेन्द्रियत्वम्, कर्मेन्द्रियसहकारितया च कर्मेन्द्रियात्मकत्वमपि बोध्यम्। बुद्धिरहंकारो मनश्चेति त्रयमन्तःकरणम्॥ केचित्तु चेतसो बुद्ध्यतिरिक्तत्वेनाऽन्तःकरणचतुष्टयमिति मन्यन्ते, तत्त्वनतिप्रयोजनकत्वान्नैतन्मतेऽभिमेतमिति। तस्मादन्तःकरणत्रयमेवेति बोध्यम्। अथ श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि बोध्यानि। स्वस्वविषयविषयकप्रत्यक्षज्ञानोत्पादकत्वात्। तत्र श्रोत्रेण—शब्दस्य शब्दत्वादेश्च प्रत्यक्षं भवति। त्वचा—शीतोष्णादिस्पर्शस्य स्पर्शत्वादेश्च प्रत्यक्षं भवति। चक्षुषा-शुक्ल—नील—पीत—रक्त—हरित—कपिश-चित्रविचित्ररूपाणां रूपत्वादीनां रूपवद्द्रव्याणाञ्च प्रत्यक्षं भवति। रसनया-मधुराम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तादिरसानां रसत्वादेश्च प्रत्यक्षं भवति। घ्राणेन-सुगन्ध—दुर्गन्धादेर्गन्धत्वादेश्च प्रत्यक्षं भवति। तस्मात्पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाख्यानां पञ्चविषयाणामालोचनमेव व्यापारो बोध्यः। तत्र शृणोत्यनेनेति—श्रोत्रम्—शब्दग्रहणलिङ्गम् भवति। स्पृशत्यनेनेति स्पर्श—त्वगिन्द्रियं—स्पर्शग्रहणलिङ्गम् भवति। चष्टेऽनेनेति व्युत्पत्त्या—चक्षुर्नयनं-रूपग्रहणलिङ्गम्

भवति । रसयत्यनेनेति रसनं-रस-ग्रहणलिङ्गम् भवति । जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं-गन्ध-ग्रहणलिङ्गम् भवति । वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति ख्यायन्ते । तत्र-उच्यतेऽनेनेति-वचनं वागिन्द्रियं-शब्दोच्चारणलिङ्गम् भवति । पण्यते-व्यवह्रियतेऽनेनेति-पाणीन्द्रियमादानात्मकव्यापारग्रहणलिङ्गम् भवति । पद्यते गम्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या गमनक्रियाग्रहणलिङ्गम् पादेन्द्रियं भवति । पिबन्ति जलादिकं योगिनोऽनेनेति पाय्विन्द्रियं मलोत्सर्गादिक्रियाग्रहणलिङ्गम् भवति । उपतिष्ठते विषयोपभोगार्थं तदुपस्थमानन्दग्रहणलिङ्गं भवति । कर्मेन्द्रियाणां क्रियैव प्रधाना, अतः कर्मेन्द्रियेत्यभिधानमपि बोध्यम् । अथ तामसाहंकारात्—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि सूक्ष्माणि तन्मात्राणि प्रादुर्भवन्ति, तानि तूपभोगयोग्यानि न स्युरतः सूक्ष्माणीति स्थूलभूतकारणानीति बोध्यन्ते । तथा च 'स्थूलभूतकारणत्वे सति तामसाऽहंकारजन्यत्वं-तन्मात्रत्वम्' अथवा 'यज्जातीयेषु शान्तघोरमूढाख्यविशेषश्चर्यं न तिष्ठति तादृशशान्ताद्यनाश्रय-तज्जातीयशब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकसूक्ष्मद्रव्यत्वम्'—तन्मात्रत्वमिति बोध्यम् । सोऽयमेकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चेति षोडशको गणोऽहङ्कारकार्यमिति सामान्यतया बोध्यम् । राजसाऽहङ्कारस्य स्वतन्त्रं कार्यं नास्ति, किन्तु सत्त्वतमसी स्वयमक्रियत्वया न स्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु यदा चलतया ते चालयति तदा स्वकार्यं निर्वर्तयत इति सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेण रजसोऽपि निरुक्तोभयविधकार्यं प्रति कारणत्वमिति बोध्यम् ।

अत्र केचित्तु त्रयोदशकरणानां देवता यथाक्रमं श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोऽहंकारबुद्धीनाम्—दिग्वायुसूर्यवरुणाश्विनीकुमारवह्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिचन्द्रविष्णुब्रह्माणो भवन्ति ॥ त एते सात्त्विकाहंकारात् प्रादुर्भवन्तीति वदन्ति । तत्तु न युक्तम्—यतो हि नास्मन्मते देवतानामधिकरणाऽतिरिक्तत्वमिति, देवताश्च यदि चेतनास्ते नित्या जीवात्मतत्त्वान्तर्गताः । यदि चाहंकारादुत्पन्नानां शक्तिविशेषाणां देवतेत्यभिधानं तदा तु तासां स्वाधिकरणात्मकत्वमेवेति सिद्धान्तः ।

पञ्चतन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः पञ्चमहाभूतानि भवन्तीति । तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं भवति तस्य स्थूलशब्दो गुणः । शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणवान् भवति । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणकं भवति । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्राज्जलं शब्दस्पर्शरूपरसगुणकं भवति । शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्रात् पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणवती प्राविर्भवति । तथाच 'सूक्ष्मतन्मात्रजन्यत्वे सति स्थूलशब्दादिमत्त्वम्'—भूतत्वमत्र बोध्यम् । तेषामेव भूतानां विकारा घटपटशरीरादयः सर्वेऽवलोक्यन्ते-सोऽयं संसार इति ख्यायते । तान्येतानि प्रकृतिजन्यानि तत्त्वानि त्रयोविंशतिसङ्ख्याकानि ज्ञेयानि ।

ननु घटपटादयोऽपि पृथिव्यादिभूतेभ्यः समुद्भूतास्तत्त्वान्तराणि भवन्तीति चेन्न । यत्र स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोस्तारतम्यमुपलभ्यते तस्यैव तत्त्वान्तरत्वम्, यथा शब्दैकगुणकमाकाशमत्यन्तसूक्ष्मम्, ततः शब्दस्पर्शगुणः पवनः स्थूलः, ततोऽपि शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः स्थूलतरम्, ततोऽपि शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः स्थूलतमाः, ततोऽपि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी-अत्यन्तं स्थूलतमेति । विपर्यये च पृथिवीत एकांशसूक्ष्मं जलम्, जलत एकांशसूक्ष्मं तेजः, तेजस्त एकांशसूक्ष्मो वायुः । वायुत एकांशसूक्ष्ममाकाशम् । इत्येतादृशं तारतम्यमुपलभ्यते । घटपटादीनान्तु न तथा, किन्तु पृथिवी-घटादीनां समानमेव स्थूलत्वम् ॥ एवमिन्द्रियाऽग्राह्यत्वेऽपि तारतम्यमुपलभ्यते, यथा शब्दादिपञ्चगुणात्मकपृथिव्याः श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वम्, जलस्य चतुर्गुणवत्त्वेन चतुरिन्द्रियग्राह्यत्वम्, तेजसो गुणत्रयवत्त्वेनेन्द्रियत्रयग्राह्यत्वम्, वायोर्द्विगुणवत्त्वेनेन्द्रियद्वयग्राह्यत्वम्, आकाशस्य शब्दैकगुणवत्त्वेनैकेन्द्रियग्राह्यत्वम् । एवं यत्र यत्रेन्द्रियग्राह्यत्वे तारतम्यं तत्र तत्त्वान्तरत्वं बोध्यम् । घटपटादीनान्तु तथा न दृश्यतेऽतो न तत्त्वान्तरत्वमिति तत्त्वम् ॥

तेष्वेतेषु द्रव्यपदवाच्येषु षड्विंशतिपदार्थेष्वन्यत्राऽभिमतपदार्थानामन्तर्भावोऽवसेयः । तद्यथा कैश्चिदभिमता द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावाऽऽख्याः सप्तपदार्थाः । तत्र द्रव्यमध्यतः पृथिव्यप्तेजोमरुद्व्योममनांसि तु स्वीकृतान्येव सन्ति । कालस्य क्षणात्मकत्वेन तत्त्वान्तरत्वाऽभावात् क्षणोपाधिष्वेवाऽन्तर्भावः । दिशाम् प्रदेशान्तर्भाव एवेति । गुणमध्यतः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तु तन्मात्रात्मकानि सूक्ष्मद्रव्याणि, स्थूलाः शब्दादयस्तु पृथिव्यादिपञ्चभूतकार्यात्मकाः पञ्चभूतान्तर्गता एव बोध्याः कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् । सङ्ख्या तु प्रकृतिकार्यत्वेन चतुर्विंशतितत्त्ववृत्तित्वेन स्वस्वाधिकरणान्तर्भूता बोध्या । परिमाणं महदणु चेत्युभयविधमङ्गीकृतम्, ताभ्यामेव दीर्घह्रस्वयोर्निर्वाहात् तत्राऽणुपरिमाणं सूक्ष्मपदार्थवृत्तित्वेन सूक्ष्मपदार्थान्तर्भूतम्, महत्परिमाणन्तु पञ्चस्थूलभूतेषु सत्त्वेन तदन्तर्भूतम् बोध्यम् । पृथक्त्वम्—'इदमस्मात्पृथगि'ति प्रतीतिविषयम्, तादृशप्रतीतिस्थले 'इदमेतद्भिन्नमि'ति प्रतीत्यैव निर्वाहे सति भेदात्मकमेव तत् । भेदश्चाऽन्योन्याभावः स च स्वाधिकरणान्तर्भूत एव, अभावस्यैतन्मतेऽधिकरणात्मकत्वात् । संयोगः—सम्बन्धः, स च चतुर्विंशतितत्त्वात्मकद्रव्याणां सम्भवति तस्मात् तत्तत्त्वानां धर्मरूपस्तत्रैवान्तर्भूतः । विभागः—संयोगाभावरूपएव न त्वतिरिक्तः, अभावस्य चाऽधिकरणस्वरूपत्वमिति न विभागस्तत्त्वान्तरम् । परत्वाऽपरत्वे ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्वात्मकेऽधिकत्व-न्यूनत्वात्मके वा, ते च स्वाधिकरणान्तर्गते एव । गुरुत्वम्-पृथिवीजलान्तर्भूतम् । द्रवत्वम्—पृथिवीजलतेजोऽन्तर्गतम् । स्नेहो—जलान्तर्गतः । बुद्धिस्तु तत्त्वान्तरमन्तःकरणमिति । सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्कारास्तु

बुद्धिधर्मा बुद्ध्यन्तर्भूता एव । योगानां मते कार्यकारणयोस्तादात्म्येन सर्वमपि पराभिमतपदार्थान्तरं स्वस्वकारणान्तर्भूतं वेदितव्यम् ।

कर्माणि तु व्यापारविशेषाणि क्रियाविशेषाणि वा, तानि प्रकृत्यादि-चतुर्विंशति-पदार्थेषूत्पन्नानि यथायोगं स्वाधिकरणान्तर्गतान्येवेति ।

सामान्यम्—व्यवच्छेदको व्यावर्तको धर्मः, यथा पृथिवीत्वशब्दत्वादिः, सोऽपि प्रकृतिकार्यात्मक एव स्वाधिकरणान्तर्भूत इति । विशेषास्तु नाङ्गीक्रियन्ते, यतो हि सूक्ष्माणां परमाण्वादीनां वा परस्परभेदसाधकास्तु तद्वृत्तिधर्मा एव समर्था भवन्ति तस्माद्विशेषाणामपेक्षैव नास्तीति । समवायसम्बन्धोऽपि नाऽभ्युपगम्यते-संयोगेन तादात्म्येन च योगनये निर्वाहात्,—तथाहि—कार्यकारणभावापन्नपदार्थानां संयोगो भवति, कार्यकारणभावाऽनापन्नपदार्थानान्तु तादात्म्यम् एवेति । प्रागभावप्रध्वंसा-भावात्यन्ताभावाऽन्योन्याभावभेदेन चतुर्विधाभावमध्यतो ध्वंसप्रागभावयोरनङ्गी-कारात्, अन्योन्याभावात्यन्ताभावयोरङ्गीकारेऽपि स्वस्वाऽधिकरणान्तर्गतौ ताविति जीवात्मानस्तु सन्त्येव । परमात्माऽपि तथाऽतिरिक्तोऽङ्गीक्रियते इति ।

केचिद् योगाचार्यास्तु प्रस्थानान्तरमनुयान्ति—यथा—प्रकृतिः पुरुषः परमात्मा चेति तत्त्वत्रयम् । तत्र प्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका, पुरुषाश्चेतना जीवात्मानोऽनेके-नित्याः शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः । परमात्मा—नित्यः सर्वज्ञः सर्वनियन्ता सच्चिदानन्दः साकृतिस्वरूपो योग्य इति ।

अन्ये—ततोऽपि प्रस्थानान्तरमङ्गीकुर्वन्ति, तद्यथा—द्रव्यगुणकर्मधर्मसंसर्गाः पञ्चपदार्थाः, तत्र द्रव्यं द्विविधम्, जडचेतनात्मकम्, तत्र जडा प्रकृतिश्चतुर्विंशति-विधा—प्रकृतिमहदहंकारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थ—शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धपृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशभेदात् । चेतनो द्विविधः जीवात्मा पर-मात्मा चेति, तत्र नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावा जीवा नित्या अल्पज्ञा अनेका इति । परमात्मा त्वेकः सर्वज्ञो नित्यः सर्वनियन्ता व्यापकसच्चिदानन्दविग्रहो दिव्यकल्याण-कराऽसंख्यगुणविभवैश्वर्यवानिति ।

गुणाः—सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्कारज्ञानाऽज्ञान—वैराग्याऽवैराग्यै-श्वर्याऽनैश्वर्य—संख्यापरिमाणपरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशक्त्यात्मका एकविंशतिसंख्याका इति । तत्राऽनैश्वर्यान्ताश्चतुर्दश बुद्धिमात्रवृत्तयः । संख्या—एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता यावद्द्रव्येषु वर्तते । परिमाणम्—अणु महच्चेति, तत्राणु सूक्ष्मतत्त्ववृत्ति, महत्—स्थूलतत्त्ववृत्ति । परत्वम्-यथायोगं सर्वद्रव्यवृत्ति । गुरुत्वम्-पृथिवीजलमात्रवृत्ति । द्रवत्वम्-पृथिवीजलतेजोवृत्ति । स्नेहो—जलमात्रवृत्तिः ।

शक्तिर्नित्याऽनित्याऽनेकविधा, सा यथायोगं सर्वद्रव्यवृत्तिः । कर्माणि त्वने-कानि जडतत्त्ववृत्तीनि । धर्मः—व्यावर्तकसामान्यम्, तत्र द्रव्यगुणधर्मकर्मसंसर्ग-

वृत्ति, अनेकविधम् । संसर्गः—संयोगतादात्म्यभेदाद्द्विविधः, तत्र कार्यकारणयोस्तादात्म्यम्, कार्यकारणाऽनापन्नानान्तु संयोगः । तेच पञ्चपदार्था नित्याः सन्तो भावा इति व्यवह्रियन्ते । अस्मदभिमतपदार्थास्तु श्रीस्वामिनारायणवेदान्तसारतोऽवगन्तव्याः ॥

निरूपितानां पदार्थानां मध्ये प्रकृतित एव प्रादुर्भूतानां जडत्वं सुखदुःखमोहात्मकत्वञ्च । आत्मपरमात्मनोश्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वमित्यादि यथार्थपदार्थविषयकभेदज्ञानमेव योगस्य सहकारि भवितुमर्हति । वैराग्यञ्च 'दृष्टानुश्रविकविषयेषु वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञकवैराग्यमि'ति सूत्रस्य भाष्ये निरूपयिष्यामः। ततो वैराग्यभेदा अवगन्तव्याः । भक्तिश्च 'तज्जपस्तदर्थभावनमि'तिसूत्रस्य भाष्ये विवेचिता भविष्यति ततोऽवगन्तव्या । इत्येवं कथितो विषयः ॥

प्रयोजनन्तु सर्वत्र भवति सुखं-दुःखाभावश्चेति, प्रकृते त्वात्यन्तिकदुःखत्रयात्यन्ताभावविशिष्ट-नित्यसुखरूपपरमेश्वरस्वरूपशरणप्राप्तिः । तादृशप्राप्तिमयुक्तं तस्य सच्चिदानन्ददिव्यपरब्रह्मस्वरूपस्य निरन्तरं दर्शनमिति यावत् । तच्च परमात्मनः सच्चिदानन्दधाम्नि गमने सत्येव महामुक्तस्य महायोगिनो भवति, तदा हि तादृशमहामुक्तयोगिनो दुःखत्रयात्यन्ताभावो विद्यत एव, अन्यथा परममुक्त्यनुपपत्तेः । तथा च—'सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयात्यन्ताभावविशिष्ट-सच्चिदानन्ददिव्यस्वरूपपरब्रह्ममूर्तिविषयकाऽविच्छिन्नदर्शनादिलभ्याऽखण्डाऽऽनन्दवत्त्वम्'-मुक्तित्वमिति योगाचार्याणां सिद्धान्तः, तदेव प्रयोजनं परमपुरुषार्थः, स च नित्यः, नित्यस्य परमपुरुषार्थस्योत्पत्तिस्तु नास्त्येव, किन्तु चेतनतत्त्वयोर्जीवात्मपरमात्मनोश्चेतनत्वेन वह्निपतङ्गवत् सम्बन्धवत्तया द्वयोः सान्निध्यं योग्यमेव, तथापि प्रकृतिर्जीवात्मावृता सत्याऽज्ञानादिप्रभावेणाऽधिष्ठिता सती न चेतनानां स्वस्वरूपस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वप्रकारकबोधप्रादुर्भावं भावयितुं सदया भवति, यावच्च चेतनः साधनसम्पत्त्या तां विहन्यात् । प्रकृतेर्वियोगे सति तु मायात्मकतमस आवरणकस्य क्षये सति शुद्धचेतनरूपयोर्जीवात्मपरमात्मनोः सान्निध्यं झटिति प्रादुर्भूतं सत्—आत्मनि परमपुरुषार्थात्मकनित्याऽखण्डानन्दवत्तां व्यञ्जयति, तदेव परमं कैवल्यमिति । तच्च सदैव पुनराविर्भवतीति नित्यत्वं तस्य बोध्यम् ।

दुःखत्रयात्यन्ताभावोऽप्यात्मतत्त्वे भवत्येव, शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्याऽऽत्मतत्त्वस्य त्रिगुणरहितत्वात् सुखदुःखमोहा अपि प्राकृता नात्मतत्त्वे भवितुमर्हन्ति, ते तु प्रकृतिधर्मास्तादात्म्येन प्रकृतिपदार्थे एव भवितुं योग्याः । यो हि यस्य धर्मः स तत्रैव धर्मतया भासते न त्वन्यत्र, तदेव च तस्याधिकरणं भवति नान्यत्, अन्यस्याऽन्यधर्मवत्त्वे तु सर्वमपि सर्वत्रैवाऽऽधाराऽऽधेयतामापन्नं स्यात् तथाचान्यधर्मस्याऽन्यधर्मवत्त्वे स्वपरविभाग एव न स्यात्, लक्षणस्वरूपाऽवगम एव न स्या-

विरुद्धनवस्थोपपद्येत, तस्मात्प्रकृतिधर्माः सुखदुःखादयो नाऽऽत्मतत्त्वे सांसिद्धिकाः सन्तीति । सांसिद्धिकत्वं हि 'स्वकारणसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यस्य स्वकारणसत्तासत्त्वम्, जलगतं द्रवत्वं भवति तथा, सुखदुःखादयो बुद्धौ सांसिद्धिकाः, आत्मनि त्वौपाधिकाः । औपाधिकत्वन्तु—'स्वसत्तातिरिक्तसत्ताकधर्मस्य स्वकीयधर्मत्वेन भासमानत्वम्, यथा जपाकुसुमरक्तिमा स्फटिके भवत्यौपाधिकी, स्फटिकसत्ताऽतिरिक्तजपाकुसुमसत्ताकधर्मरूपायां तत्र स्फटिकधर्मत्वेन भासमानत्वस्य सत्त्वात्, तथा चेतनतत्त्वेऽप्यौपाधिकं सुखदुःखादिकमिति । तथा च बुद्धौ प्रतिबिम्बिते चैतन्ये दुःखादयस्तावदुपसंक्रान्ता भवन्त्यौपाधिका इति तत्त्वम् । बुद्ध्याद्युपाधित्वं च भ्रान्तिविषयकधर्मप्रकारकप्रमीयविशेष्यतावत्त्वम्, यथार्थबाधविषयप्रतियोग्याश्रयत्वं वा बोध्यम् ॥ दुःखन्तु, सत्, नित्यम्, सर्वदा स्थायि, तत्र स्थूलसूक्ष्मेत्यवस्थाद्वयमुपयन्तीति । यदा हि भोग्यत्वेनोपलब्धं तदा स्थूलावस्थं वर्तमानसामयिकं तदिति, वियुज्यमानञ्च नष्टमिति सूक्ष्मावस्थम् भूतकालीनं तदिति, अनागतावस्थञ्च भविष्यत्कालीनं सूक्ष्मावस्थं तदिति । आत्यन्तिकदुःखत्रयात्यन्ताभावश्च—आत्यन्तिकदुःखत्रयनिवृत्तिरिति । निवृत्तिरत्र न ध्वंसः, सत्कार्यवादिमते ध्वंसप्रागभावयोरस्वीकारात् ।

'ननु तन्नष्टं तद्भविष्यति' इत्यादि प्रतीत्या क्रमेण तद्ध्वंसस्य तत्प्रागभावस्यैव बोधात् तदनङ्गीकारे कथं तथाऽर्थबोधनिर्वाह इति चेन्न । तन्नष्टमिति प्रत्ययवत् 'तत्तिरोभूतं तदतीत'मित्यादिप्रत्ययस्यापि सम्भवेन तत्पदग्राह्यघटपदादिपदार्थस्याऽतीताऽवस्थाया एव बोधो भवति । एवं 'तद्भविष्यति'—इत्यत्रापि 'तदाविर्भविष्यति तदनागत'मित्यादिप्रयोगेन तत्पदग्राह्यघटपदादिपदार्थानामनागतावस्थाया एव बोधो भवतीति, तथा च ध्वंसस्याऽतीताऽवस्थे प्रतियोगिनि पदार्थेऽन्तर्भावः, प्रागभावस्य चाऽनागतावस्थे प्रतियोगिपदार्थेऽन्तर्भाव इति न तयोस्तत्त्वान्तरत्वमिति । अतएव दुःखनिवृत्तिर्नाम दुःखस्यातीतावस्थात्मकत्वम्, दुःखस्य प्रागभावो नाम दुःखस्याऽनागतावस्थात्मकत्वमिति सिद्धान्तः ।

नन्वेवं सति दुःखनिवृत्त्यात्मकस्य दुःखस्याऽतीतावस्थास्वरूपस्य कथमात्मनि संभवः ?, दुःखस्य बुद्धिधर्मत्वात्, दुःखस्यातीतावस्थात्मकत्वमपि बुद्धावेव युक्तमिति, तथा च दुःखत्रयात्यन्ताभाव आत्मनीति रिक्तः सिद्धान्त इति चेन्न । बुद्धेः स्वच्छतया तत्रात्मनः प्रतिबिम्बं भवति, आत्मतत्त्वस्य शुद्धस्वरूपत्वेऽपि बुद्धिवर्तिनोऽहंकार-कर्तृत्व-ज्ञान-सुखदुःखादयस्तत्प्रतिबिम्बे समुपसंक्रममाणा भवन्ति, चेतनश्च तान्धर्मान् स्वकीयानिवाऽभिमनुते, बुद्धिरपि स्वगतात्मप्रतिबिम्बमुखेन चेतनत्वादिकान् धर्मान् स्वकीयानिव सम्मनुते, तथा च तयोरन्योन्यधर्मसंक्रमेण द्वयोः स्वरूपमेकमिव द्वयोर्धर्मानभिन्नानिव तावुभौ गृह्णीतः; तेन पुरुषे दुःखसंक्रमसत्ता सर्वा-

चीना, अन्यथा दुःखस्य भोग्यत्वाऽनुपपत्तेः । दुःखादिग्रहणमेव भोगः, भोगश्चोपसंक्रमणमिति, तथा च दुःखस्य सूक्ष्मत्वेऽतीतावस्थात्मकत्वे दुःखभोगनिवृत्तिरपि पुरुषे तावदौपाधिकी स्वल्पैवेति ॥ अत्रेदमपि विज्ञेयम्—'आत्यन्तिकदुःखत्रयात्यन्ताभावस्तु स्वरूपतः पुरुषे सर्वदा वर्तत एव, तथाप्यौपाधिकत्वेन दुःखसंयोगात्तदत्यन्ताभावोऽसन्निव पुरुषस्याऽनुभूयते, यदा त्वौपाधिकदुःखादिकारणस्य प्रकृत्यादेरत्यन्तवियोगस्तदैव बुद्ध्यात्मकाऽधिष्ठानविलये प्रतिबिम्बस्यापि विलयस्तथा चौपाधिकदुःखसंयोगादेरपि विलयः, प्रतिबन्धकस्योपाधिरूपदुःखस्य विलये सत्यात्यन्तिकदुःखत्रयात्यन्ताभावः सन्नेव पुरुषस्य भासते, इत्यर्थं वर्तमानः सन्परमेश्वरोपासनया तत्स्वरूपदर्शनाऽऽनन्दाविर्भावं पुरुषेऽधिष्ठापयति, तथा च मोक्ष इति तत्त्वं सिद्धम् भवति ।

अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य प्रयोजकत्वाद् दुःखत्रयमपि ज्ञातव्यं भवति, सर्वेषां प्राणिनां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्, तच्च—आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकभेदेन त्रिविधम् । तत्राऽऽत्मानं देहान्तःकरणादिकमधिकृत्य जायमानमाध्यात्मिकम्, तच्छारीरं मानसञ्चेति द्विधा, तत्र शारीरे हि वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तजन्यं ज्वरादिकं दुःखं सर्वं शारीरम् । अन्तःकरणेन मनसा वेद्यमानं बुद्धिस्थकाम-क्रोध-लोभ-मोह-भयेर्ष्या-विषाद-मद-मत्सर-तृष्णा—विषयाऽलाभप्रभृतिनिमित्तजन्यम् मानसं दुःखमिति ॥ एवं भूतानि-प्राणिनोऽधिकृत्य भवति यत्तदाधिभौतिकम्, यथा—राजैकागारिक-पाटच्चर-घातकपश्वारण्यकमृग-शुकादिपतत्रि-सरीसृप-वृश्चिक-शलभ-मूषकादिजङ्गमप्राणिजन्यं, स्थावरवृक्षादिपतनोत्पातजन्यञ्च सर्वं दुःखमाधिभौतिकम् । देवानधिकृत्य भवति यत्तदाधिदैविकम्, यथा—अग्निप्रकोप-वातचलन-जलप्रलय-शक्रवज्रपात-भूकम्प-हिमवृष्टि-यक्ष-राक्षस-विनायक-ग्रह-डाकिनी भूत-भैरवमन्त्र-तन्त्राद्युत्पातजन्यं सर्वं दुःखमाधिदैविकमिति ॥ यद्यपि तत्सर्वं दुःखं मनोधर्मत्वान्मानसमेव भवति, तथापि—आध्यात्मिकदुःखस्य मनोदोषमात्रजन्यत्वम्, आधिभौतिकस्य तु भूतप्राणिसहकृतमनोजन्यत्वम् ॥ आधिदैविकस्य तु देवादिसहकृतमनोजन्यत्वमिति-विवेकः । तस्याऽऽत्यन्तिकनाशाय योगाभ्यासो विधेय इति । प्रयोजनमभिहितम् ॥ तादृशप्रयोजनाऽऽकाङ्क्षिणो मुमुक्षव एवाऽधिकारिणो भवन्ति । तत्राधिकारित्वं नाम 'तन्निष्ठग्राह्यतानिरूपिताऽऽदरनैरन्तर्यसत्कारपूर्वक-सेवाऽभिलाषासहकृतग्राहकतावत्त्वम्' इति । अत्र तु मुमुक्षुरेव तादृशो भवतीति ॥ १ ॥

यथावदर्थानां प्रमाणतोऽवगमे सति प्रवृत्तिर्भवति, प्रवर्तकमेव प्रमाणमर्थवदिति, विना प्रमाणं नार्थाऽवगमः, न चाऽर्थाऽवगममृते प्रवृत्तिप्रादुर्भावः, अनुमाता हि प्रमाणत एव सदर्थमध्यवस्य तमभीप्सति जिहासति वा, ईप्सा-जिहासा प्रेरितस्य यत्नः प्रवृत्तिरिति ख्यायते, प्रवृत्तः सन् तमर्थमाकलयति विजहाति वा,

तदुक्तम् प्रमाणार्थस्तावत्प्राणिनामपरिसङ्ख्येयत्वादपरिसङ्ख्येयः । सामान्यतस्तु चतुर्विधः-हेयम्, हेयसाधनम्, हानम्, हानसाधनञ्चेति, चतुर्व्यूहात्मकमिदं मोक्षप्रदं योगशास्त्रम् । तत्र हेयम्-यावदसुमुतां प्रतिकूलवेदनीयं दुःखत्रयम् मायाबन्धनञ्चेति । हेयसाधनञ्च-जडचेतनयोः संयोगस्तावदौपाधिकः । हानम्-दुःखत्रयस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिः, तदुपबृंहितपरमपुरुषार्थः । हानहेतुश्च-तत्त्वज्ञानवैराग्यभक्तिसाधनसहकृतयोगधर्मः । तत्त्वज्ञानम्-जडचेतनयोर्भेदज्ञानम्, चेतनेऽपि परमात्मजीवात्मनोर्यथार्थस्वरूपाऽवबोधश्च । वैराग्यम्-यावन्मायिकविषयेषु रागाऽभावः । भक्तिश्च 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ॥ अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' इत्येवं नवधा, सा च प्रेमलक्षणा । इत्येवं साधनत्रयसम्पन्नस्य परमयोगसिद्धिरपि भवति । स चायं-

## "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" ॥ २ ॥

निरोधो नाम स्वकारणे लयः, चित्तं नाम महत्तत्त्वम् बुद्धिरेवेति, तथा च-'यावतीनां बुद्धिवृत्तीनां सात्त्विकीनां राजसीनां तामसीनाम् प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृत्यभिधानां स्वकारणे बुद्धितत्त्वे तावदात्यन्तिको लयः-योग इत्युच्यते । बुद्धिवृत्तीनां लयो हि तदैव भवति यदा बुद्धौ बीजभावस्तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धः स्यात्, अपरयोगिनामपि यावत्स्थूलशरीरस्थितिस्तावत्सूक्ष्मशरीरस्यापि सत्त्वेनात्मबुद्ध्योः संयोगस्यापि विद्यमानत्वम्, एवञ्च सति बुद्धौ प्रतिबिम्बमपि चेतनस्य सम्भवत्येव, तत्र च बुद्धिधर्मा अवश्यं संक्रान्ता विद्यन्ते, बुद्धिधर्मैरात्मा स्वं कर्तारं मन्यमानः सन् प्रवृत्तो भवति, प्रवृत्तिं प्रति च विविधाऽभिलाषात्मकबुद्धिवृत्तीनां कारणत्वादभिलाषा अपि तत्र विद्यन्त एव, अभिलाषां प्रति ज्ञानस्य कारणत्वाज्ज्ञानमपि तत्र विद्यत एव, ज्ञानं प्रति च विषयाणां कारणत्वादिन्द्रियैर्विषया आलोच्यन्त एवेति सर्वमापतितं भवति, तथा च बुद्धिसंसर्गसत्त्वे कथं तेषां परमो योगो मोक्षसाधनरूपः सध्रीचीनस्वरूपः स्यात् ? । अत्रेदन्तत्त्वम्-बुद्धिसंयोगसत्त्वेऽपि तत्र ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावत्वाऽनधिकस्तावत्परो योग इति, स चायं गीतायामुक्तो भगवता—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! । सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" अ. २ श्लोक ४८ । "श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला । समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि" ( अ. २ श्लो० ५३ ) इति ।

तथा च प्रथमं योगसाधनानां यमादीनामनुष्ठाने प्रथममपरो योगः प्रादुर्भवति, तेन च स्वाऽव्यवहितोत्तरकाले एव तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यते, तेन च विवेकख्यातिश्चैव्ये सति प्रागेव परमो वैराग्यो भवति, वैराग्यस्य सध्रीचीनत्वे सति तूर्णमेव भगव-

द्भक्तिर्भगवदेकतानतात्मिका सम्भवति, भक्तेरादिमक्षणपर्यन्तमेवाऽपरो योग इति । तावदेव—जात्यायुर्भोगप्रदक्लेशानां क्षेत्रभूतायामविद्यायां वासनारूपो बीजभावो भोगाङ्कुरप्रसवं कर्तुं प्रभुर्भवति, तत्त्वज्ञानन्तु तथाविधक्लेशानां विरोधि, सम्यगुत्पद्यमानं सत् क्लेशानां बीजभावं दग्धं करोति—तद्यथा—'संशयविपर्ययरहितं विशदाभं तत्त्वज्ञानम्—"नाऽस्मि नाऽहं न मे" इत्याकारकं बोध्यम्, तत्र 'नास्मी'त्यनेनात्मनि क्रियाव्यापारमात्रनिषेधः । 'नाह'मित्यनेन निर्व्यापारे आत्मनि कर्तृत्वनिषेधः । 'न मे'इत्यनेनाऽऽत्मनि सुखादिस्वामित्वनिषेधः । तथा च व्यापारवत्कर्तृत्ववत्स्वामित्ववत्प्रकृतिमहदादितो भिन्नोऽहं निर्व्यापारोऽकर्ताऽस्वामी'—त्याकारकतत्त्वज्ञानोत्कर्षाऽऽविर्भावानन्तरं बुद्धिगतक्लेशा धर्माऽधर्मादयश्च ज्ञानातिरिक्ताः सप्तभावाः प्रक्षीणाः सन्तस्तिरोभूताः संस्कारात्मकाः फलजननाऽसमर्था दग्धबीजवद् दग्धाः सन्तो विलीयन्ते, तदा मिथ्याज्ञानमपि दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते, तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये वर्तमानस्य विवेकज्ञानप्रवाहो निर्मलो भवति—सेयं विवेकख्यातिरिति । तदा पुरुषः स्वच्छः सात्त्विकया एव वृत्त्या प्रकृतिं जरन्तीं राक्षसीमिव पश्यति, स चायं विवेकख्यातेः क्षणः परमवैराग्यस्यापि क्षणः, विवेकख्यातेर्वैराग्यस्य च सामानाधिकरण्येनैवोपलम्भात्, तदेतद्विवेकख्यातिपरमवैराग्ययोरनन्तरं द्रागेव परमात्मभक्तिः प्राविर्भवति, तदतोऽत्र भक्तेरादिमक्षणाऽधिक एवाऽपरयोगोऽपरवैराग्यश्च संस्थित इति व्यवस्था । भक्तेः प्रथमक्षणमारभ्योत्तरसमयावच्छिन्नः परमो योगः परमवैराग्यश्चेति ख्यातः । तदेतस्मिन्परमे योगे समुपपन्नोऽपि प्रारब्धकर्मणां भोगाय शरीरारम्भकसंस्कारक्षयणाय च धृतविग्रहः सन् परमो योगी शरीरे तिष्ठति । तत्त्वज्ञाननिरोधेन विलीनाऽखिलक्लेशसलिलायामूषरायां बुद्धिभूमौ दग्धैः कर्मबीजैर्नूतनभोगाङ्कुरस्तु न जन्यत एव, तथा च परमे योगे विद्यमाने सति प्रारब्धभोगानन्तरं द्रागेव शरीरवियोगो युक्तस्तथापि यदीच्छति योगी स्वशरीरवियोगं तदा, योगिनः प्रारब्धकर्मनाशेऽपि यावदिच्छति तावच्छरीरे मुक्तवत्तिष्ठति, अत एव परमे योगे सत्ययं महायोगी जीवन्मुक्त इति भवति । सेयमवस्था मुक्तेः प्राग्भारा । तथा च परमयोगस्य साक्षान्मुक्तिं प्रति हेतुत्वमुपपन्नमिति योगाचार्याणां सार्वभौमसिद्धान्तः ॥

परमयोगस्य लक्षणम्—'तत्त्वज्ञानविवेकख्यात्यपरवैराग्याऽव्यवहितोत्तरकालीनजायमानत्वे सति परमात्मभक्तिसमानकालीनत्वे सति परममुक्तेः साक्षात्कारणत्वम्' अथवा 'तत्त्वज्ञानप्रयोज्यविवेकख्यात्यपरवैराग्योभयजन्यत्वे सति परमवैराग्यसमानकालीनत्वे सति परममुक्तिजनकत्वम्' परमयोगत्वमिति । 'यमनियमादिसाधनजन्यत्वे सति परमयोगजनकत्वम्' अपरयोगस्य लक्षणम् । स चायमपरो योगः सम्प्रज्ञात इति स बीज इति च ख्यायते । परमो योगस्त्वसंप्रज्ञात इति निर्बीज इति च ख्यायते ॥

चित्तस्य भूमिका अवस्थाविशेषाः पञ्च–क्षिप्तम्,–मूढम्, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धम्, इति ।

तत्र क्षिप्तम्–रजोगुणस्य समुद्रेकात् तत्तद्विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरं सततप्रवृत्तिमच्चित्तं बोध्यम्, क्षिप्ते चित्ते सति प्रमाणविपर्ययविकल्पाऽभिधाना जाग्रद्वृत्तयो भवन्ति ॥ 'मूढम्–तमोगुणस्य समुद्रेकात् तत्तद्विषयेभ्यः परावृत्तं सत् आलस्यनिद्रावृत्तिमद् गुरुचित्तं बोध्यम्, अत्र हि प्रधाना निद्रा वृत्तिरनुवर्तते ॥ 'विक्षिप्तम्–सत्त्वगुणस्य समुद्रेकेऽपि रजसाऽनुविद्धत्वात् प्रायशोऽस्थिरं कदाचित् स्थिरं भवति तद्बोध्यम्, अत्र हि प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतयो भवन्ति । यत्र च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृत्यादिवृत्तीनां सत्ता तत्र व्यवहारे एव जाग्रदवस्थः पुरुषः संलग्नो भवति, व्यवहारलग्नस्य च व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वाद्यश्चित्तविक्षेपा अनुवर्तन्त एव, दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा अपि वर्तन्त एव, ते च सर्वे योगेऽन्तराया विघ्नात्मका भवन्ति, अतः क्षिप्ते मूढे विक्षिप्ते च चेतसि न भवति योगः । तथैव यमनियमासनादीनामपि चित्तस्थैर्यमपेक्षमाणानां न भवति क्षिप्ते मूढे विक्षिप्ते वाऽनुष्ठानम्, अतः संसारोपयोगिन्यस्तास्तिस्रो भूमिकास्तु योगस्य कृतेऽन्यथासिद्धा–इति ॥ 'एकाग्रम्–रजस्तमोवृत्त्यभिभवे सत्त्वस्यातीव समुद्रेके सति सत्त्वमात्रवृत्तिकमत्यन्तस्थिरमेकतानं चित्तम् बोध्यम्, अत्रहि रजस्तमोवृत्तीनां विरहाद् व्याध्यादयो दुःखादयश्च तिरोभूताः सन्तो विलुप्ता भवन्ति–न तु वर्तन्ते । अत एवात्यन्तस्थिरम्, यत्र लक्ष्ये प्रयुक्तं तत्र द्रागेव लग्नमचलञ्च भवति, अत एतत्काले यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिसंज्ञकानि योगाङ्गानि सम्यगनुष्ठेयानि सफलानि भवन्ति । अत्रैव च विशुद्धं 'नाऽस्मि–नाहं–नमे' इत्याकारकं तत्त्वज्ञानं भवति, तेन च विवेकख्यातिरपरवैराग्यञ्चात्रैव सुस्थिरं भवति ॥

सचायमपरवैराग्यस्त्रिविधः–यतमानसंज्ञको व्यतिरेकसंज्ञक एकेन्द्रियसंज्ञकश्चेति । तत्र विषयेभ्य इन्द्रियवृत्तीनां निरोधार्थमिन्द्रियवृत्तीनां प्रेरकरागादीनां चित्तवर्तिनाम् परिपाचनाय प्रयत्नो 'यतमानसंज्ञकवैराग्यः' ॥ यत्ने कृते सत्यवशिष्टानां निःशेषतयाऽपक्वानां पुनः पाचनाय प्रयत्नो 'व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्यः' ॥ चित्तकषायरागादीनां लये सतीन्द्रियवृत्तीनां लयो मनोमात्रेणोत्सुकता–स एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य इति ॥ अत्रैवैकाग्रे चित्तेऽविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशात्मकाः क्लेशाः क्षयं प्राप्ताः कारणात्मकाः सूक्ष्मा भवन्ति, कर्माणि–जात्यायुर्भोगप्रदानि धर्माऽधर्मात्मकान्यपि क्षीणानि कारणात्मकानि लयं गतानीव भवन्ति, ते क्लेशाः कर्माणि च बीजभावतयाऽवतिष्ठन्ते, नतु जात्यायुर्भोगात्मकानि नवान्यङ्कुराणि प्रसुवते । अतः

सबीजसमाधिरित्यपि ख्यायते। अत्र चैकाग्रे चेतसि शुद्धसत्त्वमय्या वृत्तेः सद्भावात् सम्प्रज्ञायते मनाक् सत्त्ववृत्तिर्यत्रेति व्युत्पत्त्या सम्प्रज्ञातयोग इति ख्यायते। स चायमपरोयोगो बोध्यः, तस्य चत्वारो भेदा एकाग्रे चित्ते एव विद्यन्ते, ते यथा—

सवितर्कसम्प्रज्ञातः, सविचारसम्प्रज्ञातः, सानन्दसम्प्रज्ञातः, सास्मितसम्प्रज्ञातश्चेति। तत्रैकाग्रे चित्ते कर्तव्ये प्रथमं स्थूलं लक्ष्यं पाञ्चभौतिकं शरीरं दीपशिखादि भगवतश्चतुर्भुजस्वरूपाऽर्चादिकं वा लक्ष्यीकृत्य तत्रैकतानता स्थूलालम्बनम्—सवितर्कसम्प्रज्ञातः॥ ततः स्थूलं विहाय सूक्ष्मेन्द्रियतन्मात्रशब्दादिषु लक्ष्यतयाऽऽलम्बनं विधाय चित्तैकाग्रताकरणं—सविचारसम्प्रज्ञातः॥ तत इन्द्रियतन्मात्रादिकमपि विहाय तत्कारणीभूतसात्त्विकाहंकारस्थां सत्त्वगुणमात्रां केवलां लक्ष्यीकृत्य तत्र चित्तैकाग्रताकरणम्—सानन्दसम्प्रज्ञातः॥ ततः सत्त्वसुखमात्रामपि विहाय तत्कारणीभूतां बुद्धिं सस्मितपदवाच्यामात्मना सह संयुक्तां लक्ष्यीकृत्य बुद्धयात्मनोरैकात्म्ये—बुद्धि–चेतनप्रतिबिम्बयोः संयोगे सूक्ष्मतरे चित्तैकाग्रताकरणं—सास्मितसम्प्रज्ञात इति ख्यायते॥ स चायं चतुर्विधोऽपि सम्प्रज्ञातयोगो विनाऽऽलम्बनं न भवत्यतः सालम्बनसमाधिरिति ख्यायते। अत्रैवैकाग्रे चित्ते चित्तस्य तिस्रो भूमिका अन्या अपि 'मधुमती-मधुप्रतिका–विशोका' इत्यभिधाना विद्यन्ते॥

तत्र स्थूलालम्बनमादाय चित्तस्यैकाग्रतायाम्—'मधुमती भूमिका। सूक्ष्मालम्बनमादाय चित्तैकाग्रतायां मधुप्रतिकाभूमिका॥ सत्त्वगुणांशसुखमात्रां बुद्धिचेतनप्रतिबिम्बसंयोगमादाय चाऽऽलम्बनकरणे चित्तैकाग्रतायां विशोकाभूमिका बोध्या, सेयं 'धर्ममेघा' इत्यपि ख्यायते तत्राऽऽत्ममात्रस्याऽऽलम्बनसान्निध्यात्।

अत्रैवैकाग्रे चेतसि—सम्प्रज्ञातसमाधौ च कृतपरितोषा निर्भरा योगाभ्यासतो विरमन्तः सन्तः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति ये तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपगते सति प्रकृतिलयं गच्छन्ति, अतस्ते 'प्रकृतिलया' उच्यन्ते। एवं तावन्मात्रयोगस्य परिसमाप्तिं विधाय स्वात्मानं प्रकृतितो भिन्नम् मन्यमानानान्तु 'विदेहा' इति ख्यातिर्भवति॥ केचिच्च योगिनस्तावदितस्तादेव परिभ्रष्टा भवन्ति ते 'योगभ्रष्टा' इत्युच्यन्ते॥ इति प्रतिपादितस्तावदेकाग्रेचित्ते सम्प्रज्ञातयोगप्रपञ्चः॥

ये तु परमात्मानं परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां पुनः पुनः प्रवर्तन्ते तेषां परमयोगस्य प्राप्तिर्भवति, तथाहि—'निरुद्धम्'—सत्त्वरजस्तमोमयीनां यावतीनां वृत्तीनां स्वकारणे बुद्धावत्यन्तलयइति। तादृशं चित्तं केवला बुद्धिरिति ख्यायते, सा चातीव स्थिरतमा, अत्रैव स्थिरतायाः पराकाष्ठा भवति। साष्टांगस्याऽपरयोगस्य फलमत्रैव परमोयोग इति भवति। सचायं महायोगिधर्मः। नाऽस्य योगिनः कर्तव्यं किमप्यवशिष्यते। तत्त्वज्ञानस्य विवेकख्यातेरपरवैराग्यस्य च फलमत्रैव परमवैराग्यम् भगवद्ध्यानैकतानता चैत्यात्मकमुपपन्नं भवति।

परमवैराग्यं--वशीकारसंज्ञकवैराग्यम्, तत्स्वरूपन्तु-'लौकिक-वैदिकदिव्याऽदिव्याद्यनेकविधविषयेषु स्वसन्निधावुपस्थितेष्वपि तत्र यस्य तृष्णाऽपि न स्यात् अर्थात्-इन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवृत्तीनामत्यन्तलयेनाऽऽलोचनादि सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायादिकं किमपि न स्यात् तदाऽस्य वशीकारसंज्ञकं परमं वैराग्यं वर्तते इति अस्यामेवाऽवस्थायां बुद्धौ क्षयं गतानां कारणात्मकानामस्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां क्लेशानां बीजभावस्य दग्धता भवति, एवं व्याधिस्त्यानादीनां दुःखादीनाञ्चापि क्षयं प्राप्य बुद्धौ कारणात्मकतयाऽवस्थितानामन्तरायाणां स्वरूपाण्यपि दग्धानि भवन्ति, अतो निर्बीजसमाधिरिति ख्यायते। एवमत्रैवाऽवस्थायां बुद्धिधर्माणां धर्माऽधर्मादीनां सर्वेषां क्लेशादीनां वृत्त्यादीनाञ्च स्वरूपतो दग्धतया बुद्ध्यादितत्त्वमात्राऽतिरिक्तं किमपि वृत्तितया न ज्ञायतेऽतोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरिति ख्यायते ।

इयं समाधेः पराकाष्ठा भवति । एवमस्यैवावस्थायाम् बुद्धिचेतनप्रतिबिम्बयोः संयोगालम्बनमपि विहाय केवलमात्मतत्त्वं लक्ष्यीकृत्य पुरुषेण स्वस्वरूपमवलोक्यतेऽतो निरालम्बनयोगोऽयमेवेत्यपि ख्यायते ।

अस्या एवाऽवस्थायाः प्रारम्भे तु मनागस्ति प्रारब्धकर्मसहकृतबुद्धेर्योगश्चेतनेन सह, अतः प्रारब्धसंस्कारक्षयो यावद्भवति तावत्संस्कारशेषानाम्नी भूमिकाऽत्र ख्यायते । संस्काराणां क्षये सति स्वसत्ताधीनो योगी शरीरस्य रक्षणे परित्यागे वा स्वतन्त्र एवातो महायोगी जीवन्मुक्तोऽपि जीवन्सन्परममुक्त इति ख्यायते, तदाऽयं स्वात्मस्वरूपे परमात्मस्वरूपमनवरतं पश्यति । अथवा यदि प्रारब्धसंस्काराणां भोगं कर्तुं नाऽभिलषति चेत्! तदाऽयं योगी प्रारब्धकर्मणां योगसमाधिबलेन भस्मीभावं कर्तुमपि क्षमः, तेन न भोक्तव्यतयाऽवशिष्यन्ते तस्य प्रारब्धकर्माण्यपीति बोध्यम् सोऽयं योगो द्विविधोऽपि एकाग्रे निरुद्धे च चेतसि समापन्न इति । तमिमं द्विविधं योगमालम्ब्य तत्साधनानि तत्प्रतिबन्धकानि तत्सहकारीणि तत्फलानि तद्वान्तरस्वरूपाणि लक्षणानि तदनुकूलानि च तत्त्वानि निरूपयतीदं शास्त्रमिति ।

'ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वम्-सम्प्रज्ञातत्वम् । अत्र-एकाग्रताविशेषरूपधारणादित्रयकालीनानां निरोधानां प्रलयादिकालीननिरोधानाञ्च व्यावर्तनायोपहितान्तं विशेषणम् ।

'तत्त्वज्ञानसंस्कारग्राहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम्-असम्प्रज्ञातत्वम् । अत्र-प्रलयादिकालीननिरोधव्यावर्तनाय सत्यन्तम् । तत्र कोऽपर्क—

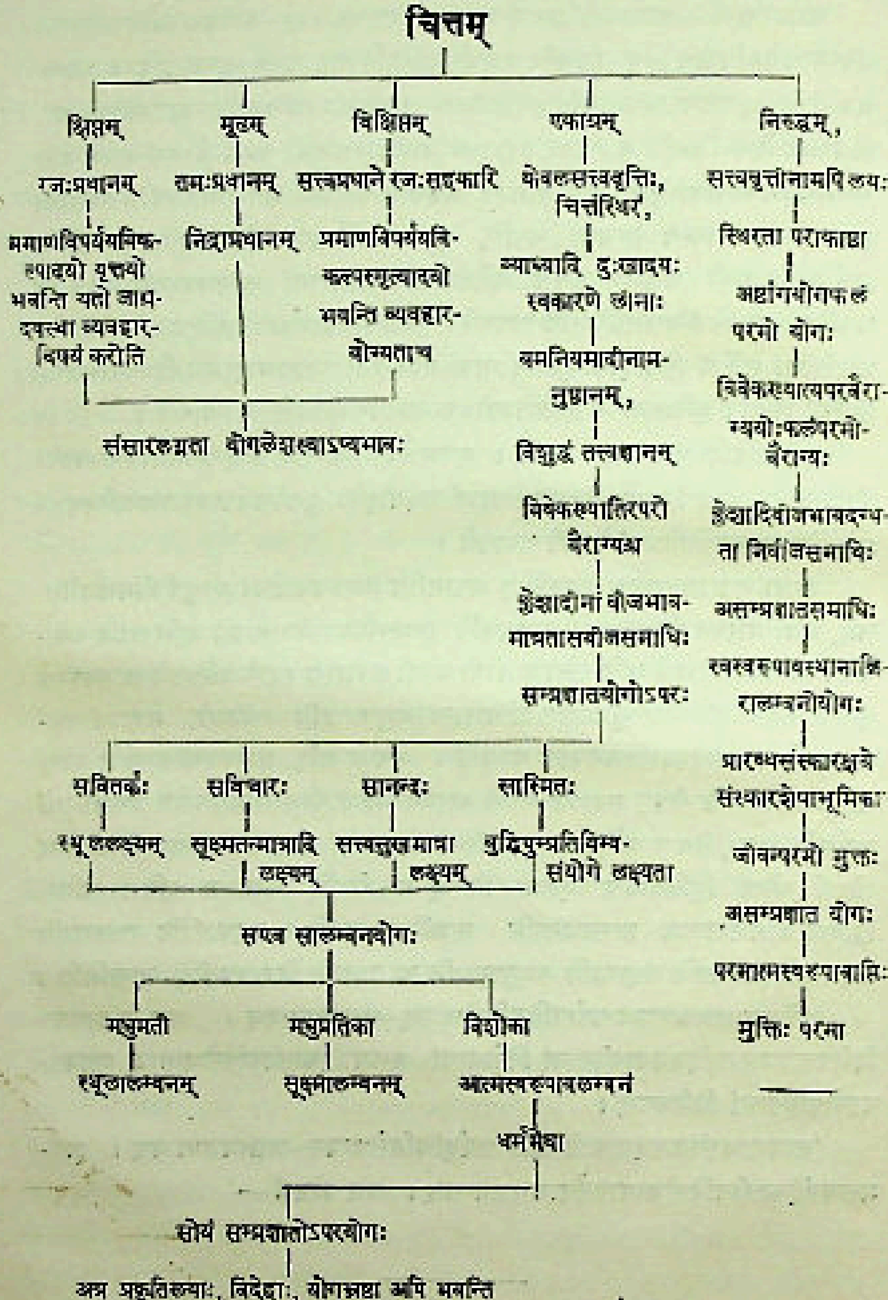
चित्तम्
क्षिप्तम्
रजःप्रधानम्
प्रमाणविपर्ययविकल्पादयो वृत्तयो भवन्ति यतो जाग्रदवस्था व्यवहारविषयं करोति
मूढम्
तमःप्रधानम्
निद्राप्रधानम्
विक्षिप्तम्
सत्त्वप्रधाने रजःसहकारि
प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृत्यादयो भवन्ति व्यवहारयोग्यताश्च
संसारकल्पता योगक्लेशत्वाऽप्यभावः
एकाग्रम्
केवलसत्त्ववृत्तिः, चित्तस्थैर्यं,
व्याध्यादि दुःखादयः स्वकारणे लीनाः
यमनियमादीनामनुष्ठानम्,
विशुद्धं तत्त्वज्ञानम्
विवेकख्यातिरपरो वैराग्यश्च
क्लेशादीनां बीजमात्रमात्रतासबीजसमाधिः
सम्प्रज्ञातयोगोऽपरः
सवितर्कः
स्थूललक्ष्यम्
सविचारः
सूक्ष्मतन्मात्रादि लक्ष्यम्
सानन्दः
सत्त्वसुखमात्रा लक्ष्यम्
सास्मितः
बुद्धिपुम्प्रतिबिम्बसंयोगे लक्ष्यता
सएव सालम्बनयोगः
मधुमती
स्थूलालम्बनम्
मधुप्रतीका
सूक्ष्मालम्बनम्
विशोका
आत्मस्वरूपालम्बनं
धर्ममेघा
सोऽयं सम्प्रज्ञातोऽपरयोगः
अत्र प्रकृतिलयाः, विदेहाः, योगभ्रष्टा अपि भवन्ति
निरुद्धम्,
सत्त्ववृत्तीनामपि लयः
स्थिरता पराकाष्ठा
अष्टांगयोगफलं परमो योगः
विवेकख्यातिपरवैराग्ययोःफलंपरमो वैराग्यः
क्लेशादिबीजभावदग्धता निर्बीजसमाधिः
असम्प्रज्ञातसमाधिः
स्वस्वरूपावस्थानाभिरालम्बनोयोगः
प्रारब्धसंस्कारक्षये संस्कारशेषाभूमिका
जीवन्परमो मुक्तः
असम्प्रज्ञात योगः
परमात्मस्वरूपावाप्तिः
मुक्तिः परमा

ननु योगस्य सामान्यलक्षणं चित्तवृत्तिनिरोधत्वं यदि यावतीनां चित्तवृत्तीनां निरोधाऽभिप्रायकं तदा सम्प्रज्ञाते योगेऽव्याप्तिः, तत्र हि स्थूलसूक्ष्मादिध्येयवस्तूनामालम्बनेन चित्तैकाग्रताऽभिमुखभावस्य विद्योतत्वात् । अतो यत्किञ्चिद्वृत्तीनां निरोधाऽभिप्रायकं तल्लक्षणं बोध्यम्, तथा च विक्षिप्तादौ यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधसंभवात् तत्राऽतिव्याप्तिरिति चेन्न । 'तदा द्रष्टुः स्वस्वरूपेऽवस्थानम्' इति वक्ष्यमाणसूत्रसाहित्येनैव लक्षणानुसन्धानात् । तथा च चेतनस्य स्वस्वरूपावस्थानसम्पादकत्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगसामान्यलक्षणम् । चित्तवृत्तयस्तु असम्प्रज्ञातस्य लक्ष्यत्वे यावत्यो ग्राह्याः । सम्प्रज्ञातस्य लक्ष्यत्वे तु या काचिद्ग्राह्या । तत्र चेतनस्वरूपावस्थानसम्पादकस्य यत्किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधस्य सत्त्वात् । विक्षिप्ते तु यत्किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधो न द्रष्टुःस्वस्वरूपावस्थानानुकूलसहकार्यभिप्रायेण भवति, अतो न तत्राऽतिव्याप्तिरिति ॥

योगाचार्य्याणां मुक्तिं प्रति मुख्यकारणस्य योगस्यैवावधेयत्वात् 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति'रित्यादिना ज्ञानस्य तु—सहकारितया कारणत्वं निर्वहणीयम् । तत्सहकारित्वं च—'तदवच्छिन्नाऽसमवधानप्रयुक्तफलोपधायकत्वाऽभाववत्त्वावच्छिन्नकत्वम्' इति । ज्ञानस्य योगजसमाधिद्वारा मुक्तिप्रयोजकत्वं बोध्यम्, सर्वा अपि ज्ञानस्य मुक्तिकारणत्वबोधिकाः श्रुतिस्मृतयस्तथैवोपनेयाः ॥ २ ॥

तदेवं निरुद्धावस्थायामात्मना सह बुद्धेः संयोगे सत्यपि चेतनो बुद्धिं न विजानाति, यतः विविधविषयाकारवृत्त्यन्विता बुद्धिर्विषयभोगविवेकख्यात्यात्मकपुरुषार्थवर्ती सत्येव पुरुषस्य विषयः, निरुद्धावस्थायान्तु विषयभोगाद्यभावान्निष्प्रयोजना सा न पुरुषस्य विषयो भवितुं युक्ता, अत एव विषयलेशरहितस्याऽस्य चेतनस्य—

## 'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्' ॥ ३ ॥

'तदा—असम्प्रज्ञातसमाधौ । 'द्रष्टुः—चेतनस्य पुरुषस्य । 'स्वस्य रूपे—निर्विषयचैतन्यमात्रे स्वात्मन्येव, 'अवस्थानम्—प्रतिष्ठा-स्थितिः, विद्यते, यथा परमकैवल्ये इति । यथा जपाऽपाये स्फटिकस्य स्वच्छेनाऽलोहितेन स्वस्वरूपेणाऽवस्थानम्, तथा वृत्त्यपाये चेतनस्य वृत्तिप्रतिबिम्बरहितेन स्वस्वरूपेणाऽवस्थानं भवतीति ।

पुरुषो हि निर्लेपो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावश्चेतनो व्यापको महानकर्ता विकृतिरहितः शाश्वतः साक्षी द्रष्टाऽत्रिगुण इति ख्यातः । तत्र—श्रुतिस्मृतयः—'स वा एष महानज आत्मा' 'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यस्वरूपो मुक्तो निरञ्जनो विभु'रिति ॥ 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

पुरुषस्य रूपं हि सच्चिदानन्दम्, तदेव दिव्यं प्रकाशात्मकं ज्ञानमिति, तस्याऽ-

भेदात् तादात्म्येन सूत्रेऽधिकरणभावोऽभिहितः। प्रसन्नस्वभावस्य चेतनस्य सर्वत्र सर्वदा सनातनत्वादुपपद्यते, यद्धि स्वरूपतोऽसत् तस्य सत्त्वं कर्तुं केनाऽपि न शक्यम्, यथा गगनकुसुमस्य सत्त्वं न शिल्पिसहस्रेणाऽपि कर्त्तुं शक्यम्, यथाहि "नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः" इति गीता।

तथा च 'सत्' इत्याकारकप्रतीतिविषयत्वं सत्त्वं चेतनस्याऽध्याहृतम्। 'चित्त्वं–नाम चेतनत्वं चित्स्वभावत्वम्, तदन्यात्मतत्त्वे भवितुं योग्यम्, यदभावे प्रकृतिजन्य-घटपटादयो जडरूपेण भासमानाः स्वयंप्रकाशा न भवन्ति, यत्सत्त्वे च चेतनाः स्वयं-प्रकाशाः सन्तो जडपदार्थानां द्रष्टारो भवन्ति। तदयं चिद्धर्मो जडतामतिद्वन्द्वी भवत्यात्मतत्त्वे इति। तथा च श्रुतिः 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवती'ति। एव-मानन्दोऽपि चेतनांशः, स च सच्चित्स्वरूपस्याऽऽत्मतत्त्वस्य स्वाभाविक एव, प्रसन्ना स्वरूपस्य स्वच्छस्य विशदरूपस्य हि चिद्घनस्य तु–नित्यानन्दमात्रैव घनतय स्वरूपसन्निग्मयसत्तामात्रनिर्भरा। सतश्चित् आनन्दस्य च सामानाधिकरण्येनाऽ-विनाभावसहयोगात्, सेयमानन्दरूपता चेतनानां स्वभावतोपपन्ना स्वस्वरूपात्मिकै-वेति। यथा प्रकृतिगुणानां सत्त्वरजस्तमसां सुखदुःखमोहरूपता स्वभावसम्पन्नैवेति, तादृक्प्रकृतिगुणात्मकशान्तादिधर्मैरनाविद्ध अतएवाऽयन्निर्लेप इति। आविर्भावति-रोभावरहित एव नित्य इति। घटादीनान्तु आविर्भावादिदर्शनान्न नित्यता, 'शुद्धत्वं चास्य प्रकृतिधर्मादिक्लेशराहित्यात्, अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशात्मकक्लेशा एवाऽशुद्धिः। ते च प्रकृतिधर्माः, अत एव प्रकृत्यात्मका यावत्पदार्थाः स्थूलाः सूक्ष्मा अशुद्धा इति चोच्यन्ते। आत्मतत्त्वन्तु न तथा, तस्माच्छुद्ध इति। बुद्धत्व-ञ्चास्य स्वयंप्रकाशकत्वेन, नाऽस्य स्वस्वरूपसंवेदने मायादिस्वरूपवेदने च स्वेतर-प्रकाशाऽपेक्षा संभवति, स्वप्रकाशेनैव स्वस्य ज्ञातृत्वोपपत्तेः, तथा च स्वस्वरूपबो-धात्मा स्वयमेवेति। मुक्तस्वभावत्वमस्य स्वाभाविकबन्धनाद्यनाविद्धस्य मुक्तमेव, बन्धनं हि दुःखादयः प्रकृतिधर्माः, ते तु प्रकृतावेव स्वरूपसत्स्वाभाविकाः, अतएव–बन्धनमपि स्वाभाविकं मायाधर्मः, स च नैकान्ततयाऽऽत्मतत्त्वस्य धर्मो भवितुम-र्हति, अन्यस्याऽन्यधर्मवत्त्वे सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तेः, तथा च स्वाभाविकबन्धन-रहितस्यास्य सर्वदा मुक्तस्वभावत्वमेव, मायारचितौपाधिकबन्धनेनाऽऽच्छादिते स्वस्य मुक्तस्वरूपेऽपि तस्य मुक्तत्वं न विक्लिष्टं भवति, न वा विलयतां याति, न वा स्व-रूपतोऽसद्भवति किन्तु तिरोभूतमिवाऽवतिष्ठते, येन स्वस्य बन्धनाऽधिकरणरूपेण भ्रान्तिरुपपद्यते, बन्धनस्यौपाधिकस्य विश्लेषे तु स्वस्य मुक्तस्वरूपतया सम्यगुत्कर्ष-त्वेन नित्यमुक्त एवेति।

चेतनत्वमस्य चैतन्यस्वभावत्वात्, चैतन्यञ्च–स्वस्य नित्यबोधप्रकाशः, जड-पदार्थानां न तथेति। व्यापकत्वमस्य–हृदयस्थितस्यापि यावदिन्द्रियान्तःकरणा-

त्रिभिः संसृष्टत्वाद्भवति, भिन्नविभिन्नचरणशिखान्तरालवर्तियावद्गोलकसंस्थितेन्द्रियान्तःकरणानामधिष्ठातृत्वं हि व्यापकत्वं विना न सम्भवति, व्यापकत्वेनैव विरलप्रदेशसन्निवसिताऽनेकपदार्थपर्यन्तगामित्वेनाऽधिष्ठातृत्वं सम्भवतीति । अत्राऽऽत्मनो व्यापकत्वम्—अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वरूपमनुसन्धेयम् ॥ नन्वेवं परशरीरेऽपि दुःखादिभोक्तृत्वापत्तिरिति चेन्न । स्वस्वनियताऽष्टादशतत्त्वात्मकसूक्ष्मशरीराधिष्ठातृत्वेन वर्तमानो यत्रतत्रैव भोगसम्पादयिता नत्वन्यत्रेति । सोऽयमात्मा महानिति महत्परिमाणवानित्यर्थः, नतु सूक्ष्मः । यदि सूक्ष्मस्वरूपः स्यात् तदा स्वस्य बुद्धौ प्रतिबिम्बं सञ्चरति तत्र बुद्धिधर्माणां व्यापकत्वभावानां शान्तघोरमूढानां संक्रमणमेव न स्यात् । एवं यथा बुद्धावात्मप्रतिबिम्बं तथाऽऽत्मनि बुद्धेरपि प्रतिबिम्बं भवति तेनाऽऽत्मा स्वं जडरूपं बुद्धितोऽभिन्नं मन्यते, तथाचाऽऽत्मनो महत्त्वाऽभावे तन्मध्ये महत्या बुद्धेः प्रतिबिम्बमसम्भवि, अतो महत्परिमाणमेवात्मनो बोध्यम् । 'सवा एष महानज आत्मेति' श्रुतेः ।

अतएव परमात्मनोऽपि जिवोरात्मनि शरीरे वासः श्रुत्याऽवगम्यते—श्रुतिश्च—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयती'ति । अकर्तृत्वमस्य स्वाभाविकम्, कर्तृत्वं बुद्धेर्भवति, यत्र हि प्रयत्नस्तत्रैव कर्तृत्वम्, ज्ञानेच्छाकृतिधर्माधर्मादीनां सामानाधिकरण्येनैवाऽभ्युपेतत्वात्, धर्मादीनाम् बुद्धिधर्मत्वे कर्तृत्वमपि तत्रैवेति । अत एव च गुणानां कर्तृत्वे सृष्टिकारणत्वमपि तत्रैव भवति । कारणेन कार्यतादात्म्येन भाव्यम्, तथा च विकृतिरपि बुद्ध्यादावेव, न त्वगुणोऽकारणश्चेतनो विकृतिधर्मकः, स तु—अविकृतिरेवेति । विकारवत्त्वे तु चेतनत्वसदातनत्वादिकं न स्यात्, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वमपि न स्यात् शाश्वतः—शश्वद्भवः, तेनाऽपक्षयप्रतिषेधो वेदितव्यः । साक्षी-मध्यस्थः, न त्वेकस्मिन्पक्षे नीयमानोऽन्यस्योदासीन इति, । द्रष्टा—स्वस्य द्रष्टृत्वं स्वाभाविकम्, विषयो हि भोग्यतया दृश्यो भवति, अयन्त्वविषयोऽतएव भोग्यत्वेनाऽत्यन्तविरहितस्तस्माद् द्रष्टा स्वरूपपररूपाणाम् । निरञ्जनो—हि चेतनपदार्थः, अञ्जनमन्धकारमज्ञानमिति, तच्च न स्वभावोऽस्य, अतोऽज्ञानांजनरहितो निरञ्जन इति । स चायं 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यतीति—षड्भावविकाररहित इति । 'विज्ञानात्मा पुरुषः' 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत !' 'द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः । शरीरान्तर्गता नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाऽचलः'' ॥ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरात्मा बोध्यः ।

ननु 'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष'

इत्यादिश्रुतौ यथाऽऽत्मनो द्रष्टृत्वं तथा श्रोतृत्वादिकमप्यात्मधर्मत्वेनाऽभिहितं तथाच कथमकर्तृत्वादिकमात्मनि सम्भवेदिति चेन्न । विज्ञानात्मनः पुरुषस्य बुद्धौ प्रतिबिम्बरूपेणाऽवस्थितत्वात् नेत्रजश्रोत्रजघ्राणजरसनजमनोजबुद्धिजादयो वृत्तयो बुद्धिजन्या विषयानादाय बुद्धयै समर्पयन्ति, बुद्धिश्च पुरुषप्रतिबिम्बाय, अतः 'पुरुषस्य प्रतिबिम्बे द्रष्टृत्वादिकमौपाधिकमेव न तु वास्तवमिति । तथैव कर्तृत्वमप्यौपाधिकम् "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिण'इति श्रुतेरात्मनो न स्वाभाविकं कर्तृत्वम्,किन्तु जपाकुसुमस्थं लौहित्यं स्फटिके इवाऽन्तःकरणस्थं कर्तृत्वमात्मन्यध्यवस्यते, अत एव 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीवे'त्यादिनाऽकर्तुरपि बुद्धिसान्निध्येन कर्तृत्वाऽध्यासः श्रूयते,—तदाशयस्तु—स्वयमकर्ताऽप्ययमात्मा बुद्ध्या सह साम्यतां गच्छन् सन् तदनुसञ्चरति लोकान्, वस्तुतो न ध्यायति न वा लेलायति, किन्तु बुद्धिधर्माध्यासेन ध्यायतीव लेलायतीव भवतीति॥

अत एव गीतायामात्मनः कर्तृत्वनिरासः—'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः" तथा—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' इति ॥ ब्रह्मसूत्रेऽपि "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि'ति चेतनस्य कर्तृत्वं पूर्वपक्षीकृत्य तस्य वास्तविकत्वं न किन्तु—औपाधिकमध्यस्तमित्याह—'यथा च तक्षोभयथे'ति । तदर्थस्तु यथा तक्षा तक्षणादिविशिष्टव्यापारेषु कर्तव्येषु वास्याद्यपेक्षयैव कर्ता सम्पद्यते, स्वशरीरेण त्वकर्ता एव, एवमयमात्माऽपि बुद्ध्याद्यन्तःकरणोपाधिना कर्ता भवति स्वयन्तु स्वरूपेणाऽकर्त्तैवेति । तस्मादग्नेरिवौष्ण्यं न स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वं किन्तु सन्निहितबुद्धिधर्मोपाधिकमिति ॥ स चायं सम्भावितबुद्ध्याद्यत्यन्तवियोगः सन् स्वं परं ब्रह्माऽऽश्रित्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः प्रसन्नस्वरूपावस्थानप्रतिष्ठोऽमृतभोगभोगी नित्यतृप्तः परमानन्दानुभवः सुखी भवतीति योगाचार्याणां सिद्धान्तः ।

वैशेषिकास्तु—प्रथमं प्रकाशरहितस्याऽत एव जडरूपस्यात्मनो मनसा सह संयोगाद्भवति प्रकाशः स चायं ज्ञानमिति व्यपदिश्यते, तथा च जडरूपस्यात्मनः प्रकाशो नैमित्तिक एवेति सिद्धान्तयन्ति ॥

तदिदं न युक्तम्, प्रथमं प्रकाशरहितस्य जडपदार्थस्य प्रकाशधर्मवत्त्वाभावादेव जडस्य धर्मित्वम् प्रकाशस्य च धर्मत्वमित्यस्याऽसिद्धेः ययोर्धर्मधर्मिभावो नास्ति तत्र तत्कल्पनाया अप्रामाणिकत्वात्, प्रामाणिकत्वे तु—अन्यधर्मवत्त्वमन्यस्याऽऽपद्येत एवञ्च सति जडचेतनपदार्थानामपि परस्परधर्मवत्त्वापत्त्या जडचेतनेतिविभागविलोपः स्यादिति । नहि जडरूपस्य कृष्णपाषाणस्य भास्करप्रभावत्त्वं भवति, तस्य प्रकाशधर्मवत्त्वाऽभावात्, तैजसश्च स्वयं प्रकाशो न केनाप्यसन्निति कर्तुं शक्यः, तस्मात्स्वभावत एव स्वयंप्रकाश आत्मा, येन प्रकाशेन मनः स्वयं

बुद्ध्यादिवृत्तिविशेषान् विशदतयाऽवगच्छति, अत्रार्थे प्रमाणं स्मृतिः—'यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान् । ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् पुरुषं सर्वजन्तुषु' इति । आत्मनि स्वयं प्रकाशत्वञ्च विकारित्वाभाववत्त्वे सति स्वस्य चेतनस्वरूपावस्थानत्वं बोध्यमिति । आत्मस्वरूपमुक्तं वासिष्ठे—'असम्भवति सर्वत्र दिग्भूम्याकाशरूपिणि । प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्यामलं भवेत् ॥ त्रिजगत्त्वमहञ्चेति दृश्ये सत्तामुपागते । द्रष्टुः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः' ॥ इति ॥

निर्गुणत्वे श्रुतिः—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'ति । चिन्मात्रत्वे श्रुतिः—'अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सच्चिदेकरसो ह्ययमात्मे'ति ॥

ननु प्रकाशस्वरूपस्याऽऽत्मनः कथं सुषुप्त्याद्यवस्थात्रयं मोहनिद्राविना पराभवश्चेति चेन्न । नहि चेतने सुषुप्त्यादिकं भवति, किन्तु बुद्धावेव, तासामवस्थानां पुरुषस्तु साक्षिमात्रम् इति । तदुक्तम्—'जाग्रत्स्वप्नःसुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः । तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन व्यवस्थित'' इति । तत्र जाग्रदवस्था—विषयजन्यो बुद्धेर्विषयाकारपरिणामः । स्वप्नावस्था—संस्कारमात्रजन्यो बुद्धेर्विषयाकारपरिणामः । सुषुप्तिश्च द्विधा—अर्धलयात्मिका—समग्रलयात्मिका चेति । तत्राऽर्धलये वृत्तेर्विषयाकारत्वाऽभावेऽपि सुखदुःखमोहाकारा बुद्धिवृत्तिरवश्यं भवति । अत एवोत्थितस्य—'सुखमहमस्वाप्समि'त्याकारकं सुषुप्तिकालीनसुखानुभवसमानाकारं स्मरणं जाग्रदवस्थायां समुपपद्यते । तदुक्तं व्याससूत्रे—'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषाद्'िति । समग्रलये तु मिथुनवद् यावत्तया बुद्धिवृत्तीनामभावो भवति,—तदत्र सांख्यसूत्रम्—''समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु स्वरूपता'' इति । स्वयंप्रकाशरूपतेत्यर्थः । तस्मान्न सुषुप्त्यादिरात्मधर्म इति ॥

आर्हताः—शुद्धचैतन्यस्वभाव आत्मा शरीरपरिमाणः, अत एव तस्य यत्र यत्र शरीरे प्रवेशस्तत्र तत्र तत्परिमाणो भवति । तस्मान्नाऽयमणुर्नच परमो महान् किन्तु मध्यमपरिमाणः, सोऽयं हस्तिशरीरं प्रविष्टः सन्तत्परिमाणो शुकशरीरप्रविष्टो शुकपरिमाण इति । अणुत्वं स्याच्चेदात्मनस्तदा हस्त्यादिशरीरे हृदयावच्छेदेनैवाऽवस्थितोऽयमेककालीनपृष्ठकर्णादावुत्पद्यमानं सुखदुःखादिकं युगपद्भोक्तुं कथं प्रभवेत्, भवति च प्रत्ययो मनुष्यादीनां हस्तपादादावेककालावच्छेदेनोत्पद्यमाने दुःखे—हस्ते पादे चाहं दुःखी—इति । तस्मान्नखशिखापर्यन्तशरीरव्यापीति—शरीरपरिमाण इति च । संकोचविकासस्वभावोऽप्यस्याऽऽवश्यकः, अन्यथा हस्तिशरीरपरिमाणोऽयं हस्तिशरीरं विहाय पिपीलिकाशरीरं प्रविष्टः सन् द्विहस्तमानकर्कन्धौ द्वादशहस्तमानबीजवत् स्थातुं मातुञ्च न प्रभवेत्, एवं पिपीलिकातनुं विहाय मनुष्यादिमहच्छरीरान्तर्गतः सन् करचरणादावेकसामयिकीं वेदनामवगन्तुं न शक्नुयात्, अतः सङ्कोचविकासस्वभाव आत्मेति वदन्ति ॥

तत्तु न युक्तं भवति—यतस्तैः पिपीलिकाशरीरान्तर्गतः पुरुषो मानुषादिशरीरं प्रविष्टो भवतीत्यङ्गीकरणे आत्मनो नित्यत्वमवश्यमभ्युपगतम्, तथा च नित्यस्य संकोचविकासशालित्वं विरुद्धमेव। भवति हि सावयवानां कार्पासादिकोमलद्रव्याणां संकोचविकासस्वभाववत्त्वम्, सावयवत्वाच्चाऽनित्यत्वमिति। संकोचत्वं नाम—अवयवह्रासत्वम्, विकासत्वं नाम—अवयवोपचयत्वम्, तदुभयमपि शरीरादेरनित्यस्यैव सम्भवति, न तु नित्यस्यात्मनः स्वतःप्रकाशस्य विभोर्महत इति॥

एवमात्मा हि सर्वत्र विद्यमानो व्यापकोऽपि यत्र विग्रहे स्वनियतसूक्ष्मशरीरेण सह सम्बद्धस्तद्विग्रहावच्छेदेनैव सुखादिभोक्ता भवति नत्वन्यशरीरादाविति। अतएव पाषाणाद्यवच्छेदेन नाऽऽत्मनि सुखादिभोक्तृत्वमिति। यत्र विग्रहे बुद्ध्यादिना सह स्थितस्तत्रेन्द्रियान्तःकरणानि बुद्धिगतप्रतिबिम्बाय बुद्धिद्वारा विषयानर्पयन्तीति। तान्सर्वान्सः हृद्देशावस्थितोऽपि भोक्तुं समर्थ इति नास्त्यपेक्षा शरीरपरिमाणस्वरूपस्य तस्येति॥ नचात्मनो व्यापकत्वे कर्कटीबीजवत् सतुलत्वापत्तिः, सतुलत्वक्षोपे हि गुरुत्वादिस्थूलधर्मवत्ता लभ्यते तेन व्यवहारनिरोधोऽपि भवति नत्वात्मद्रव्ये तथा, व्यापकात्मना श्रीकृष्णादिशरीरग्रहणश्रवणात्, आकाशस्य च तथा व्यापकत्वेऽपि घटाकाशस्य सतुलत्वाऽदर्शनात्, संकोचादिस्वभावत्वे तु कदाचिद्विनाशित्वापत्तिः स्यात्, तथा च देहात्मवादिचार्वाकमतमेवाङ्गीकृतं भवता, न तु स्वाभिमतसिद्धान्तः, नित्यात्मनोऽनित्यत्वं प्रतिपादयन् न भवत्स्ववधेयवचनः तस्मान्नित्यात्मनो व्यापकत्वं महत्परिमाणवत्त्वञ्चेति बोध्यम्॥

केचित्तु—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष' इत्यादिश्रुत्याऽङ्गुष्ठमात्रपरिमाणत्वमामनन्ति। तदपि संकोचविकासस्वभाववादोक्तदोषदूषितत्वान्निरस्तमेवेति॥

वेदान्तिनोऽप्यणुपरिमाणमात्मनः स्वीकुर्वन्ति "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" इतिश्रुतेः। स चाणुपरिमाणो हृदयावच्छेदेनाऽवस्थितोऽपि धर्मभूतज्ञानप्रसरणेन सर्वावयवावच्छेदेन सुखाद्यनुभवमुपपादयति। ज्ञानमात्मनो धर्मः प्रसरति चाऽऽपादतलमस्तकमाप्रसङ्ग्यादन्यत्रापि। तथाच विषयतासम्बन्धेन स्ववृत्तिज्ञानवृत्तिमत्त्या व्यापकत्वमात्मनः शरीरादावसेयम्। मनसा च करणेनेन्द्रियेण सुखादिप्रत्यक्षं स्यादिति तेषां सिद्धान्तः॥ सोऽपि न योगानामभिमतः—यतो हि—अणुस्वरूपश्चेदात्मा, तदा तस्यैव प्रत्यक्षविषयत्वविरहात् तद्वृत्तिसुखादिगुणानामपि कथं प्रत्यक्षं स्यात्। यावतां द्रव्यवृत्तिगुणानां प्रत्यक्षे महत्परिमाणस्य कारणत्वमिति नियमेन महत्परिमाणस्यैवात्मनो बुद्धिवृत्त्या प्रत्यक्षविषयत्वमभिमतं भवति। अणुस्वरूपस्यत्वात्मनो हृदयस्थितस्य शरीरावयवावच्छेदेन जायमानसुखादेर्बुद्धिवृत्तिद्वारा प्रत्यक्षं स्यादित्यपि मतं न साधु। गुणे गुणाऽनङ्गीकारपक्षेऽपि ज्ञानवृत्तेः क्षणिकत्वेन दीर्घकालस्थायिज्वरादि दुःखं कथमेकज्ञानवृत्त्या सम्यगुपभुक्तं स्यात्,

भवति च प्रत्ययो बुद्धौ प्रतिबिम्बिते पुरुषे-'अहंसुखी दुःखी वे'ति दीर्घकालस्थायी, अतः सन्निहितया बुद्ध्या सद्वर्तमानावस्थं दुःखंसुखञ्च महत्परिमाणेन व्यापकेनात्मना सह संयोगात् तत्तच्छरीरप्रदेशात्प्रत्यक्षीक्रियत इति । "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य'इति श्रुतौ त्वणुपदं दुर्लक्ष्यतयाऽनुसन्धेयम्, अणुर्नाम रूपादिराहित्याद्बाह्येन्द्रियाणामविषय इति । अतएव मनसा वेदितव्यः–प्रत्यक्षकार्य इति । महत्परिमाणं विना कथमस्य मनसाग्राह्यत्वमुपपद्येत । सदत्र श्रुतिस्मृती–"सवा एष महानज आत्मा' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन'इति ॥

महत्त्वम्—महत्परिमाणवत्त्वम् । अजत्वं–कार्यत्वाऽनधिकरणत्वम् । नित्यत्वम् प्राविर्भावतिरोभावरूपभावरहितत्वम् । सर्वगतत्वम्–व्यापकत्वम् अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वम् । स्थाणुत्वम्–महत्परिमाणवत्तया बुद्धिवृत्तिमात्रस्वरूपत्वम् । अचलत्वम्–चलनादिक्रियाराहित्यम्, परिणामराहित्यंवा । सनातनत्वम्–सत्स्वरूपत्वम् । इत्यालोचितमात्मनः कियत्परिमाणवत्त्वमिति ॥

तत्रात्मस्वरूपं चार्वाकास्तावदित्थं प्रस्तावयन्ति—

"नास्ति भूतचतुष्टयसङ्घाताऽतिरिक्तश्चेतनः कश्चिदात्मा, चतुर्भूतसङ्घाते हि चैतन्यशक्तिराविर्भवति, संहतिविशेषमुपगते हि शरीराख्ये भूतचतुष्टये एव चैतन्यशक्तेरुत्पादसंभवात् किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो मदशक्तिवत् । सा च चैतन्यशक्तिर्यावत्कलेवरसत्ता तावदनुवर्तते तदनु लयं याति चेति, धरणिसलिलतेजःपवनानां वपुरेव चैतन्यात्मकविज्ञानघनविशिष्टमात्मा, तदतिरिक्तात्मनि प्रमाणाऽभावात्, अनुमानादीनां प्रमाणत्वाऽनङ्गीकाराच्चेति । अत्र बृहस्पतिवचनम्–"अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलाऽनिलाः । चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते । किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् । अहं कृशः स्थूलोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः । देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चाऽपरः । मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी ॥ इति ।

नच—अहं स्थूलोऽस्मीत्याद्यानहंग्रहनिर्वाहार्थमात्मा कश्चिदतीन्द्रियो भाव्य इति वाच्यम् । प्राविर्भूतचैतन्यघनेन कलेवरात्मकेनाऽऽत्मनाऽहंग्रहनिर्वाहोपपत्तिसम्भवात् । अतएव 'अहं जानामी'त्यादिप्रत्यये कलेवरात्मा 'ज्ञाताऽहमि'ति चकास्ति । 'स्थूलोऽहं कृशोऽहमि'ति प्रत्ययोऽपि कलेवरे एव भवन्सम्भवः, सर्वथाऽहं प्रत्ययगोचरं कलेवरमेव, तत्र च–स्थौल्यं स्वाभाविकं भवति, तथाच स्थौल्यादिसामानाधिकरण्येनाऽहंप्रत्ययः कलेवरविषयः । अतएव भवति लोके स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति व्यवहारोऽपीति ॥

यत्तु—वपुषि वर्तमानस्य स्थौल्यस्य सामानाधिकरण्यान्वयस्तावदहंकारगोचरकलेवराऽनात्मक–तदन्तर्वर्तिमानचेतनविषयेऽहंप्रत्ययेऽनुपपन्नः। स्थूलपदस्यां भक्ति-

मालम्ब्य स्थूलसम्बन्धिविषयकबोधस्याऽऽलम्बनेन—'स्थूलोऽहमि'ति प्रत्ययः कलेवराऽतिरिक्ते चेतनात्मनि सूपपाद इति ॥

तदपि न,—पदार्थबोधजनकलक्षणावृत्तेः स्वमते साक्षादर्थप्रत्ययप्रयोजकत्वेन तदनात्मकतया शक्त्यात्मकमुख्यवृत्तेः स्वीकाराऽनभ्युपगमात्, अतो न गौणत्वात् 'स्थूलोऽह'मिति वपुर्विषयकप्रत्ययः । नहि पिण्डविशेषमन्तरेण किमप्यन्यदहमितिप्रत्ययगोचरमस्तीति ॥

अथ—तत्तत्प्रत्यवस्थितवस्तुसङ्घाताऽवयवधर्माद्यवभासनियतत्वमेव सङ्घाताऽवयवधर्माद्यवयवभासस्योक्ति 'अयं घट' इत्यादौ घटादिस्थूलतत्त्वानामव्याहतम् । 'अहंस्थूल' इतिज्ञानविषयकप्रत्ययस्य तु सङ्घाताऽवयवधर्माद्यवयवभासत्वविरहेण तन्नियतस्य सङ्घातावयवधर्माद्यवभासत्वस्याऽपि तत्राऽसत्त्वमस्तीति । एवञ्च 'स्थूलोऽहं जानामी'ति स्वान्तःप्रत्यये 'अह'मवभासस्य ज्ञात्रवभासस्य चाऽन्तर्विषयः, 'स्थूल' मितिप्रत्ययस्य च बाह्यसङ्घातावयवाद्यन्वितो विषयः, बाह्यविषयाऽवभासे व्याप्तेः सत्त्वम्, आन्तर्विषयाऽवभासे च व्याप्तेरसत्त्वम्, तथा च सपक्षविपक्षयोरत्यन्तविरुद्धयोरैक्यमासादयन् 'स्थूलोऽहं जानामी'ति प्रत्ययः कलेवरात्मकमेव तत्त्वं विपर्यासीकृत्य कथमुपपद्येत ? अतोऽहमवभासस्य ज्ञात्रवभासस्य चाऽन्तःप्रतीतिरूपत्वेनाऽनुभूयमानस्य प्रबलतया तत्र स्थौल्याद्यन्वयार्थं लक्षणैव स्थूलसम्बन्धिनि शक्तिवृत्तेरतिरिक्ताऽभ्युपेयेति ॥

तदपि न—यतः 'स्थूलोऽहं जानामी'ति प्रत्यय एव ज्ञात्रात्मकस्य शरीरस्याऽहंकारगोचरस्याऽभिन्नतां प्रमाणयति, भिन्ने हि कथं नामाऽनवरतप्रवाहाऽवतरितसंसारसमुत्पन्नानामसङ्ख्याऽनुभूतां तथाविधैकाकारविभासकः प्रत्ययः । अत एवाऽभिन्नस्य ज्ञात्रभिधानस्य वपुर्विशेषस्यैव चिद्विज्ञानघनाऽभिन्नस्यैव संभवेदन्वयनियमः, तथा च मुख्य एव तादृशप्रतीतेर्विषयः कलेवरमिति ॥

एवम्—अहमिमं पश्यामी'ति प्रतीतिविषयतयाऽनुगतद्रष्टृदृश्यसन्निकर्षमभ्युपेत्य तत्सन्निकर्षसम्पादकेन्द्रियात्मककरणमपि स्वसन्निकर्षाधारविषयप्रकाशमत एव जडरूपं ग्राह्यमवगत्य व्यावर्तमानं सद् द्रष्टारं चेतनं प्रकाशात्मकमवबोधयति । ताम्बूलपत्रेऽज्ञायमानाऽप्यरुणिमा तत्सहकारिचूर्णादिद्रव्यान्तरसंसर्गतया चर्वणनिमित्ता समुपलब्धा सत्यभिव्यज्यते । तथा कलेवरेऽपि प्रत्येकभूतं प्रत्यविद्यमानमपि चैतन्यं भूतसङ्घातात्मके त्वभ्युपगच्छाम इति । तथा च चैतन्यसुखदुःखादिधर्मान्प्रति प्राणसहकृतशरीरस्यैवोपादानत्वमिति कार्यकारणभावः । सर्वदैव चिद्घनस्य शरीरात्मनि वर्तमानत्वान्नाऽस्ति व्यभिचारप्रसक्तिः । अत्रेदम् 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवदि'ति सूत्रमपि प्रमाणं भवति ।

तेन कलेवरमेवाऽऽत्मेति लोकायतिकाः (बार्हस्पत्याः) प्रतिपादयन्ति । नचाऽयं देहात्मवादः प्रामाणिकः ।–

यतः शरीरस्य पृथिव्यादिभूतात्मकस्य स्वगुणवत्त्वं तु स्वाभाविकं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाद्यात्मकत्वम्, ते च गुणास्तत्र कारणगुणपूर्वका दृष्टाः सूक्ष्मतन्मात्राणां स्थूलरूपेण तत्राऽवगमात् । चैतन्यं हि ज्ञानं बुद्धेर्धर्मस्तस्यैव तादात्म्येनाऽवस्थित इति तस्य कथं पृथिव्यादिधर्मत्वमुपपद्येत । नहि चैतन्यं कदाचिदपि क्वापि धरणिसलिलादौ तादात्म्येन कारणात्मकं सत् प्रादुर्भूतं तिरोभूतं वाऽवगतम्, न वा भूलकारणे तन्मात्रादाववगतम्, अतएव वपुरारम्भकभूतेषु चैतन्याऽनुपलम्भेन तदारब्धे वपुषि कुतस्त्याऽऽगमनं स्यात्, तस्माच्चैतन्यस्य भूतधर्मत्वाऽसम्भवः, ताम्बूलरक्तिमा तु तत्र सहकारिद्रव्ये काष्ठके वर्तते एव कलिचूर्ण(पाषाणभस्म)योगे विशेषतो व्यक्ता जाताऽतो न तस्य दृष्टान्तमत्र घटते ॥

किञ्च–शरीरस्य चतुर्भूतात्मकत्वेन तन्मध्यतः कस्य गुणोऽयं चैतन्यभासः ?, न तावत्प्रत्येकस्य, तथासति चत्वार आत्मानः स्युः । न वा चतुर्णां धर्मोभवितुं योग्यः, तथासति तण्डुलान्याधाय वह्न्युपरि रक्षिते सजलपवने पाकसाधने मृत्तिकापात्रेऽपि चैतन्यं सुसाध्यं स्यात्-तत्र चतुर्णामपि भूतानां तत्तत्तस्य सत्त्वात्। यदि शरीरस्यैव विशेषगुणश्चैतन्यं न त्वन्यत्र तदुपलभ्येत किन्तु संयोगवच्छरीरात्मकचतुर्णां धर्मः स्यादित्युच्यते चेत् ? । तथाप्येवं वदता भवतैवास्य विशेषगुणत्वं निरस्तम्, विशेषगुणत्वं हि 'स्वकारणैकतत्त्वसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यगुणत्वं' इति प्रकृतम्, भवति पृथिव्याः गन्धः पृथिवीसत्ताऽतिरिक्ततत्त्वसत्ताशून्यः, चैतन्यं यदि पृथिव्यादिचतुर्णां धर्मस्तदैकतत्त्वसत्ताकत्वं न स्यात् । तस्माद्बुद्ध्यात्मकैकतत्त्वगुणश्चैतन्यम्, तच्च प्रतिबिम्बिते यत्रोपसंक्रान्तं भवति स आत्मेति सिद्धम् ॥

किञ्च–'अहं पश्यामी'त्यादिस्वर्लौकिकप्रत्यये यथेन्द्रियसन्निकृष्टविषयं घटादिकं जडरूपमवगत्येन्द्रियाणि यथा स्वाधारभूतं शरीरं चेतनमित्यवगमयन्तीति भवदभिमतम्, तथैव 'इदं शरीरमहं जानामी' त्यादावपि बुद्धिवृत्तिज्ञानं स्वविषयीभूतमिदंकारगोचरं कलेवरं जडरूपमित्यवगत्य परावर्तमानं सत् शरीराऽतिरिक्तं चेतनमवगमयति–इति कथं नाऽभ्युपगम्यते भवता ! तथैवाऽहमिमं देहं पश्यामि'त्यत्रापि नेत्रद्वारकबुद्धिवृत्तिज्ञानधाराऽपीदङ्कारगोचरं स्वविषयशरीरं जडरूपमित्यवगत्यव्यावर्तमानं सत् स्वाधिकरणं चेतनं कलेवराऽतिरिक्तं प्रमाणयति । अन्यथा ग्राह्यग्राहकभावस्वरूपविभागाऽनुपपत्तेः । न च देहस्यैकस्येदम्प्रत्ययाऽहम्प्रत्ययगोचरत्वोभयविधप्रतीतिर्युक्ता, ग्राह्य-ग्राहकत्वयोः कर्मत्वकर्तृत्वयोरेकत्र विरोधात् । न च लक्ष्मीवान्पुरुषः स्वं लक्ष्मीवानयमिति प्रत्येति, स्वस्मिन् एवाहम्-शब्दप्रयोगात् । भवतिरूपवदिदं शरीरं मेऽस्तीति प्रतीतिस्तथा च तत्र मदंशगोचरीभूतान्निजं शरीरं

रूपवदिति तत्र स्वभिन्नेऽहंप्रयोगः । तेन चेतनभेदावभासः शरीरे, अतो लाक्षणिकोऽहंशब्दप्रयोगश्चेतने इति ।

शक्तेर्लक्षणाऽतिरिक्ततया स्वीकाराऽनभ्युपगम इत्यप्यपसिद्धान्तः; यतः—तथासति 'गङ्गायां घोष'इत्यत्र शक्त्यैव गङ्गापदस्य तीरबोधकत्वापत्तिः स्यात् । न स्याच्च प्रवाहबोधः, मुख्यवृत्तेस्तु लक्षणायां पर्यवसानात्, तस्माल्लक्षणातः शक्तेः पृथग्वृत्तित्वमभ्युपेयम्, एवञ्च कलेवरसंश्लिष्टचेतनविषयकोऽहंशब्दप्रत्ययोऽपि शरीरे स्थूले स्याल्लाक्षणिक इति, आत्मनि त्वौपाधिकोऽपि मुख्य एवेति ॥

किञ्च 'स्थूलोऽहं जानामी'ति प्रत्यये ज्ञानावभासस्य शरीरस्य चाऽभिन्नतां प्रमाणयतीति वचनमपि भ्रान्तिप्रयुक्तम्, यतः प्रमाकरणमेव प्रमाणं, तेन च निष्पाद्योऽर्थः प्रमा । 'स्थूलोऽहं जानामी'त्यत्र विरुद्धाधिकरणयोः स्थूलत्वज्ञातृत्वयोः सामानाधिकरण्येन बोधकं वाक्यमेव भ्रान्तिप्रयुक्तं स्वयमप्रामाणिकं तत्कथं स्वप्रतिपाद्यप्रमात्मकबोधविषयपदार्थानां निर्णयं विदध्यात्, तादृशप्रतीतिरपि भ्रान्तिः कथं प्रमां जनयेत्, अतो नेतरप्रमाणमपि स्यादिति । किञ्च—कलेवरस्याऽवयवसमुदायरूपस्याऽनित्यत्वात् धर्माऽधर्माद्युपभोगार्थं देहान्तरस्य भवताऽनङ्गीकारात् अन्यकृतकर्मफलस्याऽन्यस्मिन्नसंभवे कथं स्वकर्मफलभोक्तृत्वमुपपद्येत । अतएव शरीरस्य चेतनत्वमपि न सम्भवेत् । संभवेत् चेत् प्रत्येकावयवोत्पन्नान्यनेकानि चेतनतत्त्वानि मन्तव्यानीति विपत्तिः । तस्माच्च चैतन्यधर्माऽधर्मादयः शरीरधर्माः किन्तु बुद्धेरेव ते त्वात्मन्यध्यस्ता इति ॥

एवम्—'अनुमानं प्रमाणमपि भवताऽङ्गीकार्यं भवत्येव, यतोहि—अनुमानप्रामाण्यनिरासे लिङ्गविशेषमाश्रयता भवताऽनुमानमङ्गीकृतमेव । किञ्च स्वपितुः परिचयनिर्णये स्वजननीवचनमपि भवता प्रमाणतया समाश्रयणीयमेवेति । तथा देहाऽतिरिक्तात्मनि श्रुतयोऽपि प्रमाणतया समुच्चेयाः—

'सोऽयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विजिघित्सः' 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' 'द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः । हिताऽहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् । मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाऽचलः ॥ इति ॥

केचिच्छरीरेऽविश्वस्ताः प्रकाशप्रदानाम् विषयग्राह्यग्राहकव्यापारं—सम्पादयतामिन्द्रियाणामेवात्मत्वमभिमन्यन्ते । तत्र प्रमाणम्—'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष'इति । इन्द्रियैरेव स्वचैतन्यं विषयेष्वाहितं सत्यथावदर्थमुपलभ्याऽऽनन्दादिकमनुभूयते, अतएव भवति व्यवहारोऽपि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादीनामालोचनेन 'अहं तृप्त'इति । आलोचनं हि चैतन्यात्मिकेन्द्रियवृत्तिः, तेनाऽर्पिता तृप्तिरपि तत्कारणीभूतेष्वहंप्रत्ययविषयेष्विन्द्रियेष्वेव

युज्यत इति । इन्द्रियाण्येव स्वतःप्रकाशस्वरूपाणि भवितुं योग्यानि । स्वतःप्रकाशत्वं हि विषयाणां स्वतन्त्रस्वचैतन्यवृत्त्याऽऽलोचकत्वमेवेति, तच्चेन्द्रियेषूपपद्यते न तु कलेवरे जडरूपे । अतएव पश्यामि शृणोम्यहमित्यादि प्रयोगः—अहंकारगोचरीभूतेन्द्रिये दर्शनश्रवणानुकूलव्यापारवत्तायाः सर्वानुभवात् । अतः सूक्ष्मस्वरूपाण्येवेन्द्रियाणि चैतन्यकारणानीति तत्त्वम् ॥

तदिदमेतेषां मतमपि निरसनीयमेव—

यतः चक्षुरादीनामुपघातेऽपि जीवन्पुरुषः कलेवरावस्थितोऽनुभूयते, अतो न तेषामात्मत्वम्, न च तदानीमात्मनो नाशोऽभ्युपगम्यते, तथासति विषयाणामनुभवितुश्चेतनस्य नाशेनाऽनुभवजन्यस्मरणादेरनुपपत्तिः स्यात् । भवन्ति च चक्षुर्नाशेऽपि बाल्ये मया तदवलोकितमासीदित्यादिस्मरणतरङ्गाः । यदि चक्षुषाऽऽलोचितस्याऽपीन्द्रियान्तरेण स्मरणं स्यादित्युच्यते ?, तत्तु नैव युक्तम्, अन्येनाऽनुभूतस्याऽन्यस्य स्मरणाऽसंभवात्, सामानाधिकरण्येनैवाऽनुभवस्मरणयोः कार्यकारणभावात् ।

किञ्च—'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामी'ति प्रत्यभिसन्धानमपि चक्षुरादीनां प्रतिनियतविषयत्वेन द्रष्टुः स्प्रष्टुश्च भिन्नत्वान्न घटेत, अस्माकन्तु दर्शनं स्पर्शनं तत्तदिन्द्रियेण करणेनाऽऽत्मा तत्तदिन्द्रियाऽधिष्ठाता एव करिष्यति । भवतान्तु किं स्वतन्त्रं प्रत्येकमिन्द्रियमात्मा ?, उतपञ्चसमुदाय आत्मा ?, तत्र न प्रथमपक्षो युक्तः, एकेन चक्षुरादिना शब्दस्पर्शादिविभिन्नविषयालोचनकर्तृत्वाऽननुभवात् । न वा सम्भूयाऽपि समुदायात्मा, तथा सति स्वतन्त्राणां चक्षुरादिपञ्चानामेकमेव स्वरूपमपेक्ष्याऽऽत्मतयाऽवस्थितानां भवेन्मिथो विवादः कदाचिद् 'अहमात्माऽहमात्मे'ति । किञ्च न पञ्चभिरिन्द्रियैः सम्भूय पदार्थमेकं गृह्यते स्मर्यते वा, ग्रहणे स्मरणे चैकेन कार्यसम्पादने तदन्यानां निष्प्रयोजनत्वमापद्येत । एवम्—बाह्येन्द्रियाणां व्यापारोपरमे स्वाप्नपदार्थदर्शनाऽनुपपत्तेश्च नेन्द्रियाणामात्मत्वं युक्तमिति । किन्तु यत्राऽधिष्ठितेन नियामकेन केनचिद्भिन्नेन भवितव्यम्, यत्र सर्वेऽपि व्यवहाराः सूपपाद्या भवन्ति स चायमात्मेति । 'एष हि द्रष्टा श्रोते'त्यादिश्रुतिस्तु द्रष्टृत्वेन दर्शनश्रवणादिवृत्तिमन्तमान्तरं करणं बोधयति, सा च बुद्धिर्बोध्या, तत्र प्रतिबिम्बित आत्मा भवति तथा व्यवहर्ता—इति । अत एवाहंमत्वयसुखादयो बुद्धिगुणाश्चेतने भवन्त्यौपाधिका इति बोध्यम् ।

केचित्तावदिन्द्रियेष्वविश्वस्ता नित्यस्वभावं समग्रेन्द्रियसङ्घाताऽधिष्ठातृरूपं चेतनस्वभावं मन एवात्मेत्यध्यवस्यन्ति, तच्चेदं स्वीयविज्ञानवृत्त्या तत्तदिन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवं सम्पादयन् तन्निमित्तेनाऽभिव्यज्यमानां सुखादिमात्रामुपभुङ्क्ते स्मरणादिकमपि तत्रैवेन्द्रियनाशे सत्यपि सूपपाद्यं भवति, नित्यस्य चैतन्दर्शयकलेव-

रपरिहारमनु शरीरान्तरग्रहणमप्युपपद्येत, तस्येदं सूक्ष्ममपि सर्वेन्द्रियाधिष्ठातृत्वसम्पादनक्षमं स्वज्ञानशक्त्या भवतीति ॥

न चायं सिद्धान्तश्चतुरस्रः । यतो हि—यावदिन्द्रियाणामधिष्ठातृतयाऽवस्थितं मन इति भवत्सिद्धान्ताभिमताऽधिष्ठातृत्वं ज्ञानवृत्त्याऽवगतं भवति । न च मनसोऽधिष्ठातृत्वसंभवः । अधिष्ठेयाऽधिष्ठातृणो संसर्गो विषयाकारवृत्तिमये जाग्रत्समये त्ववश्यं भाव्योऽन्यथा विषयाऽऽलोचनं नोपपद्येत । तथा च शरीरमपि विहाय विरलप्रदेशाऽवस्थितकामिनीकाञ्चनादिविषयगते मनोवृत्तिविशेषेऽपि देहावस्थितस्यात्मनो यथाकालप्रदवस्थस्येन्द्रियाऽधिष्ठातृतयाऽनुभूयमानस्य मनोभिन्नस्याऽस्याऽधिष्ठातृत्वं प्रसिध्यति । भवन्मते त्विन्द्रियाधिष्ठातृरूपमनसो बहिः प्रदेशगमने तस्याधिष्ठातृविरहितानीन्द्रियाणि सुषुप्तान्येव स्युरिति । न चैतदनुभूयते इति । किन्तु मनसः सर्वदा सर्वेन्द्रियसंयुक्तत्वेन स्वस्वविषयाऽभिमुखानां बाह्येन्द्रियाणां युगपत् स्वस्वविषयविषयकप्रत्ययापत्तिः स्यात्, नत्वेवं युगपत्प्रत्ययः केषामपि भवति । तथा च तन्नियामकेन केनाऽपि भवितव्यम्, यत्सम्बन्धे सति प्रत्ययः, यत्सम्बन्धविरहे प्रत्ययाऽभाव इति । भवति हि तादृशं सूक्ष्मं मनः, यद्येन संयुक्तं भवति तेन ज्ञानमुपपद्यते, तदिदं करणमिति व्यायते, न चाऽधिष्ठातृत्वम्, अधिष्ठातृपदार्थस्तु सर्वदाऽस्वतन्त्रो भवितुमर्हति, सचात्मेति । मनसः करणत्वम्, 'मनसा ह्येव पश्यती'ति श्रुत्याऽऽत्मनः करणतयैवमनसः श्रवणात्, योऽयमनोभिन्नश्चेतनात्मा मनोद्वारेण विषयान्संकल्पयतीति ॥

किञ्च—मनस आत्मत्वे तस्य सूक्ष्मतयाऽप्रत्यक्षात्, ज्ञानसुखादीनां तद्धर्मत्वे तेषामपि प्रत्यक्षं न स्यात्, भवति हि साक्षात्प्रत्ययो ज्ञानादीनाम्, नहि बहिरिन्द्रियाणि तत्प्रत्यक्षकारणानि सम्भवन्ति । अतोऽन्तःकरणं किमप्यभ्युपेयम्, तदेव मन इति । एवं 'प्रसन्नं मे मनः म्लानं मे मनः' इत्याद्यनुभवेनाऽहंप्रत्ययविषयादात्मनोऽतिरिक्तं मन इति । तस्माद्भिन्नमात्मनो मन इति । एवम्—मनसः आहंकारिकत्वेनोत्पादविनाशशालित्वाच्चाऽपि तस्य नात्मत्वं युक्तम् । किञ्च—मनस आत्मत्वे श्रवणमनननिदिध्यासनाऽभिमानादिविभिन्नवृत्तिविशेषाणां कर्तृत्वे मनसैव भाव्यम्, तत्तु न सम्भवति, मनोवृत्तिमात्रस्यैव मननशब्दवाच्यत्वात्, मननवृत्तिमदेकं किमपि करणमेवेति निश्चीयते, निदिध्यासनादिवृत्तीनां कर्तारस्त्वन्ये स्युरिति प्रतीयते । अत एव निदिध्यासनकरणे यथा बुद्धिस्तथा मननकरणं मन इति । तथा च 'अध्यक्षश्चानुमन्ता चे'ति श्रुत्यापि मनोद्वारा मननवृत्तिग्रहणकर्ता, अध्यक्षः कश्चिदात्मा मनोभिन्न इति सिद्धम् । 'भीतं मे मनः प्रसन्नं मे मन' इत्यादि प्रतीत्याऽनुभूयमाना भयप्रसन्नतादिप्रकृतिधर्मास्तत्कार्यरूपे मनसि व्यवस्थिताः, तदतिरिक्तव्यापके चेतनात्मनित्वध्यस्ता इत्यवसेयम् ॥

केचन तावद्देहेन्द्रियमनसामात्मत्वेऽविश्वस्ताः प्राण एवाऽऽत्मेत्यभिसन्दधते, प्राणावस्थितिपर्यन्तं जीवनम् प्राणानां विगमे च मरणमित्यन्वयव्यतिरेकौ तत्र प्रमाणम् । प्राणेनैवेन्द्रियादीनां स्वस्वविषयालोचनादिकरणत्वव्यवस्थानात्, शरीरमपि प्राणप्रेरितं सदेव गमनादिव्यापारवदनुभूयते चैतन्यमपि प्राणनियतं प्राणधर्म एव, सुखदुःखादीनामपि प्राणसत्त्वे एव शरीराद्यवच्छेदेनोपलम्भात्, तस्मात्प्राणातिरिक्ते कल्पिते चेतने प्रमाणाऽभावइति ।

न चेदं मतमपि युक्तं भवति । यतः प्राणस्य पवनतत्त्वात्मकत्वेनाऽऽविर्भावतिरोभावस्वभावत्वादनित्यत्वमिति कथं तस्याऽऽत्मत्वं सम्भवेत्, एतज्जन्मसम्पादितसुकृतदुष्कृतपुञ्जभोक्तृत्वमस्य प्रायणे प्राणनाशे सति जन्मान्तराभावेन नोपपद्येत । किञ्चाऽनित्यस्य प्राणस्य बाल्यावस्थायामेव विनाशेन बाल्याद्यवस्थायामनुभूतविषयस्मरणानि स्थविरावस्थायां प्राणान्तरैर्नोपपद्येरन्, मुखनिर्गमनप्रवेशनक्रियाविशेषविषयस्यैव पवनतत्त्वस्य जडरूपस्य प्राणस्य कथं चैतन्यधर्मवत्त्वं योग्यं भवेत्! तथा सति तु घटादीनामपि चैतन्यधर्मवत्त्वमापद्येत । किञ्च 'प्राणसत्त्वाऽसत्त्वे जीवनमरणे' इत्यन्वयव्यतिरेकावपि जीवनमरणव्यवस्थानियामकौ न तु प्राणस्यात्मत्वलिङ्गे भवतः, यतस्तत्रान्वयसहचारगोचरं जीवनं शरीरधर्मो न तु प्राणधर्मो येन लिङ्गं स्यात्, व्यतिरेकसहचारविषयं हि मरणम्, तदपि शरीरधर्मो न तु प्राणधर्मो येन लिङ्गं भवेत् । किञ्च प्राणानां सत्त्वे एवेन्द्रियाणामालोचनादिकरणत्वमुपपद्यत—इत्यपि न प्राणानामात्मत्वसाधकम्, यतो हि—तत्र प्राणसत्ता व्यापिका, इन्द्रियाणामालोचनसत्ता तु व्याप्या, तयोरन्वयसहचारस्तावदिन्द्रियसत्तायां विरमते, अतएवेन्द्रियधर्मोऽयं प्राणवृत्तित्वाभावात् कथं तदात्मत्वसाधकः स्यात् । एवं गमनादिक्रियाऽपि न चेतनत्वसाधनम्, भ्रमणादिक्रियावत्यपि यन्त्रे व्यभिचारदर्शनात् । एवं चैतन्यं न प्राणधर्मः, चेतनधर्मत्वात्, प्राणो न चेतनः, जडकार्यत्वात्, प्राणो—जडकार्यं—त्रिगुणात्मकत्वात्, इति न प्राणस्य चेतनत्वम् । केचन तु संवित्पदार्थस्य क्षणिकविज्ञानाऽपराभिधानस्यैवात्मत्वमभ्युपगच्छन्ति, भूतेन्द्रियप्राणमनसां तु जडत्वं नियतमनात्मत्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्, चैतन्यस्य हि घटादितो व्यावर्तमानस्य सम्विद्यनुवर्तमानत्वात्, जडत्वस्य च सम्विदो व्यावर्तमानस्य घटादौ वर्तमानत्वात्, क्षणिकसम्विदः स्वतःप्रकाशमानत्वमात्मत्वं च स्वाभाविकम् । तस्मात् सैव सम्विद्-आत्मा-स्वतःप्रकाशमानत्वात् । सम्विद्-अजडा, आत्मत्वात् । इति ।

सम्विदएवाऽस्य भूतात्मकजगतः समुत्पत्तिर्भवति, तेन यावन्तोऽनुभूयमानाः सरूपविरूपावस्थाः कार्यपुञ्जा विज्ञानोत्पन्ना विज्ञानाऽभिन्ना विज्ञानाकारा एवेति, विज्ञानाकारत्वेऽपि घटादीनां न स्वतःप्रकाशत्वम्, विकाराणां स्वतः—प्रकाशत्व-

विरहात् । ते च विकारास्तावदिन्द्रियप्रणालिकया प्रसरणशीलसम्विद्वृत्तिविशेषेणोपलभमाना भवन्ति, अत एव प्रकाशधर्मोऽनधिकरणास्ते नाऽऽत्मतत्त्वाऽभिलक्ष्याः, किन्तु सम्विदभिन्नविज्ञानाकारा इति । असत्यां हि सम्विदि सम्वेद्मीति नोपपद्यते, सत्यां च सम्विदि सम्वेद्मीत्युपपद्यते अतः सम्विदेव परं वेदित्री, अतएवाऽहं सम्वेद्मीत्यत्राहंगोचरीभूतसम्विदेवसम्वेदनव्यापारवत्त्वम्, एवमहं सुखीत्यादावपि—अहंप्रहसमानाधिकरणसुखात्मकधर्मोऽपि सम्विदाकारः स्वाधिकरणे सम्विदि स्वसत्त्वमावेदयति ।

सा चेयं सम्विद् द्विधा—प्रवृत्तिविज्ञानात्मिका, आलयविज्ञानात्मिका च, तत्र प्रवृत्तिविज्ञानात्मिकायाः सम्विदः सत्तायामेव विषयालोचनादिव्यापारा भवन्ति सुषुप्त्यवस्थायान्तु—आलयविज्ञानात्मिकायाः सम्विदः सत्त्वेन नाऽर्थानां ग्रहणं भवतीति व्यवस्था । सा च क्षणिका प्रतिक्षणभिन्ना, शरीरारम्भकादिमक्षणमारभ्य शरीरविनाशक्षणाऽवधिकमनवरतमावर्तमाना सम्विद्धाराऽवतरन्ती वर्तते एव, तत्र जाग्रत्स्वप्नयोः प्रवृत्तिविज्ञानधारायाः,—सुषुप्तौ चाऽऽलयविज्ञानधाराया अङ्गीकरणात्, तेन सुषुप्त्यादौ न धाराविच्छेदनिमित्तमरणप्रसङ्गः । उत्तरोत्तरविज्ञानधारायां पूर्वपूर्वविज्ञानधारायाः प्रयोजकत्वात्, तत्र पूर्वसम्वित्सन्ताने च यादृशानुभवतत्संस्काराश्च भवन्ति ते सर्वेऽपि—उत्तरोत्तरविज्ञानसन्ताने संक्रममाणा भवन्ति तेन बाल्याद्यवस्थास्वालोचितविषयाणां स्मरणादिकमपि स्थविराद्यवस्थायां निराबाधमेवेति, प्रवृत्तिमयसम्विदधिष्ठितान्येवेन्द्रियाणि पदार्थान् प्रकाशयन्ति न त्वालयसम्विदधिष्ठितान्यपि तस्या निर्विषयत्वात् । सम्विदतिरिक्तात्मवादिमते तु सर्वदाऽऽत्मनो विद्यमानत्वे सुषुप्तावपि विषयाऽवभासप्रसङ्ग आपद्येत । तत्र यदि प्रवृत्तिसम्विदधीनश्चेदात्मा पदार्थान्प्रकाशेत तदा सम्विदधीनात्मा न स्वयंप्रकाशः स्यात्, अतः स्वाधीनसत्ताकसंविदेवात्मा इति ॥

सचायं सिद्धान्तः कल्पनामात्राऽऽधारोऽनादरणीय एव । यतः क्षणभङ्गवादमभ्युपगच्छतां बौद्धानां क्षणिकानां भावानां विषयाणां क्षणभेदेन भेदात्, तत्तद्विषयविषयिणी सम्विदपि क्षणिकाऽन्याऽन्या चकास्ति, सैव चेदात्मा तदा पूर्वेद्युरवगतानां विषयाणामपरेद्यु'रहमिदमपश्यम्'—इत्याद्याकाराः स्मृतयः कुतस्तादुपपद्येरन्, तत्तत्स्मरणसमुत्पादकसंस्काराधारसम्विदान्तु पूर्वेद्युरेव लयपर्यवसानात् ।

एवम्—प्रतिक्षणविभिन्नतयाऽनुभवविषयाणां विज्ञानानामनित्यत्वं भवदभिप्रेतमिति तासां करणेन केनाऽप्यवश्यं भाव्यम् । तच्च स्वसमानगुणकमेव स्यात्, संविदां तु कदाचिद् सत्त्वप्राधान्येन कदाचिद् रजःप्राधान्येन कदाचिच्च तमःप्राधान्येनोपलम्भात्, तत्करणं हि प्रकाशप्रवृत्तिनियमनशीलसत्त्वरजस्तमःस्वभावं प्रकृत्यात्मकं निर्णीयते, तथा च जडकारणजन्यस्य सम्विद्विशेषस्य कथं स्वतःप्रकाशमानत्व-

प्रसक्तिक्लेशोऽपि, अतएव जडरूपायास्तस्या नित्यशुद्धमुक्तस्वभावनियतमात्मत्वमपि विरुद्धमेव ।

एवम्—यावतां स्थावरजङ्गमतत्त्वानां भवतु नाम सम्विज्जन्यत्वेन सम्विदाकारत्वं सम्विद्वैधर्म्यञ्च, अतएव जडरूपाणां तेषां भवतु नाम स्वतःप्रकाशमानत्वाऽनधिकरणत्वम् । अथ तत्तद्विषयाऽऽलोचनादिव्यापारवत्तया संविदि चेतृत्वम्, 'अहं सम्वेद्मी'त्यादिप्रत्ययप्रतिपाद्याऽहंप्रत्ययसमानाधिकरणसम्वेदनकर्तृत्वञ्च, तत्त्वस्माकं सिद्धान्तसिद्धमेव बुद्धिप्रपञ्चान्तर्भूतत्वेन । ते च चेतृत्वाद्यहंप्रत्ययादिधर्माश्च बुद्धिभिन्ने आत्मनि त्वौपाधिका एव भवन्तीति । किन्तु तस्य क्षणिकत्वमुपपादयता भवता पुनरात्मतत्त्वतयाऽभिमतमिति तद्भ्रमैव चैचित्र्यम् भ्रान्तिरूपम् ।

किञ्च—सम्विदि यथाऽहं वेद्मीतिप्रत्ययस्तथाऽहं चेतनोऽस्मीत्यपि प्रत्ययो भवति, स चायं स्वभिन्नचेतनात्मानमन्तरेण न भवितुं युक्तः, तस्मात्स्वस्यां प्रतिबिम्बितचेतनात्मधर्मेण चेतनत्वेन स्वस्याश्चेतनेतिप्रतीत्यभ्यास इति । तस्माच्चेतनस्तदतिरिक्तो नित्योऽभ्युपगन्तव्यः । यस्मिन्नात्मनि शाश्वते वर्तमाने सत्येव भवदभिमतासु क्षणिकासु सम्वित्सु नियतं चेतनत्वाभिमानं निर्वहेदिति ।

एवम्—सुषुप्त्यवस्थायां स्वाभिमतनिर्विषयसम्वित्सन्तानः संवर्तते इत्यपि न युक्तं । विषयं विना कथं विषयिणः सम्विद्विशेषस्य तत्राऽवस्थितिसत्त्वं कल्प्येत । निर्विषयस्य ज्ञानस्य स्वीकारे तु तस्य ज्ञानत्वमेव व्याहन्येत, प्रत्युत घटादीनामपि जडस्वरूपाणां निर्विषयाणां ज्ञानत्वापत्तिः स्यादिति । अत एव न तत्रापि ज्ञानधारा कल्पनीया, एवमपि चेतनात्मसत्त्वेन न स्यान्मरणाद्यापत्तिरिति । सुषुप्त्यवस्थायां विज्ञानधाराया गगनकुसुमवदसत्त्वमेव । एवं च सति तत्र तादृशविज्ञानभिन्नात्मपदार्थस्वीकारेऽपि सुषुप्तौ बुद्धिवृत्तीनां विरामस्यैव सद्भावः, एवं स्थिते कथं पुनरुत्तरोत्तरविज्ञाने वासनादिसंक्रमाः कल्पनीयाः, संस्काराणां निष्क्रियत्वेन तेषां संक्रमणमपि न सम्भवेत् । यदि च संक्रमणमत्रोत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेवेत्यभ्युपगम्येत, तदापि तत्रोत्पादकस्याऽपेक्षा भवति, यदि च तत्रोत्पादकं विज्ञानमेव तदा तु विज्ञानानां प्रतिक्षणभिन्नानामानन्त्येनाऽनन्त्यापत्तिः स्यात् । एवं मरणाऽव्यवहितप्राक्सामयिकपुण्याधिकरणसम्विदो नाशानन्तरं तस्य सम्विदात्मनः पुण्यादिफलभोक्तृत्वं न स्यात्, तस्य पुनरुत्पत्त्यनङ्गीकारात्, बालकस्य च देहान्तरे स्तन्यपानादिप्रवृत्तिः पूर्वसंस्काराधीना सम्भवति सापि न स्यात्, संस्काराधारभूतायाः सम्विदः पूर्वमरणे एव नाशात्, अतो यद्वृत्तिसंस्कारादिना प्रवृत्तिर्भवति सः कश्चिन्नित्यश्चेतनात्मा सिद्ध इति । तेन न बाल्याद्यवस्थानुभूतविषयाणां स्थविरादौ स्मरणाऽनुपपत्तिरपीति ।

यत्तु—सम्विदतिरिक्तात्मवादिमते सुषुप्तावपिविषयावभासप्रसङ्ग—इत्यपि न, तत्र

बुद्धिवृत्तीनां विरामेण विषयाऽवभासापत्तिस्तु नास्त्येवेति । बुद्ध्यधीन एवात्मा पदार्थान्प्रकाशते इति त्वस्मदभिमतमेव, नैतावताऽऽत्मनः स्वतःप्रकाशत्वं व्याहतम्, पराधीनः सन् विषयान् भुङ्क्ते इतितात्पर्यात् । सा च बुद्धिरेव सम्विद्धर्मवर्त्ता, सम्विदभिधानया विज्ञानवृत्त्याऽऽत्मने विषयाद्युपभोगं दातुं समर्था, सा एव संस्काराधारभूता विद्यमानेति, कृतं तस्यात्मत्वकल्पनया । अत्रैतदुक्तं प्राचीनैः–कृतप्रणाशाऽकृतकर्मयोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् । उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन्नहो ! महासाहसिकः परोऽसा'विति ।

अद्वैतवेदान्तिनस्तु–क्षणिकविज्ञानात्मवादेऽप्रसन्नाः स्वीयं नित्यविज्ञानात्मवादमाश्रयन्ते 'अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिवाक्यैर्निरूपितस्वरूपं नित्यविज्ञानमेवाऽऽत्मेति । तच्च स्वतः प्रकाशं नित्यम्, तथा चाऽनित्यविज्ञानादिवादेऽनुषज्यमानदोषास्तावदत्र नोपयुज्यन्ते । सुखदुःखज्ञानकृतिभावनादयो विकारास्त्वन्तःकरणधर्माः अध्यासमयाऽनुवर्तमाना नित्यविज्ञानात्मनैवोपाधिवशाद् भोग्या भवन्ति तेषां तत्र विरहाद् व्यतिरेकेणाऽऽत्मत्वसाधका ते भवन्तीति, 'विज्ञानम्–आत्मा,–अन्तःकरणधर्माऽनधिकरणत्वात् इति । उपाधिप्रयुक्तजन्मजन्मान्तरादिग्रहणव्यवस्थाऽपि तस्य सूपपाद्या भवेदेव । अतो निर्धूतनिखिलभेदावभासकूटस्थनित्या संविदेव विज्ञानाऽभिधाना–आत्मेति । 'याऽनुभूतिरजाऽमेयाऽनन्तात्मेति सैव संविद्वेदान्तवाक्यतात्पर्यभूमिरि'ति "परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता । सम्वित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः" इति ॥

सोऽयमेतेषां वादोऽपि प्रत्याख्येयः–यतः नित्यविज्ञानस्याऽऽत्मत्वे विज्ञानेन सविषयकतया भाव्यम्, तथा च किमस्य यावद्विषयकत्वमुपगतम् । वा यत्किञ्चिद्विषयकत्वम् । यावद्विषयकत्वे तु सर्वज्ञत्वापत्तिः यत्किञ्चिद्विषयकत्वे तु कस्यापि विषयस्य नियतत्वं विना कथं तदपि निर्वचनीयं स्यात् । अतो यत्कालावच्छेदेन यद्विषयविषयकत्वं तदा तत्तद्विषयकत्वमेव वक्तव्यम् । तथापि तत्तद्विषयविषयकानुभवस्तावत् 'अहम्'इति न भवति । किन्तु 'तत्तत्पदार्थविषयकानुभववानहमि'ति । अत एव घटमहमनुभवामीत्यत्राऽप्यहंप्रत्यय–सामानाधिकरण्येनाऽनुभवात्मकवृत्तेर्घटादिविषयिण्या एवोपलम्भात् अनुभवः कस्मिंश्चिदात्मतत्त्वेऽनुभवाऽधिकरणयोगादभ्युपेयः, तच्चाऽधिकरणं बुद्धितत्त्वं, तद्योगश्च ज्ञानतत्त्वातिरिक्ते चेतने, इति स नित्यात्मा बोध्यः ॥

विज्ञानं यद्यपि भवतु नित्यं, अन्तःकरणस्यैव ज्ञानसुखादयो धर्मा अपि भवन्तु; त्पत्तिध्वंसस्वभावाः चेतनभोग्याश्च, तथापि ते विज्ञाने व्यतिरेकेण आत्मत्वसाधका न भवन्ति, विज्ञानस्याऽन्तःकरणधर्मस्याऽधिकरणत्वेन स्वरूपाऽसिद्धेः ॥

सा श्रुतिस्तु ब्रह्मचेतनविषया न तु जीवचेतनविषयेति । एवमुक्तवार्त्तिकेऽपि संविदो जीवाभिप्रायेण प्रयोगे सति व्याहतिः, तथाहि–संविदिति–स्वाश्रयं प्रति सत्तयैव प्रकाशनशीलो ज्ञानानुभूत्यादिव्यपदेश्यः सकर्मको धर्मः प्रसिद्धः, तथैव हि सर्वानुभवसिद्धोऽनुभवः–'अहमिदं संवेद्मीति । तत्र च प्रादुर्भावस्थिति-तिरोभावाः प्रत्यक्षसिद्धाः, अतोऽनित्यत्वं तस्याः, तथा चाऽनित्ये विज्ञाने स्थिरत्वानुसन्धाने व्याघात इति, अतो न सा जीवाभिप्राया । किञ्च–विज्ञानस्य नित्यत्वे सर्वदा विषयावभासप्रसङ्गः । सांख्ये तु नायं दोषः, यावद्बुद्धिवृत्तिभेदात् । ननु वेदान्तेऽपि अन्तःकरणवृत्तिभेदान्न दोष इति चेन्न । तथापि ईश्वरस्य जीवभावत्वे सर्वात्मनामैक्ये च बन्धमोक्षव्यवहारानुपपत्तिर्दुर्वारैवेति ।

अथ तत्तदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्यैक्येऽपि तदन्तःकरणस्य नाशे तदन्तः-करणावच्छिन्नचैतन्ये बद्धमुक्तव्यवस्थाया नानुपपत्तिरिति चेत् ! एवमपि मोक्षार्थं प्रयत्नानुष्ठानवैफल्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् , अन्तःकरणनाशेऽपि अन्तःकरणान्तरावच्छिन्ने स्वात्मनि दुःखोत्पत्तेरावश्यकतया प्रवृत्तिफलस्य निर्दुःखत्वस्याऽसंभवात् । यदि चान्तःकरणस्यैव सुखदुःखादि न चैतन्यस्य भोग्यं कदापीत्युच्यते, तदा मुक्तिप्रयासो व्यर्थ एव, स्वस्य नित्यमुक्तत्वादिति । यदि च भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं तदित्युच्यते ! तदाऽप्यन्तःकरणावच्छिन्ने स्वस्मिन्नेव भ्रान्तेरावश्यकत्वेन प्रयत्नवैफल्यं दुर्वारमिति । अतो न नित्यविज्ञानात्मा परमात्मा चेति ।

शुद्धाद्वैतास्तु—तदेतेषु पूर्वनिरूपितात्मतत्त्ववादेष्वविश्वस्ता अपि सत्यत्वात्या परमात्मानमेव स्वात्मस्वरूपमवगच्छन्ति, अनादिपुरुषोत्तमः परमात्मा परं ब्रह्म-संसारसर्जनसमये स्वात्मन्येव स्वेच्छात्मकमायया विद्याऽविद्येत्युभयशक्तिप्रादुर्भावं विदधाति; तदेतच्छक्तिद्वयं गृहीत्वा परमात्मा एवाऽपरिमीतजीवात्मस्वरूपतामनुभवति । उक्तं च शुद्धाद्वैतमार्तण्डे–"जडजीवान्तःस्थितानां यथाक्रमश उद्गमः । अग्नेर्यथा विस्फुलिङ्गास्तथा जीवोद्गमः स्फुटः ॥ ९ ॥ आविर्भावि तु सर्वं हि ब्रह्मैवेति न संशयः । रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाऽभवदिति ॥ भगवदिच्छया जीवानामानन्दांशस्तिरोभवतीति ॥ जीवात्माऽवस्थायां चायमविद्यात्मकशक्तिसम्पादितस्वानुकूलप्रतिकूलवेदनीयसुखदुःखादिपुण्यपापादिकर्मफलान्यश्नाति । विद्याशक्त्या च परमात्मनः पुरुषोत्तमपरब्रह्मणः स्वोपास्यस्य सर्वज्ञनिरञ्जनस्वरूपोपासनया श्रवणमनननिदिध्यासनादिना तदनन्यभक्त्या च पुनः परमात्माऽभिन्नो भवति तन्मते अभेदस्य वास्तविकत्वात्, प्रलये सर्वं चेदं जगज्जातं जीवतत्त्वं च परमात्मन्येव तिरोभवति, परमात्मतत्त्वत एव समुत्पन्नस्य सत्यत्वात्या पुनस्तत्रैव समावेशादिति ।

सत्यायमपि निर्णयो निर्णयाऽऽभास एव । यतः हि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभा-वस्य सच्चिदानन्दस्वरूपस्य परब्रह्मणो जीवात्मतत्त्वरूपाऽवस्थानं सुखदुःखपुण्या-

ऽपुण्यादिभोक्तृत्वञ्च स्यात् तर्हि संसृतिनिर्वाणयोर्व्यवस्था न स्यात्, स्वात्मस्वरूपस्य जीवतत्त्वस्य निर्लेपस्य कस्य संसृतिः । कस्य वा निर्वाणम् ? इति । अत एव बन्धमोक्षस्वर्गनरकादि किमपि न स्यात् परमात्मनस्तद्योगात्, किञ्च स्वेच्छात्मकमायया सृष्टमिदं जगदिति सुखात्मकमेव सृजेत स्वर्गमेव सृजेत मोक्षमेव वा सृजेत नतु बन्धनदुःखनरकादीन्यपि । किञ्च सर्वेषामुत्पत्तिस्थितिलयस्वभावानामपि स्वस्मादेव प्रादुर्भूतानां पदार्थानां स्वात्मकतया सच्चिदानन्दात्मकमेव जगत् स्यान्न तु सुखदुःखमोहात्मकं षडूर्मिव्याप्तमपीति ।

किञ्च स्वस्य दुःखादिभोक्तृत्वे तु परमात्मत्वमेव व्याहन्येत, तस्य सच्चिदानन्दस्वरूपतापि नोपपद्येत, किञ्चाऽस्य जीवत्वं यावत्त्वेन यत्किञ्चित्त्वेन वा ? न प्रथमः, उपासनाविषयस्याऽतिरिक्तस्याऽनवशेषत्वापत्त्या कः कमुपासीत कथं मुक्तिं व्रजेदिति । न द्वितीयः, सावयवत्वाद्यापत्तेः । अत एवाऽयं परमात्मा न कदाचिदपि जीवात्मस्वरूपः संसारस्वरूपो वा भवितुं योग्यः, तस्माज्जीवात्मानो नित्याः परमात्मतत्त्वभिन्नाः शाश्वताः सुखदुःखादिप्रदबुद्धियोगात् सुखादिभोक्तार इति ।

अथ परिमाणविचारावसरे परिमाणविषये सम्यगालोचितोऽप्यात्मा स्वरूपतस्तावदार्हतमतेनेत्थं वेदनीयः—'शरीरपरिमाणोऽयमात्मा बोधात्मक एव, बोधश्च विज्ञानम्, तच्चैतन्यपदार्थः, ज्ञानसुखादयस्तु तस्यैव धर्माः, क्षणिकविज्ञानवादिवन्नास्य क्षणिकत्वम्, नच विनाशित्वम्, किन्तु शरीरपरिमाणसदृशपरिमाणवत्तया यावच्छरीरस्थितिस्थायित्वम्, शरीरविनाशे संकोचस्वभावस्य सूक्ष्मस्वरूपस्य पुनः शरीरान्तरप्राप्तौ सत्यां तच्छरीरपरिमाणसमानपरिमाणवत्त्वम् भवति, तदयं चेतनात्मको जीव इति । मोक्षावस्थायां तु शरीरात् तृतीयांशन्यूनपरिमाण इति वदन्ति ॥

स चाऽयं सिद्धान्तोऽपि कल्पनामात्ररूप इति । यतः बोधात्मनः संकोचविकासस्वभावत्वे आत्मस्वरूपस्याऽनित्यतैव स्यात्, बोधो नाम विज्ञानम्, तच्च न यावच्छरीरस्थितिस्थायि, विषयभेदेन तस्य भिन्नत्वादिति । विषयं विना विज्ञानाभावसमये सुषुप्त्याद्यवस्थायां मरणापत्तिश्च स्यादिति । ननु बोधात्मा तु नित्यो न नश्यति किन्तु तद्धर्मरूपं ज्ञानं वृत्तिविशेषः स तु विषयविषयिभावनियामकमिति नोक्तदोषलेशोऽपीति चेन्न । धर्मभूतज्ञाने संकोचविकासाऽभ्युपगमेऽपि तथाऽऽत्मस्वरूपस्याप्यनित्यता समापद्येत, धर्मपरिणामो हि धर्मिण एव घटादिवत्, तथा च क्षणिकत्वेनाऽभ्युपगम्यताम् । यदि च सत्कार्यतया न क्षणिकता किन्तु ज्ञानविशेषाविर्भावतिरोभावी एव बोधात्मपदार्थस्ते भवतः—इत्यभ्युपगम्यते तदा कपिलमतसिद्धान्तप्रविष्टो भवान्, तथा च ''कापिलेन क्वचिन्मैत्रीं क्वचिद्बौद्धेन दर्शयन् । धर्मे धर्मिणि च द्विष्यन् सर्वतः प्रत्यवेदसौ'' । इति तस्माज्ज्ञानधर्मिणी बुद्धिर्जडपदार्थस्तद्व्यतिरिक्तश्चेतनात्मा कश्चिदन्य इति बोध्यम् ॥

निम्बार्कास्तु–जीवात्मतत्त्वं नित्यं ज्ञानादिमत् परमात्मनोंऽशरूपं परमात्मतोऽत्यन्तं भिन्नमेवेत्युपगच्छन्ति, अंशत्वञ्चाऽत्र तद्वृत्तिविशेषगुणसजातीयविशेषगुणवत्त्वादिना बोध्यम् । माध्वाचार्यैर्जीवात्मतत्त्वं प्रकृतिपरमात्मादिभिन्नं स्वयं प्रकाशं नित्यमिति स्वीकृतम् । रामानुजैः स्वामिनारायणीयैश्च जीवात्मतत्त्वम् मायातः परमेश्वरतश्चाऽत्यन्तभिन्नं नित्यं ज्ञानादिमत् चेतनं स्वयंप्रकाशरूपं परमेश्वरशरीरमिति स्वीकृतम् ।

शैवा अपि जीवात्मतत्त्वं प्रकृतिपरमेश्वरादिभिन्नं नित्यं चेतनमित्यभ्युपगच्छन्ति, नकुलीशपाशुपतास्तु–जीवात्मतत्त्वं परमेश्वरपाशुपततोऽत्यन्तं भिन्नं प्रकृतिभिन्नं चेतनं प्रकाशवदपि मोक्षावस्थायां पशुपतिस्वरूपापन्नं भवतीत्यभ्युपगच्छन्ति । तदेतेषां निम्बार्कादीनां सिद्धान्तास्तावदेतद्विषये न योगसिद्धान्तविरुद्धाः इति ॥

अथात्मतत्त्वसंख्याविप्रतिपत्तिनिरासोऽनुसन्धीयते–

तथाहि—योगमते तावदात्मानोऽसंख्येया अभ्युपगन्तव्याः, ते च प्रतिशरीरं भिन्नाः, अतएव भिन्नभिन्नप्रवृत्तिमत्त्वं सर्वेषामुपपद्येत, स्वस्वार्जितपुण्यापुण्यभोक्तृत्वञ्च स्वस्मिन्नेवोपपद्येत, अतः पुण्यवान् स्वर्गं विन्दतेऽपुण्यश्चाऽधोगतिं लभतेऽज्ञो बध्यते ज्ञानी मुच्यते, इति श्रुतिस्मृतिसिद्धव्यवस्था युक्ता भवति, एवं केषाञ्चित् सत्त्वप्रधानता केषाञ्चिद् रजःप्रधानता केषाञ्चित्तमःप्रधानत्वमपि समुपपद्यतइति ॥

अद्वैतास्तावदात्मतत्त्वमेकमेव लाघवतर्कसहकारेण बलवतीभ्योऽभेदश्रुतिभ्यश्चाऽभ्युपगच्छन्ति, यथाहि–'न स्यादात्मतत्त्वं प्रतिशरीरं विभिन्नम्, तत्र कस्यापि प्रमाणस्याऽनुपलम्भात्, नहि प्रत्यक्षं प्रमाणं तत्रोपलभ्यते, रूपाद्यभावेन चक्षुरादिबाह्येन्द्रियैर्ग्रहीतुमशक्यत्वात् । नाऽपि मानसं प्रत्यक्षं तत्राऽनुसन्धेयम्, स्वात्मनस्तावत्स्वमनसा प्रत्यक्षेऽपि परात्मनोऽग्रहणात्, तेन भेदसिद्ध्यभावात् । न चानुमानं तत्राऽभ्युपेयम्, लिङ्गाऽप्रसिद्धेः, नच विभिन्नप्रवृत्त्यादिकमेव तत्र लिङ्गं स्यादिति वाच्यम्, एकस्मिन्नपि शरीरे एकात्मनाऽवस्थानवादिमतेऽपि विहरणाऽऽदानप्रवृत्त्यादिभेदेन व्यभिचारात्, सद्धेतुत्वे त्वनेकात्मापत्तिरेकस्मिन् तत्रेति ॥

नच सुखदुःखादिविभिन्नधर्माणां दर्शनात् तत्तदधिकरणात्मनामपि भेदसिद्धिरिति वाच्यम् । बुद्धिवृत्तिविशेषाणां सुखदुःखादिधर्माणां त्वन्तःकरणानां भेदसाधने लिङ्गत्वंस्यान्न त्वात्मभेदसाधने । अतएवान्तःकरणात्मकोपाधिभेदेन तद्धर्माणामपि सुखदुःखादीनाम् भेदव्यवहारनिर्वाहः । एवमेकशरीरावच्छेदेनाऽवस्थिताभिर्बुद्धिवृत्तिभिस्तेनैवात्मना विविधा विषया अनुभूयन्ते, अन्यशरीरावच्छेदेन तु–अन्याभिर्बुद्धिवृत्तिभिस्तत्र विविधा विषया अनुभूयन्ते इति । तथा बुद्धिवृत्तिभेदाद् बुद्धेरपि भेदेन भिन्नभिन्नप्रवृत्तिमदिदं जगत् सुव्यवस्थितं स्यादेवेति, अतः सर्वशरीरेष्वेक एवात्मा । तत्र श्रुतिस्मृतयः–"एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानाऽस्ति किञ्चन"

“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” “सर्वं ब्रह्मात्मकं जगत्” “एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।” “अहमेवेदं सर्वम्” “आत्मैवेदं सर्वम्” “सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः”। ‘मत्तः सर्वमहं सर्वमपि सर्वं सनातने” इत्याद्याः ॥

स चायं सिद्धान्तस्तावदसमञ्जस एव। अनुमानत एव तदनेकत्वसिद्धिसम्भवात्, तथाहि ‘पुरुषाः, अनेके, तत्तद्व्यक्तिव्यतिरिक्तव्यक्त्यवच्छिन्नप्रवृत्त्यनुयोगिक—भेदप्रतियोगिप्रवृत्तिमत्त्वात्। एकस्मिन्नपि शरीरे एकात्मन्याहरणविहरणादिभिन्नप्रवृत्तिमादाय न व्यभिचारः, तत्तद्व्यक्तिभिन्नव्यक्त्यवच्छेदेन यावत्प्रवृत्तिषु यो भेदस्तत्प्रतियोगिन्य एतद्व्यक्त्यवच्छिन्ना यावत्प्रवृत्तयो भवन्ति, एवमन्यव्यक्त्यवच्छिन्ना अपि प्रवृत्तयो भवन्ति, एवं संसारस्थयावत्प्रत्येकव्यक्त्यवच्छिन्नाः प्रवृत्तयोऽपि भवन्ति तद्रूपस्य यावत्तत्तद्व्यक्तिषु सत्त्वात्। न त्वेकस्यामेव कस्यांचिद्व्यक्तौ येन तत्र व्यभिचारः स्यादिति ॥

प्रवृत्तिश्च प्रयत्नः, स चाऽन्तःकरणधर्मोऽपि पुरुषे त्वौपाधिकतयोपचर्यते इति, स च प्रयत्नः प्रत्येकात्मनि विभिन्नः समुपलभ्यते। अत एकस्मिन्कलेवरे कम्पमाने नाऽन्यत् कम्पते, एकस्मिन्सुप्ते नाऽन्यानि स्वपन्तीति, एकस्मिन् गम्यमाने नाऽपराणि गच्छन्तीति। सर्वभूतेष्वेकात्मवादे त्वेकस्मिन्गम्यमाने सर्वाण्येव कलेवराणि युगपच्चाल्येयुः। एकस्मिन्कम्पमाने सर्वे एव कम्पेरन्, एकस्मिन्सुप्ते सर्वे एव सुप्ताः स्युरिति। तेनाऽव्यवस्था स्यात्, नानात्वे त्वात्मनां नायं दोष इति।

एवं जननमरणकरणानामपि प्रतिपुरुषं व्यवस्थादर्शनाद्भवति पुरुषाऽनेकत्वसिद्धिः। जन्म-नाम अपूर्वैः शरीरेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिभिः सममात्मनः सम्बन्धः। मरणं नामोपात्तानां शरीराणां परित्यागः। करणानि च श्रोत्रादीनि बुद्ध्यन्तानि त्रयोदश। इत्येतत्प्रत्येकं सर्वत्र व्यक्तिविशेषव्यवस्थितमवलोक्यते। यदि सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा स्यात् तदा व्यवस्था न स्यात्। किन्तु—एकस्मिन्पुरुषे जायमाने सर्वे एव जायेरन् म्रियमाणे च म्रियेरन्, एकस्मिन्नन्धे विचित्ते वा सर्वेऽन्धा विचित्ता वा स्युरित्यव्यवस्थाऽऽपद्येतेति।

न चैकस्याप्यात्मतत्त्वस्य कलेवरभेदेनैव सर्वा व्यवस्था सूपपाद्या स्यादिति वाच्यम्। तथा सति करचरणाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्थाऽऽपद्येत, नहि हस्ताद्यवयवे नष्टे वृक्णे वा शरीरी मृतो वृक्णो वा भवति, अतो न शरीरभेदेन व्यवस्था युक्तेति। जन्मादिव्यवस्थायां प्रयोजकं स्वाऽदृष्टमेव भवति। आत्मन एकत्वे जन्मसम्पादकाऽदृष्टस्यैकविधस्यैव प्रयोजकत्वेनैकेनैव शरीरेण सह संयोग इत्यात्मिका जन्मव्यवस्था युक्ता, न त्वसङ्ख्यशरीरसंयोगस्तावदेकात्मनो युक्तः। आत्मनः स्वाऽदृष्टप्रदशरीरयोगस्यैककालावच्छेदेनैकस्यैव युक्तत्वात्,

न त्वनन्तशरीरयोगस्येति । तस्माद्भवन्त्यात्मानः प्रतिशरीरं विभिन्ना इति । जन्मादिव्यवस्थायां श्रुतिः—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' ॥ 'ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाऽपियन्ती''त्यादिः ।

यत्तु—सुखदुःखादिधर्माणां बुद्धिगतानां बुद्धिभेदसाधकत्वं न त्वात्मभेदसाधकत्वम्, तत्तु सत्यम्, तथापि त एव सुखदुःखादयस्तावद्बुद्धिप्रतिबिम्बितात्मन्यौपाधिकास्तु विद्यन्त एव । अतः स्वाधिकरणप्रतिबिम्बितत्त्वसम्बन्धेनात्मतत्त्वे तेषामपि वर्तमानत्वेन भविष्यत्येव सहिङ्गतया भेदसाधकत्वं तत्रेति ।

यच्चोक्तम्—भिन्नभिन्नबुद्धिवृत्तिभिर्भिन्नविषयादिग्रहणव्यवस्थया एव व्यवस्था, इति । तत्त्वविचारमर्णायैव । यतो हि भिन्नभिन्नबुद्धिवृत्तिभिरापादितविषयाणामुपभोगाय बुद्धेश्च चैतन्याभिमानसम्पत्तये तथापि केनचिच्चेतनेन भवितव्यम्, तच्चेतनं यदि सर्वत्रैकमेव स्यात् तदा पुनश्चेतनप्रतिबिम्बमपि यावत्तासु बुद्धिष्वपि एकरूपमेवस्यात्, एवञ्चैकस्मात्पुरुषप्रतिबिम्बान्निवृत्ते बुद्धितत्त्वे सत्यपि यावद्बुद्धितत्त्वावस्थितत्वेन तस्यैकात्मतत्त्वस्य मोक्षो न स्यादेव, स्याद्वा यावद्बुद्धितत्त्वतो मोक्ष इति । तथा चैकस्मान्मोक्षे संसारविलयः, एकस्माद्बन्धने संसारबन्धनमित्यव्यवस्थोत्पद्येत । न चैवमुपलभ्यतेऽतो भिन्ना एवात्मानः सर्वत्राऽभ्युपगन्तव्या इति ।

यत्तु श्रुतिप्रमाणमुपदर्शितम् । तास्तु श्रुतयो नाऽऽत्मबोधिकाः, किन्तु परमात्मन एकत्वबोधिकाः । आत्मनान्तु न तावत्सामान्यत ऐक्यम् ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'' इति श्रुत्यैवाऽऽत्मबहुत्वप्रतीतेः । न चेदं काल्पनिकम् । नहि श्रुतिः काल्पनिकमर्थं बोधयति । तथा सत्यनाप्तत्वं श्रुतेः स्यात्, तेनाऽप्रत्यक्षस्यात्मतत्त्वस्य स्वरूपबोधिका यावत्यः श्रुतयस्तथाऽनाप्ताः स्युरिति । अतोऽविदितार्थस्य श्रुत्यैव बोधात् । 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतयः परमात्मनः सजातीयद्वितीयराहित्यं बोधयन्ति । ननु जीवात्मनामभेदम् । जीवात्मानस्त्वनेकास्तन्नियन्ता परमात्मोपास्य एक एव, तस्यैक्यमाकलय्य 'नेह नानाऽस्ति किञ्चने'ति श्रुतिः सङ्गता भवति । एवम् ''अहमेवेदं सर्वम्'' ''आत्मैवेदं सर्वम्'' इत्यादिश्रुतयोऽपि सर्वान्तरात्मभूतपरमात्मपर्यन्तं स्वात्मदृष्टेरनुसन्धानबोधनपरायणा ननु भेदनिषेधपरायणा इति ।

एवम्—'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन'' इति गीतावचनमपि प्रकृतितत्त्वविविक्ततयाऽऽत्मस्वरूपस्य दर्शने कृते सति सर्वमात्मवस्तु प्रकृतिविविक्ततया दृष्टं भवतीति विवेकदर्शनपरम्, नतु तेनाऽभेदो गम्यते आत्मतत्त्वस्येति। अथ 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्''—''नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥ इत्यादिश्रुतीनामपि नास्ति विरोधः, तासां धर्मपरत्वात्। यथा सलिलादिगतचन्द्रप्रतिबिम्बेष्वनेकेषु चन्द्रत्वधर्मस्त्वेक एव तथा भूते भूते व्यवस्थितेषु भिन्नात्मसु अनुगतैकात्मत्वधर्म इति बोधनद्वारा जडरूपप्रकृतिभिन्नमात्मतत्त्वमिति बोधे तासां तात्पर्यात्। तादृशश्रुतिस्मृतिगतैकादिशब्दा अपि चिदेकरूपतामात्रपराः। भेदादिशब्दाश्च वैधर्म्यलक्षणभेदपरा इति। यथा 'एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते॥ इत्यादौ सर्वात्मनां चिदेकरूपतार्थोऽवगमात्, तत्रात्मन एकस्वरूपस्यावगतेऽवस्थात्रयव्यतीतानां यावदात्मनां स्वस्वरूपबोधोपपत्तिसम्भवात्, तथा प्रकृतितत्त्वस्य वैधर्म्यमात्मत्वमात्मतत्त्वावस्थितमिति बोधोपपत्तिसम्भवात्। तस्मादुपपन्नमात्मनामानन्त्यमिति।

केचन वेदान्तिनस्तु—एकस्यैवात्मनः कार्यकारणोपाधिषु परमेश्वरप्रतिबिम्बानि जीवेश्वरा इत्युच्यन्ते, प्रतिबिम्बानां परस्परभेदाज्जन्माद्यव्यवस्था सूपपाद्येति वदन्ति।

नेदं चतुरस्रम्—तत्र भेदाऽभेदविकल्पाऽसहत्वात्। बिम्बप्रतिबिम्बयोर्भेदाऽभ्युपगमे तु प्रतिबिम्बस्य जडतया तत्र भोक्तृत्वमोक्षाद्यनुपपत्तिः स्यात्, जडस्य भोक्तृत्वमोक्षाद्यनुपगमात्। एवं जीवब्रह्मणोरभेद इति सिद्धान्तहानिश्च स्यात्। अभेदे तु जीवत्व—ब्रह्मत्वयोर्विरुद्धाधिकरणयोः प्रतिबिम्बे समावेशेन साङ्कर्यमपि स्यात्, अल्पज्ञत्वादिधर्मवत्त्वापत्तिरपि स्यात्। तेन कस्तावदुपास्यः कश्चोपासक इति व्यवस्थापि विलुप्येत। नहि स्वयं मोक्षार्थं स्वमुपास्ते इति।

यदि च निम्बार्कवद्—भेदाऽभेदाऽभ्युपगमस्तदाऽऽत्मानोऽनेके भेदात्, एकश्चाऽभेदादित्यपि व्यवस्था भवेत्, उपास्योपासकभावोऽपि सम्पद्येत। तथापि स्वसिद्धान्तप्रच्यवनम्—परसिद्धान्ताभ्युपगन्तृत्वञ्चाऽऽपद्येत। भेदस्याऽभेदस्य चैकस्मिन् विरोधान्न सोऽपि सिद्धान्तश्चतुरस्र इति।

"आत्मानं चित्स्वरूपं जडगुणविरलं चाऽधिकृत्याऽभ्यवादान्। मानप्रस्थानगर्भान् विविधमतयुतान् सम्बिरस्याथ तद्वत्। तत्तद्रूपप्रभेदानपि च बहुमतांस्तत्र संख्याविवादान्। विस्ताराद्वर्णितं तद्विशदमभिमतं योगिनामात्मतत्त्वम्'' । इति॥

न एते आत्मानश्चतुर्दशभुवनात्मकैतद्ब्रह्माण्डेऽवस्थिता ब्रह्मादिपातालवासिपर्यन्ताः सर्वेऽपि जीवात्मानः कथ्यन्ते। तल्लक्षणम्—सत्संगिजीवनेऽभिहितम्—'अजो नित्यः शाश्वतश्च निरंशश्च प्रकाशकः। सोऽच्छेद्यादिगुणो ज्ञेयो जीवात्मा वर्णिसत्तम!।' इति। ते च तत्त्वज्ञान—वैराग्यात्मकसाधनसम्पन्नाः सन्तोऽपि यदि परमात्मभक्तिं विहाय स्वापेक्षया श्रेष्ठतरदेवादीनां भक्तिप्रधाना भवन्ति तदा तेषां

स्वेष्टदेवलोकवसतिरभियुज्यते.। यथा सूर्योपासनया भूर्लोकवासिनां सूर्यमण्डलगर्भस्य द्युलोकस्य प्राप्तिः, तत्र गतानां तेषां पुनः पितृदेवानामुपासनया सत्यलोकप्राप्तिः, तत्र स्थितानां पुनर्ब्रह्माण्डतो बहिरवस्थितस्य विराड्नारायणस्योपासनया विराड्नारायणलोकस्य प्राप्तिः, तथैव शंकरस्योपासकानां कैलासलोकस्य प्राप्तिः, विष्णोरुपासनया वैकुण्ठादिलोकानां महामायागर्भरूपहिरण्मयकोशान्तर्गतानां महाविष्णोर्विराट्सूत्रात्माऽव्याकृततुरीयमहाकारणसंज्ञकानामीश्वरलोकानाञ्च प्राप्तिर्भवति। तदेतेषु महामायोदरान्तर्गतेषु विराड्ब्रह्मा-विष्णु शंकर महाविष्णुभगवच्चतुर्विंशत्यवताराणां लोकेषु तत्तदुपासनया गतानामात्मनामीश्वरसंज्ञा भवति, ते सर्वे ईश्वरास्तत्रेश्वरभोगभोगिनः। अतो हिरण्मयकोशान्तर्गता ईश्वराः, ब्रह्माण्डान्तर्गताश्च जीवात्मान इति व्यवस्था। ते उभयविधा अपि महायोगिनो भवन्ति तेषां योगाभ्यासाऽपेक्षा तु मायाप्रसङ्गजन्यबन्धनविधूननद्वारा विमोक्षायेति। तत्र जीवानां त्रिगुणवृत्तयो भवन्ति, ईश्वराणान्तु शुद्धसत्त्वगुणवृत्तय इति विशेषः। मायादत्तामेव सुखमात्रां ते भुञ्जन्ते। अतस्तेषामपि प्रकृतिवियोगो वृत्तिनिरोधश्चाऽवश्यकः, तेषां क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिकास्तु न भवन्ति। किन्त्वेकाग्रनिरुद्धोभयरूपैव। तेषां प्रत्यक्षप्रमाणवृत्तिरपि भवति, अनुमानवृत्तिरपि भवति, एकाग्रावस्थावतां निरुद्धावस्थापर्यन्ताऽप्राप्तानां तेषां परमात्मतत्त्वस्य प्रत्यक्षाऽभावात्। आगमा अपि वेदास्तत्र विद्यन्त एव,परमेश्वरज्ञानस्य सर्वत्रावतरण सत्त्वात्। एवं तेषां विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्—'अहमेवेश्वरो नान्य'इत्याकारकमस्ति। यत्राऽनुमानं तत्र विकल्पस्तु भवेदेवेति तेषां परमेश्वरविचारे सति विकल्पा जायन्त एवेति। एवं निद्राऽपि तत्र मायायाः प्रसङ्गेन शुद्धसात्त्विकी वृत्तिरभ्युपेयते। 'स्मरणन्तु सुप्रसिद्धं तत्राऽस्ति। तासां वृत्तीनां निरोधाय मायायाश्च संयोगविश्लेषार्थमेवैतेषां योगस्याऽपेक्षेति। तत्राऽविद्यादयः क्लेशा रजस्तमोधर्माश्च न सन्त्येव धर्मिणामभावादिति। तत्रेश्वरलक्षणम्—सत्सङ्गिजीवनेऽभिहितम्—'देहत्रये विराडाद्यौ व्याप्योत्पत्तिस्थितिक्षयान्। करोति जगतां यस्तु सर्वज्ञो ज्ञेयईश्वरः'इति। ते चेश्वरा अनेकाऽभिधानाः-विराडीश्वराः, प्रधानपुरुषेश्वराः, भूमापुरुषेश्वराः, इत्यादयः। सर्वज्ञपदमत्र विशेषपरम्, नतु परब्रह्मपरमात्मवत् सर्वज्ञत्वपरम्। तत्र स्मृतयोऽपि प्रमाणम्—'सृजते च गुणान्सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति। गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः'इति। अत्रार्थे व्यासभाष्यम् प्रमाणम्—'अण्डञ्च प्रधानस्याणुत्वयथो यथाऽऽकाशे खद्योत इति''यो० २ पादे २६ सूत्रस्य। अणुरूपब्रह्माण्डस्य बहिःप्रदेशे प्रधानस्योदरे च येऽन्ये लोकास्त ईश्वरलोकाश्च आत्यन्तिकप्रलये लयशालिन इति भवन्ति। तत्तु विशेषतो 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमा'दिति सूत्रभाष्याद्बोध्यम् इति ॥ २ ॥

पूर्वमभिहितं परमयोगसंसिद्धावात्मनः स्वस्वरूपावस्थानमिति। अथ परमयोगाऽसंसिद्धौ चिदात्मनः कुत्राऽवस्थानमिति!—

## ॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम्, इत्येतास्तिस्रोऽवस्थाः–व्युत्थानसंज्ञया ख्यायन्ते, तत्र चित्तस्य विशेषेण त्रिविधवृत्तितरङ्गमग्नत्वात्। एवमेकाग्रावस्थं चित्तमपि निरुद्धाऽपेक्षया तु व्युत्थानमिति ख्यायते, तदानीं सात्त्विकवृत्तीनामपि सद्भावात्। इतरत्र–क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रेतिचतुरवस्थात्मकव्युत्थानदशायाम्, पुरुषस्य–वृत्तिभिः–सात्त्विकीराजसीतामसीभिः, सारूप्यम्–तत्तदाकारानुवृत्तत्वं तत्तद्वृत्त्यनुपातित्वं तत्तद्वृत्तिविलक्षणवृत्तिराहित्यं भवतीति यावत्।

तत्र क्षिप्तावस्थायां रजोगुणस्य समुद्रेकात् सत्त्वतमोमात्रयाऽनुविद्धत्वाच्च–अणिमाद्यैश्वर्यविषयिण्यः शब्दादिविषयिण्यश्च चित्तवृत्तयो वर्तन्ते। मूढावस्थायां तमोगुणसमुद्रेकात् सत्त्वरजोमात्रयाऽनुविद्धत्वाच्च–अधर्माऽज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्यविषयिण्यः प्रमादालस्यमोहनिद्रावृत्तयो वर्तन्ते। विक्षिप्तावस्थायां सत्त्वगुणसमुद्रेकेऽपि रजसाऽनुविद्धत्वाद् धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यविषयिण्यश्चित्तवृत्तयो जायन्ते। एकाग्रावस्थायान्तु–केवलाः सात्त्विक्यः स्थूलसूक्ष्माकारा वृत्तयो जायन्ते। ताश्च सर्वाः स्वस्वविषयोपरक्ताश्चेतसि तादात्म्येनाऽवस्थिता भवन्ति, प्रदीपशिखावभङ्गुराः प्रतिक्षणपरिणामिन्यो मूषामूर्तिनिषिक्तद्रुतताम्रवत् स्वसंयुक्तविषयाकारास्त्रिगुणकार्यत्वात्सुखदुःखमोहाश्रिताः शान्तघोरमूढाभिमताः भवन्ति। तादृशवृत्त्यंशयुक्ते चित्ते पुरुषस्य प्रतिबिम्बं भवति, तत्र ता वृत्तयः संक्रममाणाः पुरुषप्रतिबिम्बवृत्तय इव भवन्ति, तेन पुरुषोऽपि स्वं तत्तद्वृत्तिमन्तमभिमन्यत इति॥

वैशेषिकास्तु–'अहं सुखी दुःखीत्यादि प्रतीतेरात्मन एव सुखदुःखादिगुणाः पारमार्थिकवृत्तय इति कथयन्ति। तत्तु न युक्तम्, यतो हि सुखदुःखादिवृत्तयस्तावत्स्वकारणपरिणामा इति तु सर्वसिद्धम्। ते च परिणामाः कस्य धर्मभूताः? आत्मनो यदि, तदाऽऽपद्येताऽऽत्मनः परिणामित्वम्, एवमात्मनःस्थायिद्रव्यत्वेन सर्वावच्छेदेन सर्वदा वृत्तिसत्त्वं तथा चाऽनिर्मोक्षप्रसंगः। यदि च मनःसंयोगो हेतुः परिणामी च स एवेति। तदा मनसस्त्वेनैव कारणत्वं परिणामानां भवतु, आत्मामनस्तत्संयोगानां त्रयाणां कारणत्वे महागौरवात्। एवम् 'अहं सुखी दुःखी'-त्यादिप्रत्ययास्त्वात्मनि 'अहं काणो गौर'इति प्रत्ययवद् भ्रमात्मका अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दिता इति न तेन सुखदुःखादिपरिणामवत्त्वमात्मनि साधयितुं शक्यम् किन्तु चित्ते एवेति। तथाचानुमानम्–सुखदुःखादिवृत्तयः, सत्त्वरजस्तमोमयचित्तोपादानकाः, जन्यत्वे सति चित्तान्वयव्यतिरेकशालित्वादिति॥ भोगापवर्ग-

लक्षणः पुरुषार्थस्तदेकदेशो भोगः, सोऽपि पुरुषार्थांशात्पुरुषार्थ एव, तस्य न केवलचिज्जन्यत्वम्, अनित्यत्वापत्तेः। तत्र च चित्तान्वयव्यतिरेकौ विद्येते–चित्तसत्त्वे भोगसत्ता, चित्तवियोगे भोगाभाव इति। तत्र व्यभिचारवारणाय जन्यत्वे सतीति हेतुविशेषणम् 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति' इति स्मृतिरेव तासां चित्तधर्मत्वे प्रमाणम् बोध्यमिति। अथ भवतु नाम बुद्धिवृत्तयो बुद्धिजन्या एव तथापि तत्स्फुरणार्थं बुद्धावात्मप्रतिबिम्बं कथं कल्पनीयम्।, तत्तद्वृत्तिस्फुरणादिकन्तु साक्षात्पुरुषबुद्धिसंयोगादेव स्यात् सूर्यसम्बन्धाद्घटादिपदार्थप्रकाशवत्। न च बुद्धिपुरुषयोः परस्परं चेतनत्वजडत्वभ्रमेणैकताभ्रमसम्पादनं बुद्धौ प्रतिबिम्बं विना न स्यादिति वाच्यम्। यथा प्रतिबिम्बेसति धर्मसंक्रमणं भवति तथैव संयोगमात्रे सत्यपि रक्तकाचकिरणवदन्योन्यधर्मसंक्रमणं सूपपद्यते एव। भवति हि किरणस्य प्रभासंक्रमणं काचे काचस्य रक्तिमासंक्रमणं च किरणे इति।

उच्यते—नहिसंयोगमात्रेणाऽन्योन्यधर्मसंक्रमणं भवितुमर्हति, किन्तु स्वसंयुक्तद्रव्यान्तःपातित्वेन स्वस्य तद्धर्मोपाधिरुपपद्यते, दृष्टश्चैतत्काचकुसूले, यथा तत्र काचकुसूलान्तर्वर्तिप्रदीपकिरणं प्रदीपात्काचाऽवधिकं तु न काचरक्तिमानुरक्तं भवति किन्तु काचमन्तःप्रविश्य बहिःप्रदेशागतं सत् काचरक्तिमानुरक्तं भवति। तथा बुद्धिसंयोगे सति बुद्धेः स्फटिकवदच्छत्वात् तत्राऽन्तःप्रविष्टं चैतन्यं भवति तदेव बिम्बरूपमिति ख्यायते, तदेव तत्र बुद्धिधर्माणां संक्रान्तिरिति,—नैतावता बहिश्चेतनाऽभावोऽपि भवति, तस्य व्यापकत्वेन बुद्धिसन्निधौ स्थितस्यापि बुद्ध्यन्तःप्रवेशस्य सम्भवात्। एवम्–आत्मनः प्रतिबिम्बानङ्गीकारे तस्य कूटस्थनित्यविभुचेतनस्य सर्वथा सर्वदा सर्वत्राऽन्यव्यक्तिबुद्धितत्त्वैः सहापि संयोगसम्भवात्, तत्सर्वबुद्धितत्त्वस्था एककालावच्छेदेन विभिन्ना बुद्धिवृत्तय एकस्मिन्नेव समये पुरुषे संक्रममाणा भवितुं योग्यास्तथा सति–एकपुरुषेणैकदैवाऽनेकविधपरस्परविरुद्धजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यनुकूलप्रवृत्तिमत्तया भाव्यमित्यापत्तिः स्यात्। न चैवं लोके दृश्यते, अतस्तत्र किमपि नियामकमभ्युपेयम्, तच्चेदम्–तत्तत्पुरुषं प्रति नियतं बुद्धितत्त्वमेकमेकमिति प्रकृत्याऽऽदिसर्गे तत्तत्पुरुषायाऽर्पितं भोगापवर्गदानार्थमिति, तथा च तत्तत्पुरुषस्य तत्तद्बुद्धिसत्त्वे संसारस्तल्लये च मोक्ष इति व्यवस्था, सा चेयं प्रतिबिम्बे सत्येव सम्भवति, यत्र बुद्धौ यस्य स्वनियतपुरुषस्य प्रतिबिम्बं तदैव तस्य तत्तद्बुद्धिवृत्त्युपभोक्तृत्वं भवति, अतस्तत्तत्पुरुषनियततत्तद्बुद्धितत्त्वस्यैव तत्तत्पुरुषप्रतिबिम्बाऽऽधानयोग्यता स्वाभाविकी नियतेति–भोक्तृत्वभोग्यत्वव्यवस्था सम्पादनार्थमेव प्रतिबिम्बमपेक्षितम्, तथा च न पूर्वोक्ता विरुद्धवृत्तिमत्त्वाद्यापत्तिरिति।

एवम्—न केवलं तर्कादेव प्रतिबिम्बसिद्धिः, किन्तु "तस्मिँश्चिद्दर्पणे स्फारे

समस्ता वस्तुदृष्टयः । इमस्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥" "यथा—संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको मणिः । रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः" इति स्मृतयोऽपि प्रमाणम्बोध्यम् ।

नच रूपरहितस्य पुरुषस्य कथं प्रतिबिम्बसम्भव इति वाच्यम् । रूपरहितस्याप्याकाशस्य क्रियायाश्च जलदर्पणादौ प्रतिबिम्बसम्भवेन न रूपरहितत्वं प्रतिबिम्बाऽसत्तानियामकमिति ।

ननु—पुरुषप्रतिबिम्बं जडरूपं चेत्—पुरुषाच्चेतनस्वरूपाद्भिन्नं तदिति तत्र बुद्धिवृत्तिः संक्रान्ताऽपि चेतने पुरुषे कथं मन्तव्या !

अत्रेत्थं बोध्यम्—बुद्धिपुरुषयोः संयोगस्त्वज्ञानहेतुकः, अतस्तत्तत्संयोगाविवेकमज्ञानं तत्राऽवश्यं सुस्थं भवति, एवं च सति पुरुषे प्रतिबिम्बस्य बिम्बभिन्नत्वेन प्रतिबिम्बगतधर्माणां बिम्बाऽसम्बद्धत्वेऽपि पुरुषस्य भवत्यहमेव प्रतिबिम्बरूपः प्रतिबिम्बाऽभिन्न इति प्रत्ययः । तथाच तादृशाऽज्ञानेनैव परस्परस्वरूपधर्माणां बिम्बाऽवर्तमानानामपि स्वस्ववृत्तित्वाभासमात्रं भवति, अत एवायं भ्रमः,—अज्ञानम्, अविद्या, औपाधिकोऽध्यास इति च कथ्यते ।

वस्तुतस्तत्र 'अन्योन्यधर्माणां संक्रमणं नास्ती'त्याकारकबोधस्तु तत्त्वज्ञानजन्यविवेकख्यात्या स्यात्, तदा तथाविधाऽज्ञानस्य नाशे बुद्धिपुरुषसंयोगस्य वर्तमानत्वेऽपि निरुद्धावस्थयोगिनो न भवति मिथ्याज्ञानमूलकदुःखादिधर्माध्यासः, अत एव तदानीं भोगाद्यनारम्भोऽपि ।

केचित्तान्त्रिकास्तु बुद्धौ यदात्मप्रतिबिम्बं तदेव बुद्धौ चिच्छायापत्तिः—सैव बुद्धेः पुरुषाकारता, तत्र प्रतिबिम्बे बुद्धेर्वृत्त्यात्मकपरिणामसंक्रान्तिः, सोऽयं पुरुषप्रतिबिम्बगतो बुद्धिवृत्तिपरिणामः पुरुषात्मकसाक्षिवेद्य इति । तेन बुद्धिर्भवति दृश्या, पुरुषस्तु द्रष्टा इति, तेनैव परिणामेन द्वयोरैक्यताभ्रमः—'अहं कर्ता भोक्ता जानामी'त्यादिरूप इति कथयन्ति ।

सांख्यकारिकायामपि 'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वेऽपि कर्तेव भवत्युदासीन' इत्यत्र—इव—पदेनोभयत्र प्रतिबिम्बं व्यञ्जितं भवतीति । तदेवं प्रतिबिम्बसत्ता बुद्धिपुरुषयोः संयोगसत्तानियता, अथ विवेकख्यात्यभावविशिष्ट—बुद्धिपुरुषसंयोगः सुखदुःखादिभोगनियामकः, विवेकख्यातिविशिष्टस्तत्संयोगस्तु प्रतिबिम्बनियामकोऽपि न भोगहेतुः, तदानीं बीजभावदग्धतापूर्वकमविद्याया बुद्धौ लयात् । संयोगसत्त्वेन द्वयोः प्रतिबिम्बसत्त्वेऽपि भोगारम्भो न भवतीति । एवंच बुद्धिपुरुषसंयोगस्य सामान्यतो बन्धत्वमुच्यते, तदा निरुद्धावस्थस्यस्वतन्त्रेच्छस्यापि जीवन्मुक्तमहायोगिनोऽपि बन्धाऽऽपत्तिः स्यात्, तदानीं भोगाऽनारम्भकसंयोगस्य सत्त्वात् । अतः संयोगे विवेकख्यात्यभावविशिष्टत्वं-

हेयम्, तथाच गौरवम् । किञ्च विवेकख्यात्यभावविशिष्टसंयोगस्य हेयहेतुत्वात् यावत्तादृशसंयोगस्तावद्धेयस्य दुःखस्य सत्त्वं तु भवत्येवेति ।

यद्यपि सुखदुःखोभयभोगस्य सत्त्वं भवति तथापि सुखमात्रायाः पुरुषार्थरूपत्वात्, तत्र सुखं मिथ्यं स्यात् सोऽयं नित्यः पुरुषार्थः, प्रकृतिधर्मात्मकं सुखं दुःखाऽऽविद्धमपि निवृत्तिमत्सुखं यत् सद्लौकिकोऽयं पुरुषार्थो न तु परमपुरुषार्थः, सुखस्य निवृत्तिसत्त्वात् । यथा प्रत्यहं जाठराऽग्निप्रशान्तकस्य भोजनस्य क्षुधादुःखनिवर्तकत्वेन तज्जन्यशान्तेः कथञ्चित्पुरुषार्थत्वम् । तत्राऽनुकूलवेदनीयस्तथा यावानंशोऽनुभूयते तावदंशमादाय निवर्तते पुरुषः, स चाऽयं सुखांशः पुरुषार्थः इति। तत्र च नान्तरीयकदुःखसम्पर्काऽवश्यम्भावेन परमत्वं नास्ति विशेषणमिति । अथ प्रतिकूलवेदनीयांशस्य परित्यागः क्रियते तत्परित्यागबीजं दुःखं न पुरुषार्थः । अतएव दुःखभोगस्य जिहासा भवति न तु सुखभोगस्य । सुखभोगस्तु स्वतःपुरुषार्थः । दुःखभोगे निवृत्ते सति तु पुरुषस्तावत् तापत्रयं न भुंक्ते, अतः 'तरति शोकमात्मवित्' 'विद्वान् हर्षशोकौ जिहाये'ति श्रुतिवाक्यद्वयापि हर्षशोकयोर्भोगं तरति जहाति चेत्यर्थः ।

तथा च दुःखभोगात्यन्तयोग एव बन्ध इति योगानां सिद्धान्तः । स च पुरुषे न स्वाभाविकः, तथा सति तस्य हानमेव न स्यात् , नहि सलिलस्य स्वाभाविकद्रवत्वं केनाऽप्युपायेनाऽपह्नुतं भवति, न चाऽग्नेरुष्णस्पर्शः केनाऽपि प्रत्याख्येयो भवति, स्वकारणयावद्द्रव्यभावित्वेन सांसिद्धिकपदार्थस्य नियमात् । स्वाभाविकत्वे तु तस्य परमनिर्वाणाऽधिगतिरपि न स्यात् । तदुक्तम्—"यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो- विकारी स्यात् स्वभावतः । नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि" इति । अतो जले उष्णस्पर्शवद् बन्ध औपाधिक इति बोध्यम् । दुःखस्य बुद्धेः सांसिद्धिकधर्मत्वं भवति, स्वकारणात्मकबुद्धिसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यस्य दुःखस्य बुद्धिसत्तावत्त्वात् । तस्य पुरुषे औपाधिकत्वं स्फटिके जपाकुसुमरक्तिमवत् पुरुषसत्ताऽतिरिक्तबुद्धिसत्ताकस्य दुःखस्य पुरुषधर्मेण भासमानत्वात् । अतएव सत्त्वरजस्तमोऽनुविद्धचेतस एव दुःखादिकं प्रादुर्भवति, चित्तस्य सत्त्वसमुद्रेकावस्थायां तु तत्र दुःखमात्राऽनुपलम्भइति । तदाऽऽत्मन्यपि दुःखमात्राऽनुपलम्भइति । यदा तु चित्तस्याऽत्यन्तहानं तदा दुःखभोगाऽत्यन्तनिवृत्तिरपि पुरुषे प्रादुर्भवति, अत औपाधिकस्य दुःखस्य हानं शक्यसंभवमिति ॥

तदत्र बन्धविषये विविधवादिविकल्पाः पर्यालोच्यन्ते । तत्र बौद्धानामयं सिद्धान्तः—

१ बौद्धाः—चत्वारः—माध्यमिक—योगाचार—सौत्रान्तिक—वैभाषिकाः । तेभ्यो वासनात्मकबन्धनिरासाय—'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं'—'दुःखं दुःखं'—'स्वलक्षणं स्वलक्षणं'—'शून्यं शून्यं' चेति भावना-

क्षणिकविज्ञानमात्रमेवाऽद्वितीयं तत्त्वम्, तस्यैवात्मत्वात् तत्र दुःखं स्वाभाविकम् । 'यत्सत् तत् क्षणिक'मिति व्याप्तेश्चित्तस्य क्षणिकत्वेऽपि ( द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेऽपि ) अनादिवासनावशादनेकविषयाकारं यावत्कालं शरीरे प्राणस्थितिस्तावत् धारावाहिकतयानुवर्तते, विषयेष्विन्द्रियद्वारा चित्तात्मनो वृत्तिभेदाः संक्रान्ता भवन्ति, तेन विषयोपभोगविषयकाऽनेकाकारा वासनातरङ्गाः संभवन्ति, प्राणविगमे च सति चित्तप्रवाहविच्छेदो मरणम्, तथा च प्रवृत्तिविज्ञानात्मकचित्तप्रवाहस्य विच्छेदो मुक्तिरिति । तां प्रति चित्तगतसांवृत्तिकवासनाविच्छेदस्य प्रयोजकत्वम्, संवृतिः—मिथ्याज्ञानाभिधाऽविद्या, तज्जन्यवासनात एव स्वाभाविकश्चेतसि बन्ध इति ॥

तन्न युक्तः । यतः क्षणिकविज्ञानमेवाऽद्वितीयं तत्त्वमिति वादिनां बौद्धानां अविद्याया अप्यवस्तुभूततया तत्प्रयुक्तवासनाया अप्यवस्तुतया तत्कृतबन्धस्याऽप्यवस्तुत्वमिति । नहि स्वाप्नरज्ज्वा बन्धप्रयोजकत्वं दृष्टम् । यद्यविद्याया वस्तुत्वमङ्गीक्रियते तदा तदनृतत्वव्याघातः, क्षणिकविज्ञानसन्तानाद्विजातीयद्वैतप्रसङ्गश्च ।

नन्वविद्याया ज्ञानविशेषात्मकत्वात् क्षणिकविज्ञानसन्तानसजातीयं द्वैतमिष्टमेवेति चेन्न । वासनात्मकाऽविद्याया बन्धहेतुत्वेन वासनाया ज्ञानाद् विजातीयत्वमेवेति । किञ्च—वासनानां स्वाभाविकचित्तधर्मत्वे तन्निवर्तनं निराशमेव । ननु स्वाभाविकमपि घटस्य कृष्णं रूपं वह्निनाऽपसार्यते, स्वाभाविक्यप्यङ्कुरोत्पादिका बीजशक्तिरग्निना नाश्यते, तथा वासनाविनाशोऽपि स्यादिति चेन्न । घटे भवति रूपस्य तिरोभावो न तु नाशः, बीजे चाऽङ्कुरोत्पादकशक्तेस्तिरोभावो भवति न तु नाशः, कदाचित् घटे कृष्णरूपस्य प्रादुर्भावसंभवात् बीजे च योगिजनसंकल्पेन पुनरङ्कुरोत्पादकशक्तेः प्रादुर्भावसम्भवात् । अत एव न दुःखतिरोभावमात्रं मुक्तिः, कदाचिद्योगिजनसंकल्पादिना दृष्टाऽदृष्टोपायेन वा दुःखसन्ततेः प्रादुर्भावसंभवात्, किन्तु दुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव मुक्तिः अतएव च भवता बौद्धेन वासनातिरोभावो नाङ्गीकर्तुं शक्यः, किन्तु वासनात्यन्तनिवृत्तिरेव, न हि त्वन्मते सा सम्भवति,

---

चतुष्टयमुपदिष्टं गुरुणा बुद्धेन । तत्र माध्यमिकाः सर्वशून्यत्ववादिनः—तादृशभावनाचतुष्टयबलान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणरूपं शून्यं स्वीकुर्वन्ति, योगाचाराः—बाह्यशून्यत्ववादिनस्तु तादृशभावनाचतुष्टयप्रचयबलान्निखिलवासनोच्छेदविगलितविविधविषयाकारोपप्लवविशुद्धविज्ञानोदयो मोक्ष इति वदन्ति । सौत्रान्तिका बाह्यार्थानुमेयत्ववादिनः—तादृशचतुर्विधभावनामध्यतः 'सर्वं दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं'चेति विशेषतो भावयित्वा तन्निरोधोपायेन तत्त्वज्ञानेन निखिलवासनोच्छेदो विमलज्ञानोदयो वा मोक्ष इति वदन्ति । वैभाषिका बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादिनोऽपि तादृशचतुर्विधभावनामध्यतः 'सर्वं दुःखं दुःख'मिति भावनया निखिलवासनोच्छेद एव मोक्ष इति सिद्धान्तयन्ति । तदुक्तं श्लोके—"रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसंभवा । चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता"इति ॥

वासनायाः स्वाभाविकत्वात् । अतो वासनात्यन्तनिवृत्तिर्दुःखात्यन्तनिवृत्तिश्च यत्र-साक्ष्यसम्भवा स एव चित्ताऽतिरिक्तश्चेतनो नित्य आत्मा सिद्धः, तत्रौपाधिक एव दुःखबन्ध इति । किञ्च–प्रतिक्षणभिन्नानां वासनानां क्षणमात्रेणैव सत्तया व्यव-हारोपयिकत्वेन बन्धप्रयोजकत्वं न युक्तम् । यावद्धि यस्य सत्ता तावदेव तस्य तत्तद्व्यवहारसम्पादकत्वमिति सर्वजनसिद्धम् । तथा च सूक्ष्मशरीरवियोगाऽवधि-कस्य दीर्घकालस्थायिनो बन्धस्य स्थिरीकरणार्थं ताः कथमपि न समर्थाः ।

यद्युच्येत तत्तद्वासनानां सन्तानस्य दीर्घकालस्थायित्वेन तन्निमित्तको बन्धस्तु स्यादेवेति । तदपि न । कोऽयं सन्तानः ! । धाराविशेष इति चेत् ! का नाम धारा ! । यदि क्रियाविशेषस्तदा क्रियाणाम् अधिकरणं विनाऽस्थायित्वात् । अधि-करणञ्चाऽत्र तच्चक्षणिकं विज्ञानं, तत्कार्यात्मिका क्रियाऽपि क्षणिकेति पूर्वोक्त एव दोषः । तस्मात् जन्मप्रायणान्तरालवर्तियावत्क्षणिकविज्ञानानुगतं किञ्चिद्वस्तु कल्पनीयम् । स चाऽव्यवहितोत्तरत्वः सम्बन्ध इति चेत् ! किमयं सम्बन्ध एक एव ? भिन्नो वा ! यद्येकस्तदा यथाक्रमिकवासनानाम् अव्यवहितोत्तराऽवस्थान-व्यवहारस्तथा व्युत्क्रमप्रयुक्तवासनानाम् असङ्ख्यक्षणव्यवहितचिरकालीनवासना-नाञ्चाऽपि साक्षादव्यवहितोत्तरत्वापत्तिः स्यादिति । अतस्तत्तदव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्धस्तत्तद्वासनानामनुयोगिताप्रतियोगितानियतस्तत्तदव्यवहितोत्तरकालवृत्तित्व-रूपः कल्पनीयः, स तु प्रतिक्षणवासनानियतत्वेन प्रतिक्षणभिन्न इति पूर्वोक्त एव दोषः । ननु सर्वासु क्षणिकवासनास्वनुगतः कश्चिद्धर्मविशेष एव दीर्घकालस्थायी बन्धप्रयोजकः स्यादिति चेन्न । कस्तादृशो धर्मः ! वासनात्वरूप इति चेत् ! किमयं सर्वासु वासनास्वेक एव चिरस्थायी तदा क्षणिकत्वसिद्धान्तहानिः । क्षणिकत्वे तु पूर्वोक्तदूषणदुर्वारत्वम् ॥

किञ्च—तादृश्यो वासनाश्चित्तस्य क्षणिका धर्मविशेषाः, बन्धा अपि क्षणिकाः, तत्र परस्परव्यभिचारवारणाय तत्तदव्यवहितोत्तरत्वनिवेशे तादृशवासनाकोटिप्रयुक्त-बन्धाऽननुगमा अनन्तकार्यकारणभावाश्च स्युरिति । वासनात्वावच्छिन्नस्य बन्धत्वा-वच्छिन्नं प्रति कारणत्वे आत्माऽन्तरव्यक्तिगतवासनाया आत्मान्तरगतबन्धं प्रति कारणत्वापत्तिर्दुर्वारा । न चैकात्मनिष्ठत्वं वासनायां बन्धे च निवेशनीयमिति वाच्यम् । प्रतिक्षणभिन्नात्मवादिनाम् असङ्ख्यकार्यकारणभावप्रयुक्तगौरवभयेन तन्नि-वेशाऽयोगात् । ननु भवन्मतेऽपि दुःखानामनेकत्वेनाऽनेकबन्धापत्तिरिति चेन्न । नित्यस्य सतो दुःखस्य स्थूलसूक्ष्मभेदेनाऽवस्थाद्वयस्वीकारात् । तदेव दुःखं तावद-नेकैर्निमित्तैः स्थूलावस्थामासादयमानं सत् भिन्नमिति प्रतीयते न तु वस्तुतो भिन्नम् । निमित्तभेदात् भिन्नताप्रत्ययस्त्वौपाधिक इति ।

नन्वेवम्—आध्यात्मिकादित्रिविधं दुःखमिति सिद्धान्तो भज्येतेति चेन्न ? उपा-

धिभेदेन तस्यापि त्रिविधत्वस्य परिगणनात् । अन्यथा तदन्तर्गतान्यपि निमित्ता-न्यनेकानीति तत्प्रयुक्तदुःखानामानन्त्येन त्रिविधत्वमपि नोपपद्येतेति ॥

किञ्च—वासनानां बन्धहेतुत्वे सुषुप्त्यवस्थागतानां तथाविधविषय-विषयकवा-सनाऽभावेऽपि बन्धदर्शनेन व्यभिचाराच्च ।

ननु जाग्रति स्वप्ने च यथा प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहस्तथा सुषुप्तावप्यालयविज्ञान-प्रवाहस्यापि वासनावत्त्वसत्त्वेन बन्धसत्त्वं युक्तमिति न व्यभिचार इति चेन्न । अननुभवात् । तस्य विषयाऽग्राहकत्वात् । न च विषयाऽभावेऽपि तथा निर्विष-यचित्तसन्ततौ तद्वासनास्तु भवन्त्येवेति वाच्यम् । निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाऽभा-वात् । निर्युक्तिकत्वाच्च 'वासनाकृतबन्ध'इति रिक्तं वचः ।

'बन्धो—न क्षणिकः,—चिरकालस्थायिकार्यत्वात्, घटवत् । बन्धः—सन्,—चित्त-धर्मत्वात्, सुखवत् । चेतसि स वास्तविकः, आत्मनि त्वौपाधिक इति तत्त्वम् ॥

अथ मास्तु स्वाभाविको बन्धः । कालस्य तु व्यापकत्वात् कालनिरूपित-स्वरूपसम्बन्धेन दुःखबन्धो भवत्वात्मनि, स च कालिकसंसर्गात्मकोपाधिकृतः, नित्यस्यापि कालोपाधिस्वीकारात्; इति न्यायवैशेषिकैकदेशिनां मतम् ॥

अत्र केचन ( विज्ञानभिक्षवः ) व्यापिनो नित्यस्य कालस्य सर्वत्र सत्त्वात् सर्वदा मुक्ताऽमुक्तसकलपुरुषसम्बद्धत्वात् सर्वेषां सर्वदा बन्धनापत्तेः, अतो न कालिकसंसर्गोपाधिकृतबन्ध इति समादधिरे । तन्न समीचीनम् । नित्यस्य कालस्यैतन्मते तत्त्वान्तराऽस्वीकारात्, यतो वर्षमासदिनादिव्यवहारस्तावद् यदु-पाधिभिः सूर्यगमनादिभिर्वा भवेत् सन्तु त एव उपाधयः, तत्रैव कालस्याऽन्तर्भा-वात्, क्षणानां चोपाधिभेदेन भिन्नत्वात्, क्षणनिरूपितकालिकसम्बन्धस्य क्षणमा-त्रस्थायित्वेन चिरस्थायित्वविरहात्, कालिकविशेषणतया दुःखबन्धस्याऽश्रद्धेयत्वात्।

एवं दिङ्निरूपितविशेषणतयाऽपि दिगुपाधिको दुःखबन्ध आत्मनीत्यपि नैया-यिकैकदेशिमतम् । तन्न । यतोहि दिशां सूर्योदयास्तस्थानकप्रदेशान्तर्भूतत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावात्, तन्निरूपितस्वरूपसम्बन्धोपाधिरप्यप्रसिद्धा, तत्तद्देशोपाधिक स्वरूपसंसर्गस्य प्रसिद्धौ वा तस्य व्यधिकरणसंसर्गतया पुरुषतत्त्वे तन्निरूपितौपा-धिकबन्धाऽसंभवादिति ॥

मीमांसकास्तु—शुभाऽशुभकर्मणां विहितनिषिद्धानां सुखदुःखहेतुत्वेन शुक्ल-कृ-ष्णाऽशुक्लकृष्णेति-त्रिविधकर्मनिमित्तको बन्ध आत्मनि समभिमन्यते । तदपि युक्तम् । कर्मणां चित्तधर्मत्वेनाऽऽत्मधर्मत्वाऽभावात्, धर्मित्वं चेतसोव न पुरुषे इति । नह्यन्यस्य धर्मस्य अपरधर्मत्वं भवितुं युक्तम्, नवाऽन्येन धर्मेणा-परस्य धर्मित्वं भवति । तथा सति तु पुरुषोदरादपि पुत्रप्रसव आपद्येत, वह्नेरपि शैत्यमापद्येत, नचैवं दृश्यते इति । किञ्च कर्माणि—कार्याणि न सर्वदा स्थायीनि

अतः प्रत्यहं क्रियमाणान्यनेकानि तन्निमित्तकबन्धस्याप्यनेकत्वं स्यादिति । एवम् बाल्यावस्थायां येन कर्मणा कृतो बन्धस्तत्कर्मणो लोपात् तदुत्तरावस्थास्थबन्धप्रयोजकस्याऽन्यकर्मणः सत्त्वमभ्युपेयम्, तथा च सति—अन्यकर्मजन्यबन्धं प्रत्यन्यस्य कर्मणः कारणत्वमिति व्यभिचारवारणाय तत्तत्कर्माऽव्यवहितोत्तरबन्धं प्रत्येव तत्तत्कर्मणः प्रयोजकत्वं वक्तव्यम् । तथाच नैकानुगतकारणसिद्धिरिति ।

न च—प्रागभवीयसादृशबन्धजनकस्यैकस्याऽदृष्टस्यैवानुवर्तमानत्वेन तदेवैकमनुगतं बन्धप्रयोजकं स्यादिति चेन्न । तथासत्यधर्मनिमित्तो बन्धवादः समुपपन्नः, नतु कर्मनिमित्त इति । अदृष्टस्याऽतीन्द्रियत्वेन तद्धर्मिकैकत्वाऽनेकत्वव्यवस्थानस्यापि दुर्निर्वचत्वात्, तथाविधयुक्तौ प्रमाणाभावाच्चेति ।

ननु तर्हि भवन्मतेऽपि दुःखस्य प्रकृतिधर्मत्वेन पुरुषधर्मत्वाऽभावेन पुरुषेणसाक्षात्कर्तुमशक्यतया कथं दुःखभोगौपाधिको बन्ध इति निर्णेतुंशक्य इति चेन्न । 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्' इत्यादौ प्रकृतिगुणानामपि स्वात्मप्रतिबिम्बे संक्रमणसम्भवेन तद्भोगस्यापि पुरुषेणैव स्वापरोक्षीकृततया घटते नाम भोगवैचित्र्यव्यवस्थापकदुःखयोगः पुरुषप्रतिबिम्बे इति । तस्य च स्वस्वचित्तानुरूपाधीनत्वेन चित्तवृत्तिभिस्तस्याऽऽत्मनि सम्पादनं भवतीति । अतएव दुःखोपाधिकबन्धइति सुस्थिरम् ।

चार्वाकास्तु—देहात्मकोपाधितस्तावदात्मनि बन्ध इति कल्पयन्ति । देहस्तु शरीरात्मकः, यावच्छरीरं तावद्बन्ध इति दर्शनात्, देहोच्छेदे च मोक्षदर्शनात्, इति । 'तदत्यन्तमयुक्तम्—यतः कलेवरस्यावयवह्रासवृद्ध्यादिना नाशोत्पत्तिदर्शनात् अनेकशरीराणीति सुलभम्, तदुपाधिकानेकबन्धनापत्तिस्तदवस्थैव । किञ्च—अवयवानामपि शरीरात्मकत्वेन प्रत्येककरचरणादिकल्पितोऽपि बन्धः स्वीकार्यः, एवंचाऽवयवनाशेऽपि बन्धदर्शनाद्-व्यभिचार इति । एवम्—स्थूलशरीरविगमेऽपि-सूक्ष्मशरीरेण सहाऽऽत्मनोऽवस्थानात् स्थूलशरीरोपाधिकबन्ध इति रिक्तं वचः । न च सूक्ष्मशरीरोपाधिक एव बन्ध इति वाच्यम् । तथा सति सूक्ष्मशरीरस्याऽष्टादशतत्त्वात्मकतया, तत्र किंतत्त्वनिमित्तो बन्धः ! यदि प्रत्येकतत्त्वनिमित्तस्तदाऽननुगमः । यावत्तत्त्वनिमित्तकस्तदाऽप्यननुगमः । अतो बुद्धिरूपमुख्यतत्त्वौपाधिकोऽभ्युपगन्तव्यः । बुद्धेस्तु निरुद्धचित्तावस्थायां विद्यमानेऽपि तत्र तस्या बन्धप्रयोजकत्वाऽभावेन बुद्धिधर्मदुःखौपाधिक एव बन्ध इत्यभ्युपगम्यतामिति ।

अथ सङ्घातविशेषरूपतापन्ना या देहावस्थास्तत्प्रयुक्तो बन्ध इत्यपि न युक्तम् । अवस्थानां शरीरधर्मत्वेन चेतनधर्मत्वाऽभावात्, तासामनेकानां कारणत्वे गौरवाच्च । ननु पुरुषस्यापि बन्ध-मुक्तावस्थावत् सर्वा अप्यवस्था भवन्त्विति चेन्न । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति' इत्यादिश्रुतिवचनात् "नैनं

छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः' 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इत्यादिस्मृतिवचनाच्चाऽसंगस्याऽविकृतस्य पुरुषस्याऽवस्थाविकृतिलेपनम् सूर्यकिरणे तमोलेपवदस्थानमेवेति। कमलदले सलिलस्पर्शनाऽलेपवत् पुरुषेऽवस्थालेपाभावोऽवगन्तव्यः। अत एवाऽसङ्गे तत्र कथं सङ्घातोपाधिकबन्धइति। दुःखौपाधिकस्तु भवत्येवेति।

आर्हताः—'सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावभोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' यथाहुर्वाचकाचार्याः—'स्थितिरनुभवः प्रकृतिः प्रदेशश्चेति चत्वारो बन्धाः' 'मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाया बन्धहेतवः' बोधात्मको जीवः, अबोधात्मकस्त्वजीव इति। बोधात्मकस्य जीवस्य मिथ्यादर्शननिमित्तो बन्धः प्रथमः—इत्येमादि निरूपयन्ति।

तन्न युक्तम्—यतः मिथ्यादर्शनं—विपरीतज्ञानम्,। तन्निमित्तो बन्धश्चेत्! तद्यदि नित्यम्,तर्ह्यनिर्मोक्षापत्तिः। नित्यं चेत्! तदा क्षणिकं तत्,' तत्कृतबन्धस्य चिरस्थायित्वाऽसम्भवात् निरन्तरबन्धानुभवविरोधः।

एवं प्रमादनिमित्तो द्वितीयो बन्ध इति। तदपि न युक्तम्। प्रमादोऽत्राऽनवधानता, सा चाऽव्यवस्थारूपश्चित्तधर्मः, तद्विरहदशायामपि बन्धदर्शनेन व्यभिचाराच्च तस्य बन्धहेतुत्वम्। कषायाः—क्रोधादयश्चित्तधर्मास्तन्निमित्तस्तृतीयबन्ध इति। तदपि न। चित्तकषायाणामनेकेषां बन्धहेतुत्वाऽपेक्षया लाघवादेकस्यैव तद्धर्मभूतदुःखस्यैव तद्धेतुत्वकल्पनाया लाघवादिति। सर्वं चतुरस्रम्।

अथाऽद्वैतवेदान्तिनस्तावत्प्रत्यवतिष्ठन्ते—त्रिगुणात्मिका माया प्रकृतिः, सा च कलशसलिलान्तः शशांकबिम्बमिव स्वस्यां ब्रह्मबिम्बमादधाति, तथा च नित्यज्ञानात्मकं ब्रह्म प्रतिफलनरूपं सत् जीवात्मपदव्यपदेशभाग् भवति, अन्तःकरणरूपमायोपाधिकतया तथा व्यपदेशः, अन्तःकरणानि तु मायायाः कार्याणि, तदन्तर्गतान्यपरिमितानि ब्रह्मप्रतिफलनानि विभिन्नविषयानवगाह्याऽन्तःकरणैःप्रेर्यमाणानि धर्माऽधर्मावर्जयन्ति, तेन संसारो जायते। अन्तःकरणात्मिकाऽविद्या माया संसारस्वरूपेण प्रसृता सती स्वीयजडत्वदुःखत्वादिधर्मैर्ब्रह्म आवृणोति, तेन सर्वं पदार्थजातं—'एकोऽहं बहु स्यां' इति श्रुतिसिद्धं ब्रह्म विवृत्तं सत् अपरिमितात्मरूपतयाऽनुभूयते। एवमपि स्थिते 'अहं ब्रह्मास्मि—इदं सर्वं ब्रह्मै'त्यभेदप्रत्ययो यदा जायते तदाऽविद्यावरणं विलीय नित्यज्ञानात्मकब्रह्मणा सहाऽभेदभावमनुभवति, तादृशस्वरूपाऽवस्थितिरेव मोक्ष इति। मोक्षाऽवधिक एवाऽविद्याकृतो बन्ध आत्मनि संभवतीति॥ स चाऽयं तेषां सिद्धान्तोऽसङ्गतः। अविद्यास्वरूपस्यैवाऽनुपपत्तेः। तथाहिकेयमविद्या नाम! पारमार्थिकी! उत मिथ्या! नाद्या, अपसिद्धान्तात्। न द्वितीया, मिथ्याभूतस्य दोषकल्पितत्वनियमात्। दोषान्तराऽपेक्षया तस्यापि मिथ्या-

त्वेन दोषान्तरापेक्षयाऽनवस्थापातात् । यद्यविद्यास्वरूपसम्पत्तौ नापेक्ष्येत दोषः, तर्हि जगदध्यासोऽपि नापेक्ष्येत । ननु जगतः काल्पनिकत्वात् मूलदोषाऽपेक्षा न त्वविद्यायामिति चेन्न । अविद्याया अपि काल्पनिकत्वाऽविशेषेण दोषान्तराऽपेक्षाऽवर्जनीयैव । ननु सादेर्मूलाऽपेक्षा नत्वनादेः, तथा चाऽविद्याया मिथ्यात्वेऽप्यनादित्वान्न निमित्तान्तरापेक्षाऽतो नानवस्थेति चेन्न । तथा सति तव माध्यमिकपक्षप्रवेशः,—यतः मिथ्याभूतेनाऽप्यधिष्ठानेन भ्रान्त्युपपत्तेः, यावद्विकल्पनास्थानभूतस्याऽधिष्ठानस्यैकस्य परमार्थसतो ब्रह्मणो माध्यमिकादधिकतयाऽङ्गीकाराऽनावश्यकत्वात् । नन्वधिष्ठानं परमार्थसदपेक्षितम्, अन्यथा तस्यापि पुनस्तदध्यासाधिष्ठानान्तरापेक्षा एवं तस्यापि पुनरित्यनवस्थापातो भवेदिति चेन्न । मिथ्याभूतस्यापि दोषस्य स्वरूपाऽनादित्वाङ्गीकारवत् मिथ्याभूतस्याऽप्यधिष्ठानस्य स्वरूपाऽनादित्वाभ्युपगमेनाऽनवस्थापरिहारस्य वक्तुं शक्यतया परमार्थसतोऽनपेक्षत्वात् ।

किञ्च—जीवभावस्याऽनादित्वेऽपि मिथ्यात्वादविद्याकल्पितत्वमिवाऽविद्यास्वरूपस्याऽनादित्वेऽपि मिथ्यात्वादविद्यान्तरपरिकल्पितत्वमवश्यमभ्युपेयमित्यनवस्थाऽनिवार्यैव ॥

नन्वविद्यायाः स्वेतरसमस्तकल्पनानिर्वाहकत्वं स्वकल्पनायां स्वेतराऽनपेक्षनिर्वाहकत्वमिति स्वीकारेण मिथ्याभूतस्वरूपसिद्धौ कल्पकदोषान्तरं नाऽपेक्षते तथा च नाऽनवस्थेति चेन्न । तव माध्यमिकमतानुमतिप्रसङ्गापातात्, तत्राऽपि मिथ्याभूताऽधिष्ठानस्य स्वेतरसमस्तकल्पनानिर्वाहकत्वेन स्वकल्पनायां स्वेतराऽनपेक्षनिर्वाहकत्वेन चाऽनवस्थापरिहारात् तथा च परमार्थसतो ब्रह्मणः स्वीकारोऽन्यथासिद्ध इति ॥

एवं—सदसद्विलक्षणत्वरूपाऽनिर्वचनीयत्वमप्यनिर्वचनीयमेव, नहि किमपि सदसद्विलक्षणम्, प्रतीयमानं हि यावत् अस्तित्वेन नास्तित्वेन च प्रतीयते, न ततोऽन्यरूपेण, तथा च प्रतीतावनुल्लिख्यमानो नास्ति कश्चिदाकारः सदसद्विलक्षणत्वमिति, तस्मात् सदसद्वैलक्षण्यं नैव सिद्ध्येदिति ॥

किञ्च—केनाऽस्या निवृत्तिः ! ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानेनेति चेत् ! किमिदं सत्यं ! उत मिथ्या ! प्रथमे द्वैतापत्तिः, द्वितीये तु निवर्तकस्य निवर्तकान्तराऽपेक्षेति—अनवस्था । यदि च निवर्तकमन्तरेण नश्यति स्वयमेवेत्युच्येत । तथापि नाशस्य काल्पनिकत्वेन तत्कल्पकाऽविद्या स्थास्यत्येव न निवर्तेत इति ॥

ननु—'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं तम आसीत्' इति श्रुत्या सृष्टेः पूर्वं सदसती निषिध्य तमोमात्रसद्भावनिरूपणात् सदसद्विलक्षणमज्ञानमविद्याख्यं सिद्ध्यतीति चेन्न ॥ तत्र—'सृष्टेः पूर्वं त्रिगुणात्मिका माया सद्रूपं यन्महदादि कार्यं तद्रूपेण नासीत्, न च असत्—अलीकमपि न आसीत्, किन्तु तमः—

प्रकृतिः त्रिगुणसाम्यावस्थात्मिकैवाऽऽसीदिति बोधनात् । तथा च अविद्यायां प्रमाणाऽभावान्निर्युक्तिकत्वाच्च तदसिद्धौ तज्जन्यो बन्ध इत्यपि शशशृंगायितमिति ॥

यद्युच्येत—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपमीयते' इतिश्रुतेः मायोपाधिकबन्धस्वीकार इति । तदपि न । यतः पारमार्थिकस्य कूटस्थनित्यस्य व्योमवत्सर्वव्यापिनः सर्वविक्रियारहितस्य नित्यशुद्धस्य निरवयवस्य स्वयंज्योतिःस्वभावस्य कालत्रयाऽव्यच्छेदरहितस्य नास्त्यविद्यापरामर्शलेशोऽपि, अतस्तत्र न बन्धनं कल्पनीयम्, कल्पने सति तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वं व्याहन्येत । तस्माद्बन्धस्तु चेतनेषु जीवेषु युक्तः, तत्रापि च मायायाः सर्वांश्चेतनान् प्रति समानभावत्वात् सर्वेषां समानबन्धवत्त्वापत्तिः, तद्वारणाय दुःखं सहकारि स्वीकार्यं, यत्सत्त्वे बन्धो यदभावे मोक्ष इति, माया तु परम्परया प्रयोजिका, दुःखं च लाघवान्मुख्यं तद्धेतुरिति । उक्तश्रुतेस्तु—इन्द्रस्य—आत्मनः मायाभिः—सत्त्वरजस्तमोभिः शरीराद्यासिद्वारा बहुरूपवत्त्वे तात्पर्यम्, न तु भवदुक्ताऽविद्यासिद्धिरिति कृतं विस्तरेण ॥

शुद्धाद्वैतास्तु सर्वं ब्रह्म एव, ब्रह्म स्वयं असंख्याकारैर्भवितुमभिलषति सा चाऽभिलाषा भगवच्छक्तिर्मायापदवाच्या, तदा च ब्रह्मण्येव सद्भावेनाऽवस्थितानि कारणात्मकानि कार्याणि स्थूलतया प्राविर्भवन्ति । जीवाश्चाऽणवः प्राविर्भवन्ति, तत्सर्वं जडचेतनात्मकं कार्यं सांख्यमतवत् सत्, ब्रह्मात्मकं च, जगतोऽविद्यया जीवानां च सद्रूपत्वेन ब्रह्मणा सहाऽभेदः, अतएव प्रलये सति ब्रह्मणि तिरोभवन्ति, तेन सत्कार्यवाद इति । "विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते" इति भगवद्वचनेन भगवदिच्छात्मकमायया विद्याऽविद्या चेति शक्तिद्वयं समुद्भाव्यते, तत्राऽविद्ययाऽऽत्मानो बद्धाः सन्तः पापपुण्यकर्मानुषङ्गिणो भवन्ति, तेन संसारः, विद्यया च परमेश्वरशरणमवाप्य ब्रह्मणि तिरोभवन्ति सोऽयं मोक्ष इति । मोक्षावधिकस्तावदविद्याजन्यो बन्ध इति विवेचयन्ति ।

तदपि न साम्प्रतम् । यतः भगवान् शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः साकारदिव्यविग्रहो नाऽविद्यावान् भवितुमर्हति, अविद्याऽज्ञानं विपरीतज्ञानं तच्च नेश्वरवृत्ति भवति, सत्पदार्थस्यैव तत्र सत्त्वात् । न वा परमात्माऽभिन्नं भवितुमर्हति, तथा सति परमेश्वरस्याऽज्ञानरूपत्वापत्तेः, तथा सति परमात्मत्वं सर्वज्ञत्वं च व्याहन्येत, अविद्यावत्त्वं च प्रसज्येत, तस्मान्माया त्रिगुणात्मिका भगवच्छक्तिभिन्नाऽङ्गीकार्या, तज्जन्यदुःखाद्यौपाधिकबन्धस्य मुख्यत्वं लाघवात् समीचीनम् ।

केचित्तथार्थभेदपञ्चकवादिनः—'विष्णुतत्त्वं परं ब्रह्म, तदिच्छैव माया, सा च नित्या, तस्या विषयाः पञ्चभेदाः,—यथा जीवभेद ईश्वरभेदो मायाभेदो जीवपरस्परभेदो जडपरस्परभेद इति । जीवानामीश्वरेच्छया स्वकर्मानुगुणं बन्धो मोक्षश्चेति, तत्सर्वमुक्तं स्कान्दे—'उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृत्तिः ॥ बन्धमोक्षौ च

पुरुषाद् यस्मात् स हरिरेकत्वादिति ॥ बन्धमुच्छेत्तुम् विष्णुभक्तिर्विधेया, तया च प्रसन्नो भगवान् स्वेच्छया स्वसेवायां रक्षन् पार्षदादिपदमर्पयति, स एव मोक्षः, न तु भगवदनधीनतया कयाचिन्मायया कृतो बन्धस्तादृशमायाया वियोगे वा मुक्तिरिति सिद्धान्तयन्ति ॥

विशिष्टाद्वैताः–'स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं परं ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्, चिदचिदुभयं परमेश्वरशरीरम्, चेतना जीवाः, अचेतना माया। तत्र माया–'त्रिगुणात्मा तमः कृष्णशक्तिर्देहतदीययोः । जीवस्य चाऽहंममताहेतुर्मायाऽवगम्यताम्'–( शिक्षापत्रीश्लोकः १०६ ) इत्यनेनोक्ता । सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका परमेश्वरस्य शक्तिः शरीरतत्सम्बन्धिष्वहंममत्वकारिणी । सा च जीवानां शुभाऽशुभकर्मकारयित्री, अत्रार्थे श्रुतिः–'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इव ते तमो, य उ विद्यायां रताः । विद्याञ्चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'–इति ॥ मायया नीयमाना जीवात्मानः शुभाऽशुभकर्मरताः सुखदुःखे भोग्यत्वेनाऽनुबध्नन्ति । भगवद्भक्त्या च कर्मसङ्घातरूपामविद्यां जहति, ततः सर्वज्ञत्वादयो गुणा उत्पद्यन्ते । तदुक्तं पाञ्चरात्रे–'प्रसन्नात्मा हरिर्भक्त्या निदिध्यासनरूपया । अविद्यां कर्मसङ्घातरूपां सद्यो निवर्तयेत्' । एवम्–'गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च । सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते' इति॥ "यत्प्रसादात्परमा यस्त्वं रूपात् । तस्मात्तस्मात् संसारान्मुच्यते नापरे सुरानाराधयन्तोऽसौ परमाऽविचिन्त्यो मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मा'दिति नारायणश्रुतेश्च । मायया आत्मनि कर्मसंघातरूपाऽविद्याद्वारा बन्धः क्रियते, स च ज्ञानभक्त्यादियोगेन निर्मलात्मना पुरुषोत्तमाऽक्षरातीतपरब्रह्मवासुदेवश्रीस्वामिनारायणभक्त्या नश्यतीति सिद्धान्तयन्ति ॥ भेदाऽभेदवादिनो द्वैताऽद्वैतास्तु–जीवा ब्रह्म माया चेति नित्याः, माया ईश्वरशक्तिः, जीवब्रह्मणोश्चित्त्वसाधर्म्याद्भिन्नत्वम्, जीवत्वब्रह्मत्वादिवैधर्म्याद् भिन्नत्वम्, अत एव भेदाभेदवादः, मायाकृतकर्मबन्ध आत्मनीति संकल्पयन्तीति ॥

अन्येऽपि शैवाः—'परिपक्वमलानेतानुत्सादनशक्तिपातेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्य्यमूर्तिस्थः परमेश्वरः' । 'यात्यस्तं शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत् सृष्टौ व्यक्तं याति सा माया' 'मायाप्रेरितकर्मवशाद् अपक्वकलुषान् बद्धानणून् कर्मणां भोगक्षुक्षये भ्रामयति' 'ईश्वरश्च विनियुङ्क्ते' शिवभक्त्या च मुक्तिरिति निश्चिन्वन्ति । तेषां तात्पर्यं मायाप्रेरितकर्मजन्यबन्धइति ॥

एवमन्येऽपि—दुःखभोगातिरिक्तकारणप्रयोज्यबन्धवादा द्वैतपाशुपतादीनां एतच्छास्त्रमतविलक्षणास्ते तु चिन्त्या एव ॥ "बहुवादिसम्मतानां बन्धानां पूर्वपक्षतः। निरासोऽथ स्वसिद्धान्तो दर्शितस्तत्प्रसङ्गतः" ॥ ४ ॥

तदेवं क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रावस्थाचतुष्टयात्मकं चित्तमेव बन्धप्रयोजकदुःखप्रयोजकम्, बन्धाऽऽपूरकवृत्तीनां तास्ववस्थास्वेव सत्त्वात् । तासां निरोधस्ता अविज्ञाय न शक्यो ज्ञातुम्, अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्याऽपेक्षणात् । वृत्तयश्चाऽसंख्याताः परिगणयितुमशक्याः कथं निरोद्धव्याः स्युः । अतस्तासामियत्तास्वरूपप्रतिपादनपुरःसरमवान्तरविशेषमपि दर्शयति—

## ॥ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

यैः प्रमाणादिपञ्चविधव्यापारैश्चित्तं जीवति ते व्यापारास्तद्वृत्तय उच्यन्ते, वृत्त्यभिन्नं चित्तमवयव्येकम्, तस्याऽवयवाः प्रमाणादयो व्यापारास्तत्परिणामाः पञ्च इति । यद्यपि—प्रमाणादीनां काल-व्यक्त्यादिभेदेन भिन्नत्वे त्वसंख्यतया पञ्चतय्यत्वमपि न युक्तम्, तथापि प्रमाणत्वादिव्यावर्तकधर्माऽभिप्रायेण तथा बोध्यम् । तासां प्रत्येकस्या अपि दर्शितमवस्थाद्वैविध्यम्—क्लिष्टा—अक्लिष्टाश्चेति । वृत्तीनां हेयत्वप्रदर्शनाय क्लिष्टाऽक्लिष्टत्वमुक्तम्, तत्र क्लिष्टास्तु हेया एव । अक्लिष्टा अपि परम्परयाबन्धप्रयोजकत्वाद्धेया एवेति तत्त्वम् । क्लेशाः—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च, तैर्विशिष्टाः क्लिष्टाः, क्लेशैः कारणीभूतैर्विषयेषु प्रवर्त्यमानाः—अथवा क्लेशानामुपार्जनार्थं प्रवर्तमानाः क्लिष्टा इति । भवन्ति च रजस्तमोमय्यो वृत्तयः क्लेशैरेव प्रवृत्ताः, प्रवर्तमानाश्च सत्यस्ताः पुनस्तादृशान् क्लेशानर्जयन्ति धर्माऽधर्मवासनाल-सूत्रांश्चोद्भावयन्ति । अतः क्लेशहेतुकाः क्लेशफलका धर्माधर्मवासनानां क्षेत्रीभूता वृत्तयः क्लिष्टाइति । क्लिष्टा वृत्तयः क्षिप्तमूढविक्षिप्तात्मकचेतस्येव न त्वेकाग्रे चेतसि, तदानीं तत्त्वज्ञानेन क्षीणानां क्लेशानां कारणात्मकतया वर्तमानानां वृत्तिप्रवर्तनसामर्थ्याऽभावात् , किन्तु स्थूलसूक्ष्मादिलक्ष्येषु स्थिरतार्थं तत्त्वज्ञानेन प्रेर्यमाणा अत एव सत्त्वपुरुषविवेकख्यातिफलकाः शुद्धसात्त्विक्यो वृत्तयो भवन्ति । तत्त्वज्ञानेन प्रेर्यमाणाभिस्तादृशसात्त्विकीभिर्वृत्तिभिः प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकख्यातिरुत्पद्यत इति । अतः क्लिष्टा इति । तत्र क्लिष्टाभिर्वृत्तिभिः क्लिष्टाः संस्काराः क्रियन्ते, अक्लिष्टाभिर्वृत्तिभिश्चाऽक्लिष्टाः संस्काराः क्रियन्ते, तादृशतादृशसंस्कारैश्च तादृशतादृशस्मृतिसञ्जातं चित्तं भोगमारभते । अत उभयविधा अपि निरोद्धव्याः । तासां निरोधे सति निरोधावस्थं चित्तं संस्कारशेषमवतिष्ठते । संस्काराणां विवेकख्यात्या दग्धबीजभावे सति चित्तं स्वरूपतोऽवतिष्ठते, संस्काराणां विवेकख्यात्या दग्धबीजभावे सति चित्तं स्वरूपतोऽवतिष्ठते, तदिदं विदेहकैवल्यं जीवन्मुक्तिरिति । ततः स्वेच्छया परमेश्वरेच्छया वा सूक्ष्मशरीरवियोगे परममुक्तिरिति तत्त्वम् ॥ ५ ॥

तासां वृत्तीनां संज्ञाः—

## ॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

अत्र पञ्चतय्य इतिपदमनुवर्तनीयम्, तेन यत्किञ्चिद्वृत्त्यसद्भावस्य वृत्त्यन्तरसद्भावस्य च निरासः, न न्यूना नाऽप्यधिकेति तात्पर्यम्। प्रमाणञ्च विपर्ययश्च विकल्पश्च निद्रा च स्मृतिश्चेति ताः, तत्तदभिधाना इति यावत् ॥६॥

भवति सर्वत्र शास्त्रस्य त्रिधा प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षणञ्चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्य सङ्कीर्तनम्—उद्देशः। उद्दिष्टस्य पदार्थस्य तत्त्वव्यावर्तको धर्मः—लक्षणम्। लक्षितस्य लक्षणं यथायोगं सम्भवति न वेति विचारः—परीक्षणम्। तत्रोद्देशस्त्वभिहितो वृत्तीनां पूर्वसूत्रेण। अन्येषाञ्च योगशास्त्राभिमतपदार्थानामुद्देशस्तत्र तत्र यथायोगमवगन्तव्यः। एवमेव लक्षणानि परीक्षणञ्चेति। तदेवमुद्दिष्टमर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयास्तत्र सामान्यलक्षणं विना विशेषलक्षणं कर्तुं न शक्यं, नवा विशेषविभागो युक्तः, अतः, प्रमाणं विभजन् सामान्यलक्षणं दर्शयति—

## ॥ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रमापदवाच्योऽनुभवः प्रत्यक्षाऽनुमितिशाब्दबोधभेदेन त्रिविधः। इन्द्रियप्रणालिकया विषयदेशं गता यावत्यो बुद्धिवृत्तयो विषयाकारपरिणताः सत्यो विषयमादाय परावृत्तास्ता बुद्धिगतं यच्चैतन्यप्रतिबिम्बं तत्र संक्रममाणा भवन्ति, तदा पुरुषस्तत्तदाकारापन्न इव तत्तदाकारानुरक्तो भवति, तादृशवृत्त्यात्मको बोधः पौरुषेयः फलं प्रमा-इति। असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषयबुद्धिवृत्तिरूप इति चोच्यते, तस्माच्चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः—बुद्धिवृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा बोधः फलं प्रमापदार्थः। तथा चैतन्मते प्रमा द्विविधा—बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयबोधश्चेति। तादृशप्रमायाः करणं प्रमाणम्, तदपि द्विविधम्—इन्द्रियादयो बुद्धिवृत्तिश्चेति। यदा पौरुषेयो बोधः प्रमा तदा बुद्धिवृत्तिः प्रमाणम्, यदा च बुद्धिवृत्तेः प्रमात्वं तदेन्द्रियादीनां प्रमाणत्वम्। अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रं तदा बुद्धिवृत्तिः प्रमाणं भवति, यदि च प्रमारूपं फलं बुद्धिनिष्ठमात्रं तदेन्द्रियतत्सन्निकर्षादयः प्रमाणम्। पुरुषस्तु प्रमायाः साक्षी न तु प्रमातेति। यदि च बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयो बोधश्चेत्युभयमपि प्रमा तदा क्रमेणेन्द्रियतत्सन्निकर्षौ बुद्धिवृत्तिश्चेत्युभयमपि प्रमाणमितिबोध्यम्।

केचित्तु—'अयं घट'इत्याकारकान्तःकरणवृत्तिः प्रमाणम्, तज्जन्यः 'घटमहं जा-

नामी'त्यनुव्यवसायात्मको बुद्धिवृत्तीनां पुरुषगतप्रतिबिम्बरूपो बोधः पौरुषेयः।

यथाहि—प्रथमं बुद्धिवृत्तयस्तावदिन्द्रियप्रणालिकया पदार्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा पदार्थाकारा जायन्ते तत्रेन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्ना प्रत्यक्षवृत्तिरिन्द्रियविशिष्टबुद्ध्याश्रिता पदार्थोपरक्ता च प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषस्वरूपं प्रविष्टा सती भासत इति। पुरुषे बुद्धिवृत्तीनां प्रतिबिम्बानि फलत्वेन कल्प्यन्ते, वृत्तिचैतन्ययोरन्योन्यस्मिन् विषयताख्यसम्बन्धेनाऽन्योन्यप्रतिबिम्बसिद्धिरिति। तथाचात्र वचनम्—
प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव नः। प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते। साक्षाद्दर्शनरूपञ्च साक्षित्वं वक्ष्यति स्वयम्॥ इति सिद्धान्तयन्ति। तत्तु न योग्यम्। यतः—

सलिले भवति शशांकस्य प्रतिबिम्बं नतु शशांके सलिलप्रतिबिम्बम्, एवञ्च सलिलगते शशांकस्य प्रतिबिम्बे–एव सलिलवर्तिनश्चलनत्वमलिनत्वादिधर्माः समारोप्यन्ते गगनवर्तिशशांकबिम्बे तु नाऽऽरोप्यन्ते। यथा—'शशांकः कम्पते चन्द्रो-मलिन' इत्यारोपःस्तु शब्दप्रयोगमात्रम्। तथैव बुद्धौ चैतन्यस्य प्रतिबिम्बे गते सति बुद्धिगताः सुखज्ञानादयो धर्माः प्रतिबिम्बे समारोप्यन्त एव नतु मुख्ये चेतने पुरुषे। एवम् पुरुषगताश्चेतनत्वादिधर्मा अपि बुद्धिगतप्रतिबिम्बवर्तिनो बुद्धौ प्रतिभासन्ते। तेन बुद्धिपुरुषयोर्भेदाऽग्रहाद्चेतनाऽपि बुद्धिश्चेतनेव सुखदुःखादिरहितोऽपि पुरुषः सुखदुःखादिमानिव भवति। एवञ्च पुरुषे बुद्धिप्रतिबिम्बानङ्गीकारेऽपि प्रमाव्यवहारस्य सम्यगुपपत्तौ पुरुषे बुद्धेः प्रतिबिम्बकल्पना निर्युक्तिका निरर्थिका चेति। तथा च 'घटमहं जानामी'त्यादौ त्वनुव्यवसायात्मकबुद्धिवृत्तौ चैतन्यप्रतिबिम्बं भवति, तेन चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टत्वात् चैतन्यधर्मवती बुद्धिवृत्तिरपि सूपपाद्या भवत्येवेति। नतु पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बकल्पना युक्ता, तथा च बुद्धिवृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यमेव पौरुषेयो बोध इति। एवंच 'तस्मिँश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः' इत्यत्र चेतनप्रतिबिम्बरूपे दर्पणे बुद्धिवृत्तयः स्फुरन्तीत्यर्थः। नतु पुरुषे चेतने प्रतिबिम्बन्तीतिसिद्धान्तः।

सा च प्रमा प्रत्यक्षात्मिकाऽनुमित्यात्मिका शाब्दबोधात्मिका च बुद्धिवृत्तिः। तस्याः करणत्वं प्रमाणत्वमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्, प्रमीयतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते, तथा च 'असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिरिन्द्रियतत्सन्निकर्षादयश्च प्रमाणमिति।

ननु धारावाहिकबुद्धेरधिगतविषयकत्वेनाऽनधिगतविषयकत्वाभावात्तत्र प्रमाणत्वं न स्यादिति चेन्न। तत्र तत्तत्क्षणविशिष्टविषयकत्वेनाऽनधिगतविषयकत्वस्य सत्त्वादिति। योगशास्त्रमते नित्यकालाऽनङ्गीकारेऽपि क्षणादिव्यवहारप्रयोजकोपा-

र्थानामेव कालात्मकतया स्वीकारात्। तादृशोपाधिविशिष्टविषयकत्वमादायैवाऽनधिगतविषयकत्वस्य तत्र सम्भवादिति।

यदि च क्षणोपाध्यात्मककालस्य प्रत्यक्षविषयत्वं नाऽभ्युपगम्यते तदापि धारावाहिकबुद्धिस्थले ज्ञानभेदस्याऽस्वीकाराद् यावत्समयं घटपटादिवस्तुस्फुरणमनुवर्तते तावद् घटपटाकारपरिणतान्तःकरणवृत्तिरेकैवाऽभ्युपेयते न तु भिन्ना भिन्ना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तस्थायित्वनियमस्वीकारात्। एवञ्च न तत्राऽव्याप्तिरिति।

ननु तथाप्यधिगतस्य घटस्य कालभेदेनेन्द्रियजन्यज्ञाने समुत्पन्ने सत्यनधिगतविषयकत्वाऽभावात् तत्राऽव्याप्तिरिति चेन्न। सजातीयविशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन स्वसमानाकारकनिश्चयोत्तरत्वं तज्जातीयान्यत्वमेवाऽनधिगतविषयकत्वं विवक्षणीयम्। तथा च घटविषयकप्रत्यक्षजातीयविशिष्टज्ञानत्वाऽवच्छेदेन प्रत्यक्षसमानाकारकनिश्चयोत्तरत्वस्याऽभावेन तज्जातीयाऽन्यत्वाद् अधिगतघटविषयकज्ञाने नाऽव्याप्तिः। स्मृतिजातीयविशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन च स्मृतिसमानाकारकानुभवात्मकनिश्चयोत्तरत्वस्यैव सत्त्वेन स्मृतिजातीयान्यत्वाऽभावात्स्मृतौ नातिप्रसङ्ग इति।

'यथार्थानुभवत्वम्—प्रमात्वम्, अनुभवत्वञ्च—विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिभिन्नज्ञानत्वम्। यथार्थत्वञ्च—तद्वति तत्प्रकारकत्वम्। इत्येवं प्रमायाः करणं प्रमाणं सामान्यतया लक्षितम्। तद्विभागस्तु—प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्चागमश्चेति तथोक्तः,—'प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमा' इति।

तत्र बहुवादिसम्मतत्वात्सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् प्रथमं प्रत्यक्षमेव प्रमाणं लक्षणीयम्। तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणम् प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षप्रमा च सद्विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्ययथार्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तं चैतन्यम्—चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टा सद्विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्ययथार्थबुद्धिवृत्तिर्वा बोध्या। यथार्थपदेनाऽनिश्चितविषयकसंशयस्य वारणम्। सद्विषयपदेन—असद्विषयकविपर्ययस्य वारणम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षकथनेनाऽनुमानशाब्दबोधनिद्रास्मृतीनां वारणमिति।

तादृशप्रत्यक्षप्रमायाः करणं यथाक्रमं—विषयसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यबुद्धिवृत्तिः—इन्द्रियेन्द्रियतदर्थसन्निकर्षौ वेति॥ यत्र योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च योगजधर्मेणाऽबाह्यप्रत्यक्षं तत्र तेषां कृते तु योगजधर्मविशिष्टबुद्धिवृत्तिरेव प्रत्यक्षप्रमाणमिति बोध्यम्। यत्र च योगिनस्तावदिन्द्रियैरर्थग्रहणं कुर्वन्ति तत्र त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रत्यक्षं प्रमाणमित्येवं यथायोगमुन्नेयम्।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षश्च—संयोगः, संयुक्ततादात्म्यः, संयुक्ततादात्म्यतादात्म्यः, तादात्म्यः, तादात्म्यतादात्म्यश्चेति पञ्चविधः। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां स्थूलानाम् प्रत्यक्षे—इन्द्रियसंयोगः सन्निकर्षः कारणम्। पृथिव्यादिगतगन्धादिगुणानां प्रत्यक्षे इन्द्रियसंयुक्ततादात्म्यः सन्निकर्षः कारणम्, इन्द्रियसंयुक्ते पृथिव्यादौ गन्धा-

दीनां तादात्म्यात्, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति भावः। गन्धत्वादीनां धर्माणां प्रत्यक्षे संयुक्ततादात्म्यतादात्म्यः सन्निकर्षः कारणम्, इन्द्रियसंयुक्ते पृथिव्यादौ गन्धादेस्तादात्म्यात्, तत्र च गन्धत्वादेस्तादात्म्यात्। बुद्धिवृत्त्या सुखादिप्रत्यक्षे तादात्म्यः सन्निकर्षः कारणम्। सुखत्वादिप्रत्यक्षे तादात्म्यतादात्म्यः सन्निकर्षः कारणम्। बुद्धिवृत्तिजन्यचेतनप्रत्यक्षे तु संयोग एव सन्निकर्षः कारणम्। सूक्ष्माणामिन्द्रियतन्मात्राऽहंकाराणान्तु बाह्येन्द्रियैः प्रत्यक्षं न भवति, अन्तः-करणस्थया बुद्धिवृत्त्या ग्रहणं भवति चेत् तदा तादात्म्य–तादात्म्यतादात्म्यौ सन्निकर्षौ ग्राह्यौ।

अथ—इन्द्रियसन्निकर्षानधीना या सत्त्वात्मिका बुद्धिवृत्तिः सापि भिन्नकालीनदेशान्तरीयविषयं गृह्णाति, अतः सैवाऽलौकिकसन्निकर्षरूपा बोध्या। इन्द्रियसन्निकर्षानपेक्षमाणस्य सत्त्वसमुद्रेकस्य ज्ञानस्य योगजधर्मस्य वा कालान्तरीयदेशान्तरीयविषयाऽवभासकत्वात्, तथाच ज्ञानलक्षणो योगजश्चेति द्विविधोऽलौकिकःसन्निकर्षो ग्राह्य इति। परमेश्वरप्रत्यक्षस्यापि लक्षणकरणे तु ज्ञानाऽकरणकत्वे सति यथार्थज्ञानत्वम् प्रत्यक्षत्वमिति बोध्यम्।

प्रत्यक्षानन्तरं तन्मूलकमनुमानं लक्षणीयम्।—

चार्वाकैः प्रत्यक्षमेव प्रमाणमभ्युपगम्यते,। किन्तु कदाचित्सभायां वादिना सह कस्यांचित्कथायां सत्यामेतद्वक्ता साधनीयमिति विज्ञापितश्चार्वाकस्तावत्परकीयमज्ञानसंशयविपर्ययादीन् नावधारयेत् तदा कथं वादिमतनिरासाय वाक्यमुच्चारयेत्!, परकीयसंशयादीनां स्वेन प्रत्यक्षेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। यदि चाऽज्ञानादिकमज्ञात्वैव वाक्यं प्रयुञ्जीत तदा विज्ञैरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत, अतश्चार्वाकेणाऽवश्यं "अयं वादी–एतदर्थेऽज्ञानी सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा, तद्विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वात् विलक्षणचेष्टादिमत्त्वाद्वा, नाहं जाने सन्दिहानोऽहं विपर्यस्तोऽहमित्यादिवाक्यप्रयोक्तृत्वाच्चे"त्यादिलिङ्गद्वाराऽन्यदीयमज्ञानविपर्ययादिकमनुभवनीयमिति। एवम्—अनुमानं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रं वदता चार्वाकेण तत्र साधनं नोपन्यस्यते! केवलं प्रतिज्ञायते! या साधनमुपन्यस्यते!। प्रथमे–'अनुमानं प्रमाणं न भवतीति वदता चार्वाकेणाऽपिरस्कवचनस्योपन्यासेन 'मम माता–वन्ध्या' इतिवद् व्याघातापातः स्यात्। न द्वितीयः। प्रमापकं विनैकाकिनी प्रतिज्ञा प्रतिज्ञातमर्थं साधयितुं समर्था न स्याद्वेति। तृतीये तु—स्वीकृतमेव लिङ्गानुमानम्। एवम्—परव्यक्तिगताऽज्ञानादयस्तु वचनाद्यभिप्रायेण बोध्या इति वदता भवता वचनाद्यभिप्रायमेव लिङ्गमभ्युपगतम्। अनुपलब्ध्या च कार्यप्रतिषेधं कुर्वता भवताऽनुपलब्धिरेव लिङ्गमभ्युपगतम्। अतो मन्वादिसम्मतत्वेन तल्लक्षणीयमिति।

तस्य सामान्यलक्षणम्—'अनुमितिकरणम्–अनुमानम् व्याप्तिज्ञानमिति।

तस्य व्यापारः परामर्शः, तज्जन्योऽनुभवोऽनुमितिरिति । तत्र प्रथमतः पर्वतसमीपं गतः कश्चिदविच्छिन्नमूलां धूमरेखामवलोकयन् 'यत्र धूमस्तत्र वह्नि'रिति व्याप्तिं स्मरति । तदनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवानय'मिति ज्ञानं जायते सः परामर्शः, व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः व्याप्तिः—साध्याभाववदवृत्तित्वं, व्यापकसामानाधिकरण्यं वेति । सेयमन्वयव्याप्तिः, कदाचिद्व्यतिरेकिण्यपि भवति, यथा 'साध्याभावव्यापकीभूताऽभावप्रतियोगित्वरूपा । पक्षधर्मता नाम पक्षता, सा च सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूपेति । परामर्शेन च 'पर्वतो वह्निमा'नित्यनुमितिर्जन्यते । अनुमितिस्तु—बुद्धिवृत्तिपौरुषेयो बोधः, तत्करणं—व्याप्तिज्ञानम् तदेवानुमानपदवाच्यम् । अनुमितिजनकपरामर्शजनकमिति यावत् । व्यापारवदसाधारणकारणं करणम् ।— व्यापारत्वं—तत्करणाऽतिरिक्तत्वसत्ताशून्यत्वे सति तत्प्रादुर्भाव्यकार्यप्रादुर्भावकत्वम् । यथा व्याप्तिज्ञानजन्यानुमितौ परामर्शो व्यापारः । असाधारणत्वञ्च—कार्यत्वाऽतिरिक्तविशेषधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वम् । कार्यं प्रतिनियतत्वे सति पूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् । प्रादुर्भावाऽवस्थायोगित्वं कार्यत्वम् । कारणं द्विविधं उपादानं निमित्तञ्चेति । यत्र तदात्म्येन कार्यं भवति तदुपादानकारणम् । यथा गन्धं प्रति पृथिवी, पृथिवीं प्रति तन्मात्राणि, तानि प्रत्यहंकारः, तं प्रति महत्तत्त्वम्, तत्प्रति प्रकृतिरिति । उपादानकारणातिरिक्तं कारणं निमित्तकारणम् । यथा घटादिप्रादुर्भावने सहकारी दण्डो निमित्तकारणमिति । न्यायाभिमतसमवाय्यसमवायिकरणे नाऽस्मन्मते, समवायसंसर्गाऽनङ्गीकारात् । घटरूपं प्रति कपालरूपादेश्च कारणत्वाऽनङ्गीकाराद् घटात्मकपृथिव्या एव कारणत्वाङ्गीकारादिति । तच्चानुमानं केषाञ्चिन्मते द्विविधम्—स्वार्थं परार्थञ्चेति । तत्र स्वानुमितिहेतुः स्वार्थानुमानम् । यथा स्वयं धूमदर्शनेन व्याप्तिं स्मरन् पर्वते वह्निमनुमिनोति—पर्वतो वह्निमानिति । परार्थानुमितिहेतुः परार्थानुमानम् ।—यथा यत्र स्वयं धूमेनाऽग्निमनुमाय व्यक्त्यन्तरं बोधयितुं न्यायवाक्यं प्रयुङ्क्ते 'पर्वतो वह्निमान्' 'धूमवत्त्वात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्' इति तच्छ्रवणेन तज्जन्यसमूहालम्बनबोधानन्तरं परस्य व्याप्तिज्ञानं परामर्शश्च भूत्वाऽनुमितिरुत्पद्यते इति ।

अवयवाः—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रय एव । 'पर्वतो वह्निमान्' इति पक्षेसाध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा । धूमवत्त्वादिति पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः । 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानस'मिति व्याप्तिप्रतिपादकं वचनम् उदाहरणम् । अथवा—उदाहरणोपनयनिगमनानि त्रय एवाऽवयवाः । तत्रोदाहरणमुक्तमेव । उपनयः—वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वत इति—अनुमितिकरणलिङ्गपरामर्शजनकावयवः । तादृशवाक्यत्रयेणैवानुमितिप्रादुर्भावादिति । निगमनम्—साध्यस्याऽव्याघितत्वप्रतिपादकवचनं यथा वह्निव्याप्यधूमवत्त्वात् वह्निमान्

इति ॥ केचित्तु—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति त्रिविधमनुमानं स्वीकुर्वन्ति । तत्र पूर्वं—कारणं, तद्वदिति व्याख्यया कारणलिङ्गकमित्यर्थः । तथा च कारणेन कार्यं यत्रानुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरित्यत्र 'मेघाः, भविष्यद्वृष्टिमन्तः, गम्भीरध्वानबलाकादिमत्त्वात्, वृष्टिमन्मेघवदिति । शेषवद्—इत्यस्य शेषः—कार्यम्, तद्वदिति व्याख्यया कार्येण कारणं यत्रानुमीयते—यथा सरित्स्रोतसो मालिन्यं पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्चावलोक्य 'उपरिदेशसम्बन्धिनी नदी, तद्देशवृष्टिमती, मलिनस्रोतःपूर्णत्वे सति शीघ्रगामित्वे सति नवीनकाष्ठादिवहनशीलत्वादिति, कार्यलिङ्गकमेतत् । सामान्यतोदृष्टं—कार्यकारणभिन्नलिङ्गकम्, यथा प्रगतिपूर्वकमन्यत्राऽवलोकितस्याऽन्यत्रावलोकनं सम्यग्विज्ञायाऽप्रत्यक्षापि सूर्यगतिः कार्यकारणभावभिन्नेनाऽनुमानेनाऽनुमेया भवति,—आकारस्तु 'देशान्तरप्राप्तिमानादित्यः, गतिमान्, प्रातः पूर्वमुखमवस्थितव्यक्तेः दर्शनविषयस्य तस्याऽधुना पराङ्मुख दर्शनविषयत्वादिति । अथवा—'पूर्वम्—अन्वयव्याप्तिः, तद्वत्, केवलान्वयीत्यर्थः—यथा घटोऽभिधेयः, प्रमेयत्वादिति । तत्राऽभिधेयत्वप्रमेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति यावत्पदार्थानां प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च । 'शेषवद्—शेषो-व्यतिरेकः, तद्वत्, केवलव्यतिरेकीत्यर्थः, यथा—'पृथिवी, स्वेतरभिन्ना, गन्धात्, अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्ताभावान्नान्वयव्याप्तिः, किन्तु यत्र स्वेतरजलादिभेदाभावस्तत्र गन्धाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिसत्त्वात् केवलव्यतिरेकीति ।

सामान्यतोदृष्टञ्च—अन्वयव्यतिरेकीत्यर्थः । अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि, यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादत्र यत्र धूमस्तत्र वह्निरित्यन्वयव्याप्तिर्महानसमादायाऽस्ति । जलह्रदमादाय च साध्यसाधनयोरभावसत्त्वात् तत्र व्यतिरेकव्याप्तिः, यथा जलह्रदे धूमो नास्ति तत्र वह्निरपि नास्तीति ।

केचित्तु—वीतमवीतञ्चेति द्विविधमनुमानं विवेचयन्ति । तत्र वीतम्—अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् अन्वयव्याप्तिकमितियावत्, तच्च पुनर्द्वेधा—दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयकम्, अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयकञ्चेति । तत्र प्रथमं—'दृष्टं प्रत्यक्षीकृतं सहचारदशायां स्वलक्षणं—स्वरूपं यस्य विषयस्य वह्न्यादेरिति—धूमेन वह्न्यनुमानमित्यर्थः । तदेव पूर्ववदिति । 'द्वितीयन्तु—'अदृष्टं पूर्वं—न प्रत्यक्षीकृतम्—स्वलक्षणं—स्वरूपं यस्य तत्, यथा 'पृथिव्यादिवृत्तिगन्धादयः, सूक्ष्मकारणोद्भूताः,—सत्त्वे सति प्रत्यक्षविषयत्वात्, इत्यनेन सूक्ष्मतन्मात्राणामपि सिद्धिर्भवति । तदेव सामान्यतोदृष्टम् । 'अवीतम्—व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकम् व्यतिरेकव्याप्तिकमिति यावत्—यथा 'पटः,—तन्त्वभिन्नः, तन्तुधर्मत्वात्, यद्यतो भिद्यते तत्तस्य धर्मो न भवति यथा घटत्वं पटस्येति । तदिदं शेषवदिति । तच्चानुमानं सद्धेतुकमेवाऽनुमितिमुत्पादयति न त्वसद्धेतुकम् । असद्धेतवश्च पञ्च भवन्ति,

पञ्चविधदोषविशिष्टत्वात् । दोषाश्च—पञ्च—सव्यभिचारविरोधसत्प्रतिपक्षाऽसिद्धि-बाधसंज्ञकाः । तत्र सव्यभिचारस्त्रिविधः—साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदात् तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणो दोषः, यथा पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्यत्रानुमाने धूमाभाववति तप्ताऽयःपिण्डे वह्निर्वर्तते, तेन दोषेण साध्याभाववद्वृत्तिर्वह्निरित्याकारकव्याप्तेः प्रतिबन्धः क्रियते । असाधारणः—साध्यासमानाधिकरणो हेतुः, यथा 'गगनम्, स्पर्शवत्, शब्दादि'त्यत्र 'स्पर्शाऽसमानाधिकरणः शब्द'इति तेन च 'साध्यसमानाधिकरणहेतु'रितिव्याप्तिप्रतिबन्धः क्रियते । अथवा सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः, यथा 'शब्दः, नित्यः, शब्दत्वादि'त्यत्र शब्दत्वं सर्वनित्येभ्यः सर्वाऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्तीति । तथा चाऽन्वयव्यतिरेकव्याप्तिशून्यत्वे सति पक्षमात्रवृत्तित्वमसाधारणत्वम्, तेन चाऽन्वयव्याप्तेर्व्यतिरेकव्याप्तेश्च प्रतिबन्धः क्रियते । निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः, सन्दिग्धसाध्यवान्, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाववान् वा पक्षः । अनुपसंहारी—अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसाध्यकादिः, यथा 'घटोऽभिधेयः, गन्धादि'-त्यत्राऽभिधेयत्वाऽभावाऽप्रसिद्ध्याऽभिधेयत्वाऽभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगी गन्ध, इत्याकारकव्यतिरेकव्याप्तेः प्रतिबन्धो भवति । विरोधः—साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी हेतुरिति, यथा 'पृथिवी, गन्धवती, जलादि'त्यत्र गन्धव्यापकीभूतस्य जलत्वाभावस्य प्रतियोगि जलत्वं भवति, तथा च पक्षविशेष्यकसाध्याभावव्याप्यहेतुप्रकारकज्ञानात्पक्षविशेष्यकसाध्यप्रकारकाऽनुमितेः प्रतिबन्धो भवतीति फलम् । पृथिवी गन्धवतीत्यनुमितिं प्रति पृथिवी गन्धाभाववतीत्याकारकस्याऽभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात्, तादृशाभावज्ञानस्य सामग्रीरूपो विरोधदोषः प्रतिबन्धक इति ।

सत्प्रतिपक्षः—साध्याभावव्याप्यवान्पक्षः । यथा पर्वतो वह्निमान् धूमाद् वह्न्यभाववान् पाषाणमयत्वात्, इत्यत्र परस्परसाध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानात्परस्परसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानप्रतिबन्धेन साध्यवानित्याकारिकाऽनुमितिर्न जायत इति ।

असिद्धिस्त्वनेकधा, यथा आश्रयाऽसिद्धिः—पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याऽभावः, 'कांचनमयपर्वतो वह्निमान् धूमादि'त्यत्र 'कांचनमयत्वाभाववान्'पर्वत इति,तेन च वह्निव्याप्यधूमवान्काञ्चनमयपर्वत-इति परामर्शो न भवति । एवम्—साध्ये साध्यतावच्छेदकाऽभावः साध्याऽसिद्धिः, यथा पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् धूमादित्यत्र कांचनमयत्वाभाववान्वह्निरिति ज्ञानात् कांचनमयवह्निव्याप्यधूमवान्पर्वत—इति-परामर्शप्रतिबन्धो भवति । हेतौ हेतुतावच्छेदकाऽभावो हेत्वसिद्धिः—यथा पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमादित्यत्र काञ्चनमयत्वाऽभाववान् धूम इति ज्ञानाद्वह्निव्याप्यकाञ्चनमयधूमवान्पर्वत-इति-परामर्शप्रतिबन्धो जायते । स्वरूपासिद्धिः—पक्षे हेतोरभावो यथा 'शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वादि'त्यत्र 'चाक्षुषत्वाऽभाववान् शब्द' इति-ज्ञानाद् गुण-

त्वव्याप्यचाक्षुषत्ववान् शब्द इति—परामर्शप्रतिबन्धो भवति । एवम्—सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्धः । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः, साध्याऽधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम् । साधनवद्वृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाऽव्यापकत्वम् । पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्यत्र धूमस्य व्यापक आर्द्रेन्धनसंयोगः, स च वह्नेरव्यापकः, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाऽभावादित्येवमार्द्रेन्धनसंयोगात्मकोपाधिमत्त्वाद् वह्निर्हेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्धः । पक्षे साध्याभावो बाधः, यथा वह्निरनुष्णः तेजस्त्वादित्यत्र प्रत्यक्षेण वह्नावुष्णत्वग्रहे सति वह्निरनुष्ण इत्यनुमितेः प्रतिबन्धो भवति ॥

तेषां पञ्चदोषाणां सामान्यलक्षणम्—'अनुमितितत्करणान्यतरविरोधिज्ञानविषयत्वं दोषत्वमिति । स्वविषयकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन दोषवत्त्वं हेतुषु, ते हेतवो दुष्टा इत्यसद्धेतव इति चोच्यन्ते ।

पक्षधर्मत्व—सपक्षसत्त्व—विपक्षाऽसत्त्वाऽसत्प्रतिपक्षितत्वाऽबाधितविषयत्वानि पञ्चरूपाणि भवन्ति तैर्युक्तं लिङ्गमन्वयव्यतिरेकि सद्धेतुरिति । विपक्षाऽसत्त्वं विहाय चतुर्भिर्धर्मैर्युक्तं लिङ्गं केवलान्वयि सद्धेतुरिति । सपक्षसत्त्वं विहाय चतुर्भिर्धर्मैर्युक्तं लिङ्गं केवलव्यतिरेकि सद्धेतुरिति ।

तद्रूपमध्यतो यत्किञ्चिद्रूपं विहाय रूपत्रयेणन्यूनेन वा युक्तो हेतुरसद्धेतुरिति विवेकः । हेतुवदाभासमानत्वेन हेत्वाऽभासइति । दोषरहितञ्चानुमानमनुमितिसाधकं भवतीति भावः ।

तत्र सामान्यतोदृष्टानुमानात्प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मनश्च सिद्धिः । तत्र प्रकृतिसाधकं यथा 'महत्तत्त्वम्—सुखदुःखमोहसंज्ञकद्रव्योपादानकम्, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहधर्मकत्वात्, सुवर्णादिजन्यकुण्डलादिवदिति । पुरुषे यद्यप्यनुमानाऽपेक्षा नास्ति सर्ववादितन्त्रसिद्धत्वात्पुरुषस्य, तथापि प्रकृत्यादिविवेके सामान्यतोदृष्टमेवाऽपेक्ष्यते यथा 'प्रधानम्—परार्थम्—संहत्यकारित्वाद्, गृहादिवदिति । गृहादिषु देहाद्यर्थकत्वं दृष्टं तथा प्रकृतिमपि विहाय तद्विजातीयः पुरुषः प्रधानाद्विभिन्नोऽनुमीयते । एवम्—प्रत्यक्षाऽविषयाणां तत्त्वानामहंकारादीनामपि समान्यतोदृष्टानुमानेन सिद्धिः बोध्या । परमात्मविषयकानुमानन्तु—'परमेश्वरतत्त्वम्—अस्तितावद्—योगिनां योगफलप्रदातृत्वात् । परमेश्वरो—योगफलप्रदाता,—सर्वज्ञत्वेसति सर्वेशनशीलत्वात् । परमेश्वरातिरिक्तसर्वेशनशीलत्वं प्रकृतेरपि विद्यतेऽतः सद्धेतुत्वसम्पादनाय सर्वज्ञपदम् । यद्यपि सर्वज्ञत्वमपि परममुक्तानां सम्भवति, तथापि तत्र तत्र सर्वेशनशीलत्वं नास्ति । तस्य तु परममुक्तानामपीशानशीलत्वमिति भावः ।

अनुमाननिरूपणानन्तरं शब्दप्रमाणं निरूपणीयम् । तत्राऽगृहीतशक्तिकेन पदेन शाब्दबोधो न जायतेऽतो गृहीतशक्तिकस्यैव शब्दस्य शाब्दबोधजनकत्वम् ।

भवति शक्तिग्रहस्त्वनुमानाधीनः । तथाहि–केनचित्प्रयोजकवृद्धेन 'घटमानये'त्युच्चारिते सति तदाकर्ण्याऽपरः प्रयोज्यवृद्धो घटानयनाय प्रवर्तते, प्रवर्तमानं च तमवलोक्य कश्चिद्बालः–'प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टा–घटानयनप्रवृत्तिजन्या, चेष्टात्वात्, मदीयचेष्टावदि'त्यनुमानेन चेष्टोत्पादिकां घटानयनविषयिणीं प्रवृत्तिमनुमाय 'इयं प्रवृत्तिः–घटानयनधर्मिककार्यताज्ञानजन्या, तथाविधप्रवृत्तित्वात्, मदीयप्रवृत्तिवदि'त्यनुमानेन च प्रवृत्तिजनकीभूतं घटानयनकर्तव्यताज्ञानमनुमीयते, ततो 'घटानयनकार्यताज्ञानम्–प्रयोजकवृद्धोच्चरितशब्दश्रवणजन्यम्–तादृशश्रवणाऽन्वयव्यतिरेकवत्त्वात्, यथा दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायी घटः' इत्यनुमानेन प्रयोज्यवृद्धज्ञानं शब्दश्रवणजन्यमिति निश्चित्य शब्दस्याऽर्थेन सह कश्चित्सम्बन्धविशेषोऽस्तीति निश्चिनोति, येन सम्बन्धेन घटपदात् कम्बुग्रीवादिमानित्यर्थबोधो भवति, न तु पटादेः पदार्थान्तरस्येति । तत्तदर्थे तत्तत्पदस्य यः संसर्गः स एव शक्तिः । सा च परमेश्वरेच्छात्मिकैव, पदार्थान्तरं शाब्दबोधजनिका शक्तिरिति वा । तादृशशक्तिरूपसम्बन्धग्रहपूर्वक एव शाब्दबोधावगम इति ।

तदेवं शक्तिज्ञानस्याऽनुमानाऽधीनत्वेन शाब्दबोधोपजीव्यत्वादुपजीव्यनुमानानन्तरमुपजीवकस्य निरूपणं सङ्गतम् । तत्राऽऽप्तवचनाऽभिधानः शब्दः प्रमाणं लक्ष्यम् । तस्य लक्षणम्–आप्तोक्तार्थविषयिणी शब्दजन्या वृत्तिरिति । यथार्थम्–वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानमिति यावत् । वेदवेदाङ्गप्रतिपादिताश्चार्था न केनाऽपि प्रमाणेन प्रामाण्योपलब्धिविषयाः, किन्तु स्वतःप्रामाणिका–आप्ता युक्ता यथार्था इति, अतो वेदतन्मूलकश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिवाक्यजन्यज्ञानं युक्तं भवतीति । एवं भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणाऽपाटवादिदोषरहितपुरुषेणाऽभिहितशब्दजन्य–यथार्थज्ञानमपि युक्तमुपपद्यते ।

अथवा–यथार्थबोधजनकशब्दत्वम्–शब्दप्रमाणस्य लक्षणम् । तेन वेदतन्मूलकाप्तवाक्यानां यथार्थशब्दत्वात्प्रमाणत्वम् । एतच्च प्रमाणमात्रस्य परतःप्रामाण्याऽनभ्युपगमाद् वेदानाञ्च स्वतःप्रामाण्याऽभ्युपगमात्स्वर्गाऽपूर्वदेवता तद्विषयो वैदिकोपदेशो निर्दोषतया युक्तो भवति । लौकिकश्च शब्दः प्रमाणान्तरमूलः सन् युक्तो भवति, प्रमाणान्तराऽभावे त्वनाप्तोऽयुक्त इति । अत्र यदा शब्दः प्रमाणं तदा शाब्दबोधात्मिका बुद्धिवृत्तिः प्रमा । यदा शाब्दबोधात्मिका बुद्धिवृत्तिः प्रमाणं तदा बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं प्रमेति विवेकः । तादृशवाक्यार्थविषयकशाब्दबोधात्मकफले पदज्ञानं करणम्, पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः, पदपदार्थयोः सम्बन्धः शक्तिलक्षणान्यतरात्मकः । शक्तिश्च परमेश्वरेच्छा पदार्थान्तरं वा । तस्या आकारस्तु 'इदं पदममुमर्थं बोधयतु' अथवा 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य' इति । सा च शक्तिर्जात्याकृतिव्यक्तिषु तिष्ठति–यथा गोपदस्य गो-गोत्वावयवसंयोगेषु त्रिष्वेव शक्तिरिति ।

अथवा घटपदस्य घट-घटत्वसंसर्गेषु त्रिषु शक्तिरिति । शक्यसम्बन्धो लक्षणा सा चाऽनेकविधा भवति, यथा—जहल्लक्षणा—'गङ्गायां घोष'इत्यत्र गङ्गापदे शक्यसम्बन्धितीरबोधजनिका । 'अजहल्लक्षणा—शक्यलक्ष्योभयबोधजनिका—'छत्रिणो यान्ती'त्यत्र छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा । 'जहदजहल्लक्षणा—शक्यतावच्छेदकपरित्यागेन व्यक्तिमात्रबोधजनिका, यथा 'सोऽयं कृष्ण' इत्यत्र तत्कालावच्छिन्नत्वैतत्कालावच्छिन्नत्वपरित्यागेन कृष्णात्मकव्यक्तिबोधिका । 'निरूढलक्षणाऽनादितात्पर्यवती, यथा—शुक्लादिगुणविशिष्टबोधकस्य शुक्लादिपदस्य । आधुनिकी लक्षणा-सादितात्पर्यमूला,—यथा नवीनकाव्यादौ, अथवा स्वकुर्निर्ग्राहिका—यथा घटत्वेन बोधकस्य पटपदस्य । गौणी लक्षणा द्विधा—यथा 'इदमादिपदभिन्नविशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकपदनिरूपिता 'सिंहो माणवक'इत्यत्र सिंहसादृश्यबोधिका । द्वितीया तु 'इदमादिपदविशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकपदनिरूपिता—साध्यवसानिका—यथा 'सिंहोऽयमि'त्यत्र सिंहसदृशबोधिका । एतल्लक्षणाद्वयं गौणीत्युच्यते । सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धतः तादृशलक्षणाद्वयी शुद्धाऽप्युच्यते यथा 'आयुर्वै घृतमि'त्यत्राऽऽयुर्जनकबोधिका । काचिदुपादाननाम्नी—यथा 'कुन्ताः प्रविशन्ती'त्यत्र कुन्तबोधिका । इत्येवं लक्षणाविस्तरः । तात्पर्याऽनुपपत्तिरन्वयाऽनुपपत्तिश्च लक्षणाबीजम् ।

पदं चतुर्विधम् 'यौगिकं रूढं योगरूढं यौगिकरूढञ्चेति । तत्राऽवयवार्थबोधजनकं पदं यौगिकम्, यथा पाचकादिपदम् । यत्राऽवयवशक्तिनिरपेक्षया समुदायशक्त्यैव बोधो भवति तद्रूढं यथा गोमण्डपादिपदम् । यत्राऽवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद् योगरूढं यथा पङ्कजादिपदम्, अवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति । यत्र यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढं यथा—उद्भिदादिपदम्, तत्रोद्भेदनकर्त्ता तरुगुल्मादिर्यागविशेषोऽपि च बुध्यते ।

शाब्दबोधे—आसत्तिज्ञानमाकाङ्क्षाज्ञानं योग्यताज्ञानं तात्पर्यज्ञानञ्च कारणम् । अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोरव्यवधानेनोपस्थितिरासत्तिस्तज्ज्ञानं कारणम्, तेन प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानयेत्यादिवाक्यानि न प्रमाणम्, आसत्त्यभावात् । यत्पदेन विना यत्पदस्याऽन्वयानुभवाऽजनकत्वं तत्पदेन सह तस्याऽऽकाङ्क्षा, सा च तदर्थान्वययोग्यार्थस्य ज्ञानविषयकेच्छा । क्रियापदं विना कारकपदस्याऽन्वयबोधजनकत्वाऽभावात्, क्रियापदेन सह कारकपदस्याऽऽकाङ्क्षा, तज्ज्ञानविरहाच्च 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती'ति वाक्यं न प्रमाणम् । अर्थाऽबाधो योग्यता, तदभावात् वह्निना सिञ्चतीति न प्रमाणम् । वाक्योच्चारयितुर्यादृशार्थबोधेच्छया वाक्योच्चारणं जायते तादृशीच्छैव तात्पर्यम्, तज्ज्ञानाऽभावाच्च 'सैन्धवमानये'त्यत्र क्वचिदश्वस्य क्वचिल्लवणस्य वा बोधो

न स्यात् । एवं निरूपितः शब्दप्रपञ्चः । नास्तिकानामागमाभासानां पूर्वाऽपरविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद् विच्छिन्नमूलकत्वाच्च न प्रामाणिकत्वमिति ध्येयम् ।

वैशेषिका बौद्धाश्च शब्दप्रमाणजन्यशाब्दबोधस्यानुमितित्वेनैव निर्वाह इति सम्मन्यते, तत्र 'गौरस्ती'ति वाक्यजन्यबोधस्य 'गौरस्तितावती'त्याकारकानुमितिरूपत्वम्—यथाहि—'गौरस्तितावती—स्वधर्मिकाऽस्तित्वाऽन्वयबोधानुकूलाऽऽकाङ्क्षाश्रयपदस्मारितत्वात्, घटवत्' । अथवा 'गौरस्तितावती, अस्तिपदसमभिव्याहृतगोपदस्मारितत्वाच्चक्षुर्वत् । पदानामेकवाक्यतापन्नत्वात्मकसमभिव्याहृतत्वनिश्चयं विनाऽन्वयबोधस्याऽनुपपत्त्या पूर्वं तादृशनिश्चयस्याऽऽवश्यकत्वात्, आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वं पदानां मिथः संसर्गवत्त्वव्याप्यं गृहीत्वैव संसर्गवत्त्वमनुमीयते इति ।

तत्तु न युक्तम् । यतो गवादेः पदस्मारितत्वविरहकालेऽपि गौरस्तितावतीति बोधस्य दर्शनात्, प्रकृतहेतौ पक्षधर्मत्वाऽभावनिश्चयकाले परामर्शाऽनुत्पादेन तदानीमुत्पन्नस्याऽन्वयबोधस्याऽनुमितित्वं दुर्घटमिति । पदजन्यपदार्थस्मृतिश्चाऽज्ञायमाना ( स्वरूप ) सत्येवान्वयबुद्धौ कारणं भवति, तस्याः सत्त्वेन प्रकृते शाब्दबोध एवाऽनुपेयो भवति । शाब्दबोधे च लिङ्गजन्यत्वसाधनार्थम् 'अयं बोधः—किञ्चिल्लिङ्गजन्यः—अनुमितित्वादि'त्यनुमानमपेक्ष्यते, तथा चाऽत्र प्रकृतपक्षेऽनुमितित्वरूपहेतोरेवाऽसिद्धत्वात् तेन लिङ्गेन 'गौरस्तितावती'ति शाब्दबोधे पदस्मारितत्वादिलिङ्गजन्यत्वस्य साधयितुमशक्यत्वात् । अत आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वस्याऽप्रसिद्धेः, तेन हेतुना 'गौरस्ती'ति बोधस्यानुमितित्वं न स्यादिति । किञ्च 'अस्तित्वेन गामनुमिनोमी'त्यनुव्यवसायो न भवति, किन्त्वस्तित्वेन गौः श्रुतो न त्वनुमित इत्यनुभवः । किञ्च अस्तित्वव्याप्यम्—स्वधर्मिकाऽस्तित्वाऽन्वयबोधानुकूलाकांक्षाश्रयपदस्मारितत्वमिति'व्याप्तिं विना परामर्शं विनाऽपि च गौरस्तीति वाक्यश्रवणानन्तरं झगेव 'गौरस्तितावती'ति बोधस्य जायमानत्वादिति ।

काणादास्तु—'गोःपदम्—अस्तित्ववद्गोगोचरज्ञानपूर्वकम्, अस्तिपदसाकांक्षगोःपदत्वादि'त्यनुमानेनैव शाब्दबोधस्य निर्वाह इति वदन्ति । तदपि न । गवादिपदानां ज्ञानपूर्वकत्वाऽभावनिश्चयदशायामुत्पन्नस्य गवादिमुख्यधर्मिकाऽस्तित्वाऽन्वयबोधस्य सार्वजनीनस्य तादृशलिङ्गादनिष्पत्तेः । वाक्यार्थस्य चाऽपूर्वत्वेन तद्धर्मसाध्यस्य पूर्वमनुपस्थित्या तदनुमानाऽसंभवात् । किञ्च—शब्देन हेतुना 'गौरस्तितावती'त्यनुमितिरशक्यसम्भवा । शब्दस्य गोरूपपक्षेऽसत्त्वात् । न च शक्तिरूपसम्बन्धेन शब्दस्य तत्र वर्तमानत्वेन सद्धेतुत्वमेवेति वाच्यम् । वाक्यार्थस्याऽशक्तया शक्तिसंसर्गेण शब्दस्य वाक्यार्थवृत्तित्वाऽसंभवादिति । किञ्च—लिङ्गं साध्येन सह सम्बद्धतया ज्ञायमानं सद् अनुमितिजनकं भवति । सम्बन्धज्ञानं च व्याप्तिज्ञानम् । अत्र तु वाक्यवाक्यार्थयोर्न कश्चन संसर्गो विद्यते पदार्थानामेव

पदैः सह शक्तिरूपसम्बन्धाङ्गीकारात् । अतोऽगृहीतसम्बन्धेन वाक्येनाऽर्थबोधजननात्, सम्बन्धज्ञानानपेक्षमाणस्य हेतोरनुमापकत्वाऽदर्शनाच्च शब्दस्यानुमापकत्वमिति । वाक्यार्थो हि प्रमेयः, वाक्यार्थे शब्दस्याऽवृत्तित्वात्,—शक्तिरूपसम्बन्धस्य च पदपदार्थयोरेव स्वीकारात्, एवञ्च वाक्यार्थस्य धर्मो वाक्यं न भवतीत्यतो लिङ्गमपि न भवति । एवमुपमानादीन्यपि प्रमाणान्तराणि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तानि त्रिषु प्रमाणेष्वेवान्तर्भवन्ति—

तत्र—उपमानम् प्रमाणम्—'गवयः कीदृश ! इत्येवं नागरिकेण पृष्टो वनेचरः—गौरिव गवय' इति वाक्यमुच्चारयति, तद्वाक्यञ्च प्रसिद्धगोसाधर्म्याद् उपमेयगवयप्रत्यायकमत एवोपमानं प्रमाणमिति । तन्न युक्तम् । यतस्तद्वाक्यजन्यधीरागम एवेति तदर्थं नोपमानान्तरं प्रमाणमभ्युपेयमिति ।—अथवा—पदपदार्थयोः सम्बन्धः शक्तिः, तज्ज्ञानमुपमितिः, तत्करणं 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इति वाक्यज्ञानं तदेवोपमानं 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इति वाक्यस्मरणद्वारा उपमितिमुत्पादयति । तदपि न युक्तम् । यतस्तथाविधोपमानस्याऽनुमानान्तर्भाव एव, तथाहि—'गवयशब्दः—गोसदृशगवयवाचकः—असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वादि'त्यनुमानात्मकमेवोपमानमिति । तज्जन्या 'गवयशब्दो गवयवाचकः' 'गवयो गवयपदवाच्यः' इति वा धीरनुमितिरेवेति । अथवा 'यथा गौस्तथा गवय' इति वाक्यश्रवणानन्तरं तज्ज्ञानं जायते तदुपमानम्, ततश्च 'अयं गवयो गोसदृश' इति ज्ञानमुपमितिर्भवतीति । तदपि न । गवयज्ञानस्य चक्षुःसन्निकर्षजन्यतया प्रत्यक्षत्वमेवेति, तत्करणं नोपमानान्तरम् । अथवा मीमांसकाः—'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इति श्रवणानन्तरं सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनं गवि स्मरणमुत्पादयति, तेन 'गवयसादृश्यविशिष्टगोज्ञान'मुपमितिरिति वर्णयन्ति । तदपि न । यतो ह्यत्र सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनेन गोस्मरणं जायते तस्य स्मरणात्मकतया तत् प्रमाणं प्रमेयं वा नास्तीति केवलं सादृश्यविशिष्टगोस्वरूपं गोवृत्तिसादृश्यं वा प्रमेयं वक्तव्यम्, सादृश्यञ्च तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्, तच्च गोगवयोभयवृत्तिधर्मो गवये प्रत्यक्षो भवति गव्यपि प्रत्यक्षीभूत एवेति नोपमानं प्रमाणान्तरमिति ।

अर्थापत्तिः—'जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावदर्शनेनाऽदृष्टार्थस्य बहिर्भावस्य कल्पनमर्थापत्तिः । अर्थस्याऽऽपत्तिर्यस्मात्तत्—अर्थापत्तिप्रमाणमिति मीमांसकमतम् । तदपि न । 'जीवंश्चैत्रो—बहिरस्ति—विद्यमानत्वे सति गृहेऽसत्त्वात्, मद्वत्, यो हि विद्यमानोऽपि गृहे नास्ति सः अन्यत्राऽस्ति यश्चाऽन्यत्र नास्ति सः गृहेऽस्तीति व्याप्तिग्रहस्य सत्त्वात् । विद्यमानस्य गृहाभावदर्शनेन बहिःप्रदेशसत्त्वज्ञानमनुमानमेवेति । ननु विद्यमानत्वविशिष्टगृहाऽविद्यमानत्वहेतुश्चैत्रेऽसिद्धः, विद्यमानत्वाऽविद्यमानत्वयोः परस्परं विरोधात्, एवम्—अविद्यमानत्वविशिष्टे विद्यमान( जीवि)-

त्वस्याऽसम्भवेनाऽऽश्रयाऽसिद्धिः, अविद्यमानत्वविशिष्टस्य सत्त्वस्यैव चाऽभावेन तद्विशेषबहिःसत्त्वरूपसाध्याभावेन बाधश्चेति चेन्न । चैत्रस्य देशान्तरे विद्यमानत्वेन गृहाऽविद्यमानत्वं नाऽपह्नोतुं शक्यम्, तयोर्विरोधाऽभावान्नाऽसिद्धो हेतुरिति । किञ्च—गृहाऽविद्यमानत्वं न देशान्तरविद्यमान( जीवि )त्वमपह्नोतुं शक्यमिति तयोर्विरोधाऽभावान्नाश्रयाऽसिद्धिरिति । न वा गृहाऽविद्यमानत्वं बहिःसत्त्वविरुद्धं येन बाधोऽपि स्यादिति । ननु गृहासत्त्वमित्यत्र गृहं देशः, तथा च देशाऽसत्त्वं सामान्यतः सत्त्वविरोधि स्यादिति चेन्न । गृहपदेन न देशसामान्याऽऽक्षेपो भवति, किन्तु गृहात्मकदेशस्यैव, तथा च गृहावच्छिन्नेन चैत्राऽभावेन गृहसत्त्वं विरुध्यते न तु सत्त्वमात्रमिति । न च यत्र क्वचन सत्त्वस्य गृहासत्त्वेन सह विरोध इति । एतेन—"विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषय" इति, तदभिप्रायस्तु—तत्र प्रत्यक्षप्रमाणस्य विषयः—असत्त्वम्, सत्त्वं च ज्योतिःशास्त्रस्य विषयः, तयोः समानबलवत्प्रमाणयोर्विरोधे समुपस्थिते प्रत्यक्षस्य गृहाऽसत्त्वविषयकत्वेन ज्योतिषश्च बहिःसत्त्वविषयकत्वेनाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषय इति, तदपि खण्डितम् । गृहानवच्छिन्नसत्त्व-गृहावच्छिन्नाऽसत्त्वयोर्विरोधाभावेन तद्बोधकप्रमाणयोरपि विरोधाऽप्रसक्तया तत्परिहरणार्थमर्थापत्तिरूपप्रमाणान्तरस्वीकारस्य व्यर्थत्वादिति । एवं 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्रापि 'देवदत्तः—रात्रिभोजी, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वादि'त्यनुमानेनैव गतार्थत्वान्नाऽर्थापत्तिः प्रमाणान्तरम् ।

भाट्टा अद्वैतवेदान्तिनश्च—अनुपलब्धेरपि प्रमाणान्तरत्वमङ्गीकुर्वन्ति । यथा भूतले घटाभावप्रत्यक्षे घटानुपलब्धिः कारणम् । तदेव प्रमाणम् । तदपि न । नहि योगाचार्यैर्भूतलात्मकाधिकरणातिरिक्तोऽभावो नाम कश्चित्पदार्थोऽभ्युपगम्यते, तथा च यत्राऽधिकरणे यस्याऽभावस्तत्र तादृशाधिकरणस्य प्रत्यक्षेऽभावोऽपि प्रत्यक्ष एव । योगमते चेतनशक्तिमन्तरेण सर्वपदार्थानां परिणामित्वात् भूतले घटसत्त्वेऽपि क्षणान्तरे घटस्य परिणामे सति घटाभावस्य भूतलात्मकस्य प्रत्यक्षविषयत्वयोग्यत्वान्नानुपलब्धिः प्रमाणान्तरम् । नन्वधिकरणस्वरूपो नाऽभावः, अनन्ताऽधिकरणस्वरूपाऽपेक्षयाऽतिरिक्तपदार्थस्वीकारे लाघवादिति चेन्न । 'धर्मकल्पनाऽपेक्षया धर्मिकल्पनाया लघीयस्त्व'मितिनियमाद्धर्मस्याऽभावस्य भूतलादिधर्मिस्वरूपत्वमेवेति । नन्वेवं सति 'घटाभाववद्भूतल'मिति प्रयोगो न स्यात्, तेन घटाभाव एव भूतलमिति ज्ञानादाधाराधेयभावोऽपि न स्यादितिचेन्न । आधारतावच्छेदकाऽऽधेयतावच्छेदकयोर्भेदस्याऽऽधाराधेयभावनियामकत्वात्, भूतलत्व—घटाभावत्वधर्मयोर्भेदसत्त्वादाधाराधेयभावहानिर्नास्ति । अथवा—एकस्मिन्नपि तत्त्वे 'इह वने तिलकाः' 'घटाभावो घटाभाववान्' इत्यादाविव कथञ्चिदाधाराधेयभावस्वीकाराच्च । तेन न तत्र भेदोऽपि साधयितुं शक्यः—ननु तर्हि शब्दरसगन्धाद्य-

भावानामधिकरणात्मकतया तत्तदधिकरणस्य च शब्दादिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वाऽसंभवेन प्रत्यक्षमेव न स्यादिति चेन्न । 'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया । स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।' इति वचनानुसारेण सर्वपदार्थानां स्वरूपेण भावत्वम् पररूपेण चाऽभावत्वमिति । योगमते गुणगुण्यादीनामभेदाद्–घटाऽभिन्नगन्धप्रतीतिर्घ्राणसापेक्षा । घटाऽभिन्नरसप्रतीतिः–रसनासापेक्षा । घटाऽभिन्नरूपप्रतीतिश्चक्षुःसापेक्षा । एवं वायौ रूपाभावस्य वाय्वभिन्नत्वेऽपि रूपाऽभावत्वेन धर्मेण रूपाऽभावप्रतीतिश्चक्षुःसापेक्षा । जलात्मकगन्धाऽभावस्यापि प्रतीतिर्गन्धाभावत्वेन रूपेण घ्राणसापेक्षा । वह्न्यात्मकरसाभावस्यापि प्रतीतिः–रसाभावत्वेन रसनासापेक्षा इत्येवमधिकरणत्वेनाऽधिकरणप्रतीतिस्त्वधिकरण–ग्राहकेन्द्रियसापेक्षा । इति तत्तदिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वं नियमतः प्रतियोगिसापेक्षप्रतिपत्तिविषयकत्वञ्च सम्भवतीति नाऽप्रत्यक्षत्वाऽऽपत्तिरिति भावः । एवं–सम्भवोऽपि प्रमाणान्तरं यथा 'खार्यां द्रोणाऽऽढकप्रस्थाद्यवगमः, तत्र 'खारी'कथनेन द्रोणादीनां सम्भवादेव खारीपदेन द्रोणादीनां बोधजनकं सम्भवप्रमाणमिति पौराणिका वदन्ति । तदपि न । 'खारी, द्रोणादिघटिता, खारीत्वादि'त्यनुमानेन द्रोणादिघटितत्वव्याप्य–खारीत्ववत्त्वबोधात् 'खारी–द्रोणाद्यविनाभूता' इत्यनुमितिर्भवति तेन सम्भवस्यानुमानेऽन्तर्भाव इति । ऐतिह्यम्—अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपरम्पराऽऽगतम् 'इह वटे यक्षस्तिष्ठतीति होचुर्वृद्धाः' इति वाक्यम् । तज्जन्यबोधस्योपपत्त्यर्थमैतिह्यं प्रमाणमिति पौराणिका वदन्ति । तदपि न । तादृशवाक्यस्य संशयात्मकत्वेऽप्रमाणत्वम् । यदि चाऽऽप्तवाक्यं तदा शब्दप्रमाणेऽन्तर्भाव इति । एवं–चेष्टा–विलक्षणव्यक्त्यबोधजनिका प्रमाणरूपा–इति आलंकारिकाः वदन्ति । तदपि न । अनुमानेनैव गतार्थत्वात् । तथाहि नेत्रभङ्गमिषेणाऽऽह्वयमानां काञ्चिदवलोक्य दर्शकस्तावदनुमिनोति–'इयम्–मामाह्वयन्ती, ममाऽऽह्वानानुकूलचेष्टावत्त्वात् । 'अनया–अहमाकाङ्क्ष्यमाणः, नेत्रचेष्टयाऽऽह्वानात् । इति । तज्जन्यबोधस्याऽप्यनुमितित्वमेव । एवं सर्वेषां प्रमाणानां त्रिविधप्रमाणान्तर्भावात् । त्रिविधं प्रमाणं योगशास्त्रसम्मतमिति ॥

तन्मध्ये सामान्यतस्तु—पृथ्वीजलतेजोवाय्वाकाशानां स्थूलभूतानां तद्गतगुणानां शब्दस्पर्शादीनां क्रियाणां सामान्यानां पञ्चभूतविकाराणां घटादितुषारादिसुवर्णादिपाषाणादीनाञ्च सिद्धिः–प्रमाज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणत एव बोध्यम् । प्रत्यक्षेणाऽग्राह्याणां पदार्थानामनुमानेन प्रतीतिर्बोध्या, यथा–पूर्ववताऽनुमानेन धूमादिलिङ्गदर्शनेन पर्वतनिकुञ्जगतवह्निज्ञानं जायते, एवं गर्जनाशब्देन मेघानुमितिः, विद्युत्पातेन तृणसंघाते वह्न्यनुमितिः, अभ्रवृन्देन भाविवृष्ट्यनुमितिः, चन्द्रादिना स्वर्गलोकानुमितिः, दिवा तारादर्शनेन विकृतपुरुषदर्शनेन वा भविष्यत्स्वमरणानुमितिः, प्रवासार्थं प्रस्थानमुखे सर्पमार्जारादियोगात्मकापशकुनादिना भाविदुःखा-

नुमानमिति सर्वत्र तथाऽन्यत्र निदर्शनम्। शेषवताऽनुमानेन कार्येण कारणानुमितिः, व्यतिरेकव्याप्त्या वाऽनुमितिः, यथा–गन्धेन पृथिव्यामितरभेदानुमितिः, विलक्षणद्रवत्वेन सुवर्णे तैजसत्वानुमितिः, मुखमालिन्येन चित्तविक्षेपानुमितिः, पुत्रप्रसवेन पुरुषसम्भोगानुमितिः। पृथिव्यादिस्थूलभूतैः कार्यैः स्वकारणानां तन्मात्राणामनुमानम्, यथा 'अपकर्षकाष्ठापन्नानि स्थूलभूतानि, स्वस्वविशेषगुणवद्द्रव्यकारणकानि, स्थूलभूतत्वात्, घटादिवदिति' स्थूलत्वञ्चात्र–लौकिकसन्निकर्षप्रयोज्या या बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षीयविषयता तादृशविषयतावच्छेदकधर्मवद्विशेषगुणवत्त्वम्। अथवा–शान्तघोरमूढान्यतमविशेषवत्त्वम् बोध्यमिति। तादृशानि भूतान्येव न तु सूक्ष्मतन्मात्राणि, शान्तादिविशेषशून्यानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां स्वरूपभूतानि तन्मात्राणि सूक्ष्मद्रव्याणि तानि–अविशेषा इति।—एवं दर्शनस्पर्शनवचनादिभिर्लिङ्गैरिन्द्रियानुमानान्यपि बोध्यानि यथा–'घटरूपादिप्रत्यक्षम्–घटरूपादिग्राहकेन्द्रियकारणकम्–प्रत्यक्षत्वे सति कार्यत्वात्–'इत्यनुमानेन सामान्यतः सकरणकत्वसिद्धौ 'रूपप्रत्यक्षम्, चक्षुर्जन्यम्, चक्षुर्भिन्नेन्द्रियाऽग्राह्यचक्षुर्ग्राह्यविषयकत्वादि'ति चक्षुरेव तत्करणम्।—'रसप्रत्यक्षम्, रसनाकरणजन्यम्, रसनामात्रग्राह्यविषयकत्वात्' 'गन्धप्रत्यक्षम्, घ्राणजन्यम्, घ्राणमात्रग्राह्यविषयकत्वात्। 'स्पर्शप्रत्यक्षं त्वग्जन्यम्, त्वङ्मात्रग्राह्यविषयकत्वात्। शब्दप्रत्यक्षं श्रोत्रजन्यम् श्रोत्रमात्रग्राह्यविषयकत्वादि'त्येवं ज्ञानेन्द्रियाणां सिद्ध्यर्थमनुमानप्रपञ्चः।—'वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दात्मका व्यापाराः, सकरणकाः' इति कर्मेन्द्रियाणामपि वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दात्मका व्यापाराः, सकरणकाः कार्यत्वे सति व्यापारत्वादि'त्यनेन करणत्वसामान्यं प्रसाध्य 'वचनम्–वागिन्द्रियजन्यम्, वाङ्मात्रव्यापारत्वात्। 'आदानम्–हस्तजन्यम्–हस्तमात्रव्यापारत्वात्। 'विहरणम्–पादजन्यम्, पादमात्रव्यापारत्वात्। 'उत्सर्गः–पायुजन्यः–पायुमात्रव्यापारत्वात्। 'आनन्दः, लिङ्गजन्यः–लिङ्गमात्रव्यापारत्वात्। सङ्कल्पो मनोजन्यः, मनोमात्रव्यापारत्वात्। 'दशेन्द्रियाणि, मनोऽधिष्ठितान्येव विषयग्राहकाणि, करणत्वात्, कुठारवदिति'–मनःसिद्धिः। न चाऽप्रयोजकान्येतानि। कारणगुणक्रमेण कार्योत्पत्तेः,–रूपरसादिविशिष्टस्थूलपृथिव्यादिकं यदि रूपरसादिसूक्ष्मकारणजन्यं न स्यात्तदा रूपरसादिमन्नैव न स्यादित्यनुकूलतर्कसत्त्वात्। एवम्–'रूपादिज्ञानानि–यदीन्द्रियकरणकानि न स्युस्तदा प्रत्यक्षाण्येव न स्युरित्यनुकूलतर्कसत्त्वात्। एवम्–इन्द्रियाणि यदि मनसाऽधिष्ठितानि न स्युस्तदा विषयग्राहकाण्येव न स्युः पुरुषाऽनधिष्ठितकुठारवदिति'–तर्कसत्त्वाच्चेति। एवम्—बाह्यान्तरेन्द्रियैः पञ्चतन्मात्रैश्च कार्यैस्तत्कारणतयाऽहंकारस्य सामान्यतोदृष्टानुमानेन सिद्धिः, यथा–'तन्मात्रेन्द्रियाणि–अभिमानवद्द्रव्योपादानकानि––अभिमानकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात्, यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुरपि नास्ति यथा पुरुषे। एवम्—

'अहंकारद्रव्यम्, निश्चयवृत्तिमद्द्रव्योपादानकम्, निश्चयकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात्, यत्र साध्याभावस्तत्र हेत्वभावो यथा पुरुषे, इत्यनेन महत्तत्त्वसिद्धिः । एवम्—'सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धिः—सुखदुःखमोहधर्मकद्रव्यजन्या, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात्, अस्मदादिबुद्धिवत्, न चेदमप्रयोजकम्-'बुद्धिकारणं यदि सुखदुःखमोहात्मकं न स्यात् तदा बुद्धिरपि सुखदुःखमोहादिरहिता स्यात्, न च तथा दृश्यते तस्मात्सुखदुःखमोहात्मकत्वं प्रकृतेरिति अनुकूलतर्कसत्त्वात् । न चैवं प्रकृतिः—सुखदुःखमोहात्मककारणजन्या—सुखादिमन्मायात्वादित्यनुमानेन तत्कारणमपि सिध्येदिति वाच्यम् । अनवस्थाभयेन तत्रैव विश्रामाऽङ्गीकारात्, शब्दप्रमाणेन च प्रकृतेर्नित्यत्वाऽवगमात्, यथा 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' इति तैत्तिरीयश्रुतिः ।—'गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभाविनी सिताऽसिता च रक्ता चे' ति—अथर्वणश्रुतिः । एवम्-'सामान्यतोदृष्टानुमानेन पुरुषसिद्धिर्यथा' 'अवयवाऽवयव्यभेदेन प्रकृतितत्कार्यैः असंहतैः परार्थत्वेन भाव्यम्,—भोगस्य परार्थत्वेन सत्त्वनियमात् । 'विवादास्पदं परार्थं भोग्यं प्रकृत्यादिकम्, स्वेतरस्य भोक्तुर्भोगापवर्गफलकम्, संहतत्वात्, शय्यासनादिवदित्यनेन—प्रकृतेर्भोक्ता परोऽसंहतः पुरुषः सिद्धयति । न चेदमप्रयोजकम् । सुखदुःखादिमत्प्रधानादिकं यदि स्वस्मै सुखादिभोगसम्पादकं स्यात् तदा तस्य साक्षात् स्वस्मिन् कर्मकर्तृविरोधः स्यात्, न हि धर्मिभानं विना सुखादिधर्मभानं भवति 'अहंसुखी' ति प्रत्ययविरोधात् । एवम् प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन च यस्य सिद्धिर्न भवति तत्र—'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकार' इत्यादिसृष्ट्यारम्भक्रमे, 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तर'मित्याद्यागमप्रतिपादितस्वर्गादौ, चतुर्दशभुवनात्मके ब्रह्माण्डे, तद्बहिरवस्थितेष्वष्टावरणेषु, तदुपरि—आलोकाकाश( विराजपुरुषलोक ),निराकारचिन्मयाकाश( कैलासलोक ),सत्त्वस्वभावाऽऽकाश( विष्णुलोक ),—ऽमृतमयाकाश-( महाविष्णुलोक )—हिरण्मयमयकोश, नित्यगोलोक ( निरञ्जनब्रह्मलोक ),—शबलब्रह्मलोक,—केवलब्रह्मलोक,—ऽक्षरब्रह्म,—परब्रह्मपुरुषोत्तमश्रीस्वामिनारायणभगवद्धामादिषु,—धर्माऽधर्मादृष्टादौ, देवतासु च शब्दप्रमाणमेवाऽऽलम्बनीयमिति । एतेषां वर्णनं 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमा'दितिसूत्रभाष्यावसरे करिष्याम इति ॥ ७ ॥

निरूपिताः प्रमाणवृत्तयः, ततो विपर्ययात्मिकां द्वितीयां वृत्तिं लक्षयति—

## 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

विपर्यय इति लक्ष्यम् । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । कीदृशं मिथ्याज्ञानमित्याकाङ्क्षायामाह...'अतद्रूपप्रतिष्ठमिति । तत्तु लक्षणस्य व्याख्यामात्रम् । 'तस्य—ज्ञानस्य विषयस्य वा, रूपं स्वरूपम्, तत्तदाकार इत्यर्थः । तत्र भवतीति—अतद्रूपम्,

अस्वसमानाकारविषय इत्यर्थः, तत्र प्रतिष्ठम्,–तस्मिन्विषये विषयतासम्बन्धेन समुद्भूतम् । तथा च–अस्वसमानाकारविषयविषयकमारोपानुविद्धमिति तात्पर्यम् । तेन विपर्ययभ्रमसंशयानां ग्रहणं भवति । तथाहि–यत्र द्विचन्द्रदर्शनं जायते तत्र विपर्ययो–मिथ्याज्ञानं तद्बोध्यम् । तत्र हि चन्द्रपदार्थेऽप्रतिष्ठितता नास्ति किन्तु चन्द्रविषयकज्ञानाऽऽरूढाऽप्रतिष्ठितता, तदेतद्द्विचन्द्रत्वप्रकारकज्ञानस्य मिथ्यास्वरूपत्वात्, केनचिद्यथार्थज्ञानेनैकचन्द्रत्वप्रकारकेण बाध्यत्वात् । उत्तरकालीनबाधज्ञानस्य यथार्थतया प्रबलतया च पूर्वं बाध्यते इति नियमात्, तथा च बाध्यपदार्थो विपर्ययो न प्रमापदं न वा प्रमाणपदमधिरोढुमर्हतीति ॥ यत्र रज्जौ सर्पज्ञानं तत्रापि भ्रमे ज्ञानाऽऽरूढाऽप्रतिष्ठितता, तस्मादप्रतिष्ठितं ज्ञानं बाध्यं यथार्थरज्जुत्वप्रकारकरज्जुविशेष्यकज्ञानेनेति–भ्रमो न प्रमा न वा प्रमाणमिति । यत्र च वृक्षस्तम्भे दूरतः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानम्–स संशयः, तत्र विषयगताऽप्रतिष्ठितता, स्थाणुपुरुषाऽन्यतरस्याऽसत्त्वादतः संशयस्याप्युत्तरकालीननिश्चयेन बाध्यत्वान्न प्रमात्वं प्रमाणत्वं चेति ॥ तदेवं विपर्ययभ्रमसंशयानामतद्रूपप्रतिष्ठितत्वेन समावेशः । वस्तुतो विपर्ययभिन्नयोरपि भ्रमसंशययोर्वृत्तित्वेन पृथगनुपादानन्त्वतद्रूपप्रतिष्ठितत्वेन तयोर्विपर्ययान्तर्भूतत्वात् । अत एव विपर्ययस्त्रिधा—मिथ्याज्ञान-भ्रमसंशयभेदादिति व्याख्यानं युक्ततरं भाति, विपर्ययस्याऽपराऽभिधानमविद्येति, सा च पञ्चपर्वा–अविद्याऽस्मिता-राग द्वेषाऽभिनिवेशात्मिका क्रमशस्तमो-मोह-महामोह-तामिस्राऽन्धतामिस्रसंज्ञिका,–इति । यद्यप्यस्मितादीनां विपर्ययत्वं न संभवति–अनात्मस्वात्मबुद्धेरेवाऽविद्यात्वेनैतादृशस्याऽविद्यात्वस्याऽस्मितादावभावात्, तथापि तेषां विपर्ययजन्यत्वेन कार्यकारणयोरभेदाद्विपर्ययत्वोपचाराद्विपर्ययव्यवहार इति बोध्यम् । यदि च–उपादानोपादेययोरभेदस्वीकारे विपर्ययस्याऽस्मितादिकं प्रति निमित्तकारणत्वेनाऽविद्याया अस्मितादिभिः सहाऽभेदाऽसंभवस्तर्हि न स्यादस्मितादिषु विपर्ययव्यवहार इत्युच्यते !—तदापि–'अस्मितादीनामविद्याविषयवस्तुविषयकत्वात् ते विपर्ययपदव्यवहार्या इति । तत्र–तमसोऽविद्याया अष्टविधो भेदः–अष्टसु प्रकृतिमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मभूतेष्वात्मबुद्धिरविद्या, अनित्ये कार्ये पृथिव्यादौ नित्यत्वख्यातिरविद्या, अशुचौ शरीरे—शुचित्वख्यातिरविद्या, दुःखे विषयभोगादौ–सुखख्यातिरविद्या, । तस्या एव 'भ्रम' इति संज्ञा, तस्य–अष्टविधप्रकृतिमहत्तत्त्वाहंकारपञ्चतन्मात्रविषयकत्वादष्टविधत्वमिति एवम्–मोहाभिधानाया अस्मिताया अप्यष्टौ भेदाः–यथा 'देवा ह्यष्टविधमणिमादिकमैश्वर्यमासाद्याऽमृतत्वाऽभिमानिनस्तदैश्वर्यं शाश्वतिकमभिमत्य 'सिद्धोऽहमस्मी'त्यहंभावेनाऽहंकारेण सहैकभावापन्ना भवन्ति, यथा वा बुद्धितो भिन्नं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्व्यतिरिक्तमपश्यन् मुग्धो मोहादहंकारादभिन्नत्वेनाऽऽत्मबुद्धिं करो-

तीति । सेयमस्मिताऽणिमाद्यष्टविधैश्वर्यविषयकत्वादष्टविधा—मोहसंज्ञिका इति । एवम्—महामोहाऽभिधानस्य रागस्य दशविधत्वं शब्दादिषु पञ्चसु दिव्याऽदिव्यतया दशविधेषु रञ्जनीयेषु विषयेषु राग आसक्तिः सुखे तत्साधनेषु च यो गर्धस्तृष्णालोभः स एव रागो महामोहो दशविधविषयकत्वाद् दशविध इति । एवम्—तामिस्राऽभिधानस्य द्वेषस्याऽष्टादशभेदाः, द्वेषश्च दुःखानुशयी, दुःखे तत्साधने च यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स एव द्वेषः, स्वाऽननुकूलेषु स्वरूपतो रञ्जनीयेषु दिव्याऽदिव्यतया दशविधेषु शब्दादिविषयेषु—तथा रञ्जनीयानां दशविधशब्दादिविषयाणामुपायभूतेषु स्वरूपतः सुखदेषु—अतएवाऽरञ्जनीयेष्वपि दुःखदशब्दादिसम्पादकत्वाद् द्वेषविषयेष्वणिमाद्यष्टविधैश्वर्येषु यो द्वेषः स अष्टादशविधविषयविषयकत्वादष्टादशधा । एवम्—अन्धतामिस्राऽभिधानस्याऽभिनिवेशस्याऽष्टादशभेदाः । यथा देवादयस्तावदणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दिव्याऽदिव्यतया दशविधान् शब्दादीनुपभुञ्जाना विद्यन्ते ते पुनरसुरेभ्यो भयमाप्नुवन्ति 'यत्खल्वस्माकं भोग्याः शब्दादयस्तदुपायाश्चाणिमादयोऽसुरादिभिर्मोपघानिपते'त्येवं सर्वेषां भवति स्वविरोधितोऽभिनिवेशस्त्रासो भयमिति । सोऽयमष्टादशविषयकत्वादष्टादशधेति । तथा च पञ्चविधोऽपि विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिविधो भवतीति ॥ ८ ॥

विपर्ययानन्तरं विकल्पाऽभिधानां तृतीयां वृत्तिं लक्षयति—

## शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

तत्र विकल्प इति लक्ष्यनिर्देशः । शब्दज्ञानानुपातित्वे सति वस्तुशून्यप्रत्ययत्वमिति तस्य लक्षणम् । तत्र सत्यन्तदलानुपादाने सति विपर्यये वस्तुशून्यकत्वसत्त्वादतिव्याप्तिः । वस्तुशून्यत्वदलानुपादाने शब्दात्मकप्रमाणवृत्तेः शब्दज्ञानानुपातनिबन्धनत्वात् तत्राऽतिव्याप्तिरिति । शब्दश्च ज्ञानं च शब्दज्ञाने, ते—अनुपातिनी यस्य सः 'शब्दज्ञानानुपाती'ति विग्रहः । तात्पर्यन्तु—सर्वोऽपि लोके यो व्यवहारः सः शब्दजन्यः शाब्दबोधजन्यश्च ।—तद्यथा पुरुषस्य चैतन्यमिति व्यवहारो भवत्येव, तत्र पुरुष एव चैतन्यमस्तीत्यभेदेऽपि भेदारोपमात्रम् । तादृशव्यवहारस्य जनको यः 'पुरुषस्य चैतन्यमि'ति शब्दः शाब्दबोधो वा, तदुभयस्य प्रयोजको जनको विकल्पो भवति, विकल्पे सति शब्दव्यवहारस्य दृश्यमानत्वात्, तथा च यथार्थव्यवहारजनकशब्दतज्ज्ञानप्रयोजकत्वे सतीति प्रथमदलार्थः । वस्तुशून्य—इति वस्तुना पदार्थेन शून्यः—वस्तुनस्तथात्वमनपेक्ष्यमाण इत्यर्थः । यथा पुरुषस्य चैतन्यमित्यत्र भेदसंसर्गेणाऽन्वयाऽसत्त्वेऽपि 'पुरुषस्य चैतन्य'मिति विकल्पे सति तादृशशब्दतज्ज्ञाननिबन्धनव्यवहारो यथार्थो जायते, तथा च यथार्थव्यवहारजनक-शब्द-तज्ज्ञानजनकत्वे सति वस्तुयाथार्थ्यानपेक्ष्यमाणप्रत्ययत्वं विकल्पत्वमिति

फलितार्थः । भवति च प्रायशो विकल्पप्रयोगस्तत्रैव यत्राऽभिन्न एव पदार्थः, तत्र विशेष्यविशेषणभावेन भेदमारोप्य व्यवहारदर्शनं विपर्ययफलमिति । सोऽयमेव विपर्ययतोऽस्य विशेषः,—विपर्यये तु मिथ्याज्ञानेन मिथ्या एव व्यवहारः, अत्र तु यथार्थशब्द—तज्ज्ञानादिना यथार्थव्यवहार इति, तादृशव्यवहारात्मकविभिन्नफलजनकतया विभिन्नस्वरूपतया च तयोर्विभिन्नवृत्तित्वमिति ॥

केचित्तु—शब्दज्ञानयोरनुपतत्तीति—शब्दज्ञानानुपाती, तथा च पुरुषस्य चैतन्यमिति शब्दव्यवहारे सति तादृशशब्दज्ञाने सति तदनन्तरं तथैव 'पुरुषस्य चैतन्य'मित्याकारको विकल्पो भवति तेन यथार्थव्यवहारोऽपि भवति, अतः—यथार्थव्यवहारजनकत्वे सति पदार्थयाथार्थ्यांऽनपेक्ष्यमाणत्वे सति पदार्थवाचकपदतज्ज्ञानानुरूपप्रत्ययत्वं विकल्पत्वमिति लक्षणं वर्णयन्ति । तन्न । मौनिश्लोकादौ शब्दतज्ज्ञानविरहस्थलादौ स्वाप्नपदार्थेऽपि च विकल्पेन व्यवहारदर्शनात् विकल्पकारणतया शब्दतज्ज्ञानयोर्ग्रहणस्याऽयुक्तत्वात् । ननु भवन्मतेऽपि विकल्पानन्तरं शब्दतज्ज्ञानयोरपेक्षणात् स्वप्ने शब्दतज्ज्ञानयोरभावात् कथं तत्र विपर्ययनिबन्धनो यथार्थव्यवहारः स्यादिति चेन्न । 'यथार्थव्यवहारजनकशब्दतज्ज्ञानजनकस्वरूपयोग्यतावत्त्वे सति' इति तदर्थत्वात्, तथा च यत्र विकल्पेन स्वप्ने जाग्रति वा शब्दतज्ज्ञानाऽनुभवो भवति तत्स्वरूपयोग्यतायाः सर्वत्र स्वाप्निकविकल्पे सत्त्वान्न दोषः । भवन्मते तु नैवं स्वरूपयोग्यतानिवेशः,—शब्दतज्ज्ञानजन्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वेति—निवेशः सम्भवति, जाग्रत्यपि शब्द-तज्ज्ञानपूर्वमेव विकल्पस्य सर्वानुभवसिद्धत्वादिति ॥ विकल्पः क्वचिदभेदे भेदमारोपयति, क्वचिद्भिन्नानामभेदमारोपयति, अतस्तत्र भेदस्याऽभेदस्य च पदार्थस्य विरहेण तदाभासमात्ररूपो विकल्पो न प्रमाणं न वा प्रमेति, न वा विपर्ययरूप इति । तत्राऽभेदे भेदारोपबोधकोदाहरणानि—'पुरुषस्य चैतन्यम्' अत्र पुरुष एव चैतन्यमित्यभेदेऽपि षष्ठ्या भेदाऽऽरोपः । 'सुखदुःखाभाववान्पुरुष' इत्यत्र योगमतेऽभावस्याऽधिकरणात्मकत्वेन पुरुष एव सुखाद्यभाव इत्यभेदेऽपि तयोर्भेदेन व्यपदेशः । एवम्—'बुद्धिश्चैतन्याभाववती'त्यत्राऽपि बुद्धिरेव चैतन्याभाव इत्यभेदेऽपि तयोर्भेदेन व्यपदेशः । एवम्—'घटो भ्रमती'त्यत्र क्रियाया घटाऽभिन्नत्वेऽपि भ्रमणक्रियाया भेदेन व्यपदेशो भ्रमणक्रियावान्घट इति । एवं 'तिष्ठति दण्ड' इत्यत्राऽविचलता दण्डाऽभिन्नपदार्थस्तथापि—अविचलतावान्दण्ड'—इति भेदेन व्यपदेशः । एवम्—'सत्त्वादित्रिगुणवती बुद्धि'रित्यत्राऽपि गुणानां बुद्ध्यभिन्नत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशः । तदेवं विशेष्यविशेषणभावविरहेऽपि तद्व्यपदेशस्तत्त्वेऽपि च तदभावव्यपदेशो विकल्पादेव भवति तेन व्यवहारोऽपि तथेति भावः । एवम्—आकाशपुष्प-शशशृंग-मरुमरीचिका-कूर्मरोम-वन्ध्यापुत्रादिप्रत्यया अपि विकल्पमध्ये प्रवेशनीयाः । विकल्पप्रत्ययास्तु वैशेषिकैराहार्यज्ञानविशेषा मिथ्याज्ञा-

नात्मका वा मन्यन्ते। अस्माकन्तु सविकल्पकनिर्विकल्पकरूपाभ्यां भिन्ना एव योगविभागार्थं निर्दिश्यन्त इति मतम् ॥ ९ ॥

निद्रायाः सुषुप्तिसमये पुरीतति वर्तमानेन मनसा—आत्मना सहाऽसंयोगात् ज्ञानाऽनुत्पादेन ज्ञाननिरोधकत्वं कल्पयन्ति नैयायिकाः। तदेतन्मतनिरासपूर्वकं निद्राया अपि वृत्तित्वस्य दृढीकरणाय निद्रां क्रमप्राप्तां लक्षयति—

## अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

तत्र निद्रा इति लक्ष्यम्। अभावप्रत्ययालम्बनत्वं लक्षणम्। वृत्तिरिति पदं तत्र वृत्तित्वबोधकं। अथवा वृत्तिरिति पदं प्रत्ययसत्त्वबोधकम्, तेन अभावप्रत्ययालम्बनत्वेसति प्रत्ययत्वं निद्रात्वमिति लक्षणं बोध्यम्। तत्राऽभावप्रत्ययालम्बनत्वमात्रोपादाने मुक्तावस्थाया अपि निद्रात्वाऽऽपत्तिः, अतः प्रत्ययपदोपादानम्, तथा च तत्र प्रत्ययस्य—बुद्धिवृत्तेर्ज्ञानस्या-सत्त्वान्नातिव्याप्तिः। प्रत्ययमात्रस्य लक्षणत्वे प्रमाणादावतिव्याप्तिरिति तद्वारणाय विशेष्यदलम्। अक्षरार्थस्तु—अभावो नाम जाग्रत्स्वप्नावस्थानियतवृत्तीनामभावः, तस्य प्रत्ययः—कारणीभूतं यद्बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमः, तदेव आलम्बनम्—विषयो यस्याः सा तथोक्ता या वृत्तिः सा निद्रा इति। तथा च जाग्रत्स्वप्नावस्थाव्याप्य-भावद्वृत्त्यभावकारणीभूत-बुद्धिसत्त्वाऽऽच्छादकतमोविषयकत्वे सति वृत्तित्वं निद्रात्व-मिति। अत्र वृत्तित्वपदानुपादाने तादृशतमोविषयकत्वम् बुद्धेरप्यस्त्यतो बुद्धि-जन्यायां ज्ञानात्मिकायां कस्यांश्चिदनित्यायां वृत्तौ तल्लक्षणगमनसम्पादनाय—वृत्ति-ग्रहणम्। प्रमाणादावतिव्याप्तिवारणार्थं सत्यन्तदलमिति। तदेवं निद्रासमये हि—बुद्धौ सत्त्वरजसी अभिभूय यदा समस्तकरणाऽऽवरकं तम आविर्भवति तदा बुद्धि-सत्त्वस्य विषयाकारपरिणामाऽसम्भवेन उत्पन्नतमोगुणमयीं बुद्धिमनुबुध्यमानश्चेतनः पुरुषः सुषुप्तो घोरावस्थ इत्युच्यते। तदानीं मलिनचित्तसत्त्वस्य तमोगुणाकारैव "स्वपिमी"त्याकारा वृत्तिर्भवति। स्वापश्च जाग्रत्स्वप्नवृत्त्यभाव इति। यदि निद्राया वृत्तित्वं नाङ्गीक्रियते, तदा सुप्तोत्थितस्य स्मरणं त्रिविधं न स्यात्। किन्तु भवत्यत्र त्रिविधं स्मरणम्, तद्यथा 'सत्त्वमात्राऽनुविद्धे तमोगुणमये स्वापे सति प्रबुद्धस्य पुरुषस्य भवति 'सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे चित्तम् प्रज्ञां मे निर्मलां स्वच्छाऽनुवर्तते' इत्यादिकं स्मरणम्। रजोमात्रानुविद्धे तमोगुणमये स्वापे सति प्रबुद्धस्य पुरुषस्य भवति दुःखमहमस्वाप्सम्, अकर्मण्यं मे चित्तमनवस्थित-मि'त्यादिस्मरणम्। अत्यन्ताऽभिभूतरजःसत्त्वगुणे तमःसमुद्रेके स्वापे सति प्रबु-द्धस्य भवति 'गाढमहमस्वाप्सम् मूढोऽहम् गुरूणि मे गात्राणि श्रान्तं मे चित्तं सालस्यं निर्व्यापारमिव तिष्ठति' इत्यादिस्मरणम्। तथा चैतादृशस्मरणैरेव हेतुभूतैः

स्वसमानाकारा तत्तत्प्रत्ययात्मिका बुद्धिवृत्तिः साध्यते स्वापावस्थायामिति । तदा निद्रावृत्त्यनङ्गीकारे—प्रबुद्धमात्रस्य द्रागेव तादृशाः स्मरणाकारा अपि न प्रादुर्भवेयुः । तस्माद् वृत्तिविशेषो निद्रा । अतएव "त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्" इत्यादिश्रुतयोऽपि सुषुप्तिस्थाने भोग्यादिव्यवहारोऽस्तीति प्राहुः । न चैवं सति 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्ये'दिति सौषुप्तश्रुत्या सह विरोध इति वाच्यम् । सुषुप्त्यवस्थाया अर्धसमग्रभेदेन द्वैविध्याद्विरोधपरिहार एव । अतएव 'मुग्धेऽर्धसम्पत्ति'रिति वेदान्तसूत्रमपि सङ्गच्छते । तथाऽर्धसुषुप्तौ सर्वे तमोमयनिद्रावृत्त्याकारा भवन्ति, अतस्तदानीं त्रिषु धामसु-इत्याद्युक्तश्रुतीनां निर्वाह इति । अथ समग्रसुषुप्तौ निद्रादिवृत्त्याकाराणामभावे 'न तु तद्द्वितीयमि'त्यादिश्रुतीनां निर्वाह इति ॥

केचिद्वेदान्तिब्रुवाः—'सुषुप्त्यवस्थायां तमः साक्षिभास्यमेव न तु वृत्तिमुत्पादयति 'इति वदन्ति । तन्न । तथा सति साक्षिणि—अपरिणामिनि पुरुषे संस्कारस्मृत्योरनभ्युपगमेन प्रबुद्धस्य स्मरणादेरनुपपत्तिः स्यादिति । केचित्तु 'अज्ञानाभिधानप्रकृतिरेव निद्रावृत्तिकारणम्, न तु चित्तमिति वदन्ति । तदपि न । यतस्तथा सति जाग्रत्स्वप्नादावपि प्रकृतित एव वृत्तीनामुद्भवसम्भवे चित्तानर्थक्याऽऽपत्तेरिति, तस्माज्जाग्रत्स्वप्नयोरिव सुषुप्त्यवस्थायामपि चित्तजन्या एव वृत्तयः स्वीकार्याः । तत्र प्रमाणम्—'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तय' इति—स्मृतिः । अतो बुद्धित्वेनैव वृत्तिकारणानुगमो लाघवञ्चेति । 'ननु सेयं निद्रावृत्तिः—एकाग्रा विषयदुःखशून्या अतो योगसहकारिणी स्यात्, कथं पुनरियं निरोद्धव्या ? इति चेन्न । तमोगुणव्याप्ततया समाधिप्रतिपक्षत्वेन प्रतिबन्धकत्वात् निरोद्धव्ये'ति । एवं मूर्छाऽवस्थायाः सम्पूर्णसुषुप्तावेवाऽन्तर्भावः, मूर्छायां हि केवला सत्त्वरजोल्लेखरहिता घोरात्मिका गाढावस्था भवति, अतो मूर्छितस्य प्रबोधे सति न भवति मूर्छावस्थाप्रत्यय इति । न वा सम्पूर्णसुषुप्तिरपि योगानुकूला भवितुमर्हति, सुषुप्त्यनन्तरं जागरणे वृत्तीनां प्रादुर्भावदर्शनात्, एकान्ताऽत्यन्ततो वृत्तेर्लोपाऽननुबन्धिन्याश्चित्तावस्थायाः सुषुप्त्यभिधानाया न योगानुकूलत्वमिति । एकान्ताऽत्यन्ततो वृत्तिलोपानुबन्धिचित्तावस्थाया मुख्यतया योगानुकूलत्वात् । सत्त्वमात्रसमुद्रेकसहितायाः एकाग्राया एव योगानुकूलत्वादिति निद्रा न प्रमापदं न वा प्रमाणपदं विपर्ययपदं विकल्पपदं स्मृतिपदं वाऽधिरोहति । तत्र सर्वथाऽऽजाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावप्रत्ययालम्बनाभावादिति ॥ १० ॥

क्रमप्राप्ता स्मृतिर्निरूपणीया, सा च—

## अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

स्मृतिरिति लक्ष्यनिर्देशः । अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोष इति लक्षणम् । तत्र

प्रत्ययपदं पूरणीयम् । अक्षरार्थस्तु—अनुभूताश्च ते विषयाः—विशेषणविशेष्यभावापन्नाः तत्र योऽसम्प्रमोषः—अस्तेयं—अनतिरिक्तविषयाकारः प्रत्यय इति । तथा च तत्तदनुभवविषयीभूततत्तद्विषयाऽतिरिक्तविषयाऽविषयकत्वे सति ज्ञानत्वं स्मृतित्वमिति लक्षणं फलितम् । सत्यन्तदलानुपादाने प्रमाणादौ सर्वत्राऽतिव्याप्तिः, तदुपादाने तु नाऽतिव्याप्तिः यतोहि—प्रमाणादयः सर्वे तत्तदनुभवाऽविषयीभूतान् अनधिगतान् विषयानधिगमयन्ति, अतस्तत्तदनुभवविषयीभूततत्तद्विषयाऽतिरिक्तविषयविषयकत्वेन तद्वारणमिति । घटाद्यतिव्याप्तिवारणाय निरुद्धावस्थे चेतस्यतिव्याप्तिवारणाय च ज्ञानपदोपादानमिति स्मृतिर्हि अनुभवसमानाकाराऽन्यूनाकारा वा भवति न त्वधिकाकारा अतो न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामतीति । ननु प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिः—तस्याः पूर्वानुभूतविषयमर्यादाऽतिक्रमणविरहत्वे सति ज्ञानत्वादिति चेन्न । तत्र लक्षणे संस्कारमात्रजन्यत्वस्यापि निवेशनीयत्वात् प्रत्यभिज्ञायास्तु—इन्द्रियसन्निकर्षजन्यतया नातिव्याप्तिरिति । न चैवं प्रत्यभिज्ञाया वृत्त्यन्तरत्वं स्यादिति वाच्यम्, इन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञानतया प्रत्यक्षे एवाऽन्तर्गतत्वादिति । केचित्तु प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतिरूपत्वमेव, पूर्वानुभूतविषयविषयकत्वे सति ज्ञानत्वात् संस्कारजन्यत्वाच्च, तत्रेन्द्रियसन्निकर्षस्य तु प्रयोजकत्वमात्रं कल्प्यते,—यथा केनचिद् 'घटमानये'त्युक्तेऽपि तादृशशाब्दबोधस्य प्रागेव विनाशे सति प्रहरानन्तरं स एव पुरुषः पुनरुक्तो 'घटमानये'ति तदा तस्य तादृशवाक्येन प्रयोजकेन—'घटानयन'स्मरणं भवति । तथा चाक्षुषस्थलेऽपि-पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य पुनर्दर्शने स्मरणमेव भवति, न तु प्रत्यभिज्ञानाम्न्यतिरिक्ता वृत्तिरिति । तथा च तस्या लक्ष्यत्वमेवेति । एवम्—अनुव्यवसायस्य स्मृतावन्तर्भावान्न वृत्तित्वान्तरत्वाऽऽपत्तिरिति । ज्ञानविषयकज्ञानस्य स्मृतिसमानरूपत्वात्स्मृतित्वमेवेतिभावः ।—तथा च अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोष इति लक्षणेन स्मृति—प्रत्यभिज्ञाऽनुव्यवसायेतित्रयाणामेव सङ्ग्रहो निवेदितो भवति । तत्रायं नियमः—प्रथमं घटादिप्रत्यक्षस्थले चक्षुरादिद्वारा वृत्तिर्भवति, सा वृत्तिः—घटत्वप्रकारकघटविशेष्यिका, विषयावपि घटत्वघटौ, तादृशवृत्त्या च भवत्यात्मनि घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकोऽनुभवः । स चायमनुभवो विशेष्यविशेषण भावापन्न—विषयतद्वृत्तिसमानाकारः सन् स्वसमानाकारं संस्कारं जनयति, संस्कारेण च स्वसमानाकारा स्मृतिरुत्पाद्यत इति । तत्र वृत्त्याकारपूर्वकोऽनुभवः, अनुभवाकारपूर्वकं स्मरणमिति ॥

सा च स्मृतिर्द्विविधा, कल्पितस्मर्तव्या, अकल्पितस्मर्तव्याचेति, तत्र स्वप्ने—येषां येषां विषयाणां स्मरणं भवति ते ते विषयाः पूर्वमननुभूता अतएव स्वप्नकाले कल्पिता इत्युच्यन्ते तत्कल्पितविषयिणी स्मृतिः कल्पितस्मर्तव्या इति । केचित्तु—कल्पितस्मर्तव्यां स्मृतिं विपर्ययेऽन्तर्भावयन्ति, यथा जाग्रदवस्थायां दृष्टस्य देशा-

न्तरसम्बन्धिनः पित्रादेः स्वप्ने ऽपरदेशकालादिसम्बन्धितया स्मरणं भवति, तत्र हि देशकालादि-तत्सम्बन्धादिकन्तु पूर्वाऽननुभूतमेव, अतो मिथ्याज्ञानतया विपर्यय एवेति वदन्ति । ननु स्वप्ने पूर्वदृष्टत्वाऽभावात् संस्कारमात्रजन्यत्वाभावाच्च स्मृतित्वं नोपपद्यत एवेति चेन्न । अंशतः पूर्वदृष्टस्यैव पदार्थस्य यत्किञ्चित्संस्कारद्वारा स्मरणं भवत्यतः स्मृतित्वमेवेति तात्पर्यात् । अकल्पितस्मर्तव्या—यथार्थस्मर्तव्या, इति । सेयं जागरणाऽवस्थानियता स्मृतिरिति, यथा 'शुक्लः शङ्ख' इत्यादिरिति । यन्तु-कल्पितस्मर्तव्या—इत्यस्य पूर्वं कल्पितस्य—अनुभूतविषयस्य समानाकारतया स्मर्तव्या—सा स्मृतिः स्वकारणसंस्कारायन्यूनाऽनतिरिक्तविषयिणी भवति, यथा 'रक्तो घट' इत्यनुभवजन्यसंस्कारोपपाद्या 'रक्तो घट' इति स्मृतिः ॥ अकल्पितस्मर्तव्या तु—न कल्पितः—पूर्णतया विशेषणविशेष्यभावानुगतः स्मर्तव्यो विषयो यस्याः सा—अकल्पितस्मर्तव्या इति, न्यूनस्मर्तव्या इत्यर्थः, यथा कस्यचित् 'असङ्ख्ययोद्धृसंकुलितसंग्रामसैन्यस्य प्रत्यक्षे सति कदाचित् तन्मध्यतः—कस्यचिद्योद्धुः स्मरणमात्रं न तु सम्पूर्णसैन्यस्येति । एवं स्वप्ने या स्मृतिर्भवति—अननुभूतदेशकालादिस्मर्तव्या सा तु स्मृत्याभास एव, वास्तविकत्वे तु तस्या विपर्ययेऽन्तर्भाव इति निर्णयामः । तदेतासां स्मृतीनां कारणानि प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयश्च भवन्ति, तैः सर्वैः संस्कारद्वारा स्मृतिजननानुभवादिति ॥११॥

एताः सर्वाः प्रमाणादिवृत्तयो बुद्धितत्त्वस्य परिणामा विषयानुरूपाकारा द्रव्यरूपाः सुखदुःखमोहात्मकाः सन्ति, सुखमात्रायुक्तत्वेन—उपादेयत्वमासां न शोभ्यम्, 'सुखानुशयी राग' इति रागलक्षणे सुखस्य रागोद्भावकतया सुखमात्राया अपि बन्धनप्रयोजकत्वात् दुःखस्य द्वेषोद्भावकतया मोहस्याऽभिनिवेशोद्भावकतया परिहेयत्वमस्त्येवेति । अतस्तादृशसुखदुःखमोहात्मिकानामासां पञ्चवृत्तीनां बन्धप्रयोजकत्वेन योगप्रतिबन्धकतया हेयत्वमेव । यावच्चित्तसंयोगस्तावत्तु—औपाधिकतयाऽऽत्मन्युपसंक्रान्ता भवन्त्येवेति कथं तस्य हेयत्वं सफलप्रयत्नं स्यात् ! इत्यतस्तासां निरोध एव साध्यस्तेन च विलये सति हेयाः स्युरिति । तासां निरोधे तु—अभ्यासो वैराग्यश्चेत्युभयं कारणं भवति । अतः—

## अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यासवैराग्येत्युभाभ्यामेव तासां चित्तवृत्तीनां निरोधः शक्यसम्पादनो न तु तदन्यतरेण, अन्यतरस्य निरोधाऽकारणत्वात् , किन्तु परमवैराग्यस्य तादृशवृत्तिप्रवाहाऽल्पीकरणत्वात् , विवेकाभ्यासस्य च वैदिकमार्गोद्भावकत्वात्, तथा च वैराग्याऽभ्यासाभ्यां वृत्तिप्रवाहतनुता—विवेकोद्भावकताद्वारा—वृत्तीनां विलयः क्रियत इति । यथा सरित् कदाचित्समुद्राऽभिमुखी वहति कदाचिच्च तद्वैपरीत्येन पृथिव्यभिमुखी

वहति, अन्यथा-समुद्राभिमुखगमनमात्रेण तु शुष्येतैव। एवं चित्तसरिदपि-मोक्षाऽभिमुखी वहति विषयाभिमुखी च वहति। तत्र विवेकज्ञानमार्गेण गम्यमाना सती मोक्षफलदायिनी, अविद्यामार्गेण गम्यमाना सती संसारदायिनी, तत्र वैराग्येण साधनेन विषयाऽभिमुखश्चित्तप्रवाहः खिलीक्रियते-तनूक्रियते—अत्यन्तैकाग्रं चित्तं भवतीत्यर्थः। विवेकदर्शनाभ्यासेन च मोक्षाभिमुखः प्रवाहो बलवान् क्रियते, तदा च चित्तप्रवाहः शीघ्रं निरुद्धावस्थायां कैवल्यसमुद्रे विलीनो भवति, तदाऽयं चित्तवृत्तिनिरोध इति सुस्थिरः सन् मुक्तिमभिमुखीकरोतीति। तथा च मुक्तिं प्रति चित्तवृत्तिनिरोधः प्रयोजकः, चित्तवृत्तिनिरोधं प्रति विवेकज्ञानम् अत्यन्तैकाग्रा चित्तावस्था चेत्युभयं प्रयोजकम्, तत्र चोभये तत्त्वाभ्यासो वैराग्यश्चेत्युभयं क्रमशः प्रयोजकमिति तथाचोक्तं गीतायां 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते इति। अत्राऽयं वैराग्यश्चतुर्विध एव ग्राह्यः, तत्र त्रिविधवैराग्यस्यैवाऽत्यन्तैकाग्रावस्थायां प्रयोजकत्वम्, वशीकारसंज्ञकस्य चतुर्थस्य तु चित्तबीजानां दग्धभावसम्पादकत्वमेवेति बोध्यम् ॥१२॥

तत्राऽभ्यासस्य स्वरूपप्रयोजनाभ्यां लक्षणमाह—

## तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तत्र—अभ्यासवैराग्ययोर्मध्ये, स्थितिर्नाम—रजस्तमोवृत्तिरहितस्य चित्तसत्त्वस्य सत्त्वगुणमात्रवृत्तियुक्तस्य सम्प्रज्ञातसमाधावत्यन्तैकाग्रावस्था, सा तादृश्यवस्था शान्ता इति व्यापदे। यथा—'श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाऽशुभम्। न हृष्यति न ग्लायति स शान्त इति कथ्यते। इति तादृशशान्तिभागैकाग्रतावस्थाया दृढीकरणाय पुनः पुनरैकाग्रतावस्थानुकूलः प्रयत्न एव अभ्यासपदवाच्यः। अत्र स्थिताविति-निमित्तसप्तमी बोध्या, चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवत्। एवं तत्त्वविषयकश्चाऽप्यभ्यासस्तादृशाभ्याससहकृतोऽपेक्षितः, अन्यथा तत्त्वज्ञानाऽनुपपत्तेः। 'तत्त्वविषयकोऽभ्यासः-पुनः पुनर्जडचेतनतत्त्वानां विवेकेन निरीक्षणम्। तथा च सति विवेकख्यातिरपि प्रादुर्भवति, तेनाऽज्ञानस्य विलय इति। तथा च एकाग्रतावस्थाया दृढीकरणप्रयत्नः, जडचेतनतत्त्वानां विवेकेन पुनः पुनरालोचनञ्चेत्युभयविधाभ्यासोऽपेक्षितश्चित्तवृत्तिनिरोधे इति ॥ १३ ॥

स चाऽभ्यासो यदि चलभूमिकस्तदा तस्य प्रमादालस्यादिना विध्वंसकेन प्रतिरोधे कृते सति समूलमेव प्रतिरुद्धः सन् अनारब्ध इव भवेत्, तेन योगमार्गाद् भ्रष्टता। नहि विरलविरलतया कादाचित्केऽनुष्ठीयमानेऽभ्यासे कल्पसहस्रैरपि ततो योगसिद्धिः, अतोऽविचलभूमिकोऽभ्यासः कार्यः, भवति हि—

## स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ।१४।

सः—अभ्यासो, हि दीर्घकालेन-आ-समन्तात्सेवितः,—नैरन्तर्येण—आसेवितः, सत्कारेण—आसेवितः सन् 'दृढभूमिः—अविचलभूमिको भवतीति । तत्राऽल्पकालेन तत्त्वज्ञानं मोक्षश्चित्तमलनाशेत्यादीनि न साध्यन्ते परमेश्वरानुग्रहं विना केवलस्व-प्रयत्नेनेति सर्वानुभवसिद्धम् । तत्र बीजन्तु—अनादिकालीना वासनाः संस्काराश्चाऽसंख्येया बुद्धिस्थाः पुरुषप्रतिबिम्बे समुपसंक्रान्ता विद्यन्ते तेषां संस्काराणां भोगेन क्षयो भवतीति सर्वसिद्धान्तसिद्धम् । तथा च यत्कालमारभ्याऽभ्यासोऽनुष्ठितप्रार-म्भो यथा यथा तथा तथा क्रमशस्तान् संस्कारान् क्षिणोति, एवमनेकेषां संस्का-राणां क्षयार्थमेव दीर्घकालापेक्षा विद्यते, यदा च यावतां संस्काराणां क्षयस्तावदे-वाऽभ्यासानुष्ठानम् । तावदेव दृढीकरणम् । तदनन्तरन्तु दृढीभूताऽभ्यासरक्षणप्रयास एव विधेयो भवतीति, तथा च समग्रसंस्कारनाशे हि दीर्घकालस्याऽपेक्षितत्वेन स एव दीर्घकालोऽभ्यासार्थमनुगुणो वर्ततेऽतो दीर्घकालेनाऽऽसमन्तात् सेवित इति सुष्ठूक्तं भवति । दीर्घकालेत्यभिधानन्तु अत्र शीघ्रं दृढीकरणाय यतमानेऽपि तदलाभे सत्यनुत्साहपराभवजन्यशैथिल्यदूरीकरणायेति । येन दीर्घकालमेवाऽभ्य-सेदिति । एवं-नैरन्तर्याऽऽसेवित इति—नहि कादाचित्कतयाऽनुष्ठितैः खण्डाऽ-भ्यासैः कल्पसहस्रैरपि योगसिद्धिरित्याशा, यथा लोहं वह्निना—जलेन च क्रमश-स्तप्यमानं पुनःसिच्यमानं पुनस्तप्यमानं पुनः सिच्यमानमित्येवं क्रमशः संस्क्रिय-माणं सदपि न भस्मतां दीर्घकालेऽपि याति । तथा चित्तमभ्यासेन स्थिरतां नीय-मानं पुनरभ्यासत्यागे क्लेशादिभिरस्थिरतां नीयमानं पुनरभ्यासेन स्थिरतां पुनरन-भ्यासेऽस्थिरतां याति । इत्यत—एवमेव कल्पसहस्रैरपि निरुद्धावस्थं न स्यादेव । अत एव समप्रसुप्तौ वृत्तिविलयेऽपि पुनरनभ्यासाज्जाग्रति वृत्तिप्रादुर्भाव इति, एवमनिशं संसारचक्रमेव प्रवर्तेत, न कश्चिदपि फललाभः । अतो नैरन्तर्येणाऽऽस-मन्तात्सेवितोऽभ्यासो विधेयः । नैरन्तर्यं—सर्वदा मध्यविच्छेदराहित्यम्, एवम्—सत्का-राऽऽसेवित इति । सत्कारो नाम श्रद्धा—आदरः—फलांशविषयकनिश्चयात्मिकाऽऽस्था विश्वास इति । नहि तादृशसंस्कारं विनाऽनुष्ठीयमानस्य कस्यापि कार्यस्य यथाव-त्फललाभो भवति, अतः फललाभे श्रद्धा विश्वास एव परं कारणं बोध्यम् । तदु-क्तम्—'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः' गीता अ० ३ श्लो० ३१ । 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणा-ऽधिगच्छति' ( अ०, ४, श्लो० ३९ ) 'अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' इत्यादिना । ब्रह्मचर्यादिकमपि तत्राऽपेक्ष्यते, अन्यथाऽवीर्यस्योत्साह एव न स्या-दिति । तथाच तादृशो दृढीभूतोऽभ्यासो न व्युत्थानसंस्कारैरभिभवस्थितिविषयो

भवति । एवंभूतदृढाभ्यासं विधायाऽपि यदि तत्र उपरमेत तदा कालान्तरेऽप्यभिभूयेत, अतो नोपरन्तव्यमिति ॥ १४ ॥

अभ्याससहकारिवैराग्यत्रयलक्षणं दर्शयन् चतुर्थवैराग्यस्वरूपं दर्शयति—

## दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।

तत्र—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्येति पदं लक्षणबोधकं वैराग्याधिकरणबोधकञ्च । तत्र दृष्टानुश्रविकविषयाणां प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा यथाकथञ्चिदपि यत्किञ्चित्सम्बन्धयोग्यता वर्तते तावन्न वशीकारसंज्ञकवैराग्यो भवति । किन्तु त्रिविधवैराग्य एव । यदा च दृष्टानुश्रविकविषयेषु तृष्णाऽभाववान् भवति पुरुषस्तदा तस्य चतुर्थवैराग्ययोग्यता भवति । वशीकारसंज्ञा इति स्वरूपमात्राऽभिधानम्, तस्य लक्षणन्तूत्तरसूत्रेण वक्ष्यते 'गुणवैतृष्ण्यमिति' । वैराग्यो नाम रागाऽभावः । स च द्विविधः, अपरवैराग्य–परवैराग्यभेदात् । तत्र अपरवैराग्यस्त्रिविधः,—यतमानसंज्ञको व्यतिरेकसंज्ञक एकेन्द्रियसंज्ञकश्चेति । परवैराग्यस्त्वेकविधः,—वशीकारसंज्ञक इति । तत्र—यतमानसंज्ञको यथा 'कामक्रोधादिकषाया रागपदवाच्याश्चित्तवर्तिनो यथास्वं विषयेष्विन्द्रियाणि प्रेरयन्ति तन्मा प्रावर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति रागादिपरिपाचनाय प्रारम्भितप्रयत्नो यतमानसंज्ञकवैराग्यः । व्यतिरेकसंज्ञको यथा परिपाचने चाऽनुष्ठीयमाने सति केचित्तु चित्तकषायाः पक्वाः—दग्धाः, केचिच्च पक्ष्यन्ते—इत्येवं पक्वेभ्योऽपक्वानां व्यतिरेकेणाऽवलोकनमनुसन्धायाऽपक्वानां परिपाचनायाऽनुष्ठितप्रयत्नो व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य इति । एकेन्द्रियसंज्ञको यथा—सर्वेषु चित्तकषायेषु पक्वेषु प्रेरकाऽसामर्थ्येनेन्द्रियाणां प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि पक्वास्ते मनस्येव स्वस्वरूपाऽवस्थानमात्रेण तिरोभावतया सूक्ष्मरूपेण संस्थिताः सन्तो मनस्येव विषयौत्सुक्यसम्पादका भवन्ति येन मनस्येवाऽङ्कुररूपो विषयाऽवभासो भवति, तस्यापि विलयाय कृतप्रयत्नः एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्यो बोध्य इति । वशीकारसंज्ञको यथा—यदा मनोऽङ्कुरविलये सति मनसो वशीकरणेन लौकिकानुश्रविक—दिव्यभोगविलासविभूत्यादिविषयेषु समुपस्थितेषु सत्स्वपि मनसा तत्रौत्सुक्यमपि न स्यात् तदा विषयाणां सूक्ष्मरूपस्याप्यनभिज्ञो मनसः सङ्कल्पाऽङ्कुरस्याऽनभिज्ञः शान्तस्वरूपः पुरुषो वशीकारसंज्ञकवैराग्यवान्–भवति । पूर्वोक्तवैराग्यत्रये तु लौकिकाऽलौकिकविषयेषु तृष्णाया यथाकथञ्चित् अभावः । चतुर्थे वैराग्ये तु—लौकिकाऽलौकिकविषयतृष्णात्यन्ताभावे सति सुखदुःखमोहसंज्ञकेषु बुद्ध्यात्मकत्रिगुणेष्वपि तृष्णाया अभावः, बुद्धावपि घृणादृष्टिरिति, अतश्चतुर्थः परमो वैराग्य इति । अथ वैराग्यं रागाऽभावः, स तु न योगसाधनं रागाभावस्य रागादिनिमित्तकाऽहचितोऽपि सम्भवात् तेन च योगाऽलाभादिति । न च दोषदर्शनजन्य एव रागाऽभावो—वैराग्यम्–

योगसाधनमिति । यतः—दोषदर्शनजन्यवैराग्याऽनन्तरमपि विषयाणां सान्निध्येन चित्तक्षोभतः सौभरिमहर्षेर्योगाऽसिद्धेः । अतो दृष्टानुश्रविकेषु विषयेषु तृष्णात्यन्ताभावरूपस्य चतुर्थवैराग्यस्य योगं प्रति साक्षात्कारणत्वमिति तात्पर्यम् ।

सूत्रव्याख्यानन्तु—'दृष्टाः—प्रत्यक्षीभूताः स्वयं प्रत्यक्षतया प्राप्ता ये स्त्र्यन्नपानाऽऽभूषणस्रग्वस्त्रैश्वर्यादयो लौकिका विषयास्तत्र वितृष्णस्येत्यन्वयः । एवम्—'आनुश्रविकाः—अनु गुरुपाठाच्छ्रूयते न तु केनाऽपि क्रियते—इत्यनुश्रवो वेदः । तत्र भवास्तत्प्रतिपादिता इति ते—आनुश्रविकाः—स्वर्गादिब्रह्मलोकाः अष्टावरणस्थप्रकृतिलयाः तदुपर्यवस्थितविराजविष्णुरुद्रादीश्वराणां लोकाः,—तत्र सर्वत्र वितृष्णस्येत्यन्वयः । तादृशवितृष्णस्य पुरुषस्य परमो वैराग्य उद्भवतीति । अथ वैदेह्यं विदेहमुक्तिः,—सा च स्थूलाऽवनद्धा, सूक्ष्मावनद्धा चेति । तत्र प्रथमा तु स्थूलशरीरसत्त्वे एव पूर्ववैराग्यत्रयेण निरुद्धावस्थायां भवति, यथा जनकनृपतेर्विदेहा मुक्तिः शरीरसत्त्वे एवाऽऽसीदिति । एवं स्थूलशरीरविनाशेऽपि सूक्ष्मशरीरेणैव ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिनां येषां भोगसम्पत्तिस्तेऽपि विदेहा इत्युच्यन्ते ।

यद्यपि केवलसूक्ष्मशरीरेण स्थूलशरीरं विना भोगाऽसम्भव इति सांख्यसिद्धान्तः । तथापि योगजधर्मबलात् स्थूलं विहायाऽन्यत्र गतस्य सूक्ष्मशरीरसहितस्य योगिनो देशान्तरेऽपि विविधभोगभोक्तृत्वसम्भवात् भवत्येवंविधं वैदेह्यमिति । तादृशा विदेहाः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाऽल्पमैश्वर्यं ब्रह्माण्डान्तर्गतमनतिदिव्यं विषयं भोग्यतया स्वीकुर्वन्तीति । ये तु प्रकृतिलयास्ते तु ब्रह्माण्डाद्बहिर्गमनेन विदेहान्प्रति स्वीश्वररूपा अत एव स्वसंकल्पमात्रेण तत्रैवाऽष्टावरणगतं निर्मलं कारणत्वनिमित्तं विषयं भोग्यतया गृह्णन्तीति ते—ईश्वरकोटय उच्यन्ते, ते प्रकृतिलया यथा-ये हि ब्रह्माण्डाद्बहिरष्टावरणेषु प्रकृतिकार्यात्मकेषु लीनाः-लिङ्गदेहेन सह गतास्ते प्रकृतिलया इति । तत्र ये प्रकृतिमेवाऽऽत्मानमभिमत्य प्रकृत्युपासकास्ते—एकलक्षमन्वन्तरकालपर्यन्तं प्रकृतौ मायायां लयमाप्नुवन्तीति । एवं बुद्धिमात्मानमभिमत्य बुद्ध्युपासकानां दशसहस्रमन्वन्तरसमयाऽवधिको बुद्धौ लयो भवतीति । एवम्—अहंकारमात्मानमभिमत्याहंकारोपासकानां सहस्रमन्वन्तरकालावधिकोऽहंकारतत्त्वे लयो भवतीति । एवं——तन्मात्रात्मकसूक्ष्मभूतानामात्मत्वोपासकानां भवति तन्मात्रेष्वेव शतमन्वन्तरकालाऽवधिको लय इति । एवं—स्थूलभूतानि प्रत्येकं तत्समूहं वाऽऽत्मानमभिमत्य तदुपासकानां भवति तथैव शतमन्वतरकालावधिको स्थूलभूतेषु लय इति । एवम्—इन्द्रियाणि प्रत्येकं तत्समूहं वाऽऽत्मानमभिमत्य तदुपासकानां भवति दशमन्वन्तरकालावधिक इन्द्रियेषु लय इति । तदयं संक्षेपो—वायुपुराणे—"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥१॥ बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्रं

हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥२॥ पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसङ्ख्या न विद्यते । इति । तादृशान्प्रकृतिलयानप्यनपेक्षमाणस्य पूर्वोक्तद्विविधवैदेह्यमप्यनपेक्षमाणस्य गुणवैतृष्ण्यरूपः परमो वैराग्यो भवतीति । एवं तादृशप्रकृतिलयतोऽपि श्रेष्ठान् ईश्वरपदवाच्यान् विराजलोकादिस्थानान्यप्यनपेक्षमाणस्य तत्र तत्र वितृष्णस्य परमो वैराग्यो भवतीति ॥ १५ ॥

तस्य वशीकारसंज्ञकपरमवैराग्यस्य लक्षणं दर्शयति—

## ॥ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

सुखदुःखमोहात्मकत्रिगुणात्मकबुद्धौ तृष्णाऽभावः, तत्परं वैराग्यं भवति, यतो गुणानां स्वफलाऽनारम्भे सति बुद्धिं प्रसवरहितां सम्यगवलोकयन् स्वच्छः स्वात्मस्वरूपाऽवस्थितिरिति पुरुषः, तस्येदं वैराग्यं तत्त्वज्ञानजन्यविवेकख्यातित एव भवति, विवेकख्यात्यनन्तरमेव भवतीति । तदेतस्मिन्वैराग्ये सति बुद्धावलंभावः, बुद्धिसंयोगे हेयभावः, बुद्धावनात्मदृष्ट्याऽखिलकार्यकारणेपूपेक्षा च भवत्यात्मतृप्तस्य पुरुषस्य तदा । तदा स्वात्मदर्शनमात्राऽनुरक्तस्य तस्य पुरुषस्य बुद्धिरपि निवृत्तप्रसवा सती तिष्ठतीति । बुद्धेर्हि भोगाऽपवर्गौ प्रसोतव्यौ, तौ च प्रसूतावतो नेदानीं किञ्चिदपि प्रसोतव्यमवशिष्यते तस्याः, इत्यत एव निवृत्तप्रसवा, अतस्त्रिगुणविपरिणामरहिता भवति । तादृशबुद्धौ विरक्तः पुरुषो विवेकख्यात्यात्मकज्ञानप्रसादेनैवाऽवलोकयति यत्—'लब्धं योगपदम्, आसादिता परममुक्तयभिमुखता,—निवृत्ता वन्ध्येव बुद्धिः,—प्राप्तं जीवन्कैवल्यम्, इत्येवमादिलाभानुविद्धमात्मस्वरूपमनुभवति च । तदाऽऽनन्दमात्रा स्वाऽऽत्मीया एवाऽनुवर्तते, न तु प्रकृतिधर्माभिव्यक्ता, तदानीमसंभवात् । ईदृशीं स्थितिं प्राप्तस्य स्वेच्छया द्रागेव परमकैवल्यवाहिता भवति, न तत्र कालप्रतिबन्धः, न वा प्रारब्धसंस्कारप्रतिबन्धः, तस्य तस्य स्वेच्छया द्रागेव विलयीकरणसामर्थ्यवत्त्वाद्योगिनाम् । किन्तु—स्वेच्छाभाव एव प्रतिबन्धक इति । सत्यां त्विच्छायां प्रकृतितो वियुक्तः केवलपुरुषः सच्चिदानन्दरूपः परे ब्रह्मलोके परमात्मशरण्यको भवतीति तत्फलम् ॥ १६ ॥

तदेवमभ्यासवैराग्याभ्यां निरुद्धचित्तवृत्तेः पुरुषस्य प्राप्तो योगो व्यवह्रियतेऽङ्गचतुष्टयात्—

## वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ।१७।

सम्प्रज्ञातयोगस्य चत्वार्यङ्गानि वितर्कविचारानन्दाऽस्मिताख्यानि । तथा च वितर्कादीनां चतुर्णामन्यतमस्य यत्र विद्यमानता तत्र तदङ्गी सम्प्रज्ञातः, साक्षात्कारविशेषरूपैर्वितर्कादिभिरेव ज्ञापकैः अनुगमात्=स्वव्यापकस्याऽङ्गिनो निश्चयात्

सम्प्रज्ञात इति ॥ तत्र सवितर्कः— विशेषेण तर्कणम्—अवधारणं स्थूलस्येति वितर्कः, तेन सहकृतो निरोधः सवितर्क इति । सवितर्कनिर्वितर्कौ चास्याऽवान्तरभेदौ वक्ष्येते । तथा च स्थूलालम्बने चित्तस्यैकाग्रतासम्पादिका वृत्तिमच्चित्तावस्था, इति यावत् । यथाहि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति ततः सूक्ष्ममिति, एवमेव प्राथमिको योगी स्थूलमेव स्वप्रियं पाञ्चभौतिकं वस्तु परमेश्वरार्चादिकं साक्षात्करोति तत्र तेनैकाग्रता भवति सोऽयं सवितर्क इति ॥ एवं—सविचारः विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तमिति विचारः, तेन सहकृतो निरोधः सविचार इति । सविचारनिर्विचारावस्यैवाऽवान्तरभेदौ वक्ष्येते । तथा च स्थूलं विहाय सूक्ष्माऽऽलम्बने चित्तस्यैकाग्रतासम्पादिका वृत्तिमच्चित्तावस्था इति यावत् । यथा सूक्ष्मकारणभूत—प्रकृतिमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेन्द्रियादीन् सूक्ष्मपदार्थान् लक्ष्यीकृत्य तत्र चित्तैकाग्रता भवतीति ॥ एवं सानन्दः-सूक्ष्मपदार्थानपि विहाय—इन्द्रियाणां सात्त्विकतया तत्कारणभूतोऽहंकारोऽपि सत्त्वप्रधान आनन्दपूर्ण इति—आनन्द एव लक्ष्ये चित्तैकाग्रता सानन्द इति । साऽनन्दस्याऽवान्तरभेदो नास्ति ॥ एवं सास्मितः—तादृशानन्दमपि विहाय कारणभूता बुद्धिरात्मना सहैकात्मा इव तिष्ठति तत्र तयोः संयोग एवाऽभेदाऽवभासकः, तादृशैकात्मकताऽभिधानायां संयोगात्मिकायां सूक्ष्मतमायां लक्ष्यीभूतायां यच्चित्तस्यैकाग्रता सः सास्मितसम्प्रज्ञात इति । अस्याऽवान्तरभेदो नास्तीति । वृत्तिभिः स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमविषयाः सम्यक् लक्ष्यतया प्रज्ञायते यत्र योगे सः सम्प्रज्ञात इति निर्वचनम् । तत्र प्रथमः सवितर्कः सुसिद्धः सन्नेवोत्तराणां त्रयाणां जनकः । सविचारस्तु सुसिद्धः सन्—उत्तरयोर्द्वयोर्जनकः । सानन्दः सुसिद्धः सन् तदुत्तरस्यैकस्य जनकः । पूर्वत्रयविशिष्टचतुर्थः सास्मितः—परवैराग्यद्वारा—तदुत्तरस्याऽसम्प्रज्ञातस्य साधकः । न तु साक्षात्साधको वृत्त्यविरोधित्वादिति बोध्यम् ॥ १७ ॥

इत्येवमेतेषां चतुर्णामपि स्वायत्तीकृतत्वे सति—

## विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्वासां वृत्तीनां विरामस्य—अत्यन्तविलयस्य, प्रत्ययः—कारणं परतरं वैराग्यं गुणवैतृष्ण्याख्यम्, तदभ्यासः—तत्प्रशीलनम्, तत्पूर्वः—तद्वारकः, अन्योऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति । स च संस्कारशेष इति कथ्यते, तदानीं वृत्तीनां लयेऽपि प्रारब्धसंस्कारलेशसत्त्वात् । स्वेच्छया संस्काराणां दग्धबीजमात्रे तु परममुक्तिरिति । सालम्बनस्य सम्प्रज्ञातस्य सिद्ध्यनन्तरमपि तस्य वृत्त्यविरोधित्वेन वृत्तिविरोधिनमसंप्रज्ञातं प्रति साक्षाज्जनकत्वं न भवति । किन्तु वृत्तीनां निरोधाय तत्र परं वैराग्यमपेक्षितं भवति तेन च वैराग्येण वृत्तीनां बीजभावे दग्धे सति असम्प्रज्ञातो

योगः सुस्थः। न सम्प्रज्ञायते ध्येयोऽर्थो यत्र सः असम्प्रज्ञातः। अतएव निर्बीजो निरालम्बन इति च ख्यायते। तदेतस्मिन्नसंप्रज्ञाते पुरुषश्चेतनो निर्भोगः प्रकृतिं प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः सन् पश्यति। बुद्धिश्च फलरहिता निःपरिकरा अभावमात्रेव केवला स्वरूपमात्रेण तिष्ठति, तदा तत्संयोगोऽपि विलुप्त इव—असन्निव भवति, अतो बुद्धिरपि विलयाऽभिमुखा निरुत्साहा निराधारेव सती मूर्छितेव सती विलयोन्मुखतामभियाति, पुरुषश्च मुक्तोऽहं शुद्धो बुद्धः सच्चिदानन्दरूप इति स्वाऽऽनन्दमात्र इति प्रसन्नो भवति। इमानि सर्वाणि परममुक्तेश्चिह्नानीति बोध्यम् ॥१८॥

एवं प्रदर्शितोऽयमसम्प्रज्ञातयोगो द्विविधः—उपायकारणको भवकारणकश्चेति। तत्रोपायकारणकस्त्वनन्तरं वक्ष्यते, द्वितीयस्तु—

## भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहाः—शरीरनैरपेक्ष्येण बुद्धिवृत्तिमन्त आत्मानो देवादयो पुण्यविशेषभाजः, तेषां साधनानुष्ठानं विनैवाऽसम्प्रज्ञातयोगो भवप्रत्ययो—'भवः संसारः—जन्म' इति यावत् तन्निमित्तको भवति। ते तु योगिनः सिद्धयोगा एव, अतो यदा संसारे एककलेवरात्कलेवरान्तरं गृह्णन्ति तदाऽपि जन्मसहकृतएव योगः सिद्धो न तु तत्र साधनानुष्ठानाऽपेक्षा—इति। ते हि संस्कारशेषेण निरोधाऽवस्थचित्तेन कैवल्यपदं प्राप्नुवन्त इव वैराग्य—प्रारब्धकर्ममात्रनियन्त्रिताः प्रारब्धकर्मविपाकमतिक्रामन्ति, प्रारब्धकर्माऽभावे तु यावदिच्छा तावत्स्थूलशरीरे वर्षसहस्रादिकालपर्यन्तं विहरन्तीति, ते जन्मत एव असम्प्रज्ञातयोगिनः स्वेच्छाऽधीना अत एव लोकेषु जनैः ईश्वरा इत्यपि कथ्यन्ते ॥

प्रकृतिलयाः—प्रकृत्यादिजडतत्त्वान्यात्मानमभिमत्य तदुपासनया ब्रह्माण्डं भित्त्वा लिङ्गशरीरेण सह प्रकृत्याद्यष्टावरणेषु जडरूपेषु लीना आत्मानः। तेऽपि तत्तत्संस्कारशेषेण चित्तेन कैवल्यपदमनुभवन्त इव वर्तन्ते संस्काराऽभावे तु स्वेच्छामात्राऽधीनचित्तेन कैवल्यपदमनुभवन्त इव वर्तन्ते। तेषां कालसंख्या प्रकृतिलये वायुपुराणे 'दशमन्वन्तराणीह'त्यादिना पूर्वोक्ता बोध्या ॥ त एते आत्मबुद्ध्या स्वेनोपास्यमानेषु तत्तत्त्वेषु लीना अपि यथा मृद्भावमुपगतमपि मण्डूककलेवरं वर्षातिपाते पुनर्मेघसलिलावसेकात् मण्डूकदेहभावमनुभवति तथा प्राप्ताऽवधिकालास्ते तत्तत्त्वतो वियुज्य पुनरपि संसारे विशन्ति, संसारप्रविष्टा एव ते जन्मतो योगिनो भवन्ति अतस्तेषामपि—असम्प्रज्ञातसमाधिर्भवप्रत्ययः, जन्म एव कारणं यस्य असम्प्रज्ञातयोगस्येति, तथा च तेऽपि जन्मत एव योगिनः स्वेच्छाचाराः। अतो लोकेषु जनैः ईश्वरा इत्युच्यन्ते ॥ एवमष्टावरणाद्बहिरवस्थिता विराजहिरण्याद्यीश्वरा हिरण्यमयकोशान्तर्गतास्तेऽपि सर्वदाऽसम्प्रज्ञातयोगिनः सन्ति, यदि ते ब्रह्माण्डं

प्रविश्याऽत्र जन्म गृह्णन्ति तदा तेऽपि भवप्रत्ययाऽसम्प्रज्ञातयोगिन इति ॥ १९ ॥

यो ह्युपायकारणकोऽसम्प्रज्ञातयोगः स तु—

## श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

इतरेषाम्—विदेहप्रकृतिलयेभ्यःऽतिरिक्तानां देवानां मनुष्यादीनां च न जन्ममात्रत एव—असम्प्रज्ञातयोगलाभः, किन्तु श्रद्धादिप्रज्ञान्तोपायानुष्ठानेनैव भवति। तत्र श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः—प्रीतिः—आदरः—फलांशविषयकनिश्चयात्मिका आस्था-'योगो मे भवत्वेवे'त्याकारकाऽभिलाषोत्कटता इतियावत्। सा च समर्था मातेव योगिनं प्रतिबन्धसहस्राणि विधूय योगं पुष्णाति, तादृशश्रद्धाया दृढभावे सति श्रद्दधानस्य परं योगमभिलषमाणस्य वीर्यमुपजायते, 'वीर्यं नाम—योगप्रतिबन्धकाऽविद्याक्लेशादिविध्वंसकमथ च योगाभिमुखतासम्पादकं सामर्थ्यम्, विवेकज्ञानोद्भावकप्रयत्नो धारणात्मक इतियावत्। तादृशसामर्थ्ये दृढीभूते सति विवेकज्ञानं प्रद्योतते, तेनाविद्यादिप्रध्वंसो जायते। अत एव स्वात्मविषयकाऽविरलस्मृतिर्ध्यानं वर्तते। स्वात्मध्यानेन हि यावच्चित्तवृत्तीनां निरोधावस्थाऽऽभिमुख्यं विलयभावाभिमुख्यं भवति। अत एव ध्यानेन अविक्षिप्तं चित्तं निरुद्धावस्थमेकाग्रमिति ख्याप्यते तदा यमादिध्यानान्तानामुपायानां दृढीभावे सति समाधिरात्मतत्त्वविषयकः समुद्भवति, इत्येवमखिलयोगाङ्गसम्पन्नस्य सम्प्रज्ञातयोगीतिसंज्ञा। सम्प्रज्ञातयोगेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्भवति, साचेयं विवेकप्रज्ञा इत्यभिधीयते। विवेकख्यात्या च प्रकृतिं बन्धनात्मिकामवलोक्य तत्र परमवैराग्यात् गुणवैतृष्ण्यात्मकवशीकारसंज्ञकात् असम्प्रज्ञातसमाधिराविर्भवति, सहि सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वः परमकैवल्यहेतुश्चेति द्रागेव यदैवेच्छति तदा परमकैवल्यं पुरुषाय समर्पयतीति ॥ २० ॥

नन्वेवं श्रद्धादि-योगोपायानामनुष्ठानेन सर्वेषामविशेषेण समाधि-कैवल्ये भवितव्ये, तथा तु न दृश्यते, किन्तु कस्यचित्सिद्धिः, कस्यचिदसिद्धिः, कस्यचिच्चिरेण सिद्धिः, कस्यचिच्चिरतरेण, कस्यचिद् द्रागेवेति, कथमेवमेतादृशान्यूनाऽधिककालेन तत्सम्पत्तिरिति चेन्न। योगिनः—केचिन्मृदूपायाः, केचिन्मध्योपायाः, केचिदधिमात्रोपायाः भवन्ति। तत्र मृदूपाया अपि त्रिविधाः—मृदुसंवेगमृदूपायः, मध्यसंवेगमृदूपायः, तीव्रसंवेगमृदूपाय इति। एवं मध्योपाया अपि त्रिविधाः—मृदुसंवेगमध्योपायः, मध्यसंवेगमध्योपायः, तीव्रसंवेगमध्योपाय इति। एवमधिमात्रोपाया अपि त्रिधा भवन्ति—मृदुसंवेगाऽधिमात्रोपायः, मध्यसंवेगाधिमात्रोपायः, तीव्रसंवेगाऽधिमात्रोपायः इति। तन्मध्ये—अधिमात्रोपायानाम्—

## तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

संवेगो नाम—संस्कारः। तीव्रसंस्कारवतामधिमात्रोपायानां योगिनाम्, आसन्नः-

तदितराष्टविधयोग्यपेक्षया शीघ्रमेव,— समाधिलाभः—समाधिफलं मोक्षश्च भवतीति। तदेतेषां योगिनां ये संस्कारा उपायाश्च तत्रोभयत्राऽपि प्रबलता दर्शिता। तीव्रसंवेगाऽधिमात्रोपायाऽपेक्षया मध्यसंवेगाऽधिमात्रोपायानां योगिनां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति, तेषां मध्यसंस्काराणां किञ्चिन्मात्रं निर्बलत्वादिति। एवं तदपेक्षया मृदुसंवेगाऽधिमात्रोपायानां योगिनां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति तेषां मृदुसंस्काराणां किञ्चिन्मात्रं न्यूनबलत्वादिति। एवम्—अधिमात्रोपायानामुपायानुष्ठानसमानत्वेऽपि संस्कारभेदात्समाधिलाभभेद इति बोध्यम्। अथ मृदुसंवेगाऽधिमात्रोपाययोग्यपेक्षया तीव्रसंवेगमध्योपायानां योगिनां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति, एतेषामुपाये संस्कारे चोभयत्राऽपि निर्बलत्वात्। एवं तदपेक्षया मध्यसंवेगमध्योपायानां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति, एतेषां पूर्वापेक्षया संस्कारदौर्बल्यात्। एवं तदपेक्षया मृदुसंवेगमध्योपायानां योगिनां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति एतेषां पूर्वापेक्षयाऽधिकसंस्कारदौर्बल्यात्। तदत्र मध्योपायानां साम्येऽपि संस्काराणां न्यूनाऽधिकभावतया समाधिलाभभेद इति। अथ मृदुसंवेगमध्योपाययोग्यपेक्षया तीव्रसंवेगमृदूपायानां योगिनां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति, एतेषामुपाये संस्कारे चोभयत्राऽपि पूर्वाऽपेक्षया निर्बलत्वात् एवं तदपेक्षया मध्यसंवेगमृदूपायानां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति, एतेषां पूर्वाऽपेक्षया संस्कारदौर्बल्यात्। एवं तदपेक्षया मृदुसंवेगमृदूपायानां योगिनां समाधिलाभः शनैश्चिरकालेन भवति, एतेषां पूर्वाऽपेक्षया संस्कारदौर्बल्यात् इति। अत्र मृदूपायानां साम्येऽपि संस्काराणां न्यूनाऽधिकभावतया समाधिलाभभेद इति ॥२१॥

अथ मृदूपायमध्योपायाऽधिमात्रोपायेषु त्रिविधेषु योगिषु—

## मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

मृदुत्वं—कनिष्ठत्वम्। मध्यत्वम्—समानता। अधिमात्रत्वम्—अधिकता। एतेषां भावो यत्र यत्र तत्र तत्र, ततोऽपि—पूर्वपूर्वतोऽपि, विशेषः—समाधिलाभभेदो भवतीति। तद्यथा—तीव्रसंवेगमृदूपाययोग्यपेक्षया तीव्रसंवेगमध्योपाययोगिनां शीघ्रं समाधिलाभः। तदपेक्षया तीव्रसंवेगाऽधिमात्रोपाययोगिनां शीघ्रतरं समाधिलाभः। एवं मध्यसंवेगमृदूपाययोग्यपेक्षया मध्यसंवेगमध्योपायानां शीघ्रं समाधिलाभः। तदपेक्षया मध्यसंवेगाऽधिमात्रोपायानां शीघ्रतरं समाधिलाभः। एवम्—मृदुसंवेगमृदूपाययोग्यपेक्षया मृदुसंवेगमध्योपायानां शीघ्रं समाधिलाभः। तदपेक्षया च मृदुसंवेगाऽधिमात्रोपायानां शीघ्रतरं समाधिलाभ इति ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तनिखिलोपायाऽपेक्षयाऽपि भवति द्रागेव समाधिलाभः श्रेष्ठतमात्—

## ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

ईश्वरः—परमेश्वरः परंब्रह्म श्रीस्वामिनारायणपरमात्मा । तस्य प्रणिधानम्-नवधा भक्तिः, तस्मात्—शीघ्रमेव समाधिलाभस्तत्फलं परममुक्तिश्च भवतीति । भक्त्या-प्रसन्नो हि भगवान् परमेश्वरस्तम् भक्तमनुगृह्णाति 'यदस्याऽभिमतमस्तु' इति । तदा द्रागेव परमं कैवल्यं विन्दते योगी । परमेश्वरविषयकस्नेहाऽतिशयो भक्तिः, तथा च शाण्डिल्यसूत्रं 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'' इति । शिक्षापत्र्यामपि—''माहात्म्यज्ञानयुग्भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे'' यद्यपि भूरिस्नेहः स्त्रीपुत्रादिष्वपि संभवति तथापि न सा भक्तिः, बन्धनप्रयोजकत्वात् । अत्र तु परमेश्वरविषयकं यन्माहात्म्यज्ञानं महनीयताज्ञानं ''सर्वतः श्रेष्ठः परमेश्वरो न ततोऽधिकं तत्समं वा गुणैश्वर्यादिभिः किञ्चिदप्यस्तीति स एव सर्वज्ञः परमेश्वर इति ।' असति माहात्म्यज्ञाने जायमानोऽपि स्नेहो न दृढतरो भवति न चोत्तरोत्तरं दृढतामासादयेत्, सति तु माहात्म्यज्ञाने भक्तिः सुदृढा सम्पद्यते एवेति । ''द्रुते तस्यां भवेद्भक्तिरद्रुते तु न किञ्चन । चित्तद्रुतेरभावेन वेनस्तु कतमोऽपि ने''ति चित्तस्य द्रवीभावं विना या भक्तिस्तस्याः भक्त्याभासत्वम् अतो वेनस्य पृथुराजपुत्रस्य द्रवीभावविरहात्—त्रिविधेषु राजसतामससात्त्विकेषु भक्तेषु कुत्राऽपि गणना न कृता, द्रवीभावो नाम स्नेहस्य पराकाष्ठात्मकपरिणामः । स्वामिसेवकभावयोर्भगवत्तद्भक्तयोः क्षणमात्रमपि तत्स्मरणविरहाऽसहिष्णुता—प्रीतिः, रतिरिति यावत् । 'वस्तुविशिष्टस्नेहविशिष्टव्यक्तिवृत्तिविषयान्तराऽनवगाहिधारावाहिसोत्कण्ठचिन्तनप्रयुक्ताऽभीष्टविषयकप्रत्यक्षाऽभावप्रयोज्यपरिहार्येतरप्रकारकदुःखविषयक ज्ञानाऽभावविशिष्टभावाऽन्तराऽसंसृष्टस्नेहपरिणामविशेषत्वं प्रेमभक्तित्वम्' स्नेहे वैशिष्ट्यन्तु स्ववृत्त्याऽऽलम्बनतानिरूपकत्व—स्ववृत्त्याऽऽश्रयतानिरूपकत्वान्यतरसम्बन्धेन । व्यक्तौ वैशिष्ट्यं च—आलम्बनता—ऽऽश्रयताऽन्यतरसम्बन्धेन । प्रीतिविशेषे तादृशाऽभाववैशिष्ट्यं च—स्वाश्रयसमवेतत्व—स्वप्रतियोगिज्ञानविषयदुःखप्रयोजकाऽभावप्रतियोगिप्रत्यक्षविषयाऽभीष्टविषयकत्वैतदुभयसम्बन्धेनेति । सा च प्रेमलक्षणाभक्तिर्नवधाऽपि समनुष्ठीयमाना सती द्रागेव भगवच्चरणारविन्दसेवालाभदायिनी भवतीति । नवधा यथा—'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।'

तत्र श्रवणम्—भगवद्दिव्यगुणचरित्रैश्वर्यमहिमादियुक्कथादिश्रवणम् । तदस्याः श्रवणभक्तेर्भगवत्प्राप्तिस्वरूपमुक्तिसाधनत्वं बहुभिर्वचनैः शास्त्रेष्वभिहितं, यथा—'भागवते'—'संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य । लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवाऽर्दितस्य' । नारदश्चाह—'इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः । अविच्युतोऽर्थः कविभि-

निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणाऽनुवर्णनम्'। एवम्–'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधा-च्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्। क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशु-घ्नात्' ॥ 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाऽम्भ-सोऽम्बुधौ'। 'यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाऽभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाऽञ्जनसम्प्रयुक्तम्'। पृथुवचनं यथा–'न कामये नाथ ! तदप्यहं क्वचिद् न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः'। ध्रुववचनं यथा–'या निर्वृत्तिस्तनुभृतां तव पादपद्म-ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्'। सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ ! मा भूत् किन्त्वन्तकाऽसिलुलितात्पततां विमानात्। 'ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमा-त्मप्रसाद उभयत्र गुणेष्वसङ्गः। कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरि-कथासु रतिं न कुर्यात्'। परीक्षितवाक्यं यथा–'नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते। पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथाऽमृतम्'। शौनकवाक्यं यथा–'आ-युर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया''। ''यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान्भवति निर्मलः। तस्य तीर्थपदः किम्वा दासानामवशिष्यते''। ''इत्थं परस्य निजकर्मैरिरक्षयाचलीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि। कर्माणि कर्म-कषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्'। ''मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्दश्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति। तद्धामदुस्तरकृतान्तजवापवर्गं ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः'। ''अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।'' ''शृण्वतां स्वकथां स्वामी पुण्यश्रवणकीर्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्'' ''शृण्वतां श्रीस्वामिनारायणाऽऽख्यां लोकपावनीम्। पापनाशोऽथ मुक्तिश्चाऽक्षरे धाम्नि भवेद् ध्रुवम्'' इत्येवं श्रवणभक्त्याः-भगवत्प्रसन्नताद्वारा साक्षान्मुक्तिसाधनत्वमिति।

अथ कीर्तनभक्तिः—भगवतः श्रीहरेः दिव्यगुणलीलाचरित्रादीनामुच्चारणम्, तच्च–निरवधिकप्रेमसहकृताऽविच्छिन्नतच्छ्रमानसतयाऽभिक्ष्णं तद्गुणानां गानमिति। तच्च साक्षादेव भगवत्प्रसन्नताद्वारा परममुक्तिकारणमिति, यथा भागवते—'य एत-द्देवदेवस्य हरेः कर्माणि जन्म च। कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते' 'संकी-र्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्। प्रविश्य चित्तं विधुनोत्य-शेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवाऽतिवातः'। 'शृण्वन्ति गायन्ति–गृणन्त्यभिक्ष्णशः स्मर-न्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदा-म्बुजम् ॥' 'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते। क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते'। 'पुनन्ति ते विषयविदूषि-ताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्। ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमात्म-

प्रसादः उभयत्र गुणेष्वसङ्गः' ॥ 'कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्' ॥ 'अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः' ॥ 'मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च । तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः' ॥ 'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः । कीर्तनाद्धरिकृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' 'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्' इति । 'मुहूर्तमपि यः कीर्तेत्स्वामिनारायणाभिधाम् । सोऽपि सिद्धिमवाप्नोति किं पुनस्तं सदोच्चरन्नि'ति । 'संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् । हरीति वैष्णवं मन्त्रं जप्त्वा मुक्तो भवेन्नरः' ॥ ''स्वामी नारायण इत्यन्तकाले जल्पन् जन्तुर्जीवितं यो जहाति । आद्यः शब्दः कल्पते तस्य मुक्त्यै ह्रीडानम्रो जायतेऽन्यस्तदर्थम्' ॥ 'मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम् । सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् श्रीहरीति' ॥ तस्मात्तां कीर्तनभक्तिगतमानसैर्विधाय परमा मुक्तिः प्रापणीयेति ।

अथ स्मरणभक्तिः = परमात्मनो नामगुणचरित्राणां चिन्तनं, तत्र रक्तमानसैस्तत्स्मरणं क्षणमपि न त्याज्यम्, अनवरतं कृतं हि भगवत्स्मरणमविद्यापापानि प्रक्षिणोति, तेन निर्मलान्तःकरणाय भक्ताय भगवान् शीघ्रमेव प्रसन्नः सन् स्वयोगं ददातीति ॥ उक्तं च भागवते-'त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् । न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः' ॥ 'अविस्मृतिः श्रीहरिपादपद्मयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति चे'ति ॥ गीतायां 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य चेति' । वाराहे च 'नारायणाऽच्युताऽनन्तवासुदेवेति यो नरः । सततं कीर्तयेद्भूमौ प्रयाति मम धाम सः' ॥ विष्णुपुराणे च 'जनार्दनं भूतपतिं जगद्गुरुं स्मरन्मनुष्यः सततं महामुने ! । दुःखान्यशेषाण्यपि हन्ति साधयत्यशेषकार्याणि च यान्यभीप्सिते'ति ॥ ' स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् । भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्' ॥ देवा यथा—'यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् । तेनाऽजनाभे स्मृतिमज्जन्मनः स्याद् वर्षे हरिर्भजतां शं तनोतीति ॥ अतः स्मरणभक्तिलग्नमानसो भक्तोऽनयैव भक्त्या मुक्तिं साधयेदिति ॥

अथ पादसेवनम्—प्रत्यक्षस्य श्रीहरेः चरणसंवाहनम् । पूर्वोक्ता त्रिविधा भक्तिस्तु परोक्षतयाऽपि भवति, पादसेवनात्मिका तु भगवच्चरणारविन्दसम्बन्धात् भगवत्स्वरूपस्य दिव्यस्य चतुर्भुजाद्यर्चात्मकस्य वा साक्षात्सम्बन्धं दर्शयति, अतः पूर्वोक्तत्रिविधापेक्षया श्रेष्ठा । तदत्र भगवतो दिव्यस्वरूपस्य सप्तधात्वाद्यर्चायाश्च चरणसेवा साक्षात् मानसिकी च विधेया । भगवदर्चां सप्तविधां वक्ष्यामः । पादसेवनभक्तौ महतां वचनानि—'लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽ-

ऽनघ। पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥' 'देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः। यो नाऽऽद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः' ॥ 'भगवच्चरणसेवायाः फलं सर्वोत्तमं सुखम्। दिव्यधामनि तत्सेवाप्राप्तिर्मुक्त्यात्मकं हि तत्' ॥ 'परमेश्वरपादसेवनेऽनुदिनं यः खलु वर्तते स्थिरः। परिभूय स दुःखबन्धनं भजते मुक्तिपदं परात्परम्' ॥ 'नारदेनोक्तम् 'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः। नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः' ॥ मुचकुन्दवचनम्—'न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चन प्रार्थ्यतमाद्वरं विभो। आराध्य कस्त्वामपवर्गदं हरे! वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्' ॥ भागवते च 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाऽभिरता मदीहाः। येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि'। 'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः'।—प्रह्लाद आह—'अहन्त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वन्तु स्वाम्यनपाश्रयः। नाऽन्यथेहाऽऽवयोरर्थो राजसेवकयोरिव'। पृथुरुवाच—'न कामये नाथ! तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः' ध्रुव उवाच 'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्। सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ! माभूत्। किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्' महिष्यउचाव—'न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौममप्युत। वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजःश्रियः। कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः' ॥ श्रुतयऊचुः—'दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः। न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर! ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः'। 'इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजन्! ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्'। ब्रह्मा उवाच—तदस्तु मे नाथ! स भूरिभागो भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम्। येनाऽहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्'। इत्येवमादिभिर्महतां वाक्यैर्भगवच्चरणसेवात्मकभक्तेः पूर्वोक्तत्रिविधभक्त्यपेक्षया अतीवोत्कृष्टतरत्वमिति व्यज्यते ॥ 'भगवदर्चास्त्वष्टधा भागवते—'शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती। मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता'। स्मर्यते च प्रतिमार्चने विशेषः भगवदर्चावतारमाहात्म्ये—'सुरूपां तु हरेर्मूर्तिं प्रसन्नवदनेक्षणाम्। कृत्वाऽऽत्मनः प्रीतिकरीं सुवर्णरजतादिभिः। तस्यां ब्रह्म समारोप्य मनसा तन्मयो भवेत्। तामर्चयेत् तां प्रणमेत् तां यजेत् तां विचिन्तयेत् ॥ विशत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्मरूपिणीम्। 'सर्वातिशायिषाड्गुण्यं संस्थितं मन्त्रबिम्बयोः। तेनाऽर्च्यो भगवान् साक्षाच्चोपचारधिया क्वचित् ॥ इति तदेवमर्चाया भावनया परमात्मानं श्रीस्वामिनारायणं

पूजनादिनाऽऽराधयतो भक्तस्य स भगवान् कल्याणनिधिर्यथामनोरथं सन्निधत्ते क्वचिद्दर्चाविशेषे इति बोध्यम् ।

अथार्चनभक्तिः—–अर्चनम्–सवेदमन्त्रकं षोडशोपचारैः पूजनम् पूर्वोक्ताष्टविधप्रतिमान्यतमायाः । तत्र भगवद्रूपमीदृशमाभूषणादिना शोभनीयं चिन्तनीयं च–'प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् । सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥ समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम् । कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्सांकितवक्षसम् ॥ वलित्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण च । प्रलम्बद्विभुजं यद्वा श्रीहरिं तं चतुर्भुजम् ॥ समस्थितोरुजङ्घं च स्वस्तिकांघ्रिवराम्बुजम् । चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् ॥ किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम् । रूपानुरूपावयवं दिव्यमाल्यसमन्वितम् ॥ इत्यर्चास्वरूपं पूजयते भक्ताय भगवानर्चायां प्रकटीभूय स्वपदं दिव्यं मुक्तिस्थानं ददातीति ॥ 'विष्णुसहस्रनाम्नि–'एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः । यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा' ॥ इतितेन भगवतः स्तवनमपि कर्तव्यतया दर्शितं भवति । अर्चनन्तु–ध्यानाऽऽवाहनाऽऽसनपाद्याऽर्घ्याऽऽचमनीयपञ्चामृतस्नानाऽभिषेकवस्त्रयज्ञोपवीताऽलङ्कारचन्दनकुसुमधूपप्रदीपनैवेद्यताम्बूलफलाऽर्पणनिराजनपुष्पाञ्जलिप्रदक्षिणानमस्कारस्तुतिविसर्जनानीति क्रमश एव कर्तव्यम् । पूर्वोक्तपादसेवनभक्त्यपेक्षयाऽर्चनभक्तेर्भगवदर्चायाः सर्वाङ्गपूजनात्मकत्वेन श्रेष्ठत्वमिति ।

अथ वन्दनभक्तिः–बद्धाञ्जलिर्भगवदभिमुखं संस्थितः सन् सनमस्कारप्रार्थनां कुर्यात् । तत्र महतां वाक्यं प्रमाणम् । "तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवाऽऽत्मकृतं विपाकम् । हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाग्" "पतितः स्खलितो वाऽऽर्त्तः क्षुत्त्वा वाऽप्यवशो गृणन् । हरये नम–इत्युच्चैर्मुच्यते घोरकिल्बिषात्" "सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते । अभयं सर्वदा तस्मै–इति जन्मव्रतं मम" ॥ "स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि । स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवदिति ॥ वन्दनं चाऽर्थानुसन्धानपूर्वकमेव निरन्तरं भगवति ध्यानादिनियामकम्, तेन च प्रह्लादस्येव भक्तस्याऽकस्मादेव प्राविर्भूतो दिव्यस्वरूपः परमेश्वरो मोक्षप्रदो भवतीति । पूर्वापेक्षयाऽत्र पूजनादिप्रयासं विनापि सततवन्दनमात्रेणाऽऽकस्मिकस्य श्रीस्वामिनारायणस्य परमात्मनो दिव्यस्वरूपप्राप्तिरिति श्रेष्ठत्वं बोध्यम् ।

अथ दास्यभक्तिः—–दासत्वञ्च–स्वस्वामिसत्ताऽतिरिक्तसत्तानियाम्यत्वाऽभाववत्त्वे सति स्वस्वामिसत्तानियाम्यत्वे सति सेवातत्परत्वम्, भगवन्मात्रपरिचर्याकर्तृत्वमिति भावः । तथा च भगवति दासदासीभावेन भक्तिर्विधेया यथा गोपिकानामिति सा च त्वरितमेव कल्याणदा । 'यथा भागवते–"यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः । तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते" ॥ "इत्थं

सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन । मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो हरिं संपरिहृत्य कर्त्तम् ॥" "असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा । द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा हरिः स एवाऽस्य गतिर्ममाऽव्यम् ॥" "स चार्य भगवान् स्वामी तस्य दास्यान्विता त्वहम् । तदादेशं किमप्यत्र कर्तुं दासी तवास्मीति" ॥ "शुभं वा निन्दितं यद्वा स्वानुकूलं पराङ्मुखम् । किमपि च विधेयं स्यात् स्वाम्यादेशं करोम्यहम् ॥" "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि" ॥ "सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥" इति ॥ अर्चनाद्यपेक्षयाऽत्र दासत्वमेवाऽधिकं तस्माच्छ्रेष्ठत्वम् । येन दासत्वेनाऽऽप्रीतो भगवान् सहजानन्दो भवति तेन मोक्ष इति ॥

अथ सख्यम्–मित्रभावेन या प्रेमभक्तिः, मित्रभावश्च परस्परयावत्स्ववृत्तान्ताऽगोपकत्वे सति यावद्धितकृद्व्यक्तित्वे सति सेवकत्वम् । प्रेमभक्तिमन्तः प्रचेतसश्चाहुः–"वयन्तु साक्षाद्भगवन्भवस्य प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन । सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्योर्भिषक्तमं त्वाऽऽद्यगतिं गताः स्म" इति । सख्येन भक्तस्य भवति दासभावाऽपेक्षयाऽप्यधिकं भगवद्ध्यानम्, मित्रभावे प्रेम्णोऽधिकांशसत्त्वादतः सख्यं पूर्वतः श्रेष्ठम्, तेन च स्वमित्रस्य परमात्मनः सर्वदा स्वसहवर्तित्वेन स्वस्य सर्वदैव कैवल्यमिति ।

अथाऽऽत्मनिवेदनं–आत्मनः आत्मीयस्य च भगवत्यर्पणं, पूर्वोक्तसख्यपर्यन्तानां यावतां साधनानां तत्तदङ्गप्राधान्यतया भगवद्भक्तिरभिहिता तेन च मुक्तिरिति । आत्मनिवेदने तु सख्याऽन्ताः सर्वे एव भक्तिभेदाः प्रविष्टा भवन्ति । अतो व्यापिका सर्वोत्तमेयं भक्तिः । यस्यां सत्यां भक्तो निर्गुणः सन् परमात्मनोऽभिन्न इव सम्पद्यते, भगवानपि तस्मै आत्मनिवेदिने सर्वमपि प्रयच्छति । उक्तं हि–'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवाऽस्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वतस्तस्मै दद्यादेतद्व्रतं हरेः ॥" "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥" इति । आत्मनिवेदिनो भक्ता हि–आत्मानं भगवदेकशेषमवबुध्य सर्वथा स्वामिनः समाराधनाय प्रयतमाना अत्यर्थप्रीतिपूर्वकं सर्वैरपीन्द्रियैर्भगवद्धर्मैव कर्मकुर्वाणा ये भक्तास्ते निर्गुणा मुक्ता इति कथ्यन्ते । यद्यपि यावत्प्रारब्धभोगावसानं प्रकृतिर्न जहात्येतान्, तथापि प्रकृतिरीदृशे भक्ते जन्मबीजं नवं नाऽऽदधाति–इति मुक्ता एवेत्युच्यन्ते ॥ तेषां निर्गुणत्वं यथा–'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ॥ अनेन क्रियमाणाः सर्वाः क्रिया हि सत्त्वादिगुणैः सर्वथा

शून्ये परस्मिन् पुरुषोत्तमे श्रीस्वामिनारायणे भगवति सम्बद्धाः प्रीतिपूर्वं तदर्थमेवाऽनुष्ठिताः स्वयं निर्गुणा एवेति ॥ गीतायां "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्" "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदाऽनन्त्याय कल्पते"। अथ तेषामात्मनिवेदिनां धर्माः भागवते उक्ताः-'श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्। परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥ आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्। मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्। मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥ मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च। इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥ एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम्। मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते" ॥ गीतायां-'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसा'मिति। सेयं सर्वप्रधाना किमु वर्णनीयो नामाऽस्या महिमा। अनया प्रसन्नो भगवान् भक्तेन सहैकक्रियावान् भवतीति। तत्र भक्तियोगस्य सामान्यतया परमुक्तिं प्रति कारणत्वात्, भक्तियोग एव परमेश्वरभक्तेन विधेयः। सूत्रकारो हि भगवान् पतञ्जलिः शेषावतारो भगवत्स्वरूपाऽभिज्ञः, तस्य भगवति स्यादेव भक्तिभूमेः पराकाष्ठा, तस्माद् भक्तियोगं विनाऽन्ये योगाः दीर्घकालप्रयासादिना साध्याः। भगवद्भक्तिस्तु प्रेमात्मकत्वात् प्रेम्णश्च प्रयासाऽनियतत्वाद् भक्तियोगः सर्वोत्तम उक्तः। भागवते च-'इदं हि योगेश्वर! योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्। यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो भक्त्याऽऽदधीतोज्झितदुष्कलेवर" इति। सामान्यतो भक्तिलक्षणमुक्तं शाण्डिल्यसूत्रेण'-'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' इति। श्रीवल्लभाचार्यास्त्वाहुस्तत्त्वनिबन्धे-'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचाऽन्यथा" इति। दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः। श्रेयोभिर्विविधैश्चाऽन्यैर्हरौ भक्तिर्हि साध्यते" इत्यादिवाक्येभ्योऽन्यसाधनानां भक्तिहेतुत्वेन भगवता सह परम्परासम्बन्धः, भक्तेस्तु साक्षात्सम्बन्ध इति। 'श्रीकपिलदेवेनोक्तम्-'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः। तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥ न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि। सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये" "भवान्भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनामि"ति रुद्रोक्तेश्च। "प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्।" अतो नहि ततोऽन्यो निःश्रेयसोपाय इति। स्मर्यते च-"भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा" "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च

परंतप ॥ "मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते" "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' । 'भक्त्यैकलभ्यः पुरुषोत्तमोऽसौ' इति ।

एतच्च विशेयम्—यस्मात्क्षणादारभ्यते भक्तिस्तत्क्षणादेव चित्तवृत्तयश्चित्तमलाश्च क्रमशो लयाऽऽभिमुख्यं गच्छन्ति, यथा यथा भक्तिभूमिर्विवर्धते तथा तथा चित्तं निर्मलं जायते तेन सम्प्रज्ञातसमाधिलाभः, परमवैराग्यश्चेति सर्वाङ्गभूतसाधनानि आनुषङ्गिकतया सुदृढानि भवन्ति । यदा च भगवद्भक्तियोगः किञ्चिन्मात्रं न्यूनस्तावन्निरुद्धावस्थं चित्तं दग्धबीजभावं सत् निरर्थकं समवतिष्ठते । यावच्च भक्तियोगः सम्पूर्णस्तावत् द्रागेव बुद्धिपुरुषसंयोगनाशे स्वतन्त्रः पुरुषः परमात्मैकाऽधीनः परमां मुक्तिं विन्दते, तेन हि यादृशं भगवद्रूपं ध्यातम्, तादृशदिव्यस्वरूपस्य सहजानन्दस्य परमात्मनः प्राप्तिर्भगवद्धामनि भवतीति सिद्धान्तः । जीवेश्वरब्रह्मपर्यन्तानां सर्वेषां परब्रह्मभक्तिः कर्तव्यतया भवति ॥ २३ ॥

इदानीं मुक्तिप्रदः परमात्मा स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपणीयः । स च—

## क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः २४

ईश्वरः—परमेश्वरः, स च लक्ष्यः । शेषं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वे सति पुरुषविशेषत्वमिति लक्षणम् । तत्राऽविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः क्लिश्नन्ति खलु सांसारिकं पुरुषं विविधदुःखप्रहारैः । शुक्लकृष्णाऽशुक्लकृष्णभेदेन त्रिविधानि कर्माणि धर्माऽधर्मकारणानि कार्ये कारणोपचारात् कर्मपदेन धर्माऽधर्मौ ग्राह्यौ, विपाकः—धर्माऽधर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः । आशयो नाम जात्यायुर्भोगानुकूला वासनाः, ताश्चित्तभूमावाशेरते इति—आशयाः । तैः सर्वैः कदाऽपि कालविशेषेऽपरामृष्टोऽसंसृष्टः परमेश्वर इति । भवन्ति हि क्लेशकर्मविपाकाशयाश्चित्तधर्माश्चित्तवर्तिनः, पुरुषस्य तु चित्तसम्बन्धिनः चित्ते प्रतिबिम्बात् तत्रोपसंक्रममाणा जायन्तेऽतः क्लेशकर्मविपाकाशयानामौपाधिकतया भोक्ता पुरुष इति भवति । तत्र ये परमेश्वरभिन्नाः 'पुरुषा ब्रह्माण्डवर्तिनो जीवाः,—ब्रह्माण्डबहिरवस्थिता हिरण्यमयकोशाख्यमायाऽण्डान्तरवस्थिता विदेहाः प्रकृतिलया ईश्वरकोटयश्च, मायां विहाय ब्रह्मलोके गता मुक्ता महामुक्तपुरुषाश्चेति,—तेषां सर्वेषां हि भूतभविष्यद्वर्तमानकालान्यतमावच्छेदेन क्लेशकर्मविपाकाशयानां भोगाख्यसंसर्गसत्त्वात् । तत्र ब्रह्माण्डस्थानां जीवानान्तु वर्तमाने एव तद्भोगसंसर्गः, विदेहप्रकृतिलयानान्तु जीवावस्थायां भूतकालीनतद्भोगसंसर्गं आसीदेव पुनश्च लयकाले समाप्ते संसरणं भावीति निश्चयाद् भविष्यत्कालीनोऽपि तद्भोगसंसर्गं इति । विराजादीश्वराणां मायाकृतभोगो वर्तत एव, एवं—स्वात्मस्वरूप-स्वेष्टपरमात्मस्वरूपतृप्तानां मुक्तमहामुक्ता-

नामपि कदाचिज्जीवाऽवस्थायां बन्धनकाले क्लेशादिभोगसंसर्ग आसीदेवेति न तत्र तत्राऽतिव्याप्तिः । तथा च लक्षणे समन्तवूलं-क्लेशकर्मविपाकाशयान्यतमौपाधिकभोगसंसर्गस्वरूपयोग्यत्वाऽभाववत्त्वे सतीत्यर्थकं बोध्यम् ॥ ननु जीवेश्वरमुक्तब्रह्मपरब्रह्मेत्येवं शास्त्रेषु चेतनानां विभागात्-तत्रोक्तं यद् ब्रह्म-अक्षरपदवाच्यम्, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं परब्रह्मणस्तेजोविशिष्टमक्षरधामसंज्ञकं महामुक्तादीनामाधारभूतं चेतनं ब्रह्मतयैव वर्तमानं न तु महामुक्तादिवत् क्रमशस्तत्पदाऽवाप्तिमदिति, तस्य क्लेशकर्मविपाकाशयान्यतमौपाधिकभोगसंसर्गस्वरूपयोग्यतायाः सर्वदैवाऽभाववत्त्वात् परब्रह्मलक्षणस्य तत्र ब्रह्मण्यतिव्याप्तिरिति चेन्न । तद्वारणायैव 'पुरुषविशेष' इति पदोपादनात् । पुरुषो नाम चेतनः, तत्र विशेषत्वं नाम-सर्वज्ञत्वस्य सर्वनियन्तृत्वस्य सर्वेशनशीलत्वस्य च पराकाष्ठा-उत्तमत्वमितियावत् । भवति च परब्रह्मणो ब्रह्ममहामुक्तादिसर्वेषामीशनशीलत्वं-सर्वापेक्षया सर्वज्ञत्वञ्चेति, अतः पुरुषोत्तम इति परमात्मा ख्यायते, ब्रह्मणस्तु सर्वेशनशीलत्वं नास्ति सर्वपदेन परब्रह्मणोऽपि ग्रहणात् तदीशनशीलत्वाऽभावात्, ब्रह्मणः परब्रह्माधीनत्वादिति । एवम्-सर्वज्ञत्वम्-परब्रह्मणः संभवति, ब्रह्मणस्तु न तथा सर्वज्ञत्वम्, सर्वशब्देन परब्रह्मणोऽपि ग्रहणेनाऽनन्तस्याऽप्रमेयस्य परब्रह्मणो ज्ञानेनाऽन्तं यातुं यथावत्तया ब्रह्मणाऽशक्यत्वात् ॥ यद्यपि-जीवेश्वरमुक्ताद्यपेक्षया सर्वज्ञं ब्रह्मास्ति तथापि परमेश्वरापेक्षया त्वल्पज्ञत्वमेव तस्येति न ब्रह्मण्यतिव्याप्तिरिति बोध्यम् ।

अथ मुक्तपुरुषेभ्यः परं परब्रह्मणोऽपरं ब्रह्मतत्त्वं किमपि भवितुं नार्हति, ब्रह्मशब्दस्य परब्रह्मवाचकत्वात् परब्रह्म एव ब्रह्मपदार्थो न तदतिरिक्तः कश्चित्तत्त्वविशेषः कल्प्यते येन ब्रह्म परब्रह्मेति भेदः स्यादिति । मैवम् । सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मणः परब्रह्मणश्च भेदेन वर्णनात् । कठवल्ल्यां यथा-"ह्येतदेवाऽक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । सत्संगिजीवने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं च पूर्णं चाऽखण्डमक्षरम् । धाम यद्वासुदेवस्य मूर्तं चाऽमूर्तमुच्यते ॥ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम् । यद्विपश्यन्ति मुनयो गुणाऽपाये समाहिताः । 'अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' । परमात्मनो धामरूपस्य तादृशाऽक्षरस्य ब्रह्मपदवाच्यस्य परब्रह्मभिन्नत्वमुक्तवाक्यैरेव ज्ञायते । पुनरपि सत्संगिजीवने 'हरेर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः' 'शुद्धं नित्यं चाऽविकारि मायादीनां प्रकाशकम् । तद्ब्रह्मेति विजानीहि सर्वाधारतया मतम्' 'यस्मिन्लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म' भागवते-लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशोऽण्डराशयः । तदाहुरक्षरं ब्रह्म' । तादृशब्रह्मणः परब्रह्मभेदे प्रमाणवाक्यं गीतायां यथा-'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति । 'यस्मिंस्तेजसि तद्रूपं भक्ष्ये-

करसे सिते । तदक्षरात्मब्रह्मादिनामभिः संप्रकीर्त्यते ॥ यस्तत्र भगवान् साक्षात् स परब्रह्मसंज्ञकः । आत्मतत्त्वाभिधश्चासौ पुरुषोत्तम उच्यते ॥ असावेवाऽक्षरातीतो दयादिगुणसागरः । धत्तेऽवतारान् बहुशो यथाकार्यं धरातले' (सुधासिन्धुः)। तादृग्ब्रह्मलोकादिकं 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमा'दिति सूत्रभाष्ये निरूपयिष्यामः । तदेवंविधस्याक्षरब्रह्मणः परोऽक्षराधिपतिः परंब्रह्म पुरुषोत्तमः परमेश्वर इति ख्यायते । तस्य लक्षणान्यन्यत्राऽप्युक्तानि यथा 'सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः सर्वकर्मफलप्रदः । अन्तर्यामी सर्वशक्तिसेवितः परमेश्वरः' 'सर्वत्रैवान्वितः शक्त्या व्यतिरिक्तः स्वतः स्थितः । नियन्ता कालमायादेः सर्वकारणकारणम्' इति,—मायादेरित्यत्रादिपदेन ब्रह्म मुक्ता ईश्वरा जीवाश्च ग्राह्या इति ॥ एवं श्रुतयः—'योऽक्षरे तिष्ठन्नक्षरादन्तरः' 'अक्षरात्परतः परः' 'यस्तमसि तिष्ठन्तमसोऽन्तरो यः स्वभक्तेभ्यो रमते स सर्वस्वः' इति ॥ गीतायामपि—'मत्तः परतरं नाऽन्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय' इति ॥ विष्णुपुराणे च—शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय ! भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे' इति । 'यत्रैश्वर्याणां पराकाष्ठा सः सर्वस्वामी नारायणः परमेश्वरः परंब्रह्माऽक्षरातीतः पुरुषोत्तम' इतिस्मरणाच्च ।' शिक्षापत्र्यां 'हृदये जीववज्जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः । ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः' ॥ श्रुतिरपि—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' । स्मृतिरपि 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' । 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च' 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ॥ इत्यादिवचनैः परमात्मनः सर्वहृदयाऽवस्थितजीवात्मादितत्त्वेऽन्तर्यामितयाऽवस्थितिरपि प्रदर्शिता । सर्वकर्मफलप्रदातृत्वमपि श्रुतिस्मृतिभिरुच्यते—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।' 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्' ॥ स चायं परमेश्वर एव सर्वेश इति ख्याप्यते । तदुक्तं श्रुतिभिः—'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्' 'ईशानो भूतभव्यस्य स वाऽद्य स उ श्वः' 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति' इति । भागवते च 'स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि' 'विविक्तमुपसंगम्य जगतामीश्वरेश्वरम्' 'तस्मिन्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे' 'यस्येदं सेश्वरं वशे' इति । परमात्मस्वरूपमुक्तं स्कान्दे 'आत्मात्मा च क्षरात्मा च ज्ञेय आकाशनिर्मलः । दिव्यदृगक्रियः सन्मात्रः पुरुषो धर्मदैवतः ॥ समस्तकल्याणगुणो निर्गुणश्चेश्वरेश्वरः परया विद्यया वेद्य उपास्यो ब्रह्मभिः प्रभुः' इति । अतो योगिभिः परंब्रह्म भगवान्पुरुषोत्तमः सर्वाऽऽविर्भावकारणात्मक एवोपास्य इति ॥

परंब्रह्म—'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इत्युक्तमायाख्यब्रह्मणः 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्युक्ताक्षरब्रह्मणः—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' इत्युक्तशब्दब्रह्मणश्च परं बोध्यम् । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' 'अक्षरात्परतः परः' 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिश्रुतेः । गीतायां च 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' । स चायं पुरुषोत्तमोऽस्माकमुपास्यः—'यः साक्षाद् भगवान् क्षराऽक्षरपरः ब्रह्माऽत्र एव स्वयं । भक्तौ धर्मत आस भूरिकृपया श्रीस्वामिनारायणः । मानुष्यं भुवि नाटयन् निजजनाचार्यस्वधर्मे स्थितः । सोऽयं श्रीहरिरेव भक्तशरणं मुक्तिप्रदः पातु माम्' ॥ स्वरूपतो गुणतश्च यत्राऽनवधिकबृहत्त्वं तदेव परंब्रह्म, यश्च निरवधिकानन्दः स च गुणतो महानेव, निरस्तनिखिलदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वोभयलक्षणोपेतो भगवान् परमेश्वर एव । तथा च 'पराशरः—'शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय! भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे' इत्युपक्रम्य 'तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः । शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥ ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः' इति । अनेन च ज्ञानाद्यनन्तकल्याणगुणाकरत्व-हेयप्रत्यनीकत्वोभयं परे ब्रह्मणि प्रदर्श्यते । सूत्रकारोऽपि परस्य ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीकत्वं कल्याणगुणाकरत्वमाह—'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' इति । 'स एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष' इति । मुक्तप्राप्यतया चोत्तमः पुरुष एव परं ब्रह्मेति ॥ अत्रानेकवाक्यैः परब्रह्मणि कल्याणगुणदिव्याकारयोगस्य दर्शनात् भगवान् परमब्रह्म पुरुषोत्तमः इत्युक्तेश्च—'सगुणातीतं निर्गुणं निराकारं च ब्रह्मे'ति प्रतिक्षिप्तम् । गुणाकारनिषेधश्रुतयस्तु—हेयगुणप्राकृताकारनिषेधपरा वेदितव्या इति ॥ सगुणाकारे श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं' 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' 'एष आत्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' 'तस्मिन्कामाः समाहिताः' 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण-

स्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' 'स एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् पुरुषो मनोमयोऽमृतो हिरण्मयः' 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' इत्याद्याः । 'या माया पुरुषं विमोह्य नयति स्वस्या वशे विभ्रमैर्यस्तस्या वशगोऽपि नैव विकरोत्यात्मा स्वयं चिद्विभुः । यज्ज्ञानेन पुमान् समुत्तरति तां मायां विविक्तश्चिमां मायानिस्तरणाय मे स भवतु श्रीस्वामिनारायणः' परे ब्रह्मणि नारायणे च श्रुतयः—'तैत्तरीये—'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् । नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम् ॥ नारायणः परंब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः । नारायणः परोज्योतिरात्मा नारायणः परः ॥ यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ 'सुबालोपनिषदि च—'एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः' 'किं तदासीन्नैवेह किंचनाग्र आसीद्-मूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्यो देव ह्येको नारायणः' ॥ इति ॥ 'महोपनिषदि च—'नारायणः परंब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः । नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः' इति ॥

केचित्तु—रुद्र एव परं ब्रह्मेति—तत्र तत्र श्रुतिष्ववगम्यते इति वदन्ति । तथाहि 'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताऽव्यक्तं भरते विश्वमीशः' 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' 'य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमान् लोकानीशत ईशनीभिः । प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोचाऽन्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः' 'ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति' 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः' 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्' 'तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति । यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः' 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' 'घृतात्परं मण्डमिवाऽतिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नाऽसन् शिव एव केवलः । तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी' 'भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाऽभावकरं शिवम् । कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्' 'सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये ध्येयः' 'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्, ते देवा रुद्रमपृच्छन्, को भवानिति' सोऽब्रवीत्, अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नाऽन्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त,' इत्याद्याः श्रुतयः कारणत्वध्येयत्वमुक्तिप्रदत्वादीनि परब्रह्माऽसाधारणानि लिङ्गभूतानि रुद्रेऽवगमय-

न्ति । शिव–शम्भु–रुद्रेशानादिशब्दाः परब्रह्मात्मकरुद्रवाचका इति वदन्ति च ॥

अत्र विचारयामः—'कोऽयं रुद्रस्तावदाधुनिको वा पुरातनः ! तत्र पुरातनस्य परमेश्वरस्य तु रुद्रस्य वयमेव निर्णयं वक्ष्यामः, आधुनिके रुद्रे तु परब्रह्मत्वं नैव घटेतेति ॥ श्रूयते चाऽऽधुनिकता रुद्रस्य, यथाहि-'विरूपाक्षाय दन्तां जये ब्रह्मणः पुत्राय ज्येष्ठाय श्रेष्ठायाऽमोघाय कर्माऽधिपतये' 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदेकं सन्नव्यभवत् यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः' 'अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चाऽस्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात्क्रोधजो रुद्रोऽजायत' 'अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत'॥ एवं रुद्रस्य हिरण्यगर्भादप्याधुनिकत्वं यथा—'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद् रुद्रो जायते नारायणादिन्द्रो जायते नारायणाद् द्वादशाऽऽदित्या रुद्रा वसवः सर्वे देवाः सर्वे ऋषयः सर्वे लोकाः समुत्पद्यन्ते सर्वाणि च भूतानि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते नारायणे प्रलीयन्ते' 'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शंकरः स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत् तत एते व्यजायन्त विश्वे हिरण्यगर्भोऽग्निर्यमवरुणरुद्रेन्द्रास्तस्य हैतस्य परमस्य नारायणस्य भूतानां पतिः—सम्वत्सर उपसि रेतोऽसिञ्चत् सम्वत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरोदीत् तं प्रजापतिरब्रवीत् कुमार ! किं रोदिषि ! यच्छ्रमात्तपसोऽधिजातोऽसीति सोऽब्रवीत् अनपहतपाप्मा वा अहमनाहितनामा नामधेयं हि पाप्मनोऽपहत्या इति तं प्रजापतिरब्रवीत्, रुद्रोऽसीति, तदस्य तन्नामाऽकरोदग्निस्तद्रूपमभवत्,—अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः सोऽब्रवीत्, ज्यायान्वाऽहमस्मि धेह्येव मे नामेति, तं प्रजापतिरब्रवीत्—भवोऽसीति शर्वोऽसीतीशानोऽसीति पशुपतिरस्युग्रोऽसीति भीमोऽसीति महादेवोऽसीति, क इमामसिष्यतीति रुद्र इत्यब्रुवन्, स रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्य त्विति, सोऽब्रवीत्, वरं वृणा अहमेव पशूनामधिपतिरसानीति, तस्माद् रुद्रः पशूनामधिपतिः' इति ॥ स्मृतयश्च—'ब्रह्मा शम्भुस्तथैवाऽर्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः । एवमाद्यास्तथैवाऽन्ये युक्ता वैष्णवतेजसा ॥ जगत्कार्याऽवसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा । वितेजसश्च ते सर्वे पञ्चत्वमुपयान्ति वै ॥ एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ । तदा दर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ विष्णुरात्मा भगवतो भवस्याऽमिततेजसः । तस्माद्धनुर्ज्यासंस्पर्शं स विषेहे महाद्युतिः' इति । तदेवम्—आप्तश्रुतिस्मृतिभिस्तावदस्य रुद्रस्याऽऽधुनिकत्वेऽवगम्यमाने सति तस्य रुद्रस्य परमेश्वरत्वसमर्थनाय कैश्चिदाश्रयन्ते श्रुतिवाक्यानि, तत्तु—शिवरुद्रशम्भ्वीशानेत्यादिशब्दश्रवणमात्रेण तत्र समुच्छ्रलिताऽन्धश्रद्धापातमात्रम् । यद्धि यादृक्स्वरूपं तस्य तथैव श्रवणमनननिदिध्यासनादिकमेव यथार्थश्रद्धाप्रमेयमाणं सत् फलदं नान्यथा, नहि घटं ब्रह्माण्डमभि-

स्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' 'स एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् पुरुषो मनोमयोऽमृतो हिरण्मयः' 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' इत्याद्याः। 'या माया पुरुषं विमोह्य नयति स्वस्या वशे विश्वमैश्वर्यंस्तस्या वशगोऽपि नैव विकरोत्यात्मा स्वयं चिद्द्युः। यद्ध्यानेन पुमान् समुत्तरति तां मायां विविक्तात्मिमां मायानिस्तरणाय मे स भवतु श्रीस्वामिनारायणः' परे ब्रह्मणि नारायणे च श्रुतयः—'तैत्तरीये—'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्। नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्॥ नारायणः परंब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः। नारायणः परोज्योतिरात्मा नारायणः परः॥ यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥ 'सुबालोपनिषदि च—'एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः' 'किं तदासीन्नैवेह किंचनाग्र आसीद-मूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्यो देव ह्येको नारायणः'॥ इति॥ 'महोपनिषदि च—'नारायणः परंब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः। नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः' इति॥

केचित्तु—रुद्र एव परं ब्रह्मेति—तत्र तत्र श्रुतिष्ववगम्यते इति वदन्ति। यथाहि 'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताऽव्यक्तं भरते विश्वमीशः' 'क्षरं प्रधानममृताऽक्षरं हरः' 'य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमान् लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोचाऽन्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः' 'ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति' 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवाँस्तस्मात् सर्वगतः शिवः' 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्' 'तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः' 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' 'घृतात्परं मण्डमिवाऽतिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नाऽसन् शिव एव केवलः। तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी' 'भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाऽभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्' 'सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये ध्येयः' 'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्, ते देवा रुद्रमपृच्छन्, को भवानिति' सोऽब्रवीत्, अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नाऽन्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त,' इत्याद्याः श्रुतयः कारणत्वध्येयत्वमुक्तिप्रदत्वादीनि परब्रह्माऽसाधारणानि लिङ्गभूतानि रुद्रेऽवगमय-

न्ति । शिव-शम्भु-रुद्रेशानादिशब्दाः परब्रह्मात्मकरुद्रवाचका इति वदन्ति च ॥

अथ विचारयामः-'कोऽयं रुद्रस्तावदाधुनिको वा पुरातनः ?' तत्र पुरातनस्य परमेश्वरस्य तु रुद्रस्य वयमेव निर्णयं वक्ष्यामः, आधुनिके रुद्रे तु परब्रह्मत्वं नैव घटतेतेति ॥ श्रूयते चाऽऽधुनिकता रुद्रस्य, यथाहि-'विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये ब्रह्मणः पुत्राय ज्येष्ठाय श्रेष्ठायाऽमोघाय कर्माऽधिपतये' 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदेकं सन्नव्यभवत् यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः' 'अथानाक्षिपाश्च यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चाऽस्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात्क्रोधजो रुद्रोऽजायत' 'अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत'॥ एवं रुद्रस्य हिरण्यगर्भादप्याधुनिकत्वं यथा-'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद् रुद्रो जायते नारायणादिन्द्रो जायते नारायणाद् द्वादशाऽऽदित्या रुद्रा वसवः सर्वे देवाः सर्वे ऋषयः सर्वे लोकाः समुत्पद्यन्ते सर्वाणि च भूतानि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते नारायणे प्रलीयन्ते' 'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शंकरः स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत् तत एते व्यजायन्त विश्वे हिरण्यगर्भोऽग्निर्यमवरुणविष्णुरुद्रेन्द्रास्तस्य देवस्य परमस्य नारायणस्य भूतानां पतिः-सम्वत्सर उपसि रेतोऽसिञ्चत् सम्वत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरोदीत् तं प्रजापतिरब्रवीत् कुमार ! किं रोदिषि ! यच्छ्रमात्तपसोऽधिजातोऽसीति सोऽब्रवीत् अनपहतपाप्मा वा अहमनाहितनामा नामधेये हि पाप्मनोऽपहत्या इति तं प्रजापतिरब्रवीत्, रुद्रोऽसीति, तदस्य तन्नामाऽकरोदग्निस्तद्रूपमभवत्,-अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः सोऽब्रवीत्, ज्यायान्वाऽहमस्मि धेह्येव मे नामेति, तं प्रजापतिरब्रवीत्-भवोऽसीति शर्वोऽसीतीशानोऽसीति पशुपतिरस्युग्रोऽसीति भीमोऽसीति महादेवोऽसीति, क इमामसिष्यतीति रुद्र इत्यब्रुवन्, स रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्य स्विति, सोऽब्रवीत्, वरं वृणा अहमेव पशूनामधिपतिरसानीति, तस्माद् रुद्रः पशूनामधिपतिः' इति ॥ स्मृतयश्च-'ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः । एवमाद्यास्तथैवाऽन्ये युक्ता वैष्णवतेजसा ॥ जगत्कार्याऽवसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा । वितेजसश्च ते सर्वे पञ्चत्वमुपयान्ति वै ॥ एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ । तदा दर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ विष्णुरात्मा भगवतो भवस्याऽमिततेजसः । तस्माद्धनुर्ज्यासंस्पर्शं स विषेहे महाद्युतिः' इति । तदेवम्-आप्तश्रुतिस्मृतिभिस्तादृशस्य रुद्रस्याऽऽधुनिकत्वेऽवगम्यमाने सति तस्य रुद्रस्य परमेश्वरत्वसमर्थनाय कैश्चिदाश्रयन्ते श्रुतिवाक्यानि, तत्तु-शिवरुद्रशम्भ्वीशानेत्यादिशब्दश्रवणमात्रेण तत्र समुत्पन्नाऽन्धश्रद्धापातमात्रम् । यद्धि यादृक्स्वरूपं तस्य तथैव श्रवणमनननिदिध्यासनादिकमेव यथार्थश्रद्धाप्रमेयमाणं सत् फलदं नान्यथा, नहि घटं ब्रह्माण्डमभि-

मत्य तत्र कश्चित् चतुर्दशलोकान् निर्णेतुं श्रद्धावान् भवति न वा दण्डं विन्ध्यमभिमत्य तत्र वनगुहादिकं निर्धारयितुमुत्सुको भवति । तथा पूर्वोक्तश्रुतिभिः सिद्धस्य उत्पद्यमानस्येश्वरकोटिप्रविष्टस्य रुद्रस्य परमेश्वरत्वाऽभिमानं भ्रमप्रयुक्तं मिथ्याऽनुगतमिति ।। तस्मादाधुनिके रुद्रे तन्मताऽभिमतश्रुतीनां परमेश्वरत्वसमर्थनाऽभिप्राय इति यद्व्याख्यानं तत्तु—तत्र पूर्वाऽपरानुसन्धानेन तत्तद्विषयानुगुण्येनोन्नेयम् । श्वेताश्वतरोपनिषदि—श्रूयमाणानां वाक्यानामपि तथैवाऽऽनुगुण्यम् , । तत्र 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ।। पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उताऽमृतत्वस्येशानो यदन्नेनाऽतिरोहति ॥ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''इति पुरुषसूक्तैकार्थ्यावगमात् ॥ न च पुरुषसूक्तं रुद्रपरमेवेति वाच्यम् । कल्पसूत्रकारेण हि "सहस्रशीर्षाः पुरुष' इत्युपहितां पुरुषेण नारायणेन यजमान उपतिष्ठते,नारायणाभ्यामुपस्थापने उत्तरनारायणेनाऽऽदित्यमुपतिष्ठते''त्यादिना पुरुषसूक्तोपवर्णितपुरुषस्य नारायणस्यैव निर्देशात् । ननु सन्तु ''सहस्रशीर्षा इत्यारभ्य वाक्यानि नारायणपरायणानि । तथापि तत्रैवाऽग्रे—''ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति''इति वाक्येन सहस्रशीर्षेत्याद्युपवर्णितनारायणाख्यपुरुषात् परमुत्तमोत्तमं श्रेष्ठतरं यत् तत्त्वं तस्यैव ज्ञानादमृतत्वप्राप्तिरिति—विज्ञायते, तदेतत्परं श्रेष्ठतरं रुद्रात्मकमेवेति—'सर्वाऽननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः' इत्युत्तरोत्तरमन्त्रेण शिवात्मकस्य रुद्रस्यैव प्रत्ययादिति चेन्न । ''ततो यदुत्तरतर'मित्यादिश्रुतौ 'ततो'-इति पदं नाऽवधिवाचकम्, किन्तु हेतुबोधकम्, उत्तरतरपदं च श्रेष्ठतरबोधकम् । तथा च—'तस्माद्धेतोः'—श्रेष्ठतरं तत्त्वं तदेवाऽरूपमनामयञ्चेत्यर्थः, अन्यथा पूर्वप्रस्तावविरोधः स्यात्, पूर्वं हि 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिना प्रस्तुतो यः परमेश्वरः, ततोऽधिकं किमपि तत्त्वं नास्तीति, 'वेदाहमेत'मित्यादिनाऽवगम्यते—''यस्मात्परं नाऽपरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्''इति । एवम्—उत्तरवाक्येन—'सत्त्वस्यैषः प्रवर्तक'—इत्यनेन विरोधश्च स्यात् , रुद्रस्य तमःप्रवर्तकत्वात् । यथा—''अथ यो ह खलु वा अस्य राजसोंऽशः सोऽसौ ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्मा,—अथ यो ह खलु वा अस्य सात्त्विकोंऽशः सोऽसौ ब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः,—अथ यो ह खलु वा अस्य तामसोंऽशः सोऽसौ ब्रह्मचारिणो योऽयं रुद्र'' इति श्रुतिः—रुद्रस्य तामसत्वं प्रतिपादयतीति ॥ स्मृतयोऽपि रुद्रस्य तामसत्वं निवेदयन्ति—यथा—''सत्त्वं स हरिर्देवो यो हरिस्तत्परं पदम् । सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रितयं—चैतदुच्यते ॥ सत्त्वेन मुच्यते जन्तुः सत्त्वं नारायणात्मकम् । रजसा सत्त्वयुक्तेन भवे-

लक्ष्मीमान् यशोऽधिकः ॥ तच्च पैतामहं वृत्तं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते । यद्वेदबाह्यं कर्म स्यान्मामुद्दिश्योपसेव्यते ॥ तद् रौद्रमिति विख्यातं कनिष्ठगतिदं नृणाम् । यद्धीन-तपसा युक्तं केवलं तामसं तु यत् । तद् दुर्गतिप्रदं नृणामिह लोके परत्र चे'त्याद्यः । किञ्च ईशेशानेश्वरादिशब्दघटितश्रुतीनां रुद्रपरत्वमेवेति निश्चयोऽशक्तिग्रहपूर्वक इति यदीशशब्दस्य शक्तिः—रुद्र एवेति निश्चयस्तदा तद्घटितश्रुतयोऽपि रुद्रे उपयुज्यन्ते, न त्वन्यथा, दृश्यते च ईशितृत्वादिगुणवत्त्वेन ईशेशानेश्वरादिशब्दास्तत्र तत्र यथाप्रकरणं प्रयुक्ताः । एवं शिवशब्दोऽपि मङ्गलसुखादिवाचकः । एवं यमेन ब्रह्माणं प्रति सम्वादे शम्भुशब्दो ब्रह्मणार्थे प्रयुक्तो यथा "शृणु मे वचनं शम्भो ! पितामह पितामह ! । मरणादधिकं येन यत्प्रतापस्य खण्डनम् ॥ तमेव देवताश्रेष्ठ ! सम्प्राप्ते हरिवासरे । यदि चालयसे धैर्यात् ततोऽहं तव किङ्करः ॥ स मे शत्रुर्महान् शम्भो ! येन लुप्तं पदो मम ।" अथ च रुद्रशब्दस्य—असौ प्रयोगो दृश्यते यथा—'रुद्रो भूत्वाग्निरनुत्थायाऽध्वर्युं यजमानं च हन्यादि'ति ॥

प्रत्युत—रुद्रशर्वेशेशानेश्वरशिवादिशब्दानामन्यत्राऽपि तत्र तत्राऽनेकशः प्रयोगा दृश्यन्ते यथा "रुद्रो बहुशिरा बभ्रुः" "इति नारायणः शम्भुः" "शम्भु-र्नारायणोऽव्ययः" "विश्वाक्षं विश्वसंभवम्" "मनसा विष्णुमीश्वरम्" "शरेण हरि-रीश्वरः" "कृत्वा केशव ईश्वरः" "ददर्श कृष्णमीश्वरम्" । तुष्टुवुः पुण्डरीकाक्षं वाग्भिरष्टाभिरीश्वरम् । स्तुत्वा स्तुत्यं हरिं विष्णुमीश्वरं कमलेक्षणम् । आभ्यन्तरं जगन्नाथं प्रविश्य हरिरीश्वरः ॥" "उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाऽऽजीवितः पुनः । तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः" "शाश्वतं शिवमच्युतम्" ॥ "एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्ताऽव्यक्तः सनातनः । एष धाता विधाता च प्रधानं निष्कलं शिवः ॥ बाहू द्वौ स्थापयामास कृष्णः साक्षात्स्वयं शिवः । शिवयोर्देवयोस्तत्र हरेश्चैव भवस्य च ॥ ध्यायन् हरिं जगद्योनिं विष्णुं पीताम्बरं शिवम् । तपश्चर्तुं हरिः कृष्णः स्वामी सर्वेश्वरः शिवः" । "अव्ययः शाश्वतो देवः सकलो निष्कलः शिवः । श्वसन्तमम्भोनिधिशायिनं हरिं भक्तप्रियं भक्तजनास्पदं शिवम् ॥ महादेव महाभागमनन्तं शिवमच्युतम् । लोकनाथ ! महाबाहो ! शिव ! नारायणाच्युत ! ॥ तत्र गत्वा मया विष्णुः पुराणः पुरुषः शिवः । पुरुषो विष्णुरित्युक्तः शिवो नारायणः स्मृतः ॥ तमाहुः पुरुषं केचित् केचिदीश्वरमव्ययम् । केचिच्च परमात्मानं केचि-च्छिवमनामयम् ॥ तुष्टुवुर्देवमीशानं मन्त्रैर्भागवतैस्तथा । तं द्रष्टुं देवमीशानं यतामः साम्प्रतं हरिम् ॥ आद्यं पुरुषमीशानं सर्वलोकमहेश्वरम् । न चिन्तयति यो विष्णुं नारायणमनन्यधीः ॥ प्रापुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम् । गृहन्तं सर्वगं देव-मीशानं वरदं विभुम् ॥ जहि निद्रां जगन्नाथ ! केशवेश ! जनार्दन ॥ इति । एत्ता-सु श्रुतिस्मृतिषु कस्यापि वाक्यस्य रुद्रपरत्वे किमप्यसाधारणं विनिगमकमुपल-

ध्यते। अतो न—पूर्वपक्षोक्ताःश्रुतयो रुद्रस्य परमेश्वरत्वपरायणा इति-निर्णेतुं शक्यम्॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि—प्रथमे खण्डे हि—'सृष्टेः किं परमं कारणमित्याशङ्क्य, प्रकृतिशक्तिकं परब्रह्म एव सृष्टिप्रयोजकमिति निर्णीय परब्रह्मण एव कालादिनियन्तृत्वमिति प्रदर्श्य तस्यैव परब्रह्मण ईश्वरपदवाच्यस्य प्रसादप्राप्तो भवति यः स एव मोक्षं विन्दते, प्रसादस्य साधनं च स्वस्मादीशितव्यात्परमेश्वरस्येशितुर्भेदज्ञानमिति—कथितम्। तस्मादस्यवाक्यानां रुद्रपरत्वे न किञ्चिदपि मानमुपलभ्यते—इति। "संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरञ्च व्यक्ताऽव्यक्तं भरते विश्वमीशः" इत्यत्रेशशब्दस्य यौगिकतया ईशितृत्वरूपाऽवयवार्थस्य बोधकत्वम्। एवं—तदुत्तरवाक्ये 'अनीशश्चात्मा बध्यते' इत्यत्राऽनीशपदेनाऽमीशितृत्वस्येशितव्यस्य बन्धनप्रयोजकत्वमित्यभिप्रायात् तत्पूर्वस्मिन्नत्र वाक्ये ईशपदस्य यौगिकार्थं एव। एवम्—'व्यक्ताऽव्यक्तं भरते' इत्यनेन कार्यकारणात्मकमायाया भरणं धारणं परब्रह्मणैव भवितुं योग्यम्, न तु मायाप्रसिततया रुद्रपदत्ता प्राप्तस्य मायाधीनस्य रुद्रस्य तद्धारणकर्तृत्वसम्भवइति। तस्मादीशपदस्येशितृत्वार्थं एव न तु रुद्र इति। एवं—'क्षरं प्रधानममृताऽक्षरं हर' इत्यत्र हरपदमपि न रुद्रवाचकम्, तत्र हि क्षरं किमित्याकाङ्क्षायां विशेषोत्तरं—प्रधानं प्रकृतिरिति। अक्षरं किमित्याकांक्षायां विशेषोत्तरं—हर इति, हरति स्वार्थतया भोग्यत्वेन प्रधानं यः स—जीवात्मा हरपदवाच्य इति चेतनतत्त्वं हरपदवाच्यमिति यावत्। एवं—द्वितीये खण्डेऽपि 'युञ्जानं प्रथमं मन' इत्यादिना योगपरिकरो निरूपितः, तत्र "यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः" इत्यादिवाक्येन सर्वान्तरात्मनः परमेश्वरस्यैव भवति व्यञ्जक( लिङ्ग )म्, सर्वान्तरात्मत्वमिति, देवपदेन सर्वान्तर्यामिणः परमेश्वरस्यैव ग्रहणमिति, न रुद्रे किमपि व्यञ्जकं (लिङ्गं) दृश्यते। एवं—सुबालोपनिषद्वाक्यानामपि "अन्तःशरीरे निहितो गुहायाम्" इत्यादीनां 'दिव्यो देव एको नारायण' इत्यन्तानां नारायणपरायणत्वमेव न तु रुद्रपरत्वं रुद्रस्याऽप्रासङ्गिकत्वात्। एवं—तृतीयेऽध्याये रुद्रशब्दप्रयोगः—रुद्रेऽसाधारणतया पूर्वपक्षे गृहीतः,—तन्तु न विचारसहम्, यतो हि मायामतीत्य यस्य वर्तमानत्वं यस्य च जीवेश्वरमायातद्गुणानामीशनशीलत्वं सर्वान्तर्यामित्वं तस्यैव वाचको रुद्रशब्दो न तु मायागुणाऽऽविष्टाया रुद्रदेवताया वाचकः, मायाविष्टरुद्रस्य तादृशेशनशीलत्वं सर्वान्तर्यामित्वं च न संभवेदिति। तस्मात् तत्र रुद्रशब्दो यौगिकः—रुजं-संसाररोगं द्रावयति—अपगमयतीति तदर्थात्। यच्चात्र "गिरिशन्त—गिरित्र" इति सम्बोधनमुक्तं तेन रुद्रेऽसाधारणतया प्रयोग इति वक्तुं न शक्यते, तत्र लिङ्गाऽभावात्, किन्तु परमेश्वरस्यैव तत्सम्बोधनं तदर्थश्च—गिरिशं—हृदं यस्तनोति—प्रादुर्भावयतीति तत्सम्बुद्धौ-रुद्रोत्पादक ! इति। अथवा गिरि—वेदाख्यवाचि वाचकत्वस-

स्वन्धेन स्थितः सन् शं सुखं तनोतीति–गिरिशन्त, आनन्दप्रदत्वेन वेदैर्निगदितः परमात्मा–इति । अथवा–गिरि शब्दे सति शं–मंगलं तनोतीति–परमात्मनोऽभिधानरूपस्य प्रणवादिशब्दस्योच्चारणे सति मंगलकर्ता–इति ॥ तथा च स्मर्यते गिरि स्थितः सन् त्रायते–इति गिरित्र–उच्यते, यन्नामोच्चारणमात्रेण भवसागरान्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥

केचित्तु–"यो देवानां भवश्चोद्भवश्च" "या ते रुद्रशिवा तनूः" यामिषुं गिरिशन्त" इति मन्त्रत्रयस्य–'रुद्रो हि भगवद्विज्ञाने उपायभूतः, तथा च स्मृतिः–'शंकरात्ज्ञानमन्विच्छेत्' 'उपायोऽस्मि हरेः स्मृतौ' इति । अतो रुद्रद्वारैव परमेश्वरविज्ञानं प्राप्तणीयमिति तात्पर्यार्थकत्वमिति वदन्ति । तत्तु चिन्त्यम्, यतश्चतुर्दशभुवनस्थजीवानां मध्ये–उत्तमतयाऽवस्थितस्य योगिराजस्य शङ्करस्योपदेष्टृत्वसम्भवेऽपि तस्य परमात्मत्वं सर्वथाऽसम्भवीति । एवं–चतुर्थखण्डे–"यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु" इति–मन्त्रेऽपि रुद्रशब्दार्थः–रुजं द्रावयतीति व्युत्पत्त्या भवतारणभगवत्परायणो बोध्य इति । एवं "शिव एव केवलः" "ज्ञात्वा शिव"मित्यादिश्रुतिषु शिवशब्दः परमेश्वरपरायण एव, तत्र शिवपदेन परममुक्तिप्रदपरमेश्वरस्य बोधनात्, न तु शिवपदेन रुद्रो ग्राह्यस्तस्य परममुक्तिप्रदातृत्वाऽसम्भवात् ॥ एवं–"अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्" "मानस्तोके तनये मान आयुषि मानो गोषु मानोऽश्वेषु रीरिषः । वीरान्मानो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः स इमित्वा हवामहे" इतिमन्त्रद्वयेऽपि रुद्रशब्दो–रुजं द्रावयतीति व्युत्पत्त्या भवसागरोद्धारकपरतया परमेश्वरवाचक एवेति । परमेश्वरस्यैव नित्यत्राणकर्तृत्वसम्भवात् । न तु मायात उत्पन्नस्य रुद्रस्य नित्यत्राणकर्तृत्वमिति । मन्त्रेऽत्र दक्षिणं मुखमित्यस्य–ज्ञानमुखमित्यर्थः, ब्रह्मविद्यात्मकज्ञानदानेन मां पाहि–भवसागरादुद्धर–इति तात्पर्यात् ॥ एवं पञ्चमे खण्डे "भावाऽभावकरं शिव"मितिश्रुतावपि शिवशब्दः पूर्वप्रस्तुतपरमेश्वरपर एव । आधुनिके रुद्रे भावाऽभावकर्तृत्वं नोपपद्यते, नहि कश्चिद्भावकर्ता तत्कालावच्छेदेन तदभावकर्ता भवेत्, भवति तु सर्वेश्वरो भगवान् सर्वशक्तिमान्–एकक्षणावच्छेदेनैकस्यैव पदार्थस्य भावकरोऽभावकरश्चेति । एवं षष्ठे खण्डे "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्"–इतिवाक्येन–"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यनेन च परमेश्वर एव बोध्यः, रुद्रस्य सर्वव्यापकत्वाऽसम्भवात् , एकपदस्य–स्वसजातीय–स्वोत्कृष्ट–स्वसमान–स्वेतरनिषेधकस्य रुद्रे प्रयोगाऽसम्भवात्, रुद्राणां प्रतिब्रह्माण्डनियतत्वेनाऽनेकत्वात् । "शम्भुराकाशमध्ये ध्येय" इत्यादौ शम्भुशब्दस्य परब्रह्मणि प्रयोगो न तु रुद्रे, शंभुपदस्य परमेश्वरवाचकत्वं प्राङ्निरूपितमेवेति ॥

यच्च—'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त' इति रुद्रस्य वचनं पूर्वपक्षेऽभिहितम् । तत्तु–सर्वान्तर्यामिणं परमात्मानं सर्वान्तरात्मतयाऽवस्थितं प्रत्यक्षीकृत्य परमात्मभिन्नमन्यं स्वतन्त्रमनवलोकयतः स्वमपि तदात्मकतया पश्यतो रुद्रस्य तद्वचनं यथा वामदेवादीनामपि परमेश्वराऽभिन्नत्वात्मानुसन्धानेन–'अहं मनुरभवम्' इत्यादिव्यवहारः श्रूयते । यथा च रुद्रस्य 'तं मामायुरमृतमुपास्स्वे'त्युपदेशः श्रूयते । तथैवाऽत्रापि स एव न्यायः–'सोऽन्तरादन्तरं प्राविशदि'त्युत्तरवाक्येन विशदीकृतं यथा–'देवैः पृष्टो रुद्रः–अहमेव वर्तामि भविष्यामि नान्यो मत्तः कश्चिदित्याह–'सोऽन्तरादन्तरं प्राविशदिति ॥ सः–एवं वदन् रुद्रस्तदानीम्, अन्तरात्–जीवात्, अन्तरम्–परमात्मानम्, बुद्ध्या प्राविशत् न तु केवलाऽहंप्रत्ययविश्रामम् स्वस्वरूपेऽमन्यत किन्तु परमेश्वरे इति ।

अद्वैतास्तु—परमेश्वरतत्त्वं जीवतत्त्वाद्भिन्नं न भवतीत्यभ्युपगच्छन्ति । तेषामयमाशयः–'न हि जीवाद्भिन्ने परमेश्वरतत्त्वे किमपि प्रमाणं पश्यामः । न हि तत्र प्रत्यक्षंप्रमाणम्, अरूपिद्रव्यस्य चक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्वाऽभावात्, अस्पर्शद्रव्यस्य स्पार्शनप्रत्यक्षाऽसंभवात्, परमात्मना सह स्वमनःसंयोगस्य प्रत्यक्षजनकत्वाऽयोग्यत्वेन मनसाऽपि परमेश्वरप्रत्यक्षाऽसंभवादिति । अत एवाऽलौकिकसन्निकर्षेण योगात्मनाऽप्यप्रत्यक्षं युक्तं तस्येति । नाऽप्यनुमानम् प्रमाणं तत्र युक्तम्, श्रुत्यादिप्रतिपाद्यस्य निर्गुणनिष्क्रियात्मकस्यात एव धर्मरहितस्य स्वधर्मात्मकलिङ्गाऽप्रसिद्धेः । भवन्ति च श्रुतयोऽभेदप्रतिपादिकाः सहस्रशो यथा–'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते' 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'अथातोऽहंकारादेशः अहमेवाऽधस्तादहमुपरिष्टादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम्' 'यत्परं ब्रह्म विश्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् । सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत् त्वमेव त्वमेव तत्' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नाऽन्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' 'एवं वा अरे महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति' 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवा-

ऽनुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं न ततो विजुगुप्सते' 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' 'अद्वयो ह्ययमात्मा एक एव न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयः' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्याद्याः ॥

स्मृतयश्च—'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः' ॥ 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' ॥ 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' ॥ 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्' ॥ 'यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥' 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' 'परमार्थस्त्वमेवैको नाऽन्योऽस्ति जगतः पते !' 'यदेतद् दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव । भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः ॥ ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः । अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे ॥ ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् । ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ! ॥ तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् । विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः' 'यदान्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम ! तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते' 'वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः । अभेदव्यापिनो वायोस्तथाऽसौ परमात्मनः' 'सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् । इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः' 'विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति' 'विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम् ॥ ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ॥ एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति' इत्याद्याः ॥

सूत्राणि च—'अंशो नानाव्यपदेशात्' 'आत्मकृतेः' 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे'ति । इत्येवं श्रुतिस्मृतिसूत्रप्रकाण्डैरभिप्रेतेऽद्वैते चेतनतत्त्वेऽपि पुनर्भेददर्शनन्तु विचित्तानामेव भवितुमर्हति, अत एव भेददर्शनकर्तॄणां बन्धोऽपि श्रूयते यथा—'अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इति । प्रेरितारं परमात्मानं स्वतः पृथक् मत्वा—ब्रह्मचक्रे—मायामये भ्राम्यते हंसो जीव इत्यर्थः ॥

यत्र द्वैतिनो 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति श्रुतिर्जीवपरमात्मभेदपरा इत्यभ्युपगच्छन्ति । तत्तु न युक्तम् । तस्या अन्तःकरणजीवपरायणत्वात् । तत्र स्वाद्वत्तीत्येतदन्तःकरणपरं, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति तु जीवपरम्, तदेतत् पैङ्गिश्रुत्या व्याख्यातम् यथा—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति ज्ञः, तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञाविति' सत्त्वमन्तःकरणं क्षेत्रज्ञश्च जीव इति । तथा च अत्र श्रुतौ परमेश्वरजीवभेदवार्ता—एव नास्तीति भावः ॥ अथवा—व्यावहारिकभेदमवलम्ब्यैव जीवान्तर्यामिपरत्वेऽस्याः श्रुतेः प्रवृत्तिरिति, न तु तया पारमार्थिकभेदसिद्धिः सम्भवति, बिम्बप्रतिबिम्बनिबन्धनो हि ज्ञायमानभेदो न स्वस्य पारमार्थिकत्वं द्रढयति । कदाचिदुपाधिलये सति प्रतिबिम्बस्य बिम्बतः पृथक्त्वयाऽनवस्थानप्रसङ्गेन भेदस्य विलयादेवेति, पारमार्थिकत्वेन सद्वस्तुनः कदाचिदपि विलयाऽसंभवादिति । अतस्तादृशभेदस्य व्यावहारिकत्वं भवति यावदविद्यासंसर्गस्तावदेव व्यवहारो न तु पश्चादिति । ननु श्रुतेर्यथार्थवादिन्याः कथमेवमपारमार्थिकोपदेशपरत्वं युज्यते इति चेत् !, इत्थम्—पूर्वखण्डे 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इत्यादिना ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वप्रदर्शने—भवत्याशंका ब्रह्मणः सर्वभोक्तृत्वविषयिणी । तन्निरासाय—अपारमार्थिकोपदेशः प्रसज्यते 'बिम्बप्रतिबिम्बभूतयोर्ब्रह्मजीवयोर्मध्ये—एकोऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बरूपो जीवात्मा कर्मफलमत्ति, स चाऽन्तःकरणाभिन्न इव स्वं पश्यन् कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यन्तःकरणधर्माऽभिमानी भवति । अथ बिम्बरूपो ब्रह्मात्मा तु स्वस्य स्वरूपेणाऽन्तःकरणव्यतिरिक्तोऽतएवाऽन्तःकरणधर्माऽध्यासरहित उदासीनः साक्षिमात्रः कर्मफलमनश्नन्—अभुञ्जानस्तिष्ठति, अतो भोक्तृत्वादिकं नास्तीति । वस्तुतस्तु तदेवमस्य ब्रह्मात्मनः स्वप्रतिबिम्बान्न भेद इति । किन्त्वन्तःकरणाऽनवच्छिन्नस्याऽन्तःकरणावच्छिन्नादन्यत्वं व्यवह्रियत इति । विशेषभेदात् भेदव्यपदेशमात्रमिति तु तत्त्वम् ।

ननु वस्तुतोऽभिन्नस्यैकस्य कथमेकदा भोक्तृत्वाऽभोक्तृत्वोभयविधव्यवहारस्योपपत्ता । नहि—उत्कटदुःखविशिष्ट आत्मा तत्क्षणावच्छेदेन दुःखाभाववानिति भवितुमर्हति, नहि दण्डवान् पुरुषस्तत्क्षणावच्छेदेन दण्डाभाववानिति व्यवहर्तुं शक्यः, इति चेन्न । नहि शुद्धनिर्मलस्वरूपाऽऽकृतिपुरुषस्य दर्पणगतप्रतिबिम्बस्था दर्पणगतमालिन्यादिधर्माः संक्रमिताः—बिम्बात्मके पुरुषस्वरूपेऽध्यवसितुं युक्ताः, अननुभवात् । एवमेव प्रतिबिम्बगता दुःखादयो न ब्रह्मात्मनि प्रसज्यन्ते इति । दुःखादयस्तावदात्मनि प्रतिबिम्बात्मकेऽप्यध्यस्ताः सन्ति न तु यथार्थाः । यत्र हि यथार्थतया धर्मधर्मिभावस्तत्र तु भवति विरोधः—यथा दण्डवानित्यत्र धर्मधर्मिभावस्य याथार्थ्येन भवति दण्डवान्—दण्डाभाववानिति प्रतीत्योरेककालावच्छेदेन विरोधः, यत्र च धर्मधर्मिभावयोर्याथार्थ्यं नास्ति तत्र स्वाध्यासादेव तादृशव्यवहारो न तेन परस्पर-

विरोधः–यथा सर्पाध्यासेन रज्जावपि सर्पोऽयमितिव्यवहारो भवति, तत्र रज्जुत्वाध्यासकालेऽपि सर्पत्वशून्यैव, तथा भोक्तृत्वाद्यध्याससमयेऽपि जीवात्मनि भोक्तृत्वाऽभाव एव–अतो व्यावहारिकत्वं न तु पारमार्थिकत्वं तस्य भोक्तृत्वादेरिति, तथा भेदाऽध्यासकालेऽपि चैतन्यात्मा त्वभिन्न एव, अतो भेदस्यापि व्यावहारिकत्वं न तु पारमार्थिकत्वमिति । अतः–'द्वा सुपर्णा–इतिमन्त्रस्याऽयमर्थः–सुपर्णौ शोभनपक्षौ–एकस्य धर्माऽधर्मौ पक्षौ, अन्यस्याऽविद्यातत्सम्बन्धौ पक्षौ । सयुजौ–समानयोगौ, योगो नाम–तादात्म्यं–तेन सहाऽभिन्नावित्यर्थः । बिम्बप्रतिबिम्बभावेन सदा संसृष्टाविति वा । एवंभूतौ द्वौ–बिम्बप्रतिबिम्बभावव्याप्तौ जीवेश्वरौ । समानम्–शरीरम्, उच्छेदसाम्यात् । परिषस्वजाते । तयोरितिनिर्धारणे षष्ठी । अन्यः धर्माऽधर्मपक्षो जीवः । पिप्पलं स्वादु सुखदुःखात्मकं फलम् । अत्ति भक्षयति । अन्यः–ईश्वरः । अनश्नन्–सुखादिकमभुञ्जन् सन् । अभिचाकशीति–अहं सुखाद्यभिमानादिशून्य इति प्रकाशतेऽइति एवं–'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः'–इति मन्त्रेणाऽपि जीवेश्वरैक्यज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं प्रतीयते यथा–'समाने–एके साधारणे । वृक्षे–शरीरे । निमग्नः–बद्धः । पुरुषो जीवात्मा प्रतिबिम्बस्वरूपः । अनीशया–अनैश्वर्येण । मुह्यमानः–मुग्धः सन् । शोचति–शोकं करोति । यदा च 'जुष्टम्–कार्यकारणसङ्घातजुष्टमन्यमन्यम्, वस्तुतस्तु तद्विविक्तात्मस्वरूपम् ईशं पश्यति–ईश्वरात्मकत्वेनाऽवस्थितं स्वं पश्यति । तदाऽस्य ईश्वरात्मकस्य–महिमानम्–अवगत्येति शेषः । वीतशोकः–बन्धरहितो भवति–ब्रह्मस्वरूपो जायते इति यावत् । एवम्–'ज्ञाऽज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' इत्यत्रापि अज्ञत्वम्, अनीशत्वम्, अध्यासमात्रं बोध्यम् ॥ एवम्–'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" इत्यत्रापि–अन्यादिनिर्देशः–उपाधिभेदनिबन्धन इति । तस्मान्निरस्तनिखिलभेदभावं परं ब्रह्मैवाऽनिर्वचनीयं निर्विशेषसंवित्स्वरूपं चैतन्यात्मतत्त्वं मायामाविश्य तदुपाधिपरिकल्पितबिम्बप्रतिबिम्बभावभेदेन भिद्यते न तु वास्तविको भेद इति सिद्धान्तयन्ति ॥

स च सिद्धान्तो नैतद्दर्शनसम्मतः, तत्र प्रथमं तावदद्वैतानां 'निरस्तनिखिलभेदभावं परं ब्रह्मे'त्येतदेव नोपपद्यते, तत्र निरस्तनिखिलभेदस्य परब्रह्मणः कीदृशं स्वरूपं भेदसामान्याभावमाश्रयता भवताऽभ्युपेयते ॥ यदि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमित्युच्यते ! तदा किं तच्छ्रुत्या जायमानं ब्रह्मविषयकं ज्ञानं विशिष्टं वा अविशिष्टम् । यद्यविशिष्टं, तदा तस्य निर्विकल्पकात्मकत्वेन प्रत्यक्षाऽसंभवात् , शाब्दबोधस्य च विशिष्टविषयकत्वादिति । विशिष्टज्ञानाभावे च–इदं सत्यमेव न त्वसत्यम् , इदं ज्ञानमेव न त्वज्ञानम्, इत्येवं निर्णयाऽनवस्थानात् कथं तादृशसम्मुग्धज्ञानसदृशज्ञानेन मुमुक्षूणां इति ।

अतः 'सत्यंज्ञानमि'त्यादि–वाक्यविषयकश्रवणमनननिदिध्यासनादिना दृढतरसंस्काराहितस्मरणादिकं यत्किमपि तादृशवाक्यजन्यं ज्ञानं विशिष्टमेव सर्वानुभवसिद्धं भवताऽभ्युपेयम् , विशिष्टज्ञानं च विशिष्टविषयं विना न संभवति विशिष्टविषयश्च धर्मधर्मिभेदं विना न सम्भवति, तथा चाऽत्र–'सत्यं ब्रह्म' इत्यस्य 'सत्यत्ववद्ब्रह्मे'-तिविशेष्यविशेषणभाव उपपन्नः । एवमेव–'न त्वसत्य'मित्यत्रापि निर्णये–असत्यत्वाऽभाववद्ब्रह्मेति बोधानुभवाद्–असत्यत्वाभावात्मकस्य धर्मस्य भेदो ब्रह्मणि धर्मिणि सिध्यत्येवेति, तथा च भेदसिद्धौ कथं–निरस्तनिखिलभेदं ब्रह्मे'ति ।

किञ्च—निरस्तनिखिलभेदमिति वदता भवता ब्रह्मात्मके विशेष्ये निरस्तनिखिलभेदात्मकं विशेषणं निर्णीतमेव, विशेषणविशेष्यभावव्यवहारश्च न ह्येकस्मिन् वस्तुनि कदापि सम्भवति, भवति तु भ्रान्तानामेव, न ह्येतद्वेदान्तविचारप्रवृत्तानां विदुषाम्, तेषां तादृशश्रुत्यादिजन्यं ब्रह्मविषयकं विमलं ज्ञानं 'भ्रम'-इति न वक्तुं शक्यम् ।। ननु भवन्तु नाम सत्यत्वादयो धर्मा ब्रह्मणि तथापि ते तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना ब्रह्मात्मका एव, अतो न विशेषणानां भेदो ब्रह्मणि कल्पनीय इति चेन्न । किं तावद् धर्माणां ब्रह्मणा सहाऽभेदमुपपादयितुं तादात्म्यसम्बन्धस्तत्र कल्प्यते ! तत्तु न विचारसहम् । यतो हि सम्बन्धस्य भवति सम्बन्ध्यपेक्षा, द्वयोरेव संसर्गस्वीकारात् , तथा च सत्यत्वतादात्म्यब्रह्मेतिवस्तुत्रयभेदापत्तिरिति । ननु नहि तादात्म्यसंसर्गः स्वसम्बन्धिनोः परस्परभेदनियामकः, तथा सति तस्य तादात्म्यत्वमेव न स्यात् , अतो न सत्यत्वब्रह्मणोः परस्परं भेद इति चेन्न । तादात्म्यसंसर्गः स्वसम्बन्धिभिन्नेषु स्वसम्बन्धिभेदनियामक इति मात्रं भवतः सिद्धान्तस्तदा सत्यस्य ब्रह्मणः कुत्र भेदोऽभ्युपगन्तव्यः !, यदि चाऽसत्ये जडवस्तुरूपमायापदार्थे–इति, तदा मायाया भेदो ब्रह्मण्यपि सिद्धः, तथा च निरसितप्रायो भवत्सिद्धान्तो–'निरस्तनिखिलभेदं ब्रह्मे'ति ।

अथ समानाधिकरणशब्दानामखण्डार्थाऽवबोधकत्वमिति स्वभावः, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिशब्दा–हि विशेषणविशेष्यभावाऽनापन्नवस्तुस्वरूपसत्तामात्रबोधका भवन्ति । तस्मान्न तत्र विशेषणविशेष्यभावमवलम्ब्य भेदकल्पनंयुक्तमिति–चेत् ! उच्यते–का नाम–भवन्मताऽभिमताऽखण्डार्थता ! किम्—अच्छेद्यार्थता ! उत निरवयवार्थता ! किम्वा विशेषणविशेष्यभावाऽनापन्नार्थता ! न तावत्प्रथमः पक्षः । यथा—'मधुरं रम्यं कोमलं ह्रस्वं कदलीफल'मित्यत्र समानाधिकरणमधुरादिशब्दानां प्रतिपाद्यार्थस्य कदलीफलस्य नहि—अच्छेद्यत्वं दृष्टमिति । ननु नित्यपदार्थवाचकसमानाधिकरणशब्दानामेवाऽखण्डार्थाऽवबोधकत्वमिति– यथा—'अजैका लोहितशुक्लकृष्णा माया'–इत्यत्र तादृशशब्दानां मायात्मकाऽखण्डार्थबोधकता भवत्येवेति । तथैव ब्रह्मबोधकशब्दानामपीति चेत् !–सत्यम् । घटते हि

अनित्यपदार्थवाचकशब्देनाऽनित्यपदार्थबोधः, नित्यपदार्थवाचकशब्देन नित्यपदार्थबोधः, एवं सत्यं ज्ञानमित्यादिनित्यपदार्थवाचकशब्दैर्नित्यब्रह्मपदार्थबोधः सम्भवत्येवेति सर्वथादिसिद्धम्, अत उभयसिद्धान्तसिद्धञ्चेति तथा प्रत्येकं प्रयुक्तानाम् असमानाधिकरणशब्दानां 'घटः पट आत्मा नित्य' इत्येवमादीनामपि—अनित्यार्थवाचकानामनित्यार्थघटपटाद्यवबोधकत्वम्, आत्मा नित्य—इत्यादिशब्दानां च—'आत्मनित्या'खण्डार्थावबोधकत्वमिति, एवं च भवदुक्तं समानाधिकरणशब्दानामखण्डार्थता—इति वचनमयुक्तिकमेवेति भ्रान्तिप्रयुक्तमेवेति च ॥ किञ्च—सत्यं ज्ञानमित्यादिशब्दानामखण्डार्थबोधकत्वप्रदर्शनप्रयासेन प्रकृते भेदनिरासे किमायातम् ! प्रस्तुतोऽयं विपर्यस्तावभिरस्तनिखिलभेदं ब्रह्माऽवलम्ब्येति । अत एव निरवयवार्थता एवाऽखण्डार्थता, इत्यपि प्रयासो निरर्थकः, अनवयविपदार्थवाचकेन शब्देन निरवयवार्थबोधकत्वस्य स्वाभाविकत्वेऽपि निरवयवार्थतात्मकाऽखण्डार्थताया भेदनिरासेऽनुपयोगित्वादिति । यदि—विशेषणविशेष्यभावाऽनापन्नार्थता—एव—अखण्डार्थता, तथा च—सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मे'त्येवं निर्विशेषणकं ब्रह्म बुद्ध्यते—इत्युच्यते ! तदपि न । यतो हि निर्विशेषणकब्रह्मबोधो भवति न तु केवलब्रह्मबोधः, तथा च तत्र निर्विशेषणकत्वस्य विशेषणस्वरूपतया तादृशबोधे भवदभिमताऽखण्डार्थत्वभङ्गादिति ॥ अथ केनचित् धर्मेणाऽप्रतीयमानो धर्मी—एव निर्विशेषणकः, नैतावता निर्विशेषणकत्वस्य विशेषणतारूपकल्पना युक्ता—इतिचेदुच्यते ! तदा भवन्तु नाम सत्यं ज्ञानमित्यादिशब्दा ब्रह्मपरास्तथापि—'सगुणब्रह्मपराणां—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम' इत्यादीनां तत्तद्गुणपुरस्कारेणोपास्यताप्रतीतिजनकानामपि भवन्मते निर्विशेषणकब्रह्मबोधकत्वाऽऽपत्तिरिति ॥ ननु सगुणवाक्यानामपि विशेष्यमात्रार्थबोधपरत्वमभ्युपगम्यते इति चेन्न । तथा सति 'सत्यसंकल्पः सर्वकामः सर्वज्ञः'—इत्यादिशब्देभ्य उपस्थाप्यमाने 'सत्यसंकल्पविशिष्टब्रह्म—सर्वकामनादिविशिष्टब्रह्म—सर्वविषयकज्ञानविशिष्टब्रह्म'—इत्येवं विशिष्टार्थे योऽयं विशेषणार्थांशः—सत्यसंकल्प—सर्वकामना—सर्वविषयकज्ञाने—त्यादिरूपस्तस्य परित्यागेनैकांशस्य बोधनात्—एकः खण्डो गृहीत—इति खण्डार्थतापरत्वं सगुणवाक्यानामापद्येत, तथा च स्वाभिमतविरुद्धार्थाऽऽपत्तिरिति ॥ किञ्च—विशेषणविशेष्यभावापन्नशब्दानां स्वानुरूपार्थाऽनवबोधकत्वे तत्तत्पदार्थवाचकत्वमेव तत्र व्याहन्येत, प्रकृते च—'सर्वविषयकज्ञानवद्ब्रह्मे'तिप्रतीतिजनकत्वं यदि सर्वज्ञपदे न स्यात् तर्हि सर्वज्ञब्रह्मवाचकत्वमेव तत्र न स्यात् तथा च 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इति श्रुतिवत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतयोऽपि ब्रह्मपरायणा इति कथं ज्ञातुं शक्याः स्युः । प्रत्युत भवदभिमतब्रह्ममात्रार्थबोधकत्वे तु अशक्याऽवाच्यार्थबोधकत्वाऽऽपत्तिरपि स्यादिति ॥

अथ—शाब्दबोधे भवन्ति–आकांक्षायोग्यताऽऽसत्तितात्पर्यज्ञानानां प्रयोजकत्वम्, एवंचे–'सर्वकामः सत्यसङ्कल्प' इत्यादिसगुणवाक्यानाम्-'सत्यं ज्ञानमनन्त'–मित्यादिनिर्गुणवाक्यानाञ्च यत्र ब्रह्मणि विशेष्यमात्रे तात्पर्यं तस्यैव विशेष्यमात्रस्य बोधकत्वमिति, अतस्तेषां सर्वेषां ब्रह्मवाचकत्वं युक्तम्, तथा च न यथार्थवाचकत्वानुपपत्तिरयथार्थवाचकत्वोपपत्तिरिति दोषलेशोऽपि–इति चेत् !, उच्यते,–तेषां सगुणनिर्गुणवाक्यानां विशेष्यमात्रे ब्रह्मणि तात्पर्यम्, विशेष्यविशेषणसंसर्गे च तात्पर्याऽभाव–इत्यत्र किं नियामकम्। यद्युच्येत विशेषणविशेष्यसंसर्गेषु तात्पर्ये सति वैशिष्ट्यभाने विशेषणं– संसर्गो–वैशिष्ट्यमिति खण्डभेदाऽऽपत्तिः, खण्डभेदे चाऽनेकार्थाऽऽपत्तिः। विशेषणस्य–विशिष्यते व्यावर्त्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या विशेषणस्याऽनेकविधस्यैकविधविशेष्यभेदसाधकत्वात्। तत्र–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादौ–सत्यत्वं–स्वेतरविशेषणविशेषिताद् विशेष्यात् स्वविशेष्यं भिनत्ति यथा 'सत्यत्ववद्ब्रह्मे'ति। एवं ज्ञानत्वम्–स्वेतरविशेषणविशेषिताद् विशेष्यात् स्वविशेष्यं भिनत्ति–यथा 'ज्ञानत्ववद्ब्रह्मे'ति। एवमेव–अनन्तत्वादीन्यपि। एवञ्च तत्तद्विशेषितयोरैक्यमनुपपन्नम्, अतः स्वरूपमात्रपरताऽऽश्रयणीया, स्वरूपमात्रपरत्वे तादृशवाक्यानामपि तात्पर्यमिति युक्तिर्नियामिकेति॥ तदपि न। यतोहि–नहि समानविभक्तिकाऽनन्तविशेषणभेदेन धर्मिभेदो भवतीति नियमः, येन तत्र तात्पर्याऽनभ्युपगमानुसरणस्याऽऽवश्यकताऽपि स्वीक्रियेत। तथाहि भेदकधर्मात्मकविशेषणस्य ह्ययमेव स्वभावः स्वाश्रयस्य धर्मिणः स्वाऽनाश्रयधर्मितो व्यावर्त्तनमिति, नतु स्वाश्रयस्य स्वेतरधर्माश्रयतो भेदकत्वमिति, दृश्यते हि–'शुभ्रो युवा चकिताक्षः श्रीयुक्तः पन्नगवाहनो विष्णु'रिति वाक्ये शुभ्रत्वं यौवनं चकिताक्षिणी श्रीः पन्नग–इतिविशेषणैर्विभिन्नधर्मरूपैः स्वाश्रयधर्मिणो विष्णोः स्वाऽनाश्रयनीलपाषाणादितो व्यावर्त्तनम्, नतु शुभ्रत्वेन स्वाश्रयस्य विष्णोः शुभ्रत्वेतर–यौवनस्वधर्माश्रयविष्णोर्भेदसाधनमिति। तथैव–'सत्यं ज्ञानमनन्त'–मित्यादावपि समानविभक्तिकाऽनन्तविशेषणैरपि–एकस्य स्वाश्रयधर्मिणः स्वेतरविशेषणाश्रयतया ततो भेदसाधकत्वं न स्यादेवेति। तदिदं सिद्धम्–येषां विशेषणानां वैयधिकरण्यं दृष्टं तेषां विशेष्यभेदकत्वम्, येषान्तु न वैयधिकरण्यं तेषान्तु न विशेष्यभेदकत्वमिति तथा च धर्मभेदेन धर्मिणो भेदाऽनापत्तौ सत्यां धर्मसंसर्गादौ तात्पर्यग्रहणे न विरोधः। एवं च विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिशाब्दबोधोऽपि स्वीकार्य एव। सति चैवं विशेषणानां परस्परभेदाद्ब्रह्मानात्मकत्वमपि सिद्धम्, ब्रह्मात्मकत्वे तु विशेषणानां परस्परभेदभाव एव न स्यादिति, दृश्यते च विशेषणानि–'सत्यसंकल्पः–सर्वज्ञः' इत्यादीनि–इच्छाज्ञानादिस्वरूपाणि, तथा चेच्छाया ज्ञानस्य च परमात्मनि स्वाधिकरणे भेदस्य वर्तमानतया कथं निरस्तनिखिलभेदं ब्रह्मेति भवत्सिद्धान्तः सुस्थितः सम्पद्येतेति।

ननु समानाधिकरणवाक्यानां विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबोधकत्वे–सामानाधिकरण्यलक्षणमेव स्याद्धन्येत, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति हि तल्लक्षणम्, विशेषणविशेष्यरूपार्थभेदे सत्येकस्मिन् विशेष्यमात्रार्थे वृत्तेरनवकाशात् सामानाधिकरण्यमेव न स्यादिति, अतो विशेष्यमात्रार्थे वृत्तिरिति चेन्न । विश्रृङ्खलपक्षोऽयम्, यतोहि–'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दाना'मित्येवमुच्चारयता भवतैव भिन्नेषु प्रवृत्तिनिमित्तार्थेषु भिन्नशब्दानां वृत्तिरिति सिद्धीकृतम्, कथं पुनरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिरित्युच्यते ॥ किञ्च–विशेषणानां भेदेऽपि विशेष्यैक्यादेकार्थपरत्वे सति विशेषणानां सर्वेषां स्वरूपमात्रपरत्वमिति–आपातम्, तथा च विशेष्येणैव स्वरूपमात्रबोधस्य सर्वत्र सूपपादत्वेन विशेषणानां प्रयोगवैयर्थ्यमिति च ॥ ननु–स्वरूपमात्रपरत्वेऽपि पदार्थान्तरव्यावृत्तिबोधनायैव विशेषणसार्थक्यमिति चेत् । सत्यम् । किमत्र तत्तद्विशेषणस्य यः प्रवृत्तिनिमित्तार्थस्तदन्वयबलेनेतरपदार्थव्यावर्तनम् ! उताऽन्वयमन्तरेणाऽपि ! यद्यन्वयेन, तर्हि तु न विशेष्यमात्रप्रतिपत्तिः, विशेषणार्थस्य विशेष्यार्थेन सहाऽन्वयाद्, वैशिष्ट्यबोधस्यैव संभवादिति । यद्यन्वयमन्तरेणाऽपि, तदा तु–इतरव्यावर्तनाऽऽगम एव न स्यात्, नहि विशेषणपदशतेनाऽपि तदर्थान्वयाऽनभ्युपगमे इतरव्यावर्तनसिद्धिः, प्रत्युत न इतरबोधकत्वापत्तिः, अन्वयस्याऽनियामकत्वादिति । अस्माकन्तु विशेषणविशेष्यार्थयोरन्वय एवेतरार्थबोधव्यावर्तक इति ॥ ननु नाऽत्र वाच्यार्थानामन्वयो विशेष्यार्थेऽपेक्ष्यते, किन्तु तैस्तैर्विशेषणैरितरव्यावृत्तिरूपलक्ष्यार्थाऽवबोधे सति विशेष्यमात्रबोधलाभः, इतरव्यावृत्तिस्तूपलक्षणमात्रं न तु–इतरव्यावृत्तिरूपं पुनर्विशेषणं विशेष्यार्थे इति । एवं च सति न वैशिष्ट्यप्रतीतिर्न वा विशेषणानां वैयर्थ्यमिति–चेत् ! अयुक्तिकमेतत् । यतो हि विशेषणानां स्वशक्यार्थानां विशेष्यार्थेऽन्वयाऽनुपपत्तावेव लक्ष्यार्थाऽपेक्षा, अन्वयाऽनुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वात् । 'सत्यं ज्ञान'मित्यादौ तु विशेषणानां स्ववाच्यार्थानां विशेष्येऽन्वयोपपत्तेः सर्वजनसिद्धत्वेन किमर्थं लक्षणया–इतरव्यावृत्तिरूपोऽर्थः कल्पनीय इति । तस्माल्लक्ष्यार्थकल्पनमनुचितमेवेति । किञ्च लक्ष्यार्थस्य पुनरुपलक्षणस्वरूपत्वमित्यपि भ्रान्तिप्रसूतम्, यतोहि–विशेषणवाच्यार्थस्य विशेष्यार्थेऽन्वयाऽनुपपत्तिभिया तत्र लक्षणामाश्रित्य लक्ष्यार्थस्याऽन्वयो विशेष्येऽर्थेऽभ्युपगम्यते सर्वैः, यथा 'गंगायां घोष' इत्यत्र गंगातीररूपलक्ष्यार्थं कल्पयित्वा तस्य घोषार्थेऽन्वयः । तथाऽत्रापीतरव्यावृत्तिरूपलक्ष्यार्थस्योपलक्षणत्वमयुक्तमेव, यतस्तस्याऽन्वयो विशेष्ये कर्तव्यस्तथा च सतीतरव्यावृत्तिरेव विशेष्येऽन्विता, तेन वैशिष्ट्यावगाहिता एव सुस्थितेति ।

किञ्च–उपलक्षणरूपाः तत्तद्विशेषणप्रतिपाद्या इतरव्यावृत्तयो ब्रह्मणि सम्बद्धा असम्बद्धा वा ! यद्यसम्बद्धास्तदा तु तासां भेदो ब्रह्मणि सुस्थितः, तथा च निरस्तनि-

खिलभेदमिति रिक्तं वचः, यदि च सम्बद्धास्तदा कोऽयं सम्बन्धः ! यदि तादात्म्यरूपः, स तु न संभवति, व्यावृत्तेरसिरप्रतियोगिकब्रह्मानुयोगिकपदार्थत्वात्, तादात्म्यस्तु न ब्रह्मतदितरोभयगामीति, अतः सम्बन्धान्तरः स्वरूपात्मकः कल्पनीयः, एवं च सति भेदस्तु व्यावृत्तेः स्वरूपसम्बन्धेन ब्रह्मणि वर्तमानत्वे सति अपि ब्रह्मणि व्यावृत्तिभेदस्तु सुस्थित एव, तथा च निरस्तनिखिलभेदमिति रिक्तं वचः । तस्मात् 'सत्यं ज्ञान-मित्यादौ सामानाधिकरण्यमेव भवन्मते विशेष्यमात्रबोधकतापक्षे न घटते । अतः सामानाधिकरण्यसंगमनार्थमेव तत्रैकविशेष्यकानेकविशेषणकबोधः स्वीक्रियताम् । भवदभिमततादृशलक्षणवाक्यानामपि समानाधिकरणाऽनेकार्थबोधजनकत्वेन सामंजस्यादिति ।

पदानां सामानाधिकरण्यं च—पदविशिष्टपदत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वविशिष्टविषयताविशिष्टविषयताविशिष्टत्वसम्बन्धेन । विषयतायां विषयताविशिष्टत्वं च—स्वावच्छेदकाऽवच्छिन्नत्व-स्वनिरूपिततादात्म्यनिष्ठसांसर्गिकविषयतानिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन । पदवैशिष्ट्यं च विषयतायां—प्रयोज्यतासम्बन्धेन । विषयतावैशिष्ट्यं च पदे प्रयोजकतासम्बन्धेन इति ॥ इत्थञ्च 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्मे'त्यादिवाक्यानां सविशेषे ब्रह्मण्येव तात्पर्यात् परेषामखण्डार्थपरत्व-मिति तु विचित्रप्रलापमात्रमिति । यच्चाऽभिहितं चैतन्यमात्रं तत्त्वं ब्रह्म मायामा-श्रित्य तदुपाधिपरिकल्पितबिम्बप्रतिबिम्बभावभेदेन भिद्यत इति । तदिदमपि विचारयामः । ननु कथम् अरूपिद्रव्यस्य प्रतिबिम्बमिति चेत् ! नाऽयं नियमो यद् यस्य प्रतिबिम्बं तद् रूपवदेव भवेदिति । आकाशस्याऽप्यरूपिणः प्रतिबिम्बसम्भवात् । यदि चाकाशं न प्रतिफलति किन्त्वभ्रनक्षत्रादिकमेवेति । तदाऽपि अरूपिणो रूपस्य क्रियायाश्च प्रतिबिम्बं जलदर्पणादौ दृश्यत एव, तव मतेऽपि अरूपिद्रव्यस्यात्मनो बुद्धौ प्रतिबिम्बमङ्गीकृतं तथैव ब्रह्मणः प्रतिफलनं युक्तमिति । मैवम् । सर्वतो व्याप्तस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बनं न युक्तमिति । यतो हि सर्वतो व्याप्तस्य तस्याऽविद्यायामपि व्याप्तस्य कथमविद्यायां प्रतिबिम्बनं स्यात्, नहि जलान्तर्गतस्य पदार्थस्य जले प्रतिबिम्बं दृश्यते क्वापि । वयन्त्वात्मनो व्यापकस्यापि हृदयावच्छेदेन स्थितस्य प्रतिबिम्बनमभ्युपगच्छामः ॥ ननु सर्वतो व्याप्तस्याप्याकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य प्रतिबिम्बनं दृश्यते जले इति वदिति चेत् ! सत्यम् । तथापि तत्रोपरि-तनस्थितस्य गगनप्रदेशविशेषस्य साभ्रनक्षत्राद्याश्रयस्य प्रतिबिम्बं न दृष्टं जलान्तःस्थितस्य सजलाऽऽकाशस्य प्रतिबिम्बनमिति । न च ब्रह्मप्रतिबिम्बनिर्वाहाय प्रदेशभेदकल्पना युक्ता, तथा सति नित्यत्वं निरवयवत्वं तस्य व्याहन्येत ॥ नन्वविद्योपाधि—तदभावाभ्यामौपाधिकः प्रदेशभेदो ब्रह्मणि सुवच इति चेन्न । नहि निरुपाधिके सच्चिदानन्दे सर्वशक्तिसम्पन्नेऽविद्यापराभवो युज्यते, युज्यते चेत् ! तदा-

ऽविद्यात्मकाऽसिना विच्छिद्यमानं ब्रह्म जीवतामभ्युपगच्छत् सादि विच्छेद्यमनित्यमसमर्थं च स्यादिति ॥ ननु यथा सूर्यः सलिलतरङ्गनिष्ठतया गृह्यमाणो नानात्वेन गृह्यते न तु वस्तुतो नाना, न वा तथा सति सूर्यस्य विच्छेदादिकं तदानीं दृश्यते, एवमेव ब्रह्माऽप्यविद्यातरङ्गसंसर्गेण नानेव दृश्यते इति चेत् ? सत्यम् । तथापि—ब्रह्म नानात्वेन दृश्यते इत्यत्र प्रष्टव्यं भवति—'केन दृश्यते ? इति । यदि सलिलतरङ्गसंसृष्टसूर्यप्रतिबिम्बानि सूर्यतत्प्रतिबिम्बभिन्नैरस्माभिरवलोक्यन्ते तथा ब्रह्मतत्प्रतिबिम्बभिन्नैरन्यैः कैश्चिदवलोकनीयानि ब्रह्मप्रतिबिम्बानि । एवं च सति ब्रह्मभिन्नानां चेतनानां द्रष्टॄणां सत्त्वव्यवस्थापनेन—अद्वैतवादसिद्धान्तहानिः । यदि चोच्यते—ब्रह्मणैव प्रतिबिम्बात्मकरूपैरवलोक्यते स्वं नानात्वेनेति, तदा वस्तुतोऽभिन्नस्वरूपस्य ब्रह्मण अभेदज्ञानमेव यथार्थमिति तत्परित्यागेन भ्रान्तिदर्शनात्मकभेदज्ञानवत्त्वेन ब्रह्मणोऽनित्यज्ञानवत्त्वाऽऽपत्तिः, भ्रान्तत्वाऽऽपत्तिः, बन्धापत्तिश्चेति ।

अथ भ्रान्तिज्ञानम्-अज्ञानम्, तच्च जीवभावप्राप्तेऽपि ब्रह्मणि न वास्तविकम्, यतोहि-अज्ञानमविद्याधर्मः, तस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वमेव संभवति, कल्पितेनाऽज्ञानेन ब्रह्मस्वरूपस्य तिरोधानात्संसारपाशसम्भवइति चेत् ? भवतु नामैवम्, तथापि किम्—अविद्यायां तादृशी ब्रह्मशक्तितोऽपि बलवती शक्तिरस्ति ? यया ब्रह्मशक्तिः पराभूय स्वशक्त्या ब्रह्मस्वरूपं तिरोभूतमिति ? यद्यविद्याशक्तिः प्रबला तर्ह्युपास्यतां बलवत्यविद्या, स्वल्पशक्तिकं ब्रह्म परित्यज्यतामिति ॥ ननु न ह्यविद्याशक्तिर्बलवती किन्तु—सर्वेश्वरस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बाधानरूपाऽऽवरणशक्तिः सम्भवत्येवाऽविद्यायां तया आवरणशक्त्या न ब्रह्मपराभवकर्तृत्वं, किन्तु ब्रह्मप्रतिबिम्बस्य मायास्वरूपात्मककाराग्रहगतस्याऽऽवरणरूपपराभवकर्तृत्वमिति, अथ च द्वितीयया विक्षेपकशक्त्या विविधवासनातरङ्गप्रयुक्तसुखदुःखाद्यध्यासः क्रियते इति, नैतावता ब्रह्मणः पराभवः, किन्तु—तत्प्रतिबिम्बस्यैवेति चेत् ? । नैतद्विचारसहम् । यतः—ह्यल्पज्ञानिनः स्वप्रतिबिम्बपराभवे सति स्वपराभवसंसर्गलेशः, न तु सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य तल्लेशसम्भवो युक्त इति । तथा सति सर्वज्ञाऽल्पज्ञयोः को भेद इति । किञ्च—निर्विशेषं प्रकाशैकरसं ब्रह्माऽविद्यया तिरोभूतमित्येतन्न घटते एव, तथाहि—किं नाम तिरोधानम् ? अविद्यास्वरूपच्छाया—इतिचेत् ? सा छाया किं ब्रह्मसंसृष्टा ? वाऽसंसृष्टा ? यद्यसंसृष्टा तदा तया तिरोभावोऽपि न स्यात्, यदि संसृष्टा ? तदा कोऽत्र संसर्गः तादात्म्यस्तदतिरिक्तो वा ? यदि तादात्म्यस्तदाऽतिरिक्तब्रह्मस्वरूपाऽभावे ब्रह्मैव—अविद्या, तस्याऽविद्यात्मकब्रह्मण उपासनैव विफला । यदि संसर्गान्तरम्,—तदा छायाभेदोऽपि ब्रह्मणि सुस्थितः, तथा च निर्विशेषं ब्रह्म इति रिक्तं वचः । छायाभेदस्यापि तत्र धर्मरूपेण भासादिति ॥ किञ्च—अविद्याछायापराभवे सति ज्ञानात्मकं ब्रह्म अविद्याछाययैव प्रकाशते न तु स्वशक्त्या तथा च स्वयंप्रकाशत्वमपि

व्याहतं तत्रेति । ननु जीवास्तु ब्रह्मप्रतिबिम्बात्मकाः, प्रतिबिम्बानि चाऽसमर्थानि, यथा पुरुषस्य महति दर्पणे गतं प्रतिबिम्बं यत्पुरुषश्चलन-कम्पन-हास्य-व्यापारादिकं करोति तथा प्रतिबिम्बं चलति कम्पते हसति चेति, तत्र स्वयंप्रकाशत्वतिरोभावेनाऽविद्याप्रकाश एव युक्तः, नैतावता शुद्धे ब्रह्मणि स्वयंप्रकाशत्वहानिरिति चेन्न ॥ यदि प्रतिबिम्बं चेतनपुरुषव्यापारानुरूपव्यापारवत् न तु स्वतन्त्रतया, तथा च तत्र स्वतन्त्रचेतनत्वमपि खपुष्पवदलीकमेव, एवं च जडरूपस्यैव तस्य प्रतिबिम्बस्य कथं जीवचेतनत्वमपि युक्तं भवेत् ! प्रत्युत प्रतिबिम्बस्य जडत्वेन जीवानां जडतत्वाऽऽपत्तिरिति । तस्मान्मायायां ब्रह्मप्रतिबिम्बकल्पना न युक्ता, किन्तु ब्रह्मभिन्नतया नित्यमवस्थितस्य जीवतत्त्वस्याऽल्पज्ञस्याऽशक्तस्य प्रतिबिम्बेन सुखदुःखादिभोगोपाधिर्युक्ता, नैतावता तस्य स्वरूपे काचिद्धानिः समापतति, अल्पज्ञस्य भ्रान्त्यादिना सर्वविधौपाधिकव्यवहारसंभवादित्यलं विस्तरेण ॥

अथ भेदप्रतिक्षेपकतया परोदाहृतश्रुतीनां तत्तदाशंकानिरासपूर्वकं भेदसिद्धान्तानुगुणार्थतात्पर्यमालोचयामः "नेह नानाऽस्ति किञ्चने'तिश्रुत्या न तावद्भेदसामान्यं निषिध्यते किन्तु यस्य महायोगिनः परमेश्वरतत्त्वस्य स्वात्मस्वरूपस्य च साक्षात्कारो जातस्तादृशदशाऽऽपन्नस्य स्वस्वामिपरमेश्वरातिरिक्तं किमपि नाना न भासते । किन्तु यत्र पश्यति तत्र परमेश्वरसच्चिदानन्दतत्त्वमेव पश्यतीत्यर्थो बोध्यते । यस्य त्वविद्यासंसर्गस्तस्यैवाऽनेकविधप्रसूताऽविद्याऽऽभासो भवति, त्रिगुणसम्बन्धाभावे तु न नानाविधाऽविद्याभास इति । एवम्–'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' "मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि–वाक्यस्यापि—'यः पुरुषः, इह–संसृतिसागरे, नाना इव–गुणत्रयेण विविधविस्तृताऽविद्याम् पश्यति–दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन गृह्णाति, स पुनः पुनः जननमरणमधिगच्छति, अविद्यासम्बन्धाऽभावे तु–अविद्याया दर्शनाभावे स्वस्य मुक्तता–इति तात्पर्यार्थः । नैतावता तात्त्विकभेदनिरासः क्रियते इति । "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति स न वेद'—'इत्यस्या अपि—'यः पुरुषः, अन्याम्–परमेश्वरभिन्नाम्, मायारूपां देवतामुपास्ते,–तस्य–अहमन्यः,–मायाऽन्या, परमेश्वरश्चान्यः,–इत्येवं विवेकख्यातिर्न भवति, अतोऽज्ञानाऽभिभूतस्य तस्य प्रकृतिलय एव भवति न तु मोक्षप्राप्तिरिति स्फुटोऽर्थः । नैतावता भेदसामान्यनिषेधः, प्रत्युत तया तु–'अन्यां देवताम्' 'अन्योऽह'मितिशब्दप्रयोगेण तात्त्विको भेदः प्रख्याप्यत एवेति । एवं–'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' इत्यस्या अपि—'यत्र यदा द्वैतं भवति–प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानं भवति, तदा स इतरः–चेतनात्मा,–इतरं–मायातत्त्वं स्वभिन्नतया पश्यति, ततः सोऽयं विवेकख्याती परमेश्वराऽऽश्रये च

'आत्मैवाऽभूत्'–स्वात्मस्वरूपं परमात्मस्वरूपमेव पश्यति मुक्तिदशापन्नः, तदा केन कं पश्येत्, केन कं विजानीयात्, स्वात्मपरमेश्वरतत्त्वाऽतिरिक्तस्य तत्राऽस्वन्ताभावादेव न स्याच्चेतनाऽतिरिक्ततत्त्वस्य दर्शनम् भानं वेति । किन्तु–स्वात्मपरमात्मविषयकमेव दर्शनभानादिकमिति–विशदोऽर्थः । नैतावता भेदनिरासः । प्रत्युत–'इतर इतरं' इतिप्रयोगेण तया पारमार्थिको भेदः साध्यत एवेति । एवम्–'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' इतिश्रुत्याऽपि–'प्रकृति–तत्पदार्थेभ्यो ब्रह्मणः आत्मनश्च यथार्थभेदज्ञानं यस्य जातं स विवेकख्यातिमान् योगी यज्ज्ञानार्थं योगाभ्यासाद्यनुष्ठितं तत्सर्वं ज्ञातवान् अत एव कृतकृत्य' इत्यर्थो बोध्यते, न तु भेदसामान्यनिषेधः प्रतिपाद्यत इति । एवम्–'यदा ह्येवैष उ दरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इत्यस्या अयमर्थः–एष–आत्मा यदा यदा 'दरम्'-मलिनं मायातत्त्वम्, अन्तरं–स्वात्माऽभिन्नमिव, कुरुते–मन्यते, तस्य तु जननमरणादिसंसारभयं भवतीति ॥ एवं–'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवाऽनुपश्यति । सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं न ततो विजुगुप्सते' इतिश्रुतौ भूतशब्दः–प्राणधारिचेतनपरायणः, तथा चाऽयमर्थः–'यथा स्वात्मनि स्वस्य स्वस्वरूपाकारप्रेमवृत्तिस्तथा यः सर्वभूतानि स्वात्मवत् पश्यति, अथ च सर्वेषु प्राणिषु अन्तर्यामितया स्थितं परमात्मानं पश्यति, तस्य कुत्रापि चेतनतत्त्वे विजुगुप्सा न जायते, प्रत्युत स्नेहप्रवाहेणाऽऽत्मस्वरूपाऽवस्थितो योगफलं प्राप्नोतीति, न चैतावता तत्र भेदनिषेधाऽवकाशः, प्रत्युत 'सर्वाणि भूतानी'त्यादिबहुवचनप्रयोगेण बहूनां भेदसिद्धिः परमात्मना सह प्रसज्यत एवेति ॥ 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽऽभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यस्या अपि–यस्मिन्–परमात्मनि, सर्वे–चेतनात्मानः स्वीयतया भवन्ति, तदा ते परमात्मात्मकमेव सर्वं पश्यन्ति तदा शोकमोहादिकं न भवत्येवेति तात्पर्यार्थः ॥

अथैवं 'तत्त्वमसि' 'त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिस्थले तु सामानाधिकरण्यतयाऽन्वयबोधोऽवगन्तव्यः । यथाहि सर्वेषु जडचेतनवस्तुषु व्यापकः परमात्माऽन्तर्यामितयाऽवतिष्ठते, तेन जडचेतनात्मकं सर्वं परमात्मना सह संसृष्टमिति सिद्ध्यति, एवं च जडचेतनपदार्थानां परमात्मनो विलक्षणत्वेऽपि तत्राऽन्विततया तत्तज्जडचेतनवाचिशब्दैस्तत्र तत्र श्रूयमाणं परमात्मवाचकशब्दस्य सामानाधिकरण्यं संगच्छते, यथा–'गौरयं'–मित्यादौ गोत्वादिवाचकगवादिपदानां गोरूपधर्मिणि सामानाधिकरण्यं दृष्टम्, यथा वा दण्डकुण्डलादिपदार्थस्य देवदत्तेऽन्वयेऽपेक्षिते तद्वाचिदण्डादिशब्दानां धर्मिणि पर्यवसानाऽसम्भवे धर्मिबोधनाय मत्वर्थप्रत्ययसापेक्षता दृष्टा, यथा वा

त्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत !" इत्यत्र शरीरैकदेशे हृदये सन्निहितस्य जीवस्य ज्ञानप्रभयाऽऽपादतलमस्तकं प्रकाशकत्वमुच्यते ॥" "मद्भावं सोऽधिगच्छती'त्यत्र तु भावशब्दस्य धर्मवाचकत्वात् परमात्मनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तत्वादिधर्मान् मुक्तावस्थायां चेतना अपि प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ "परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते ! । तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम् ॥ यदेतद्दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव । भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः"—इत्यस्या अयमेवार्थः—हे जगत्पते ! परमपुरुषार्थरूपस्त्वमेक एव-मोक्षप्रदातृत्वात्, त्वया व्यापकेन सर्वमेतद्व्याप्तम्, यच्चैतन्मूर्तं प्रकृत्यात्मकं दृश्यते तत्सर्वं ज्ञानात्मनस्तवैव व्याप्यम्,—तत्सर्वम् अयोगिनोऽज्ञाः—भ्रमयुक्ताः त्वां विहाय केवलं जगद्रूपं पश्यन्तीति, नैतावता जगद्ब्रह्मणोरभेदस्तत्रोपपादनीयो भवति ।। "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि तत् । विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः"—इत्यत्रापि—अतस्तु स्वपरदेहेषु सतोऽपि भिन्नतयाऽवस्थितस्याऽऽत्मनः सतः—एकमयं—देहाद्यभिन्नतां ये द्वैतिनः पश्यन्ति तेऽतथ्यदर्शिनो भ्रान्ताः इति । अतएव प्रकृत्यादिभिन्नस्याऽऽत्मतत्त्वस्य द्रष्टारो विवेकख्यातिमन्तो मुक्ता इति व्याख्यन्ते ।। 'यस्त्वन्योऽस्ति परः कोऽपि' इत्यादावपि—हे अर्जुन ! यदि मत्तः परः कश्चित्स्यात्—अन्तर्यामिणो मम सत्तां विहायाऽन्यः कश्चिन्मयाऽव्याप्यः स्यात्,—तदाऽयं स्वतन्त्रोऽन्यः अहं त्वन्य इति विशेषः शक्येत वक्तुम्॥ अत एव 'वेणुरन्ध्रविभेदेन'इत्यत्राऽपि वेणुरन्ध्रेषु प्रविशतां वाय्वंशानां भिन्नानां वायुत्वेनैकस्वरूपाणामपि रन्ध्रोपाधिनिबन्धनः षड्जादिस्वरभेदो भवति, तत्र यथा वायुत्वेन वायोरैक्येऽपि वाय्वंशा भिन्ना भिन्नास्तथाऽत्र चेतनत्वेन प्रकृतिभिन्नत्वैकतत्त्वात्मकानां वस्तुतो भिन्नानामात्मनामन्तर्याम्यहमेक एवेति ॥ 'सोऽहं स च त्वं च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज मोहभेदम्'-इत्यस्य-सोऽहम्-दृश्यमानशरीरात्मकोऽहम्, स च त्वम्—दृश्यमानशरीरात्मकस्त्वम्, सर्वम्—प्रकृतिरूपमेतदात्मस्वरूपम्—इत्याकारकाऽभिन्नताप्रकारकमोहविशेषं त्यज'इत्यर्थः ॥ 'विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति'—इत्यस्य-विभेदजनके-विगतो भेदो यत्र विषयतया तद्विभेदमभेदमित्यर्थः, तथा च प्रकृतिपुरुषयोरभेदभावे आत्यन्तिकत्वं गते सति प्रकृतिपुरुषविवेकख्यातौ सत्याम् परमात्मनो भक्तिं विदधतो भक्तस्य परमात्मना सह यो भेदः—तं त्वसन्तं कर्तुं कः समर्थः, न कोऽपीत्यर्थः, तेन तु तत्र भेदः साधित एवेति ॥ एवं—'विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम् । ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ॥ एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति' इत्यस्याऽयमाशयः—बुद्धिस्तु चित्तात्मिकैकैव, सा विविधव्यापारभेदेन विविधवृत्तिभिर्बहुरूपा, यदा त्वेकाग्रतया शुद्धं रजस्तमोवेग-

रहितं ज्ञानं प्रभवति तथा क्लेशादिसंगरहितो विवेकख्यातिमान् योगी परमेश्वरशरण्यःसन् तिष्ठतीत्यर्थः । न चात्र भेदनिरासलेशोऽपि, अतः स्मृतिवाक्यसहस्रेण भेदभावे स्थिरीकृते तद्व्याख्या भ्रमप्रयुक्तानामभेदानुपतनं पतनमात्रप्रयुक्तमेवेति बोध्यम् ॥

अथ दर्शितसूत्राणामाशयः प्रदर्श्यते—शारीरकमीमांसायामंशाधिकरणे—'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' इति श्रुत्यनुरोधेन किं जीवः परमात्मनोऽत्यन्तभिन्नः ! उत 'तत्त्वमसी'त्यादिश्रुत्यनुरोधादभिन्नः ! इति संशये सति 'अंशो नाना व्यपदेशा'दितिसूत्रमवतारितम्, तस्याऽयमर्थः—'नानाव्यपदेशात्—नानाश्रुतिस्मृतिप्रमाणवाक्यैः साधितत्वात्—अंशो जीव इति । अंशत्वं नाम स्वविजातीयभिन्नत्वे सति स्वसजातीयत्वम्, स्वविजातीयत्वं च स्वाऽवृत्तिविशेषधर्माऽवच्छिन्नत्वम् । स्वसजातीयत्वञ्च स्ववृत्तिविशेषधर्मवत्त्वम्, भवति च परमात्मविजातीया प्रकृतिः, सजातीयाश्च चेतना इति । यद्वा-स्ववृत्तिविशेषगुणसजातीयगुणतादात्म्यकत्वमिति । श्रुतयोऽपि पूर्वोक्ता अत्र प्रमाणं बोध्यम्, ये च—'सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा' इत्यादिश्रुतिमवलम्ब्य वह्निविस्फुलिङ्गयोरिव जीवेश्वरयोरंशांशिभावं व्याचक्षते, ते त्वत्र प्रष्टव्या भवन्ति—किमीश्वरस्यांशो जीवः ! इति । तथा सति जीवेश्वरौ स्वविद्याकल्पितौ, ब्रह्मणि कल्पितयोर्द्वयोर्न भवितुमर्हत्यंशांशिभावः, न हि रज्जौ परिकल्पितयोः सर्पभूच्छलयोर्भवेन्मिथोऽशांशिभावः कश्चित्, ईश्वरत्वजीवत्वोपाध्योरविद्यान्तःकरणयोरुत्कर्षाऽपकर्षसत्त्वेऽपि न तदवच्छिन्नयोस्तयोरंशांशिभाव इति । यदुच्येत—ब्रह्मभावनयांशित्वं तस्येति, तन्नु नोचितम्, यतः 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यत्राऽस्मच्छब्देनेश्वरत्वविशिष्टेंऽशत्वप्रतीतेः, नतु ब्रह्मत्वविशिष्टे इति । ननु लक्षणया तत्र ब्रह्म एवाऽस्मत्पदेनोपस्थाप्यते इति चेन्न । एवं सत्यपि भवन्मतेऽधिष्ठानरूपं ब्रह्म, तत्प्रति कथमध्यस्ते जीवेंऽशत्वाऽवकाशः, न हि स्थाणुमधिष्ठानं प्रत्यध्यस्तः पुरुषस्तदंश इति भवति ॥ किञ्च—निरवयवस्य परमात्मनो जीवस्य च कथं वह्निविस्फुलिङ्गवदंशांशिभावो घटेत ! तथासति सावयवत्वेऽनित्यत्वापत्तिरिति ॥ एवं—जीवश्चेच्चैतन्यब्रह्माऽनतिरिक्तस्तदा कथं स्वस्यांशिनःस्वस्यांशत्वमिति व्यवहारः । यद्यन्तःकरणोपाधिकचैतन्यमेवांशतयोच्यते तदापि तच्चैतन्यं किम् ! ब्रह्मसत्ताशून्यम् ! वा तदशून्यम् ! अशून्यं चेत् ! तदा स्वस्यैवांशांशिभावाऽनुपपत्तिरित्युक्तमेव । यदि ब्रह्मसत्ताशून्यम्, तदाऽनादिनो जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वं भवत्वस्मन्मताऽभिप्रेतोऽशांशिभाव इति । यदि द्वयोरन्तःकरणोपाध्यात्मकदेशभेद एवांशांशिभावनियामको न तु वास्तविको द्वयोर्भेद इत्युच्यते तदप्यत्यन्तमसारम् । नहि नित्यशुद्धबुद्धसच्चिदानन्दब्रह्मणो देशोपाधिः संक्रान्ता भवितुमर्हति, येन देशभेदस्य तत्र नियामकत्वमभ्युपेतं स्यात् । स्याच्चेत् ! तदा देशभेदो नियामको ब्रह्मचैतन्यं नियाम्यमिति वैपरीत्येन देशभेद एव परब्रह्म स्यात्, तथा चाऽभावात्मकपरमात्मवादः समुपतिष्ठेत बौद्धवदिति । अतो नाऽयम-

द्वैताऽभिमतांशवादः प्रमाणपथमधिरोहतीति ॥ एवम्–'आत्मकृते'–इतिसूत्रेण पर-मात्मन उपादानकारणत्वमुक्तं भवता, तदप्यत्यन्तमसहम्, नहि जडचेतनयोरत्य-न्तविरुद्धयोः कार्यकारणभावो भवितुं योग्यः, तथासति ब्रह्मणो जडत्वाऽऽपत्तिः स्या-दिति । अतोऽत्र कृतिर्नाम प्रयत्नः परमपुरुषार्थ इति, आत्मनः कृतेः–आत्मकृतेरिति विगृह्य प्रकृतेः संसाररचनाऽऽत्मने भोगापवर्गदानायेत्यर्थो लभ्यते, भवति चायं योगा-चार्याणां सिद्धान्तइति, नैतावता तत्राऽभेदसाधनगन्धोऽप्यस्ति ॥ एवं–'तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्यः'–इतिसूत्रमपि–'वाचारम्भणं विकारो नामधेय'मितिश्रुतिप्र-माणतया प्रकृतिरूपकारणतोऽनन्यत्वं कार्यसंघातस्य बोध्यमित्यर्थकम् । 'वाचार-म्भणं विकारो नामधेयमि'त्यस्यायमर्थः–वाचया केवलमारभ्यते व्यवह्रियते विकार–जातम्, घटशरावादिकं सर्वं प्रकृत्यात्मकमपि कार्यतया व्यवह्रियते इति । तस्मा-न्नैतत्सूत्रेणाऽपि जगद्ब्रह्मणोरभेदः संसाध्यतइति ॥ एवम्–'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेति' सूत्रमपि–परमात्मा–अहमितिग्राह्यो वाऽतिरिक्तः कश्चिदित्याशंका-शमनपरतारितम् । तस्यार्थः–सर्वेऽपि वैदिकाः परमात्मानमात्मतत्त्वतया स्वीकुर्वन्तीति नैतावताऽऽत्मतत्त्वमेकमिति सिद्ध्यति, जीवात्मेश्वरात्ममुक्तात्मब्रह्मात्म–परमेश्वरात्मा-दिभेदेनाऽनेकविधस्याऽऽत्मतत्त्वस्य शास्त्रसम्मतत्वादिति । एवम् 'अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा'इतिश्रुतेर्भवद्व्याख्यातोऽर्थो न युक्तः किन्तु प्रकृतितोऽपि विविक्तं प्रेरणकर्तृत्वादिरहितमपि तम् प्रेरितारं–कर्तारं मत्वा, ब्रह्मचक्रे–ब्रह्मण्याश्रमायाचक्रे भ्राम्यते इत्यर्थबोधकत्वादिति ॥

या च—'द्वा सुपर्णा'—इत्यादिश्रुतिरन्तःकरणजीवपरतया व्याख्याता । तत्तु न युक्तम् । अन्तःकरणस्य जडवस्तुनः स्वयं भोग्यरूपस्य भोक्तृत्वाऽसंभवात्, किन्तु सा–जीवात्मपरमात्मपरायणा, यतोहि—तदव्यवहितोत्तरेण–'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न'–इत्यादिमन्त्रेण पुरुषशब्दस्याऽभिधानात् नहि जडस्यान्तःकरणस्य पुरु-षत्वं श्रुतिशतैरपि साधयितुं शक्यमिति । अन्यश्चात्र श्रुतौ परमात्मैव बोध्यः,—'अन्यर्मोक्ता'–मिति श्रवणात् । स च परमेश्वरोऽनश्नन्नभोक्तास्ति । जीवश्च स्वाद्वत्ति–भोक्ता भवति, इति स्फुटार्थप्रतीतेः ॥ एतेन 'पैङ्गिश्रुत्या व्याख्यातम्–अन्तःकरण-जीवोभयम्' इति खण्डितं बोध्यम् । पैङ्गिश्रुतौ—सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोर्व्याख्यानम्–'तदेतत्सत्त्वं जीवो येन स्वप्नं पश्यति–अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः पर-मेश्वर'–इति बोध्यम् । तथा च समर्थितं महाभारते मोक्षधर्मे ''ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा । प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् ॥ सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः'' ।। एवं तत्रैव कपिलाऽऽसुरिसंवादे ''अन्यत्तु वक-मन्यत्पुष्करपर्णं तथाऽन्यत्क्षेत्रमन्यः पुरुषः पञ्चविंशकः–अन्यश्चाऽस्मात् क्षेत्रज्ञः''–एवम्–''आसुरे अन्यद् द्रव्यमन्यः पुरुषः पञ्चविंशतितत्त्वमन्योऽस्मात् क्षेत्रज्ञ'' इति ।

एवं सनत्कुमारनारदसम्वादे तु—प्रकृतिः—क्षेत्रम् , पुरुषः क्षेत्रज्ञः, पुरुषः क्षेत्रम्—परमेश्वरश्च क्षेत्रज्ञः, तथा च परमेश्वराऽपेक्षया द्वयोः क्षेत्रत्वमिति उक्तम्, यथा—'पश्यः पश्यति पश्यन्तमपश्यन्तं च—पश्यति । पश्यस्तं पश्यपश्यत्वात् पश्याऽपश्ये न पश्यतः'' इति—तदर्थस्तु—पश्यः—परमात्मा, पश्यन्तं—पुरुषम्, अपश्यन्तं—प्रकृतितत्त्वम् , च पश्यति, अथ पश्यत्वात् पुरुषः पश्यपश्यत्वात्प्रकृतिश्च परमात्मानं न पश्यत' इति । तथा—मानवः प्रयोगोऽपि—'योऽस्यात्मनः कारयिता क्षेत्रज्ञं तं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मेति चोच्यते' इत्यादिना प्रकृतिपुरुषपरमेश्वरादिभेदस्तु सुस्थिर एवेति ॥

यत्तु—समभिहितम् 'अथवा व्यावहारिकभेदमवलम्ब्यैव जीवान्तर्यामिपरत्वेऽस्याः श्रुतेः प्रवृत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बनिबन्धनो हि श्रूयमाणो भेदो न स्वस्य पारमार्थिकत्वं द्रढयतीति ॥ तदप्यसत् । नह्यस्मिन् द्वासुपर्णेत्यादिमन्त्रे बिम्बप्रतिबिम्बभावबोधकं पदमुपलभ्यते येन तद्व्यवहारोऽङ्गीक्रियेत, प्रत्युताऽस्ति 'तयोरन्य' इत्याभ्यां पारमार्थिकभेदसमर्थनमिति ॥ ''समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इत्येतदपि बिम्बप्रतिबिम्बभावे न घटते । यतो ह्यत्र शरीरात्मकैकदेशे द्वयोः सत्त्वम् प्रतिपाद्यते । भवन्मते—बिम्बप्रतिबिम्बयोस्तु क्वचिदपि न ह्येकदेशवर्तित्वं कस्याऽप्यनुभवसिद्धं भवति । तस्मादेकदेशस्थितयोर्द्वयोर्भिन्नत्वात्—जीवात्मत्वपरमात्मत्वेतिसूक्तमेवेति ॥ यत्तु—'एवं—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान' इत्यादिमन्त्रेण जीवेश्वरयोरैक्यज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमिति प्रतीयते' इति व्याख्यातम् । तत्तु न विचारसहम् । यतो हि समानपदप्रयोगोऽन्यपदप्रयोगश्च यत्र वस्तुद्वयं स्वाभाविकं तत्रैव भवति यथा घटपटयोः सामानाधिकरण्यमित्यादौ, तथा च यद्यभेदज्ञानं तथा प्रतिपाद्यते तदा वस्तुतोऽभिन्नयोर्भेदाभिधानकं समानं पदमन्यपदं च व्यर्थमेव स्यात्, किन्तु द्वयोर्वास्तविकत्वेनैकपदार्थत्वाज्जडचेतनयोश्चैक्यादेकपदार्थस्य 'समाने वृक्षे' इति विहाय 'अभिन्ने वृक्षे' इति 'एकस्मिन्वृक्षे'—इति वा प्रयुञ्जीत । एवम्—'अन्यमीश' मिति विहाय 'स्वात्मकेश' मिति प्रयुञ्जीत । तथा तु न प्रयुक्तम् । तस्मात्प्रकृतिपुरुषपरमेश्वरादीनां तत्त्वानां भेदज्ञानेन मोक्षाऽवाप्तिरिति तस्य स्वारस्यम् ॥ अतएव 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति' इत्यादिना भेदज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमवगम्यते । इति सर्वं चतुरस्रम् ॥ ब्रह्ममीमांसासूत्रकृतोऽपि भेद एवेति मतम् । यथा 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते''—काण्वमाध्यन्दिनाश्चोभयेऽपि—अन्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरमधीयते—'य आत्मनि तिष्ठन् ,'—'यो विज्ञाने तिष्ठन्नि,—त्यादिना । एवम्—'भेदव्यपदेशात्' इत्यनेनापि—'समाने वृक्षे'—इत्यादिश्रुत्याऽऽत्मपरमात्मनोर्भेदो व्यपदिश्यते—इत्यर्थः । 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन'' इत्यस्य—'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽभ्यन्तरम्' प्राज्ञे-

नात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याती'ति सुषुप्तिसमये—उत्क्रमणसमये च जीवात्मपरमात्मनोर्भेदेन व्यपदेशात्, द्वयोर्भेद इत्यर्थः। "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'—इत्यनेन ब्रह्मजीवयोर्भेदः—'पृथगात्मानमि'त्यादिना भेदनिर्देशादित्यर्थः।

गीतायामपि—भेदनिर्देशो भगवता कृतः—'न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।" "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥" इति। स्मृतयश्चापि—"अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः। न तु बुध्यति गन्धर्व! प्रकृतिः पञ्चविंशकम्।' 'यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एव द्विजः स्मृतः। तदा सः केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति। तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति" "पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते। षड्विंशं विमलं शुद्धमप्रमेयं सनातनम्" 'निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम्। विमुक्त्यजति चाऽव्यक्तं यदा त्वेतद्विबुध्यते'॥ चतुर्विंशमसारं च षड्विंशस्य प्रबोधनात्। एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ!॥ प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनिदर्शनात्'। 'यदाऽनुपश्यतेऽत्यन्तमहन्यहनि काश्यप! तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति' 'अन्यश्च शाश्वतोऽव्यक्तस्तथाऽन्यः पञ्चविंशकः'॥ 'प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताऽव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाऽप्युभावेते लीयेते परमात्मनि' इति। श्रुतयोऽपि—विशेषतो भेदबोधिन्य उदाह्रियन्ते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।' 'क्षरन्त्वविद्या ह्यमृतन्तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः। क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मनावीशते देव एकः' 'पतिं विश्वस्याऽऽत्मेश्वरम्' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति।' 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यादयः।

ब्रह्मपरिणामवादिनः केचित्तु परमेश्वरजीवयोर्भिन्नत्वे सत्यप्यभिन्नत्वं मन्यन्ते, भेदाऽभेदयोरविरोधात्, भेदवचसामभेदवचसां च न मिथो विरोध इति। तथाहि-यथा घटशरावादिकं कार्यरूपेण भिन्नमपि कारणात्मना मृत्पिण्डाद्यभिन्नमेव, एवं जीवात्मनो ब्रह्मणो भिन्ना अप्यभिन्ना इति। तदिदमनादरणीयम्। तथा सति सकलसंसृतिकलङ्कस्य ब्रह्मण्येव प्रसङ्गात्। यथा देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना परिणामो ब्रह्मस्वरूपस्यैवेति भवतोच्यते। एवं च भिन्नानामपि जडचेतनादीनां ब्रह्मस्वरूपतो-

ऽभिन्नतया जडचेतनगता दोषा ब्रह्मण्येव प्रसज्येरन्। यथा घटकरावादीनां जला-हरणादिकार्यभेदेऽपि काठिन्याऽनित्यत्वादोषा मृद्येव सम्बद्धा इति, तथाच—अनव-स्थापराः श्रुतयो निरर्थिकाः स्युः ॥ एवं—सर्वज्ञस्य परमात्मनः दुःखिनं जीवं स्वस्मादभिन्नं जानतो दुःखमवर्जनीयमापद्येत, तेन जीवपरमात्मनोः सुखित्वदुःखि-त्वादिव्यवस्थाऽपि दुरुपपादैव स्यादिति। किञ्च—मृत्पिण्डवद्ब्रह्मणः परिणामे तस्य विकारित्वप्रसङ्गः स्यादिति। ननु परिणामे सत्यपि न विकारस्तस्य ब्रह्मणः, यथा कटकमुकुटात्मना परिणतस्य सुवर्णस्य सुवर्णत्वाऽनपायात् नहि कश्चिद्विकारो भवति, तथा जगज्जीवाऽऽत्मतया परिणतमपि ब्रह्म न विकृतं भवति तत्र ब्रह्मत्वाऽ-नपायादिति चेन्न। 'वीरप्रसूरियं वन्ध्ये'तिवद्व्याघातात्। यस्य स्वरूपतः परिणामस्तस्य विकारस्याऽवर्जनीयत्वात्। विकारत्वं नाम प्रथमाकारप्रहाणत्वे सत्याकारान्तरयोग-त्वमिति, तच्च कटकाकारे परिणते सुवर्णेऽस्ति। तथैव जगज्जीवाद्याकारेण परिणते ब्रह्मणि विकार आपद्येतैवेति। विकारशब्दार्थश्चोक्तो न्यायभाष्ये वात्स्यायनेन—'विकारश्च यदात्मकं द्रव्यं मृद्वा सुवर्णं वा तस्याऽऽत्मनोऽन्वये पूर्वव्यूहो निवर्तते व्यूहान्तरञ्चोपजायते तं विकारमाचक्ष्महे' इति। पठ्यते च विकारशब्दः परिणाम-पर्यायतया 'परिणामो विकारो द्वे समे विकृतिविक्रिये' इति। यच्चोक्तम्—भेदाऽभेद-योरविरोध—इति। तदपि न युक्तम्। न ह्येकस्यैकस्मिन्भेदे तस्य तस्मिन्नेवाऽभेद इति भवितुमर्हति, भावाऽभावयोर्विरोधात्, नहि पटे घटभेदे घटस्य तत्राऽभेदः शिल्पिसहस्रेणापि कर्तुं शक्यः। न वा जडचेतनयोरत्यन्तस्वभावभिन्नयोरभेदो भवितुं योग्यः, येन ब्रह्मणा सहाऽभेदवादो भेदवादश्चोपयुक्तो विबुध्येत। तस्मान्नायं भेदाऽभेदवादः कल्याणकरइति ॥—

"कश्चिज्जीवादभिन्नं प्रवदति परमं ब्रह्म मायाऽवभासात्।
स्वांशोपाध्यात्मकाद्वै वदति तदितरः कल्प्यमानात्मभेदात् ॥
कश्चित्स्वांशात्तु साक्षात्परिणतिरचितस्वात्मभेदाच्च एते।
भ्रान्ताः, सिद्धान्तश्रेष्ठः स्वयमिह गदितो योगसिद्धान्तपक्षः ॥ २४ ॥

तदेवं सर्वैश्वर्यस्य पराकाष्ठा तं परमेश्वरं प्रदर्श्य तत्र ज्ञानस्य पराकाष्ठां प्रदर्श-यन् सर्वज्ञत्वं प्रदर्शयति—

## ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

यावतां भूतभविष्यद्वर्तमानानां स्थूलसूक्ष्मपदार्थानां सामान्यतो विशेषतश्च ज्ञातृत्वं यदपेक्षया यत्राधिकं तदपेक्षया तस्य विशेषज्ञत्वम्, एवमेव कस्यचिद् बहुग्रहणं कस्यचिद्बहुतरग्रहणं कस्यचिद्बहुतमग्रहणम्, तदेतद्विवर्धमानं यत्र निरति-शयतां—पराकाष्ठां प्राप्तं तदेव सर्वज्ञताबीजं—सर्वज्ञत्वाधिकरणमिति। तथा चानु-

मानमपि 'सर्वज्ञत्वं–क्वचित्पराकाष्ठां प्राप्तम्, सातिशयत्वात्, परिमाणवदिति । परिमाणं हि ह्रस्वदीर्घादि–रूपाऽतिशयभाक्तया क्वचिद्गगनादौ महत्स्वरूपेण पराकाष्ठामपि प्राप्तं भवति । एवमेव विज्ञानमपि न्यूनाऽधिकतया सातिशयतां प्राप्तं सत् क्वचित्सर्वाधिकतया निरतिशयतामपि प्राप्तं भवतीति ।। तथाचाऽत्रार्थे श्रुतिः 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि' इति । स्मृतिश्च– 'सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्ववित्च समस्तशक्तिः परमेश्वराऽऽख्यः' इति ॥ वायुपुराणे— 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य' । महेश्वरः परमेश्वर इत्यर्थः । तद्यथा 'ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् ! प्रधाना ब्रह्मशक्तयः । ततो न्यूनाश्च मैत्रेय ! देवा दक्षादयस्ततः ॥ ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः' इति । अतएव परमेश्वरापेक्षया ब्रह्ममुक्तेश्वरप्रकृतिलयविदेहदेवजीवादयः सर्वेऽप्युत्तरोत्तरमल्पज्ञा इति भवन्ति । एवं पूर्णाऽऽनन्दताऽपीश्वरे निरतिशया, अन्यत्र ब्रह्मादिषु सातिशया, परमकारुणिकताऽपि परमेश्वरे निरतिशया, अन्यत्र ब्रह्मादिषु सातिशया, सर्वान्तर्यामिताऽपि परमेश्वरे निरतिशया, अन्यत्र ब्रह्ममुक्तादिषु सातिशया इति बोध्यम् । तदेवं परमात्मनि सर्वज्ञत्व–परमकारुणिकत्व–सर्वान्तर्यामित्व–पूर्णानन्दत्वादियोगे प्रमाणवचनानि–'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति' 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदायाऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवाऽसाधुना कनीयान्–एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' 'स वाऽयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः' 'सर्वेषां भूतानां राजा' 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' ॥ स्मृतयश्च–'परः पराणां परमः परमात्माऽऽत्मसंस्थितः ॥ सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ॥ ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षरमव्ययम् । एकस्वरूपं च सदा हेयाऽभावाच्च निर्मलम् ॥ 'स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने ! व्यतीतः । अतीतसर्वाऽऽवरणोऽखिलाऽऽत्मा तेनाऽऽस्तृतं यद्भुवनान्तराले ॥ समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः । इच्छागृहीताऽभिमतोरुदेहः संसाधिताऽशे-

प्रजगद्विलोऽसौ' 'तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः । परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ।। स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः । सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्ववित्त्व समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः' 'ब्रह्म मां परमं प्रापुः संत्यक्त्वा शतसहस्रशः' 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि' इति ।। या च श्रुतिः–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती'ति तया परमेश्वरस्य जगज्जन्मस्थितिभङ्गकर्तृत्वं बोध्यते । अथ च–'जन्माद्यस्य यतः' इतिव्याससूत्रेणापि तथा, अतस्तदुभयमपि परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वं वक्ति ।। अत्र विषये केचिद् योगिनस्तु परमात्मनः केवलमुक्तिप्रदत्वं न तु जगज्जन्मादिकारणत्वमपि निष्प्रयोजनत्वात् । अपि तु प्रकृतेः स्वतन्त्रप्रवृत्तिशीलाया जगज्जन्मादिकारणत्वमिति स्वीकुर्वन्ति । किन्तु परमेश्वरस्य सर्वनियन्तृत्वं सर्वेश्वरत्वं तथा सति व्याहन्येत तदेतद्दोषोद्धरणाय यन्तु प्रकृतेर्जगदुपादानकारणत्वं परमेश्वरस्य च स्वेच्छाद्वारा निमित्तमात्रत्वमित्यत्राऽभ्युपगच्छामः, येन 'यतो वा' इति वाक्यानां संगतिरुपपद्येत, तथा च 'सृष्टिसमये पुरुषार्थेन प्रेर्यमाणाः सत्त्वरजस्तमोगुणा विरूपपरिमाणाः सन्तो न्यूनाधिक्यवन्तो भवन्ती–तियोगसिद्धान्तेऽधिकमिदं बोध्यम् यत्–'सृष्ट्यारम्भेऽपेक्ष्यमाणे परमेश्वरस्य नित्येच्छायां सृष्टिर्विषयतया भासते । तथा च श्रुतिः–'स ऐक्षत' 'स ईक्षां चक्रे' इति तामिच्छामवगम्य निःश्रेयसभोगापवर्गात्मकेन परमपुरुषार्थेन अक्षरधामनि दिव्यतया वर्तमानेन त्रिगुणात्मिका माया प्रेर्यमाणा सती क्षोभं नीता । तदेवं विरूपपरिमाणत्रिगुणात्मकमायायाम् असंख्यानि महत्तत्त्वानि तमःपञ्चपर्वाणि मायाऽपेक्षयाऽणुरूपाणि मायाया उदरान्तर्गतानि–समुद्भूतानि, तन्मध्यत एकस्य दिग्दर्शनं–यथाऽऽऋग्वेदे–'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'–इतिवर्णितम्, तदिदं प्रत्येकमेकं महत्तत्त्वाख्यं तम इत्यपराऽभिधानं गोलकं पञ्चाशत्सहस्रपरार्धयोजनमानं–भवति, सा माया गर्भरूपेण तत्र तत्र महाविष्णुं बिभर्ति तदाऽस्य 'हिरण्यगर्भ' इतिसंज्ञा जाता । अण्डस्य च हिरण्मयकोश इति संज्ञा प्रथिता । अत्रार्थे ऋग्वेदः 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इति । तदस्मिन्महाविष्णौ परमात्मनाऽन्तर्यामितया प्रबोधिते सति तस्मादीश्वरस्वरूपाणि चत्वारि शरीराणि महाकारणाऽव्याकृतसूत्रात्मविराडिति विभक्तानि । तानि च रजस्तमोलेशरहितानि सत्त्वमात्रव्याप्तानीति, तत्र तत्र शरीरेषु यथायोगं स्थिताः सत्त्वमया महायोगिनश्चेतनाः सर्वेऽपीश्वरा उच्यन्ते । महाविष्णोर्महाकारणशरीरं हिरण्मयकोशतो दशांशन्यूनमानं पञ्चसहस्रपरार्धयोजनायतं–'अमृतनभोगोलकाभिधानं वर्तते, तत्र विष्णुरेव परमात्मतया ध्यायते, तत्रैव महाविष्णोरवतारणां धामानि संस्थितानि । तदन्तस्ततो दशांशन्यूनमानं पञ्चशतपरार्धयोजनायतं महाविष्णोरव्याकृतशरीरं–'सत्त्वस्वभावाकाश'स्यपराऽभिधानं वर्तते, तत्र हि भगवान्

महाविष्णुभिन्नः सृष्टिपोषणकर्ता विष्णुर्निवसति, यत्राऽनेके-ईश्वरा अपि निवसन्ति तदन्तस्ततो दशांशन्यूनमानं पञ्चाशत्परार्धयोजनायतं महाविष्णोः सूक्ष्मशरीरं 'निराकारचिन्मयाकाशे'त्यपराऽभिधानं रुद्रधाम वर्तते, यत्र रुद्राद्युपासकाः रुद्रादीश्वराश्च निवसन्ति । तदन्तस्ततो दशांशन्यूनमानं पञ्चपरार्धयोजनाऽऽयतं महाविष्णोः स्थूलशरीरं विराट्स्वरूपं—'आलोकाकाश' इत्यपराऽभिधानं विराजनारायणधाम विद्यते तत्र विराजोपासकाः विराजनारायणादय ईश्वराश्च निवसन्ति । यद्यपि—लोके—स्थूलशरीरस्य महत्त्वं सूक्ष्मशरीरादेरल्पत्वमित्यनुभूयते तथापि सृष्टिप्राविभर्वि तु वैपरीत्यं बोध्यमिति । अथ विराडाख्यशरीराद् दशांशन्यूनमानं पञ्चमध्ययोजनायतं प्रकृतिनामकमष्टममावरणं मूलमायायाः परम्परया कार्यात्मकं विराजोदरान्तर्वर्तते । ततस्ततोऽपि दशांशन्यूनमानं पञ्चाऽन्त्ययोजनायतं मूलमहत्तत्त्वस्य कार्यरूपम् अतएव महत्तत्त्वाऽपराभिधानकमावरणमस्ति । तदन्तस्ततोऽपि दशांशन्यूनपरिमाणं पञ्चसागरयोजनायतम्—अहङ्कारात्मकमावरणं कार्यरूपमस्ति । तदन्तस्ततोऽपि दशांशन्यूनपरिमाणं पञ्चपद्मयोजनायतम्—आकाशावरणं कार्यात्मकमस्ति । तदन्तस्ततोऽपि दशांशन्यूनपरिमाणं पञ्चशंखयोजनायतं वाय्वावरणं कार्यात्मकमस्ति । तदन्तस्ततोऽपि दशांशन्यूनपरिमाणं पञ्चनिखर्वयोजनायतं तेजस आवरणं कार्यात्मकमस्ति । तदन्तस्ततोऽपि दशांशन्यूनमानं पञ्चखर्वयोजनायतं जलस्याऽऽवरणं कार्यरूपमस्ति । तदन्तस्ततोऽपि दशांशन्यूनपरिमाणं पञ्चवृन्दयोजनायतं पृथिव्या आवरणं पञ्चार्बुदयोजनायतब्रह्माण्डपीठोपरि वर्तते । तान्येतान्यष्टावरणानि प्रकृतिलोका उच्यन्ते, तत्र सर्वे प्रकृतिलयाश्चेतना निवसन्ति । तदेवं सावरणंब्रह्माण्डमिदं चतुर्दशभुवनोदरं पितृपिदेवतिर्यङ्नरपशुदैत्यादिविविधचेतनसंकुलं वर्तते । यत्र प्राणिनां कृते प्रकृतिकार्यं बुद्धिः, तत्कार्यमहंकारः, तत्कार्यमिन्द्रियतन्मात्राणि सूक्ष्माणि पञ्चभूतानि च स्थूलानि व्यवस्थितानि । तत्र संसरन्ति चेतनाः । तदेतादृशं संसारचक्रं परमेश्वरेच्छाऽधीनपुरुषार्थेन प्रेर्यमाणमात्राजन्यस्य परमेश्वरः स्वेच्छाधीनपुरुषार्थद्वारा रक्षति, स्वेच्छाधीनपुरुषार्थद्वारा चोपसंहरति, तथा च न योगसिद्धान्तहानिः, न वाऽन्यसिद्धान्ताऽऽपात इति । तेन परमेश्वरस्य सर्वेशनशीलत्व—सर्वशक्तिमत्त्वादिकं सूपपन्नम्'—'यतो वा इमानी'त्यादि वाक्यान्यपि संगतानीति । एवं सृष्टिक्रमे ज्ञाते यस्य यस्योत्कृष्टत्वं तस्य तस्य सर्वज्ञत्वाद्यधिकं, यस्य यस्य च न्यूनस्थानं तस्य तस्य च न्यूनं सर्वज्ञत्वादिकमिति, तद्यथा—पश्वाद्यपेक्षया मनुष्याणामधिकमात्रं सर्वज्ञत्वं तदपेक्षया देवानां तदपेक्षया सत्यलोकस्थपित्रादीनां तदपेक्षया प्रकृतिलयानां तदपेक्षया विराजादीश्वराणां तदपेक्षया सूत्रात्मवासीश्वराणां तदपेक्षयाऽव्याकृतवासीश्वराणां तदपेक्षया अमृतमहाकाशवासीश्वराणां तदपेक्षया प्रकृतेर्मायातो बहिरवस्थितानां ब्रह्मलोकस्थानां

महामुक्तानां, तदपेक्षयाऽक्षरब्रह्मणो ब्रह्माऽपेक्षया च परब्रह्मणो ज्ञानैश्वर्यादिकं निरवधिकमिति । यतः—परमेश्वरात् कश्चिदधिकः तत्समानो वा नास्ति यदपेक्षया परमेश्वरस्यापि सर्वज्ञत्वादिकं न्यूनं समानं वा स्यादिति ॥ २५ ॥

ननु—मायान्तःप्रविष्टानामत एव मायापराभूतानामसर्वज्ञानां परमेश्वरव्यतिरिक्तानां देवेश्वरादीनां वाक्यान्यपि कदाचिद्भवेयुर्भ्रान्तिप्रयुक्तानि, तथा च वेदानां वेधसोच्चरितत्वात्—शास्त्राणां च महर्षिप्रणीतत्वाद् भ्रान्तिप्रयुक्तत्वशंका तत्र निराबाधा, एवं च तेषामप्रामाण्यं प्रसज्येतेति चेन्नैतादृशी शंका युक्ता । यतोहि—

## ॥ स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वेषाम्—पूर्वपूर्वसर्गादावुत्पन्नानां ब्रह्मविष्णुमहेशादीनामपि, गुरुः—पिता—अन्तर्यामी विद्यया ज्ञानैश्वर्यप्रद इति यावत् । अथ ब्रह्मादयो नहि नित्यज्ञानवन्तो भवितुं योग्याः, तेषां ज्ञानस्य कालेन—प्रलयेन, अवच्छेदात्—विनाशित्वात् । परमेश्वरज्ञानं तु कालेन नाऽवच्छिद्यते इति नित्यसर्वज्ञः । स च स्वज्ञानम् अक्षरब्रह्मादिद्वारा हिरण्मयकोशोद्भवकाले महाविष्णवेऽर्पयति, स च विराजादीश्वरेभ्यः, ते च ब्रह्मादिभ्यः, ते च मन्वादिभ्यः, ते च देवमनुष्यादिभ्य इति । तथा च परमात्मगतानां विविधविद्यानां नित्यज्ञानात्मिकानां परम्परया ब्रह्मादिष्ववतरणात् तत्कृतवेदशास्त्रादीनां नाऽनित्यत्वं भ्रान्तिप्रयुक्तत्वं च, तस्मात् प्रामाण्यमिति । अथ कालाऽवच्छेदः—प्रलयः, स च चतुर्विधः, नित्यः, नैमित्तिकः, प्राकृतः, आत्यन्तिकश्चेति । युगाश्चत्वारः—सत्य-त्रेता-द्वापर-कलिनामानः । तत्र सत्ययुगस्य वर्षाणि अष्टाविंशतिसहस्राधिक सप्तदशलक्षाणि, त्रेतायुगस्य षण्णवतिसहस्राधिकद्वादशलक्षाणि, द्वापरयुगस्य चतुःषष्टिसहस्राधिकाऽष्टलक्षाणि, कलियुगस्य द्वात्रिंशत्सहस्राधिक-चतुर्लक्षाणि । मिलित्वा चतुर्युगानां वर्षाणि विंशतिसहस्राधिकत्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि । तादृशचतुर्युगानामेकसप्ततिः मन्वन्तरं भवति, एकमन्वन्तरस्य वर्षाणि त्रिंशत्कोटि—सप्तषष्टिलक्ष—विंशतिसहस्राणि । प्रतिमन्वन्तरं ब्रह्मणो स्वनिमिषादिषु भूत्वा भूत्वा प्रलीयते वस्तुजातमकस्मात् स नित्यप्रलयः' । एकस्मिन्मन्वन्तरे एक एवेन्द्रस्त्रिलोकीराज्यं कृत्वा विनश्यति । इत्येवं प्रतिमन्वन्तरं महर्जनतपःसत्यलोकान् विहाय स्वर्गादिपातालान्तानां दशलोकानां प्रलयो भवति, प्रत्येकमन्वन्तराऽऽरम्भे स्वर्गादिदशलोकानामुत्पत्तिश्च भवति । उक्तं च सूर्यसिद्धान्तमध्यमाधिकारे—युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते । कृताब्दसंख्या तस्याऽन्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥१८॥ ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश । कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥१९॥ इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः । कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावतीति ॥२०॥ तादृशचतुर्दशमन्वन्तरकालः 'कल्पः' ब्रह्मण

एकदिवस उच्यते, उक्तं च भारते—'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः' इति ॥ तस्मिन्नेककल्पे चतुर्दशमन्वन्तराणां पञ्चदशसन्धयो भवन्ति । तत्र चतुर्दशमन्वन्तराणां मिलित्वा वर्षाणि चत्वारिंशद्वृन्दद्व्यर्बुदनवकोटि-चत्वारिंशल्लक्षाऽशीतिसहस्राणि भवन्ति । अथ च प्रत्येकसन्धेः सप्तदशलक्षाऽष्टाविंशतिसहस्रवर्षाणि निर्धारितानि । तदनुसारेण पञ्चदशसन्धीनां वर्षाणि द्विकोट्येकोनषष्टिलक्षविंशतिसहस्राणि भवन्ति । एवं च सन्धीनां मन्वन्तराणां च मिलित्वा वर्षाणि चतुर्वृन्दद्व्यर्बुद–द्विकोटिसङ्ख्याकानि भवन्ति । तादृशकल्पान्ते निशामुखे ब्रह्मणः स्वापारम्भे महर्जनतपःसत्यलोकान् विहाय स्वर्गादिपातालान्तानां दशलोकानां प्रलयो भवति, पुनः द्वितीयदिवसारम्भे ते समुत्पद्यन्ते- सोऽयं 'नैमित्तिकः प्रलयः' द्वितीय इति ॥ ब्रह्मणस्तादृशत्रिशताधिकचतुःषष्टिदिवसानामेकं वर्षम्, तादृशशतवर्षाणि ब्रह्मण आयुःसमयः, ब्रह्मणः शतवर्षाणां समाप्तौ- अष्टावरणसहितब्रह्माण्डप्रलयो भवति, सोऽयं 'प्राकृतिकप्रलय' उच्यते, स च महाविष्णोरेकदिवसात्मकः कालः, तादृशक्रमेण महाविष्णोः शतवर्षपर्यन्तमायुः, तत्समाप्तौ माया हिरण्मयकोशाख्यं सर्वं कार्यं संहृत्य स्वयमेकाकिनी परमेश्वरशक्तिरूपाऽक्षरधामनि विलीनेव भवति । सोऽयमात्यन्तिकप्रलयः । एतत्सर्वं कालपरिच्छेद्यमिति । तदनवच्छेद्यस्तु परमात्मा श्रीस्वामिनारायणो मुक्तकोटिपरिवृतो नित्यसर्वज्ञः सर्वगुरुरिति ॥ २६ ॥

तस्यैव परमेश्वरस्य श्रीस्वामिनारायणस्य प्रणिधानेन योगसिद्धिं प्राप्य महायोगी भूत्वा परममुक्तिं प्राप्नोतीति–प्रणिधानप्रदर्शनार्थं प्रथमं तस्य वाचकमाह—

## ॥ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

'तस्य परमेश्वरस्य, वाचकः–अभिधानम्, प्रणवः ॐकार इति, तत्र परमेश्वरो वाच्यः, ॐकारस्तु वाचकः, शब्दार्थयोः सम्बन्धः शक्तिः । शक्यात्मकेन सम्बन्धेन शब्दो हि स्वार्थं बोधयति । सा च शक्तिरिच्छामात्रमेवेति केचिद्वदन्ति । तेनाऽऽधुनिकशब्दानामपि तत्तदर्थबोधकत्वं सुसम्पाद्यं स्यादिति । यत्र भ्रमप्रयुक्तोऽर्थबोधस्तत्रापि आधुनिकेच्छैव शक्तिर्बोध्या । किन्त्वेवं सति प्रणवादिषु शब्देषु कस्येच्छा शक्तिरूपा स्वीकार्या ! यदि वेदोच्चारयितुर्ब्रह्मणस्तदा ब्रह्मादीनां प्राकृतिकप्रलये विनाशे सति पुनर्हिरण्मयकोशान्तःस्थसृष्टौ प्रादुर्भूतानां शब्दानां परमेश्वरबोधकत्वं नोपपद्येत, न च तदानीं जायमानस्य हिरण्यगर्भान्तरस्येच्छैव शक्तिरिति–कल्पना युक्ता । तथा सत्येकशब्दस्यैव विभिन्नेच्छया विभिन्नवाचकत्वं स्यात् । एतत्सर्गीयब्रह्मणा स्वेच्छया ब्रह्मणि प्रयुक्तः प्रणवः–सर्गान्तरीय–ब्रह्मणा पुनः स्वेच्छया–ब्रह्मभिन्ने चेतने मायायां वा प्रयुक्तः स्यादिति । यद्युच्येतपरमात्मना

नित्यं ज्ञानं ब्रह्मणेऽर्पितम् भवति, अतएव नित्यज्ञानानुरूपस्य हिरण्यगर्भज्ञानस्य तत्र नियामकत्वाच्च विभिन्नेच्छाऽपि भाविनी, न वा वाच्यान्तरबोधकत्वापत्तिस्तस्य प्रणवस्येति चेत् । तर्हि परमेश्वरज्ञानस्य नियामकत्वाऽपेक्षया लाघवात्–प्रणवादि-वैदिकशब्देषु सर्वत्र परमेश्वरेच्छैव शक्तिरित्यङ्गीक्रियताम्, तेन नाऽन्यार्थवाचकत्वा-पत्तिरिति । अतः परमेश्वरेच्छैव शक्तिरत्र बोध्या । स चायं शक्तिरूपोऽनादिः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाऽपराऽभिधानः परमेश्वरप्रणवयोरिति । तेन प्रलयान्तरे विलीनोऽपि शब्दः सृष्ट्यन्तरे- नित्यया परमेश्वरेच्छयाऽऽरूढ एवाऽऽविर्भवेत्, तेन यथार्थवाचकत्वं तत्राऽव्याहतमिति ॥ अत्रेदं बोध्यम्–'मुख्य एवाऽयं प्रणवः परमेश्वरवाचक इति । किन्तु–'परमेश्वर'इति शब्दोऽपि तस्य वाचको भवति, एवं साक्षात्परम्परया वा यौगिका लाक्षणिकाश्च शब्दाः परमात्मनि तात्पर्यवन्तः परमा-त्मवाचका एव बोध्याः, यथा–'परब्रह्म,–परमात्मा, अक्षरातीतः, सर्वेश्वरः, पुरुषो-त्तमः, स्वामिनारायणः, सर्वज्ञः, अनादिर्श्रीकृष्णः, भगवान्, ईश्वरेश्वरः, मुक्तेशः,–इत्यादयः । अन्येऽपि च–ईश्वरावतारवाचकाः—रामः, वामनः, हरिः, कृष्णः, नारायणः, हरिकृष्णः,–वासुदेवः,–विष्णुरित्यादिशब्दाः लोकेऽनेकैः परमेश्वरे प्रयुक्ता भवन्ति । तेन यत्र यत्र भगवदभिधानविशेषे यस्य यस्य भक्तस्य स्नेहपराकाष्ठा भवति तत्तन्नामोच्चारणभक्त्या तस्य तस्य परममुक्तिप्राप्तिरपि भवतीति ॥ २७ ॥

योगिना तु परमेश्वरप्रणवयोर्वाच्यवाचकभावे निश्चिते सति विधेयः—

## ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

चेति शेषः, 'तस्य–प्रणवस्य,–'जपः–कण्ठरवेण मौनतया वा पुनःपुनरावर्त-नम्, अथ च 'तस्य–प्रणवस्य–योऽर्थः–परमेश्वर इति वाच्यः, तस्य भावनम्–अनवरतं स्वचित्ते निवेशनम् । विधेयमिति शेषः । तदेवम्–आदरनैरन्तर्यसत्कारैरा-सेवितभगवन्नामजपाद्–भगवतः सच्चिदानन्ददिव्यस्वरूपस्य स्वचेतसि निवेशाच्च योगिनश्चित्तं परमात्मस्वरूपे एकाग्रं भवति, ततः परमेश्वरैकशरणं योगिनं परमेश्वरः समाधितत्फललाभेन अनुगृह्णातीति । उक्तं च योगियाज्ञवल्क्येन–'अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः । तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाऽऽहूतः प्रसीदति ॥' "प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत नियतो यतिः" इति च ॥ मन्त्रजपविधिरुक्तः परा-शरेण–"स्नातः शुचिर्धौतवासाः पीठे और्णादिके शुचौ । स्वस्तिकेनाऽऽसनेनैव निषद्य स्थिरमानसः ॥ मौनी जपेन्मन्त्रराजं तदर्थं हृदि भावयन् । उपांशुं तु जपं कुर्यात् कुर्याद्वा मानसं शनैः ॥ विधुतोष्ठ उपांशुः स्यादचलोष्ठस्तु मानसः । न च कम्पन् नोपहसन् न पार्श्वमवलोकयन् ॥ नाऽव्याऽऽसक्तो न जल्पंस्तु नाऽप्रावृतशिरास्तथा । न पदा पादमाक्रम्य चालयन्न करं जपेदि'ति । भगवन्नामजपस्य महिमा–उक्तो

विष्णुधर्मोत्तरे–''अधिताः सकला वेदाः साङ्गोपाङ्गा हि तेन तु । भगवन्नाम येनाऽत्र जप्तं सर्वार्थसिद्धिदम् । ''ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः । अधितास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥ कपिलगीतायां च–'तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते' इति । किञ्च भागवते–मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव' इति ॥ स्कान्दे च–''यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या जपयज्ञक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्'' इति ॥ भगवन्नाममन्त्रजपफलमुक्तं हरिभक्तिविलासे नाममाहात्म्ये पाद्मे यमब्राह्मणसम्वादे–''वासुदेवजपाऽऽसक्तानपि पापकृतो नरान् । नोपसर्पन्ति वै विप्रा मम दूताश्च दारुणाः ॥ वासुदेवप्रतापेन मुच्यन्ते ते स्वबीघतः । भुक्तिं मुक्तिं च दुष्प्रापामपि ते प्राप्नुवन्ति हि ॥ इति । बृहद्विष्णुपुराणे च–''क नाकपृष्ठगमनं पुनराऽऽवृत्तिलक्षणम् । क जपः श्रीहरेः साक्षाद् मुक्तिर्बीजमनुत्तमम्'' इति ॥ जाबालसंहितायां च–''हरेर्नाम परं जप्यं निर्वृत्ति–बहुधेच्छता''इति ॥ नारसिंहे–'श्रीहरिर्हरिकृष्णेति यो मां जपति नित्यशः । जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धरामि तम्'इति ॥ गारुडपाद्मयोश्च–''संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् । हरीति वैष्णवं मन्त्रं जप्त्वा मुक्तो भवेन्नरः''–इति ॥ वैष्णवचिन्तामणौ–'मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम् । सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर ! नरमात्रं तारयेच्छ्रीहरीति । ''हरयाऽतुलं पानसहस्रमुग्रं गुर्वङ्गनाकोटिनिषेवणञ्च । स्तेयान्यसङ्ख्यानि हरेः प्रियेण श्रीस्वामिनाम्ना निहतानि सद्यः'' ॥ ''नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः । अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत'' ॥ ''एतावताऽलमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् । विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण उपैति मुक्तिम् ॥'' ''नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः । तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः'' ''सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् । शान्तिदं सर्वाऽरिष्टानां हरेर्नामाऽनुकीर्तनम्' ॥ 'अकारो व्यापकः स्वामी, समुदायोऽथ नारमुः । मो मानमयनं तस्मात् स्वामिनारायणार्थं ॐ ॥ इत्येवं परमेश्वरवाचकशब्दानां जपस्मरणादिकं सर्वथैव मुक्तिदमिति ॥ २८ ॥

प्रणवादिप्रणिधानस्य फलं दर्शयति––

## ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च ॥ २९ ॥

ततः–तस्माज्जपात् तदर्थभावनाच, ये तावदन्तराया व्याधिस्त्यानादयः, ते साक्षात्परम्परया वा चित्तवर्तिनश्चित्तविक्षेपका योगविरोधिनो रजस्तमोवेगप्रवर्तकाश्चेति, तेषामभावः कारणात्मके चित्ते विलयो भवति ॥ चित्तविक्षेपाणां लये

सति चित्तं स्थिरमेकाग्रं सत् स्थितिपदं लभते। परमेश्वरश्च स्वप्रणिधानेन प्रसन्नः सन्–'द्रागेवाऽस्य प्रत्यक्चेतनाऽधिगमो भवतु' इत्यभिसन्धानं करोति तेनाऽस्य स्वात्मस्वरूपदर्शनसहकृतं परमेश्वरस्वरूपदर्शनं भवति, तेन च मुक्त्यभिमुखता-मनुभवति। प्रत्यक्चेतनाधिगमः–प्रति प्रति वस्तु अञ्चति - अनुगच्छतीति–प्रत्यक्,–व्यापकः सर्वान्तर्यामी च, तादृशो य आत्मा, तस्याऽधिगमः–दर्शनम्, भवतीति शेषः। तत्र व्यापकाऽऽत्माऽधिगमेन स्वात्मस्वरूपस्य दर्शनं बोध्यम्। सर्वान्त-र्याम्यात्माऽधिगमेन परमेश्वरस्वरूपदर्शनम् बोध्यमिति। स्वात्मानं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं शुद्धं बुद्धं मुक्तस्वभावं पश्यति परमेश्वरं च सर्वैश्वर्यवत्सर्वेषां सर्वान्तर्यामिणं स्वोपास्यं मुक्तिदं सर्वनियन्तारं सच्चिदानन्दस्वरूपं पश्यति। तत्क्षणादेव परमात्मभक्तिसम्पन्नः स मुक्तिसमानामवस्थामनुभवन् यदैवेच्छति तदैव भौतिकं कलेवरं विहाय परम-मोक्षपदं गृह्णातीति॥ केषाञ्चिन्मतम्–'निराकारस्य निर्गुणस्याऽऽत्मतत्त्वस्य कथं प्रत्यक्षविषयत्वमिति। तत्तु विचित्रविजृम्भितम्। अनेकश्रुतिस्मृतिभिः परमेश्वरस्य दिव्यसगुणसाकारस्वरूपस्यैव प्रतिपादनादिति॥ २९॥

तेषामन्तरायाणां लक्षणप्रदर्शनपूर्वकमभिधानान्याह–

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ ३०॥**

तत्र–अन्तराया इति लक्ष्यम्। चित्तविक्षेपा इति लक्षणम्। साक्षाच्चित्तविक्षे-पकत्वमेवाऽन्तरायस्य लक्षणम्। विषयादयस्तु परम्परया चित्तविक्षेपका इति तत्र नाऽतिव्याप्तिः। यद्यपि-चित्तविक्षेपकत्वं साक्षाद् रजोगुणस्याऽप्यस्ति तथापि–चित्तवृत्तित्वे सतीति–तत्र विशेषणीयम्। तेन–चित्तधर्मेष्वेव लक्षणसङ्गमनं न तु रजोगुणे इति। ते–व्याधिस्त्यानादयः। अन्तरायाः–योगप्रतिबन्धकाश्चित्तमला दुःखादीनां जनकत्वादिति। तत्र व्याधिर्नाम–वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यवेदना, अशित-पीताहारपरिणामात्मकरसवैषम्यवेदना, इन्द्रियाणां वैषम्यवेदना, चेति–स्त्यानं नाम-चित्तस्य योगाऽनुष्ठानाऽनर्हता। संशयः–योगस्य मुक्तिफलजनकत्व–तदजनक-त्वोभयप्रकारकज्ञानम्। प्रमादः–समाधिसाधनेष्वप्रयत्नः। आलस्यं–कफादिप्रयुक्त-शरीरगुरुत्वेन तमोगुणप्रयुक्तचित्तगुरुत्वेन वा शरीरस्य चित्तस्य वा समाधिसाधनाऽ-नुष्ठानम्। अविरतिः-चित्तस्य विषयप्राप्त्यभिलाषा। भ्रान्तिदर्शनम्–योगस्य समा-धिसाधनत्वं नास्तीत्याकारकं विपरीतज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वम् = मधुमती मधुप्रतीका विशोका संस्कारशेषा चेति–चतस्रश्चित्तभूमयः, तासु मध्ये कुतोऽपि प्रयत्ने कृते अपि लाभाऽभावः। अनवस्थितत्वम्–एकस्या मधुमत्याः–द्वयोर्वा तिसृणां

चा लाभे सति तावतैव परिपूर्णतां मन्यमानस्य तत्र तत्रापि चित्तस्याऽनास्था ॥ भक्त्यादिसमाराधितप्रसन्नीभूतपरमेश्वरस्य दयया तु त एते नोपतिष्ठन्ति प्रतिबन्धकत्वयेति ॥ ३० ॥

ते व्याधिस्त्यानादयो विक्षेपाश्चेतसि समुद्भूताः सन्तः स्वसहकारिणोऽपि समुद्भावयन्ति, यैर्विक्षिप्ते चित्ते स्थितेर्योगस्य योग्यताऽपि नाश्यते, ते च–

## दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

विक्षेपैः सह भवन्तीति विक्षेपसहभुवः, विक्षेपाऽनुचरा इत्यर्थः । तत्र दुःखम्–प्रतिकूलतया वेदनीयं त्रिविधम् आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्चेति । तत्राऽऽत्मानमधिकृत्य भवति तदाध्यात्मिकम्, तच्च शारीरम् मानसं चेति द्विविधम् । तत्र वातपित्तश्लेष्मादिवैषम्यजन्यं ज्वरादिकं शारीरम् । कामक्रोधलोभादिजन्यम् मानसम् । भूतान्यधिकृत्य भवति तदाधिभौतिकम्, यथा–व्याघ्रसर्पादिचौरनृपतिरिप्वादिभ्यो जायमानम् । दैवमधिकृत्य भवति तदाधिदैविकम्, यथा–यक्षराक्षसग्रहभूतभैरवमन्त्रतन्त्रादिजन्यं दुःखमिति ॥ दौर्मनस्यम्–अभिलाषाविघाताच्चेतसः क्षोभः ॥ अङ्गमेजयत्वं–यदङ्गानि–एजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्–अङ्गकम्पनम् । श्वासः–अनिच्छतोऽपि तत्प्रयत्नरहितस्याऽपि पुरुषस्य यत् स्वयमेव प्राणो बाह्यवायुमतिशयेनाऽऽचामति पिबति शरीरान्तःप्रवेशयति स श्वासनामा विकार इत्यर्थः । प्रश्वासः–अनिच्छतोऽप्यत एव प्रयत्नरहितस्य स्वयमेव प्राणः कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति बहिःकरोति सः प्रश्वासनामा विकार इति । तत्र श्वासो रेचकप्राणायामस्य विरोधी । प्रश्वासः समाध्यङ्गभूतपूरकप्राणायामस्य विरोधी । दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वानि तु चित्तस्य स्थैर्यविरोधीनि । त एते विक्षेपानुचरा विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्ति न तु समाहितचित्तस्येति ॥ ३१ ॥

विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः–वैराग्यसहकृतैकतत्त्वाऽभ्यासेन निरोद्धव्या इत्युपसंहरति–

## ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तेषां विक्षेपाणाम्, प्रतिषेधार्थम् प्रलोपनार्थम्, एकस्मिन् श्रीस्वामिनारायणाख्ये परमात्मतत्त्वे, अभ्यासः–प्रणिधानं विधेयम् । चित्तं यावदैकाग्र्यं स्यात् तावच्चिरकालमपि तत्रैव योज्यम् ॥

अत्र बौद्धाः पूर्वपक्षयन्ति–'न भवति चित्तं कदापि विक्षिप्तम्, 'सर्वम् क्षणिक'मिति व्याप्तेश्चित्तस्यापि सतो भावस्य प्रतिक्षणभिन्नत्वेन क्षणिकत्वात्, तच्च द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्, चित्तस्य विषयीभूतानां पदार्थानां क्षणिकत्वात्

प्रत्यर्थनियतस्य तद्विषयकचित्तस्याप्येकक्षणमात्रवृत्तित्वम् । तथा च यदा यदा
यद्यद्विषयविषयकं चित्तं तदा तदा तस्य यथार्थविषयकत्वादेकविषयकत्वाच्चैकाग्र-
मिति । न तु विक्षिप्तम् । अस्थैर्यचञ्चलस्य तस्य कादाचित्कस्थैर्यसत्त्वात्मक-विक्षिप्त-
त्वस्य क्षणद्वयसत्तामन्तरेण तथात्वाऽसम्भवात्, स्थितिक्षणमन्तरेण च विक्षेपवैशिष्ट्या-
ऽसम्भवाच्च । तथा चैकतत्त्वाऽभ्यासवैराग्यादिसाधनाऽनुष्ठानं निष्फलमिति । तन्न ।
अविक्षिप्ततातुल्यन्यायेन अनैकाग्र्यस्याऽप्यापत्तेः । अर्थान्तरेभ्यः पराहृत्यैकस्मिन्नर्थे
संलग्नत्वाऽभावात्, विषयिणं प्रति विषयस्य कारणस्य पूर्वमपेक्षणेन समक्षणकत्व-
स्याऽप्यभावात् । किञ्च एकपदार्थे विशेषणविशेष्यभावतयाऽभ्यस्तं चित्तमेकाग्रम-
वश्यं सर्वैरवगन्तव्यम् । अन्यथा तस्य निर्विकल्पकज्ञानत्वेन बालमूकविज्ञानव-
न्मुग्धचित्तेन 'इदममुकं वस्तु' इति परिचयोऽपि न स्यात्, भवति हि परिचये
प्रथमं तज्जात्यादिज्ञानं कारणम्, ततो वैशिष्ट्यज्ञानमेव परिचय इति ख्यायते ।
तथा च चित्तस्य विषयपरिचयात्मकतया विशिष्टज्ञानत्वं स्वीक्रियते तदा क्षणद्वय-
स्थायित्वेन भवदभिमतक्षणिकत्वं व्याहतम् । यदि च तथापि क्षणिकत्वं स्वीक्रियेत
तदा विशिष्टचित्तत्वं व्याहतम्, इत्युभयतः पाशारज्जुः, इति क्षणभङ्गवादिनां चित्त-
स्याऽनैकाग्र्यं सम्मुग्धत्वञ्चाऽऽपद्येत ॥ अथाऽस्त्येव चित्तं क्षणिकम्, न च तथापि
सम्मुग्धताऽनैकाग्रता चेति—दोषाऽऽपत्तिः । चित्तस्य क्षणिकत्वेऽपि तत्प्रवाहस्याऽ-
नादित्वात् क्षणिकविज्ञानधारा निराबाधा, तथा च तादृशचित्तधारायामनादिन्याम-
क्षणिकायान्तु तथैकाग्र्यमाधास्यते, तेन चेतसि क्षणिकत्वं प्रत्येकक्षणवृत्तित्वात्;
तत्प्रवाहस्य चिरस्थायित्वेन चैकाग्र्यम्—इत्युभयमपि समञ्जसं, तेन न पूर्वोक्तदोषाप-
त्तिरिति चेत् ? उच्यते । किमयं चित्तप्रवाहश्चित्तात्मको वा तद्भिन्नः ? यदि चि-
त्तात्मकस्तदा तस्य क्षणिकत्वात्पूर्वोक्तदोष एव । यदि भिन्नस्तर्ह्ययं क्षणिको ?
वाऽक्षणिकः ? क्षणिकत्वे तु पुनः स एव दोषः । अक्षणिकत्वे तु भवत्सिद्धान्तव्या-
घातः । न चाऽयं प्रत्ययोऽसम्भवितुं योग्यो येन तत्र व्याप्तिर्न घटेतेति । ननु चित्त-
सन्तानेषु पूर्वपूर्वस्थाः संस्कारा उत्तरोत्तरेष्ववतरन्ति, तैरेवैकाग्रं चित्तं विशिष्टज्ञा-
नात्मकं स्यादेव, तेन च पूर्वाऽनुभूतस्य पश्चादपि ज्ञानान्नैकाग्रतायां विरोध इति
चेन्न । तथा सति पूर्वावस्थायामवस्थितैर्विक्षेपैरुत्तरचित्तसन्तानेष्ववतरितैः पुनर्वि-
क्षिप्तमपि स्यादिति, तथा च भवत्पूर्वपक्षस्य भवदुक्त्यैव खण्डनं जातमिति ॥ किञ्च
चित्तस्य क्षणिकत्वे बाल्ये कृताऽनुभवादीनां वृद्धावस्थायां स्मरणं नोपपद्येत;
अनुभवितुरभावात् । न चाऽन्येनाऽनुभूतस्याऽन्येन स्मरणं कर्तुं शक्यम्,—अन्यथ-
स्यातिप्रसङ्गात् । न वा पूर्वपूर्वविज्ञानस्थाः संस्काराः उत्तरोत्तरविज्ञाने सङ्क्रान्ता भवितुं
योग्याः, संस्काराणां स्वकारणाऽधिकरणेष्वेवाऽवस्थानात्, निष्क्रियतयाऽन्यत्र गम-
नाऽसम्भवात्, एवं देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरे भोगानुपपत्तिश्च स्यादिति । तस्मा-

चित्तं सर्वदा स्थाय्येकतत्त्वमभ्युपेयम्, येन सर्वोऽपि व्यवहारः कालान्तरीणाऽनुभवस्मरणाद्युपपत्तिश्च विक्षेपैकाग्रताद्यवस्थाश्च सूपपाद्या भवेयुः तथा च विक्षेपाणां विनाशाय साधनाऽनुष्ठानं सफलमिति सिद्धान्तः समञ्जसः ॥ ३२ ॥

चित्तस्य स्थिरताया दर्ढीकरणाय तदुपायान् सूत्रत्रयेण निरूपयन् प्रथमं तत्र चित्तप्रसादात्मकमुपायं सहेतुकमाह–

## ॥ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्र सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां भावनातश्चित्तस्य नैर्मल्यम् भवतीति । भावना नाम–चित्ते पुनः पुनरवतारणम् । अत्र यथाक्रमं सुखविषयेषु सुखितेषु सत्त्वांशमात्राऽन्वितेषु मैत्रीं सौहार्दं भावयतः पुरुषस्य–ईर्ष्याकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य । दुःखविषयेषु दुःखितेषु रजोंऽशमात्रान्वितेषु करुणां–स्वस्मिन्निव परत्र दुःखप्रहाणाभिलाषां भावयतः पुरुषस्य पराऽपकारचिकीर्षाकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य । पुण्यविषयेषु पुण्यवत्प्राणिषु मुदितां–हर्षं स्नेहं भावयतः पुरुषस्य असूयाकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य । अपुण्यविषयेषु अपुण्यशीलेषु प्राणिषु चोपेक्षां माध्यस्थ्यं भावयतः पुरुषस्य अमर्षकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य । इत्येवं राजसतामसधर्माणां निवृत्तौ सत्यां सत्त्वगुणमात्रोपपन्नः सात्त्विकः शुक्लो धर्मः समुद्भवति, तेन प्रसन्नं विशदीभूतं चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नं चैकाग्रं सत् स्थितिपदं लभते । उक्तं च गीतायां 'रागद्वेष–वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' । इति । एवमेव पुनः पुनः समाधिप्रयासाऽनुष्ठानं कार्यम्, अन्यथा भ्रष्टताऽऽपत्तेः ॥ ३३ ॥

उपायान्तरमाह–

## ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

वाशब्दः—उपायान्तराऽपेक्षो विकल्पार्थकः । प्राणस्य प्रच्छर्दनं नाम–कौष्ठ्यस्य वायोः शनैः शनैः प्रयत्नविशेषात्–नासिकापुटाभ्यां निष्कासनं–रेचनमिति । विधारणं नाम–रेचितस्य बहिर्निष्कासितस्य कौष्ठ्यस्य वायोर्बहिरेव किञ्चित्क्षणपर्यन्तमायामः–द्वादशाङ्गुलतदधिकप्रदेशान्तरेव खिलीकरणं न तु सहसा प्रवेशनमिति । एवं शनैः शनैः प्रविश्य देशकालसङ्ख्याभिरुदरान्तरे खिलीकरणम्, श्वासप्रश्वासगतिविच्छेद इति यावत् । तदभिधानं 'कुम्भक'नामा प्राणायामः । प्राणायामभेदास्तु द्वितीयपादे एकोनपञ्चाशत्तमसूत्रभाष्ये विशदीभविष्यन्ति । तदेवं प्राणस्य प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां चित्तं सङ्कल्पविकल्पादिविक्षेपकवृत्तिरहितं सद् द्रागेव स्थितिपदं लभते

इति ॥ तदिदमत्र तत्त्वम्–यथा यथा प्रचलति तथा तथा भस्त्राप्रेरितवायुना चुल्लिकास्थवह्निशिखा इव चित्तवृत्तयः सम्प्रस्फुरन्ति। प्राणस्य प्रतिबन्धे तु भस्त्रावायुविरहितवह्निवत् चित्तं मन्दतां याति। एवमेव प्राणायामेन प्राणस्य दीर्घकालं निरोधे सति स्वजीवनवृत्तिरहितं चित्तं निर्वृत्तिकम् अत एव विमलं प्रसन्नं समुपजायते, तथा च सति वृत्त्युत्पादनाऽसमर्थं–'वृद्धो नृपतिर्ब्रह्मचारी' तिवत् स्थितिपदं लभते। स्थिरताप्राप्त्यनन्तरमपि पुनः समाधिप्राप्तेरभ्यासोऽवश्यं विधेयः, अन्यथा रसौपधिसेवनेन षण्ढवत्–विषयासक्तः सन् स्थितिपदाद्विभ्रष्टो भवति। तदत्र स्मृतिः–"प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्" इति ॥ ३४ ॥

उपायान्तरमाह—

**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी॥**

विषयवती–विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यास्तद्वती–तद्विषयिणी या प्रवृत्तिः प्रत्यक्षानुभूतिः–साक्षात्कार इतियावत्। सा–उत्पन्ना सती मनसः–चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनी–स्थिरतासम्पादिका इति यावत्। तद्यथा–नासिकाग्रे गन्धमात्रा सूक्ष्मस्वरूपा विद्यते तत्र धारणां कुर्वतो योगिनस्तस्या गन्धमात्राया जयाद् यावद्दिव्यगन्धसाक्षात्कारो भवति। तत्र स्थिरतां नीतं चित्तं शनैः स्थितिपदं लभते इति। एवं जिह्वाया अग्रभागे या सूक्ष्मा रसमात्रा तत्र धारणां विधापयतो योगिनस्तज्जयाद् यावद्दिव्यरससाक्षात्कारो भवति तत्र स्थिरतां नीतं चित्तं शनैः स्थितिपदं लभते–एवं तालुप्रदेशे सूक्ष्मा रूपमात्रा विद्यते तत्र धारणया तज्जयाद् यावद्दिव्यरूपसाक्षात्कारो भवति तत्र च स्थिरतां नीतं चित्तं स्थितिपदं लभते। एवं–जिह्वामध्यप्रदेशे निवसति सूक्ष्मा स्पर्शमात्रा तत्र धारणया तज्जयेन समग्रदिव्यस्पर्शसाक्षात्कारो जायते तत्र लक्ष्ये स्थिरतां–नीतं चेतः स्थितिपदं लभते। एवं–जिह्वामूले सूक्ष्मा शब्दमात्रा संस्थिताऽस्ति, तत्र धारणां सम्पादयतो योगिनस्तज्जये सति–अशेषदिव्यशब्दानां साक्षात्कारो भवति तेन तत्र स्थिरतां प्रापितं चित्तं स्थितिपदं लभते इति। त एते शब्दादयः स्वर्काभिजिह्वादिस्थानवर्तिनो दिव्या अदिव्या वा बोध्याः, अस्मदीयजिह्वाद्यवयवस्थितानां तेषां प्राथमिकयोगिना गृहीतुमशक्यत्वादिति। समाधिलाभे तु तेषामपि ग्रहणं युज्यते इति। तदेवं विषयेषु धारणया–एकाग्रतां प्राप्ते चित्ते निर्णयस्वभावे योगसिद्धिविघ्नकसंशयविपर्यया विलीना भवन्ति, सत्त्वपुरुषान्यताख्यात्यात्मकं यथार्थज्ञानं समुद्भवति, गन्धादीनां प्रकृतिकार्यत्वाच्च तत्र दोषज्ञानेन वशीकारसंज्ञकवैराग्यो भवति, तेन विशुद्धं चित्तं स्वच्छप्रवाहनिमग्नं निरुद्धं जायते तेन च मुक्तेराभिमुख्यमिति। एवं यत्र यत्र हि शरीरान्तर्विषया आलम्बनतयाऽपेक्षितास्तत्र तत्र विषयवती प्रवृत्तिर्बोध्या। तद्यथा–हरिवाक्यसुधा-

सिन्धुग्रन्थे–'दक्षिणे नेत्रे सूर्यस्थानं वामनेत्रे च चन्द्रस्थानं भवतीति तत्र स्थितौ सूक्ष्मस्वरूपौ तावुभौ धारयेद् योगी, तत्र–धारणां विधापयतो योगिनः–दक्षिणनेत्रं सूर्यवत् तप्यमानं भवति वामनेत्रं च चन्द्रवत्–शीतलं भवत्येककालावच्छेदेन यदा तदा द्वयोर्विनिमयो विधेयः–यथा सूर्यस्य ध्यानं वामनेत्रे चन्द्रस्य च दक्षिणनेत्रे इति । तदेवं ध्यायमाने सति यदा वामनेत्रं तप्यमानं जायेत दक्षिणं नेत्रं च शीतलं जायेत तदा द्वयोरपि सूर्यचन्द्रमसोः स्वरूपेऽन्तर्दृष्ट्या हृदयेऽवस्थापनीये, तत्र द्रष्टारं जीवात्मानं ध्यात्वा ततस्तन्मध्येऽन्तर्यामितया स्थितं परमेश्वरस्वरूपं ध्येयम्, ध्याने सततं क्रियमाणे भगवान् दयालुः प्राविर्भवन् स्वदिव्यस्वरूपं दर्शयन् तस्मै योगिने यथावाञ्छितं योगफलं ददाती' त्युपदिष्टं परमात्मना श्रीस्वामिनारायणेन । एवं शरीरस्थास्विन्द्रियाऽन्तःकरणदेवतासु या धारणा क्रियते साऽपि मनसः स्थितिनिबन्धिनी, तद्यथा–बुद्ध्यात्मकेऽन्तःकरणे ब्रह्मा देवता विराजते, तत्र धारणायां कृतायां चित्तं स्थिरं भवति ततस्तद्देवताप्रसादेन तद्देवताया दिव्यस्वरूपदर्शनं लभ्यते, अनवरतं तद्रूपं धारयता योगिना तद्देवताद्वारैव पुनः परमेश्वरदर्शनमासाद्यते इति । एवं हृदयावच्छेदेनाऽहङ्काराख्येऽन्तःकरणे विष्णुर्देवता विराजते तत्रधारणायां क्रियमाणायां सत्यां चित्तं स्थितिपदं लभते ततो ध्यानादिना तत्र प्रसन्नो विष्णुः स्वदिव्यस्वरूपं दर्शयन् योगिने योगफलं ददातीति । एवं हृदयावच्छेदेन चित्ताख्येऽन्तःकरणे रुद्रो देवता निवसति, तत्र धारणायां कृतायां सत्यां चित्तस्य स्थिरता जायते ततो ध्यानादिना प्रसन्नो रुद्रदेवः प्राविर्भूय स्वदिव्यस्वरूपं प्रदर्शयन् योगिनेऽसम्प्रज्ञातसमाधिरूपं स्वयोगफलं प्रयच्छतीति तद्देवताद्वारा च परमेश्वरस्य प्राप्तिरिति । एवं हृदयावच्छेदेन पुरीतन्नाड्यां मनःसंज्ञकेऽन्तःकरणे चन्द्रो देवता निवसति तत्र धारणायां कृतायां चित्तस्य स्थैर्ये सति ध्यानादिना प्रसन्नश्चन्द्रमाः स्वदिव्यरूपं प्रकटीकृत्य योगिनेऽसम्प्रज्ञातसमाध्यात्मकं योगफलं समर्पयतीति तद्देवताद्वारा परमेश्वरप्राप्तिरिति । एवं–श्रोत्रेन्द्रियावच्छेदेन–दिग्देवताया निवासः, तत्र धारणां विधापयतो योगिनश्चित्तं स्थिरतां याति ततो दिग्देवता ध्यानादिना प्रसन्ना सती प्रकटीभूय स्वस्वरूपं योगने प्रदर्शयति, असम्प्रज्ञातात्मकं योगफलं च ददातीति, तद्देवताद्वारा परमेश्वरप्राप्तिरिति च । एवं त्वगिन्द्रियावच्छेदेन वायुदेवताया निवासः, तत्र धारणायां कृतायां चित्तमेकाग्रं भवति ततो वायुदेवता ध्यानादिना प्रसन्ना सती प्रकटीभूय योगिने स्वदिव्यस्वरूपं प्रदर्श्याऽसम्प्रज्ञातरूपं योगफलं प्रयच्छति, तद्देवताद्वारा परमेश्वरप्राप्तिरिति । एवं चक्षुषि सूर्यदेवतास्थानम्, तत्र धारणायां कृतायां चेतः स्थितिपदं लभते, ततः सूर्यस्य सूक्ष्मे रूपे ध्यानादिना दिव्यं सूर्यस्वरूपं पश्यति तदा प्राविर्भूतः प्रसन्नः सूर्योऽसम्प्रज्ञातात्मकं योगफलं ददातीति तद्देवताद्वारा परमेश्वरप्राप्तिरिति च । एवं रस-

नायां वरुणदेवताया निवासः, यत्र धारणां कुर्वतो योगिनश्चित्तं स्थिरं भवति, ततो ध्यानादिना तत्र प्रसन्ना वरुणदेवता स्वदिव्यरूपेण प्राविर्भूय योगिने असम्प्रज्ञातसमाधिलाभात्मकं योगफलं प्रयच्छतीति तद्देवताद्वारा परमेश्वरप्राप्तिश्च । एवं घ्राणावच्छेदेनाऽश्विनीकुमारनामकदेवयोर्निवासः, तत्र धारणायां कृतायां चित्तस्य स्थैर्ये सति ध्यानादिना प्रसन्नावश्विनीकुमारदेवौ दिव्यस्वरूपं प्रदर्शयतः योगफलं च प्रयच्छतः तद्देवद्वारा परमेश्वरप्राप्तिश्च । एवं वागिन्द्रियस्य देवता वह्निरस्ति तत्र वाचि धारणायां कृतायां चित्ते स्थिरतां याते सति ध्यानादिना प्रसन्नो वह्निदेवो दिव्यरूपेण–प्रकटीभूय योगिने योगफलं ददाति तद्देवद्वारा परमेश्वरप्राप्तिरिति। एवं करेन्द्रियस्य देवः इन्द्रनामाऽस्ति तत्र धारणायां कृतायां चित्तस्य स्थैर्ये ध्यानादिना प्रसन्नीकृता सा देवता स्वदिव्यरूपं प्रदर्शयन् योगिने योगफलं ददाति, तद्द्वारा च परमेश्वरप्राप्तिरिति । एवं चरणेन्द्रियस्य देवता–उपेन्द्रसंज्ञिका, तत्र धारणायां कृतायां चित्तस्य स्थैर्ये पुनर्ध्यानाऽऽराधनादिना प्रसन्ना सा स्वयं दिव्यरूपेण प्रकटीभूय योगिने तादृशंयोगफलं ददाति, तद्देवताद्वारा च परमेश्वरप्राप्तिरिति । एवं पायूनामेन्द्रियाऽवच्छेदेन यमाऽभिधाना देवता वसति तत्र धारणायां चित्तस्थैर्ये सति सा देवता दिव्यतया प्रकटीभूय योगिने योगफलं प्रयच्छति तद्देवताद्वारा परमेश्वरप्राप्तिरिति । एवम्–उपस्थेन्द्रियावच्छेदेन प्रजापतिः देवता निवसति, तत्र देवतायां धारणायां कृतायां चित्ते स्थैर्यं जायते ततो ध्यानाराधनादिना प्रसन्नीभूता सा प्रजापतिर्देवता दिव्यरूपेण प्रकटीभूय योगिने स्वदिव्यदर्शनं दत्वा असम्प्रज्ञातसमाधिरूपं योगफलं समर्पयतीति–तद्देवताद्वारा च परमेश्वरप्राप्तिर्भवतीति । तदेवमसम्प्रज्ञातसमाधिसिद्धौ परमेश्वरः स्वयं प्रसन्नः सन् योगिने परममुक्तिपदं प्रयच्छतीति । अथ ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलं कमलं तत्र परंब्रह्म गुरुर्निवसति, उक्तं च 'पुरश्चरणरसोल्लासे'–श्रीमहादेव उवाच–"शृणु प्रिये ! प्रवक्ष्यामि यदेतत्पद्ममुत्तमम् । सहस्रारं महापद्मं सहस्रदलसंयुतम् ॥ सदा ब्रह्मपुरं तत्तु नित्यानन्दमयं सदा । नानागन्धयुतं पद्मं सहजानन्दमन्दिरमिति ॥ तत्रपरमात्मनि श्रीसहजानन्दस्वामिनि संयमात् परममुक्तिरूपा प्राप्तिर्भवतीति ॥ ३५ ॥

उपायान्तरमाह–

## विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

विशोका–विगतः शोको–रजस्तमोमलो यस्याः सा तथाविधा प्रवृत्तिः–'विशोका' इत्यभिधीयते । सा च विशोका द्विविधा—बुद्धिसम्वित्, अस्मितासम्विच्चेति । तत्र बुद्धिसम्वित्=बुद्धिसाक्षात्कारः । अस्मितासम्वित् = 'अहमस्मि'–इत्याकारकस्वात्मस्वरूपमात्रस्य साक्षात्कारः । तत्र बुद्धिसाक्षात्कारक्रमो यथा–उदरोरसोर्मध्य-

प्रदेशे पुण्डरीकनामकमेकं पद्ममधोमुखमष्टदलकं संस्थितमस्ति तत्पद्मं रेचकनाम्ना प्राणायामेनोर्ध्वमुखं कर्तव्यम्, तत्र च सर्वेषामूर्ध्वप्रदेशे प्रान्तभागे बुद्धेः स्थानं विद्यते। यथाहि—तत्पद्मस्याऽन्तराले मूलतः शिखापर्यन्तमेका ब्रह्मनाडिका सुप्रसृताऽस्ति सा च पद्मदलैः सम्पुटिताऽस्ति यथा लोके कुसुममध्यस्थितः स्तम्भइति। सा च मूलावच्छेदेन शरीरव्यापकशाखासहस्रवती, तच्छाखासहस्रग्रन्थितः—ऊर्ध्वं तत्र नाड्यां मध्यभागे सूर्यस्य मण्डलम्, अकारमात्रा, जाग्रदवस्थास्थानञ्चेति प्रोतानि व्यवस्थितानि। तत ऊर्ध्वं—चन्द्रस्य मण्डलम्, उकारमात्रा, स्वप्नावस्थास्थानञ्चेति प्रोतानि व्यवस्थितानि। तत ऊर्ध्वं—वह्निमण्डलम्, मकारमात्रा, सुषुप्त्यवस्थास्थानञ्चेति प्रोतानि व्यवस्थितानि। तस्योपरि—परब्रह्ममण्डलम्, व्योमवद्व्यापकगम्भीरनादात्मिकाऽर्धमात्रा, आनन्दात्मकतुरीयाऽवस्थास्थानम्, चेतिप्रोतानि व्यवस्थितानि। तत्र ब्रह्मनाड्यां बाह्यानामपि स्वर्गस्थानां सूर्यचन्द्रादीनां सम्बन्धो विद्यते। तदेवं तुरीयावस्थात ऊर्ध्वं—विशालमात्मनः स्थानं तदुपरि ब्रह्मनाड्यास्तिस्रः शाखाः—सुषुम्णा—मनोवहा—पुरीततिरिति। तिसृणां शाखानां ग्रन्थिप्रदेशेऽधो बुद्धिः सर्वदा निवसति। तदेतद्बुद्धेःस्थानमिति। तत्र चित्तं धारयतो बुद्धेः साक्षात्कारः स्थिरता च समुपपद्यते। तेन तत्र निरुद्धावस्थां गतं चित्तं विलीनमिव भवतीति तदपि योगफलम्॥ याश्च तिस्रः शाखा उक्तास्तत्रेयं व्यवस्था—मनसो निवासस्थानभूतास्तिस्रोऽपि नाड्यः, तासां त्रीणि मूलानि यत्र किञ्चिन्मात्रमेकीभावतया संसृष्टान्यन्तः, तत्स्थानं बुद्धिस्थानात्मकग्रन्थित उपरि, मनोनिवासस्थानात्मकनाडीत्रयस्यान्तरालभागस्य—त्वक्—स्थलीयायाः—मनोगमनागमनमार्गप्रणाड्याश्चाऽधो वर्तते, तदहङ्कारस्य स्थानम्। तत ऊर्ध्वं विभक्ता नाड्यस्तिस्रः, तत्र यदा मनोवहायां नाड्यां मनसः प्रवेशस्तदा जाग्रदवस्था सर्वव्यवहाराश्च। तदस्या मनोवहानाड्याः शिखायां पुनर्दशेन्द्रियसंलग्ननाडीनां मूलानां ग्रन्थिरिति, येनेन्द्रियाणां मनसा सह सम्बन्धो भवति, मनसोऽहङ्कारेण, तस्य च बुद्ध्या सहेति। यदा च मनः सुषुम्णायां नाड्यां गच्छति, तदाऽस्य मनागस्ति मनोवहायाः संसर्गः, येन तत्र स्वाप्नपदार्था उपतिष्ठन्ते इति। यदा च पुरीतति नाड्यां गच्छति, तदा तु मनोवृत्तीनां विलय एव—सुषुप्तिरिति च भवतीति व्यवस्था। अथ—द्वितीया या विशोका—अस्मिताऽभिधाना, 'अस्मी'तिज्ञानं तस्य भावः—अस्मिता। आत्मनः स्वस्वरूपस्यैव—'अहमस्मि'त्याकारकसाक्षात्कारः, तद्यथा—आत्मनो निवासस्थानम् परब्रह्मस्थानादुपरि,—बुद्धेःस्थानाच्चाऽधः, तत्र स्थाने निवसन्तम्—आत्मानं धारणया पश्यतो योगिनश्चित्तं स्थिरं स्थितिपदं लभते, ततो बुद्धिः—अहंकारादिभ्यो विमुखा—आत्ममात्रसम्मुखा जायते, आत्मनश्च परमात्मना सह संसर्गात्—आत्मनः प्रकाशे सति परमात्मा प्रकाशते इति॥ सेयमुभयविधाऽपि विशोका

समापत्तिः संसिद्धा–ज्योतिष्मती'–इति ख्यायते । ज्योतिर्नाम प्रकाशः, स चाऽस्या अस्तीति व्युत्पत्तेः आत्मनः स्वयं प्रकाशत्वात् ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः बुद्धेश्च रजस्तमोमलरहितत्वे सति केवलसत्त्वप्रकाशव्याप्तत्वाद् आत्मनः संसर्गित्वाच्च ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरिति ॥ अथ चैतादृशहृदयकमलस्य संस्थाने परब्रह्म–जीवात्मनोरत्यन्तसंसर्गादन्तर्यामित्वं परब्रह्मणः, जीवश्च सर्वदा परमात्मनैव रक्षितः, किन्तु यावत्कालं बुद्ध्यभिमुखस्तावन्न परमेश्वरस्वरूपं पश्यति, परन्तु बुद्धिं स्वां मन्यमानस्तत्र प्रतिबिम्बितः सन् बुद्धिधर्मान् सुखादीनुपभुङ्क्ते । तदेवमात्मना बुद्धिः संयुक्ता, तया च–अहङ्कारः, तेन मनः, तेन–इन्द्रियाणि, तानि च विषयैरित्येवं संसारचक्रमनिशमावर्तते भोगदम् । यदा च विवेकख्यात्या बुद्धिपराङ्मुखस्तदा परमेश्वराऽभिमुखः स्वात्मस्वरूपाऽवस्थितश्च प्रागेव परमेश्वरप्रसादान्मुक्तिं लभते ॥ ३६ ॥

उपायान्तरमाह—

## ॥ वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

वीतः–विलीनः, रागः–स्थूलसूक्ष्मविद्याऽविद्यादिविषयाणामाकांक्षा यस्य चित्तस्य,– तत् वीतरागं चित्तं वशीकारसंज्ञकवैराग्ययुक्तमिति तादृशं चित्तं विषयो यस्य तदिति वीतरागविषयं चित्तम्–स्वयं स्थिरं भवतीति । तद्यथा–कृष्णद्वैपायनसनकादीनां चित्तानि विरक्तानि–एकाग्राण्येव सर्वदा व्यवस्थितानि, तादृशचित्तेषु यत्र कुत्राऽपि स्वकीयचित्तस्य धारणा कार्या येन शीघ्रं स्थिरं भवेत् । तथा च सति विवेकख्यात्यादिद्वाराऽसम्प्रज्ञातलाभे मुक्तियोग्यतेति ॥ ३७ ॥

उपायान्तरमाह—

## ॥ स्वप्ननिद्राज्ञानाऽऽलम्बनं वा ॥ ३८ ॥

स्वप्नमेव–ज्ञानं वृत्तिर्यस्य तत्–स्वप्नज्ञानं चित्तम्, तदेवाऽऽलम्बनं–विषयो यस्य तत्–स्वप्नवृत्तिमच्चित्तालम्बनं चित्तमिति । एवं निद्रा–एव ज्ञानं वृत्तिर्यस्य तद् निद्रावृत्तिमच्चित्तम् , तदेवाऽऽलम्बनं–विषयो यस्य तत्,–निद्रावृत्तिमच्चित्तविषयकं चित्तं च स्थितिपदं लभते इति । तत्र येऽहर्निशं परमेश्वरभक्तिपरायणा गोपालानन्दस्वामिपर्वतभक्तहनुमद्गुरुवगोपिकादयस्तेषां चित्तानि–जाग्रदवस्थायामिव स्वप्नेऽपि परमेश्वरमेव स्मरन्ति, अतस्तादृशे कुत्रापि चित्ते स्वचित्तस्य धारणया भगवद्विषयकं सत् स्थिरतां निर्मलतां च याति, ततो विवेकख्यात्यसम्प्रज्ञातद्वारा पुरुषः परमसुखाभिमुखतां च यातीति । यदि स्वप्ने विविधविषयभोगाऽऽसक्तपरस्य चित्तं धारयेत् तदा स्वचित्तस्यापि तदनुपातित्वेन तदनुरूपं सद् अस्थिरत्वमेव स्यात्, अतो यत्र स्वाप्निके चित्ते भगवत्स्मरणं केवलसत्त्वमात्राऽवस्थानञ्च तत्रैव धारणा कर्तव्या । एवम्–अर्धसुषुप्त्यवस्थागतं यद् गोपालानन्दस्वामि–पर्वत-

भक्तध्रुवप्रह्लादादीनां चित्तं विमलं तद्धारणीयम्, तत्र स्वचित्तस्य स्थिरता भवति । यदि चाऽन्येषां भगवद्भक्तिरहितानां रजस्तमोमात्राऽवनद्धानामर्धसुषुप्तचेतसि धारणां कुर्यात् तदा तेषामर्धसुषुप्तौ “स्त्यानं मे चित्तं गुरूणि मे गात्राणि-अनवस्थितं मे चित्तमितस्ततो भ्रमति” इत्याकाराः प्रत्ययाः प्रबोधे सति भवन्ति तत्समानाकाराः प्रत्ययाऽनुभवा अर्धसुषुप्तावप्यवश्यं भाव्याः, तादृशरजस्तमःप्रत्ययानुभवाऽऽहिताऽर्धसुषुप्तचित्ते स्वचित्तस्य धारणया पुनः स्वस्यापि तथा रजस्तमःप्रत्ययानुपतनाऽऽपत्तिः स्यात्—न तु स्थिरता स्यादिति ।। भगवद्भक्तानान्तु भवन्ति प्रबोधे सति—“शान्तं मे चित्तं प्रज्ञां मे विमलीकरोति’—इत्याकाराः, तत्रैव धारणया स्वार्थलाभात् । एवं—निद्रापूर्णतया गाढसुषुप्तिगतं चित्तन्तु सर्वेषामेव त्रिगुणवृत्तिलयात्समानं स्थिरं विद्यते, तत्र धारणया स्वचित्तमपि द्रागेवैकाग्रतां प्राप्नोति । ततो—वैराग्य—तत्त्वज्ञानादिना क्रमेण परममुक्तिरिति ।। एवं—सुषुप्तप्रबुद्धस्य योगिनः स्वचित्तमपि स्वप्नावस्थं सुषुप्त्यवस्थं वाऽव्यवहितोत्तरं स्मरतश्चित्तं स्थिरतां याति । तद्यथा—यदा खल्वयं स्वप्ने निरुपद्रवोद्यानतरुमण्डलमध्यगतां समुत्फुल्लामिव चन्द्रमण्डलात् कोमलकमलमृणालखण्डानुरूपैरङ्गप्रत्यङ्गैः समुपपन्नां सुसंस्कृतचन्द्रकान्तमणिमयीमतिसुगन्धितजलस्थलकमलमल्लिकादिकुसुमहारधारिणीं मनोहारिणीं भगवतः परमेश्वरस्य प्रतिमामाराधयन्नेव प्रबुद्धः प्रसन्नमनास्तदानीं तामेव स्वप्नबुद्ध्याऽऽलम्बनभूतां प्रतिमामनुस्मरतो योगिनस्तदेकाकारमनसस्तत्रैव चित्तं स्थितिपदं लभते ।। एवं—स्वस्थैवाऽर्धसुषुप्तं चित्तं स्मरतो योगिनः प्रबुद्धस्य चित्तं स्थिरतां याति । स्वस्य सम्पूर्णसुषुप्तं निद्रामयं चित्तन्तु न प्रबुद्धे सति स्वचित्ताऽऽलम्बनं भवितुमर्हति—प्रबुद्धस्य तदानीन्तनानुभवाऽभावेन तदनुरूपस्मरणाऽभावात् ॥३८॥

सर्वेषामनुकूलतार्थं सामान्यतयोपायस्वरूपं प्रदर्शयन्नुपायाधिकरणमुपसंहरति—

## ॥ यथाऽभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

स्वाभिमताऽत्यन्तप्रियेषु, यत्र स्वचित्तस्य प्रेमपराकाष्ठा स्यात्, तत्रापि, यत्र चित्तस्य स्थिरताया विश्वासः स्यात् तत्र विषयेषु, ध्यानाद्वा एकाग्रं चित्तं भवति । तद्यथा—पतिव्रता स्त्री स्वपतिपरायणचित्ता सती तत्र मनसः स्थिरतां प्राप्नोति ततोऽन्यत्र सूक्ष्मभगवत्स्वरूपे स्वात्मस्वरूपे वा विना प्रयासं स्थिरतां प्राप्नोति । एवं यत्र यत्र पुत्रबन्धु-सुहृद्-पशु-पक्षि—वृक्षलता-मणि-चन्द्रग्रहादि-भगवत्पाषाणाद्यर्चा-प्रदीपशिखा स्वप्रतिबिम्बादिषु जडचेतनेषु कुत्रापि स्वचित्तस्य लग्नता निरतिशयतया स्यात्, तत्र ध्यानादवश्यं स्थिरतां याति, ततः स्वात्मदर्शनादिपरम्परया योगफलं मुक्तिमपि लभते—इति ।।

एवमत्र शरीरेऽनेकानि चक्राणि सन्ति तत्र तत्राऽवयवेषु धारणां कुर्वन् पश्चात्

तत्तदवयवस्थचक्रेषु ध्यानं कुर्वन् पश्चात् तत्तच्चक्रस्थदेवेषु समाधिपदं समासादयन् सन् चित्तस्थिरतया परम्परया मोक्षपदमनुभवतीति ॥ चक्राणि यथा–एक योनिपीठे 'मूलाधार'नामकं चतुर्दलकमलमग्निवत् प्रकाशितं चक्रं विद्यते, तस्य देवता-गणेशः सिद्ध्यादिशक्तिसहितः तत्र निवसति । प्रथमं स्थूले योनिपीठे धारणां कृत्वा योगी ततस्तत्र कमले ध्यानं कुर्यात्, तत्र मनसि स्थिरीभूते सति तत्रस्थगणेशदेवे ध्यानं समाधिं च विधापयेत्, ततः श्रीगणेशो दिव्यस्वरूपं योगिने प्रदर्शयन् असम्प्रज्ञातसमाधिरूपं परमेश्वरप्राप्त्यात्मकं च योगफलं ददातीति ॥ द्वितीयं–लिङ्गमूलप्रदेशे 'स्वाधिष्ठान'नामकं षड्दलयुतं कमलं विद्युद्वत् प्रकाशितं विद्यते, तत्र ब्रह्मादेवः सावित्रीशक्तिसहितो निवसति, तत् प्रथमं स्थूले लिङ्गमूले धारणां विधाय ततः स्वाधिष्ठानचक्रे ध्यानं कुर्यात्, तत्र मनसः स्थिरीभावे सति श्रीब्रह्मदेवतायां ध्यानं समाधिं च कुर्यात्, तेन ब्रह्मा स्वयं स्वकीयं दिव्यं रूपमस्मै प्रदर्शयति, असम्प्रज्ञातसमाधिरूपं परमेश्वराऽवाप्त्यात्मकं च योगफलं च प्रयच्छतीति। तृतीयं–नाभिप्रदेशे 'मणिपूर'नामकं दशदलयुतं ताम्रपर्णं चक्रं वर्तते, तस्य देवः–विष्णुरस्ति लक्ष्मीशक्तिसहितः । तत् प्रथमं स्थूलं नाभिप्रदेशं धारयेत्, पश्चात् तत्र कमले ध्यानं विधापयेत्, ततो विष्णुदेवतायां ध्यानं समाधिं च कुर्यात्, तदा विष्णुः स्वयं दिव्यरूपेण प्रकटीभूयास्मै योगिने योगफलमसम्प्रज्ञातसमाधिरूपं परमेश्वरप्राप्तिरूपं च प्रयच्छतीति ॥ चतुर्थं हृदयप्रदेशे 'अनाहत'नामकं द्वादशदलयुतं बन्धुक-कान्त्युज्ज्वलं कमलं ( चक्रं ) विद्यते, तत्र रुद्राणीशक्तिसहितः रुद्रो देवता निवसति, तत्प्रथमं स्थूलं हृदयं धारयेत्, ततस्तदनाहते चक्रे ध्यानं कुर्यात्, ततो रुद्रदेवतायां ध्यानं समाधिं च कुर्यादिति। तेन रुद्रदेवता दिव्यस्वरूपा प्रकटीभूयास्मै योगिने योगफलमसम्प्रज्ञातसमाध्यात्मकंपरमेश्वराऽवाप्त्यात्मकं च ददातीति । पञ्चमं कण्ठप्रदेशे 'विशुद्ध'नामकं षोडशदलयुतम् आरक्तकेशरं धूम्रधूम्रं चक्रं विद्यते, यत्र 'सदाशिव'देवताऽस्ति, पार्वतीशक्तिरस्ति । तत्र प्रथमं स्थूलं कण्ठं धारयेत्, ततस्तत्र कमले ध्यानं कुर्यात्, ततः सदाशिवदेवतायां ध्यानं धारणां च कुर्यात्, तेन तत्र सदाशिवस्य शुद्धं विमलं स्वरूपं प्रकटीभूय दृश्यते तेन योगी स्वात्मस्वरूपदर्शनं विन्दते, तत एवाऽसम्प्रज्ञातसमाध्यात्मकं परमेश्वरप्राप्त्यनुगुणं समाधिफलं लभते ॥ षष्ठं–भ्रूमध्यप्रदेशे 'आज्ञाचक्र' नामकं कमलं द्विदलयुतं शुभ्रं ज्योतिःस्वरूपं विद्यते, तत्र परमहंसगुरुर्देवताऽस्ति तत्र विद्याशक्तिरस्ति तत् प्रथमं भ्रुकुटिं धारयेत्, ततो देवतायां ध्यानं समाधिं च कुर्यात्, तेन देवता प्रकटीभूय प्रकाशते, ततोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरूपं योगफलं परमेश्वराऽवाप्त्यात्मकं लभते । अथ सप्तमं ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशे 'सच्चिदानन्द'नामकं सहस्रदलयुतं निर्विकारज्योतिःस्वरूपं पूर्णचन्द्रशुभ्रं विद्यते तस्य श्रीसहजानन्दः परमेश्वरो-

देवता, परब्रह्मविद्याशक्तिः । उक्तं च 'पुरश्चरणरसोल्लासे'—'श्रीमहादेव उवाच—“शृणु प्रिये ! प्रवक्ष्यामि यदेतत्पुष्पमुत्तमम् । सहस्रारं महापद्मं सहस्रदलसंयुतम् ॥ सदा ब्रह्मपुरं तत्तु नित्यानन्दमयं सदा । नानागन्धयुतं पद्मं 'सहजानन्दमन्दिरमि'ति ॥ तत्प्रथमं स्थूलं ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशं धारयेत्, ततस्तत्र चक्रे ध्यानं कृत्वा—श्रीसहजानन्दाख्यदेवतायां ध्यानं समाधिं च कुर्यात् , येन परमहादेवता दिव्यस्वरूपा प्रकटीभूयास्मै योगिनेऽसम्प्रज्ञातसमाधिरूपं परमेश्वरस्य साक्षाद् दर्शनात्मकं योगफलं प्रयच्छतीति ॥ ३९ ॥

तदेवं धारणाध्यानसमाधिभिः स्थिरतायाः असीमत्तां प्राप्तं यस्य चित्तं, तत्पुरुषस्य चित्तस्य सर्वत्र लौकिकाऽलौकिकस्थूलसूक्ष्मपदार्थेष्वप्रतिघातं दर्शयति—

## परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

लब्धस्थितिकस्याऽस्य योगिचित्तस्य परमाण्वन्तः परममहत्त्वाऽन्तश्च वशीकारो भवति । परमाणुः—परमाणुरतिसूक्ष्मं वस्तु—यत्र सूक्ष्मत्वस्य पराकाष्ठाऽस्ति, परममहत्त्वम्—अतिस्थूलपदार्थः, भावे त्वः । यत्र परममहत्त्वस्य पराकाष्ठाऽस्ति । लोके द्व्यणुकं सूक्ष्मम्, ततोऽणुः सूक्ष्मः, ततः—पञ्चतन्मात्रेन्द्रियाणि सूक्ष्माणि, ततो मनः सूक्ष्मम्, ततोऽहङ्कारः सूक्ष्मः, ततो बुद्धिः सूक्ष्मा, ततःप्रकृतिः—सूक्ष्मा । तत्रापि सत्त्वरजस्तमोऽन्यतमात्मको गुणः सूक्ष्मः, इत्येवं-सूक्ष्मत्वं कारणात्मकतयाऽत्र प्रदर्शितम् । कार्यरूपेण तु—त्रसरेणुः स्थूलः, ततो घटादयः स्थूलाः, ततो ब्रह्माण्डं पृथिव्यावरणसहितं स्थूलम्, ततो जलावरणं स्थूलम्, ततस्तेजस आवरणं स्थूलम् , ततो वायोरावरणं स्थूलम्, तत आकाशावरणं स्थूलम्, ततोऽहङ्कारावरणं स्थूलम्, ततो महत्तत्त्वाऽऽवरणंस्थूलम् , ततः प्रकृत्यावरणं स्थूलम्, ततो वैराजस्वरूपं स्थूलम्, ततो हिरण्यमयकोशः स्थूलः, सोऽयं सर्वोऽपि—मायाप्रपञ्चः सूक्ष्मस्थूलभावेनाऽवस्थितः ॥ एवंविधे सूक्ष्मे स्थूले वा निविशमानं सत् चित्तं सर्वत्र प्रतिघातवर्जितं स्थितिपदं लभते । एवं—सूक्ष्म-स्थूलरूपं कोटिद्वयं चरतो मनसो यः प्रतिघातरहितः स्थिरीभावः स एव चित्तस्य वशीकारः—वशीकरणम् । वशीकरणे पुरुषाधीनं चित्तं न तु स्वतन्त्रम् । तादृशं चित्तं स्वात्मस्वरूपे परमात्मस्वरूपे वा निविशमानं प्रागेव तत्र स्थिरं भूत्वा—तत्स्वरूपदर्शनात्मकं योगफलं लभते । अतः स्थिरतायाः पराकाष्ठां प्राप्तं चित्तं न पुनरभ्यासान्तरसाध्यस्थैर्यमपेक्षते—इति ॥ ४० ॥

तदेवं लब्धस्थितिकचेतसः किंविषयः ! किंरूपश्च सम्प्रज्ञात ! इत्याह—

## ॥ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ॥ ४१ ॥

यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेः,—उपाश्रय-जपाकुसुमादिरूपाऽऽपन्नता

जायते, तथा–अभ्यासवैराग्याभ्याम् उपायान्तरैर्वा क्षीणराजसतामसप्रमाणादिवृत्तेः स्वभावस्वच्छस्य चित्तस्य ग्रहीतृषु–ग्रहणेषु–ग्राह्येषु च पदार्थेषु, तत्स्थत्वम्–तत्रैकाग्रता, तदञ्जनता–तदाकारत्वञ्चेति । समापत्तिः–परिणामता भवतीति । ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येष्वित्यत्र ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु–इति क्रमो वाच्यः । प्रथमं स्थूलेषु ग्राह्येषु घटपटादिविषयेषु प्रेर्यमाणं चित्तं तदुपरक्तं तत्समानाकारं परिणतं सत् तत्रैवैकाग्रं भवति, परममहत्सु भूतेषु–हिरण्यमयकोशपर्यन्तेषु ग्राह्येषु प्रेर्यमाणं चित्तं तदुपरक्तं–तत्समानाकारं परिणतं सत् तत्रैकाग्रं भवति । एवं सूक्ष्मेषु द्व्यणुक-परमाणुषु ग्राह्यविषयेषु प्रेर्यमाणं चित्तं तत्तदाकारं सत् तत्रैकाग्रं भवति–सोऽयं सवितर्कसम्प्रज्ञातसमाधिः । एवमेव सूक्ष्मेषु ग्रहणेषु–इन्द्रियेषु सन्निकर्षेषु मनोबुद्ध्यहंकारप्रकृतिषु च प्रेर्यमाणं चित्तं तत्तदाकारं सत् तत्रैकाग्रं भवति । सोऽयं सविचारसम्प्रज्ञात उक्तः । सात्त्विकाहंकारस्थायां सत्त्वगुणमात्रायां स्थिरीकरणं सानन्दसम्प्रज्ञात उक्तः । एवं ग्रहीता–यः कोऽपि समाधिस्थः पुरुषः, स्वयं मुक्तः, योगी परमेश्वरश्चेति, तत्र तत्र प्रेर्यमाणं चित्तं तच्चेतनोपरक्तं तत्तदाकारं सत् तत्र तत्रैकाग्रतां लभते । सोऽयं–बुद्धिचेतनप्रतिबिम्बसंयोगैकाग्रताकरणात्मक–सास्मितसम्प्रज्ञातादप्यधिकः–आत्मसाक्षात्कारसम्प्रज्ञात उक्तः ॥ ४१ ॥

तत्र वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातो द्विविधः, सवितर्को निर्वितर्कश्च । विचारानुगतसम्प्रज्ञातोऽपि द्विविधः–सविचारो निर्विचारश्च । आनन्दानुगताऽस्मितानुगतयोरवान्तरभेदो नास्ति । तत्र प्रथमं सवितर्कसम्प्रज्ञातसमाधिं दर्शयति—

## तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्दश्च अर्थश्च ज्ञानं च तेषां, विकल्पाः—भिन्नानामभेदेनाऽवधारणानि–तैरिति विग्रहः । अयं भावः–सर्वत्र लौकिकाऽलौकिकोभयविधपदार्थव्यवहारे प्रथमं संकेतज्ञानवता पुरुषेण घटमर्थमवलम्ब्य 'घट' इत्याकारकस्य शब्दस्य वाचकस्य प्रयोगः क्रियते, ततो घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकं घटशब्दजन्यं 'घट' इति ज्ञानं–शाब्दबोधो भवति । तादृशज्ञानेन च कम्बुग्रीवादिमत्पृथूदरो जलाहरणयोग्यो घटपदार्थोऽधिगतो भवति मध्यस्थस्य । इत्यतः - 'घट'इतिशब्दो 'घट'इतिशाब्दबोधो 'घट'इति वस्तु चेति त्रयमेव परस्परमविनाभावसम्बद्धं वर्तते, अविनाभावो नाम संकेतः, स चेतरेतराध्यासात्मकः, तेन त्रयाणां संकीर्णता भवति । एतत्त्रयमपि वस्तुतः स्वतन्त्रं भिन्नं भिन्नं स्वस्वधर्मेण विद्यते–यथा शब्दत्व-तारत्व-मन्दत्वादयः शब्दधर्माः–भिन्ना एव । प्रकाशत्व-ज्ञानत्वादयः शाब्दबोधधर्माश्च भिन्ना एव । जडत्व-मूर्तत्वादयो वस्तुधर्मा भिन्ना एव । तैस्तैर्व्यावर्तकैर्धर्मैः शब्दस्तज्ज्ञान–

वस्तूनि भिन्नानीति व्यवस्थितानि । तेषां भिन्नानां संकीर्णतया व्यामिश्रतयाऽभेदेन यदवधारणम् , सा संकीर्णा-सवितर्का समापत्तिः समाधिरुच्यत इति । तत्र कदाचिद् घटइति शब्देन सह शाब्दबोधवस्तुनोरभेदावधारणम् , कदाचिद्—घट इति शाब्दबोधेन सह शब्दवस्तुनोरभेदेनावधारणम् , कदाचिच्च घट—इति—वस्तुना सह शब्द-शाब्दबोधयोरभेदेनाऽवधारणम् । एवं कदाचिद्वयोरेव-शब्दशाब्दबोधयोरभेदावधारणम् कदाचिच्छब्दवस्तुनोरेवाऽभेदावधारणम् । कदाचिच्छाब्दबोधवस्तुनोरभेदावधारणम् ॥ तत्र पदपदार्थतद्बोधानां संकेत एव कारणम् । संकेतो येन पद-पदार्थ तद्बोधानां ज्ञातस्तेनैव घटशब्दः प्रयुज्यते, अतः कारणस्य संकेतस्य संकीर्णत्वात् तत्पश्चात्प्रयुक्तशब्द—तदर्थ-ज्ञानानां संकीर्णता भवतीति । अथ परार्थानुमानस्थलेऽपि—वह्निमूलकप्रतिज्ञाहेतुदाहरणानि प्रयुक्तानि, ततो वह्नेरनुमानज्ञानं भवति । तत्र वह्निरितिशब्दः, वह्निरितिपदार्थः, वह्नयनुमानज्ञानं—चेतित्रयाणां कारणं संकेतस्य स्मरणं प्रथमं वर्तते, अतः संकेतस्याऽध्यासरूपत्वात् तत्स्मरणमप्यध्यासरूपम्, तेन च प्रतिज्ञागतवह्निशब्देन सह वह्निविषयकाऽनुमानज्ञानस्य वह्निवस्तुनश्चाऽभेदेन ग्रहणं—संकीर्णता,—। सा सविचारा सम्प्रज्ञातसमापत्तिर्बोध्या, सेयं स्थूलविषयैव भवति, सर्वत्र स्थूलार्थवाचकशब्दप्रयोगे सति प्रवर्तमानत्वादिति । वितर्को नाम परस्पराऽध्यासः,—तेन सहिता सवितर्का, इति । अत्र शब्दोऽपि स्थूलः, शाब्दबोधाऽनुमानात्मिका वृत्तिरपि स्थूला, अर्थो घटादिरपि स्थूल इति बोध्यम् ॥ ४२ ॥

निर्वितर्कामध्यासरहितां स्थूलविषयां सम्प्रज्ञातसमापत्तिं दर्शयति—

## स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥

'अर्थ'पदेन लक्ष्यं ग्राह्यम्, तच्च—शब्द शाब्दबोधानुमानवस्त्वेतदन्यतमरूपम्, तदेव निर्भासते यत्र सा,—लक्ष्यमात्रैकाऽऽलम्बना, इत्यर्थः । अथ च स्वरूपं लक्ष्यस्वरूपं शून्यं—विकल्परहितं यत्रेति स्वरूपशून्या, विकल्पाऽसम्मिश्रेत्यर्थः । इवार्थः—सादृश्यम्, यथा सानन्दसास्मितसम्प्रज्ञाते एकमात्रालम्बने तथाऽत्रापि, भेदस्तु स्थूलत्वानिबन्धन इति । तथा च यत्र घटादिशब्दोच्चारणं तच्छाब्दबोधस्तदर्थश्च, तत्र कारणेन संकेतेन तत्त्रयमपि विज्ञाय पुनः संकेतं विहाय केवले स्थूलशब्दे या चित्तधारणा सा केवलशब्दविषयिण्येव, संकेतस्य परित्यक्तत्वात्, तदर्थेन तद्बोधवस्तुनोरपि ततो वियोगात्, सा- संकेतयुक्तसंकीर्णतारहिता—अतः परिशुद्धा समापत्तिरिति कथ्यते । संकेतस्य परिशुद्धिर्नाम तत्त्याग इति ॥ एवं प्रथमं संकेतेन त्रयाणां धारणां कृत्वा पश्चात् संकेतं विहाय केवले स्थूलवृत्तिरूपे शाब्दबोधे या चित्तधारणा सा केवलशाब्दबोधविषयिण्येव, तदा संकेतपरित्यागात्

तन्मूलकशब्दवस्तुनोरपि वियोगादिति । एवं प्रथमं संकेतेन त्रयाणां धारणां कृत्वा पश्चात् संकेतं विहाय केवले स्थूले वस्तुनि या चित्तधारणा सा केवलवस्तुविषयिणी शब्दशाब्दबोधाभ्यामसंकीर्णा बोध्या । अथ परार्थानुमानस्थलेऽपि—संकेतस्मरणेन शब्द-तद्बोधतद्वस्तुवृत्तित्रयाणामवधारणं कृत्वा पश्चात्संकेतस्मरणं विहाय केवले स्थूले शब्दे अथवा केवले स्थूलवृत्तिरूपे तद्बोधे वा केवलस्थूलवस्तुनि या धारणा सापि प्रत्येकविषयिणी—असंकीर्णा निर्विचारा समापत्तिरिति बोध्या । तदिदं योगिनाम्—असदारोपरहितं परमं प्रत्यक्षमिति बोध्यम् ।

अत्र परमाणुपुञ्जवादी बौद्धः शङ्कते— नहि केवलवस्तुविषयिणी धारणा निर्वितर्का भवितुमर्हति । परमाणुपुञ्जात्मकघटस्य स्थूलैकपदार्थत्वाऽननुभवात्, सूक्ष्माऽनेकपदार्थत्वाऽनुभवाच्च । अतः परमाणूनां सूक्ष्माणामनेकेषामेकतया स्थूलतया च धारणा संकीर्णा एवेति द्व्यणुकादीनां धारणा सवितर्कैवेति सिद्धान्त इति चेत् ! मैवम् । नाऽसति बाधके स्थूलत्वमनुभवसिद्धं शक्यमपह्नोतुम्, यतः—अणूनां प्रचयः स्थूलपरिणामरूपः, स एव शरीरादौ घटादौ च मुख्यः स्थूलपदार्थः शरीरघटाद्यात्मकः । अथ च प्रत्येकपरमाणुषु वर्तमानतयाऽवस्थितः कश्चित् सूक्ष्मत्वधर्मः—स च न घटादिस्थूलात्मकः, अतो यदा घटात्मकविषयमात्राऽवधारणे स्थूलघटस्यैवाऽऽलम्बनं न तु सूक्ष्मत्वविशिष्टपरमाणूनां विशेषरूपेणाऽऽलम्बनम्, तदा सूक्ष्मपरमाण्वालम्बनाऽसम्भिन्नस्य केवलस्थूलघटाद्यालम्बनस्य निर्वितर्कसमापत्तियुक्तेति । ननु घटोऽयं सूक्ष्मपरमाण्वादिभिन्नो वाऽभिन्नः । भिन्नश्चेत् !—कार्यकारणयोस्तादात्म्यमिति—स्वसिद्धान्तहानिः । अभिन्नश्चेत् !—परमाण्वात्मकतया सूक्ष्मस्य तस्य स्थूलतया ग्रहणेन सवितर्कसमापत्त्यापत्तिरिति चेन्न । स्थूलो घटादिः कारणात्मकतया परमाण्वभिन्नः कार्यात्मकतया तु परमाणुभिन्नः, तथा च न स्वसिद्धान्तहानिः, कार्यात्मकतया च घटस्य ग्रहणेन न वा सवितर्कसमापत्त्यापत्तिः, तत्र कार्यत्वावच्छिन्नस्थूलघटाऽऽलम्बनं कृत्वा धारणायां सत्यां कार्यत्वतत्संसर्गयोः परित्यागेन केवलं स्थूलघटालम्बनं स्वरूपमात्रं यदवशिष्यते तद्विषयकधारणाया निर्वितर्कसम्प्रज्ञातसमाधित्वात्, तत्र संकीर्णताया अभावात् । ननु तथापि घटः पृथिवीपदार्थः, तत्र स्थौल्यं च कोऽपि धर्मविशेषः, तयोः समूहालम्बनेन ग्रहणं सवितर्कमेवेति चेन्न । स्थौल्यात्मको धर्मो घटतादात्म्यः प्राविर्भावतिरोभावस्वभावो न तु घटाद्यतिरिक्तः कश्चित्, स च प्राविर्भूतः सन् घटादौ स्थूलोऽयमिति व्यवहारं सम्पादयति । यदा च स तिरोभूतस्तदा विरुद्धधर्मसौक्ष्म्यस्य तत्राऽऽविर्भावात् 'सूक्ष्मोऽय'मित्यादिव्यवहारो भवति, तथा च प्राविर्भूतस्थौल्यमेव घट इति,—तत्र भेदाऽभावात्—अभिन्नस्य भेदेन ग्रहणस्य निर्वितर्कसम्प्रज्ञातत्वात् । अथ—'यत् सत् तत्सर्वमनवयवं यथा विज्ञानमिति व्याप्तेः, कथं घटादीनामवयवित्वं युक्तम् !

सत्त्वं च शरीरघटादिपदार्थानाम् अनवयवत्वव्याहतम्, इति चेन्नैवम् ॥ किमिदं नाम सत्त्वम् ? यदर्थक्रियाकारित्वम्, तदा जलाहरणाऽऽद्यर्थक्रियाकारित्वाद् घटस्य सत्त्वमुपपन्नम्, तच्च सत्त्वं नहि स्थूलादवयविनो द्रव्यादन्यत्, तदिदं सत्त्वं-स्थूलत्वमपाकुर्वत् स्वात्मानमेव व्याहन्ति, अर्थक्रिया जलाहरणात्मिका हि स्थूलेन घटादिनाऽवयवसम्बद्धेनैव भवति, न तु परमाणुभिरनवयवैरिति । तस्मादनवयवत्वं तत्र बाधितमेव । किञ्च—घटपुञ्जात्मकपरमाणुभिर्जलाहरणकार्यं क्रियते, तत्र किं परमाणवः सान्तराला निरन्तराला वा ?, निरन्तरालत्वन्तु तत्र बाधितमेव—घटे विभिद्यमाने सान्तरालस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात्, तथा च सान्तरालत्वमेव घटस्य निरवयवत्वबाधकमिति । तदेवं सान्तरालेऽपि घटे परमाणूनां गाढसंयोगसत्त्वात् न जलाद्यनाधारणापत्तिरिति । अथवन्मते तु गाढसंयोगविशेषस्याऽवस्तुकत्वेन तद्विषयकम् 'अवयवपुञ्ज'- इति—ज्ञानं मिथ्याज्ञानमेव, तथा च यावत्संसारस्थानामवयवितया दृश्यमाणानां यत्किमपि ज्ञानं तन्मिथ्याज्ञानमेवेत्यापद्येत । किञ्च—परमाणुपुञ्जस्याऽवस्तुतया तन्निबन्धनो घटपटादिव्यवहारोऽपि मिथ्या—एव स्यात् न पुनः कार्यसिद्धिः स्यादिति । एवं—सूक्ष्मपरमाणुस्वरूपस्यैव परमाणुपुञ्जस्य प्रत्यक्षाऽनुपपत्त्या समुपलभ्यमानप्रत्यक्षव्यवहारविरोधश्च स्यादिति । न चाऽदृश्यस्य दृश्यत्वकल्पनं सम्भवति, महत्त्वोद्भूतरूपाऽऽलोकसंयोगेन्द्रियसंयोगादेरतत्र नियामकत्वात् । तथा च घटादेः प्रत्यक्षतया महत्त्वं युक्तम् । महत्त्वञ्च—महत्परिमाणवत्त्वम् ।—तच्चानित्यानां पदार्थानाम् अवयवसंयोगादेवोपलभ्यते, अवयवसंयोगश्च घटादेरवयवित्वनियामक इति । तस्माद्घटादीनामवयवित्वे स्थौल्ये च न किमपि बाधकमिति ॥४३॥

एवमेवाऽनुरूपतया विचारानुगतसम्प्रज्ञातस्य भेदद्वयं सविचारसम्प्रज्ञातं—निर्विचारसम्प्रज्ञातं चेति निर्दिशति—

## एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

एतया—सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या, सूक्ष्मविषयाऽपि सविचारनिर्विचाररूपा लक्ष्यपदार्थाऽभेदाऽभ्यासाऽनभ्याससाम्यतया व्याख्यातेति । तत्र परमाणुविषयिणी सविचारा यथा—'परमाणुरिति सूक्ष्मः शब्दः, परमाणुरिति—सूक्ष्मशाब्दबोधः, परमाणुरूपो विषयश्चेति त्रयमपि—योगिभिर्योगाभ्यासधर्मसामर्थ्येन प्रत्यक्षं क्रियते । तत् त्रयमपि वस्तु स्वभावतो भिन्नं भिन्नं विद्यते किन्तु परमाणुरिति सूक्ष्मशब्देन यः 'संकेतः—परमाणुरिति—विषयस्य शाब्दबोधस्य च संसर्गः, स तु संकीर्णः, अत एव तस्येतरेतराध्यासाऽऽत्मकस्य प्रभावेण त्रयाणामपि वस्तुतो भिन्नानामभेदाऽभ्यासेन यद् ग्रहणं सा संकीर्णा सविचारा समापत्तिरिति ।

तदत्राऽपि–कदाचित्परमाणुरितिसूक्ष्मशब्देन सह शाब्दबोधविषययोरभेदावधारणम्, कदाचिच्च शाब्दबोधेन सह शब्दविषययोरभेदावधारणम्, कदाचित्तु–विषयेण सह शाब्दबोध-शब्दयोरभेदावधारणम्–इति त्रयाणां संकीर्णता, कदाचित्तु द्वयोरेव–यथा–परमाणुरितिशब्द-शाब्दबोधयोरेवाऽभेदेनाऽवधारणम् । कदाचिच्छब्दविषययोरभेदावधारणम्, कदाचिच्च शाब्दबोधविषययोरेवाऽभेदावधारणम्, तत्र संकेतसंकीर्णताप्रयुक्ता त्रयाणां संकीर्णता भवतीति । एवं सूक्ष्मपरमाणुविषयकपरार्थानुमानस्थले–परमाणुमूलकप्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि योगिना सूक्ष्मशब्दैः प्रयुक्तानि, ततोऽन्यस्य योगिनः परमाणु–विषयकाऽनुमानज्ञानं भवति, तत्र परमाणुरिति–सूक्ष्मः शब्दः–परमाणुरित्यनुमानज्ञानम्–परमाणुरितिविषयश्चेति–त्रयाणां कारणं संकेतस्मरणं भवति, तदेवं संकेतस्याऽध्यासरूपत्वात् संकेतस्मरणमप्यध्यासरूपम्, तेन स्मरणेन–प्रतिज्ञागतपरमाणुशब्दस्य,–परमाणुरित्यनुमानज्ञानस्य,–परमाणुरिति विषयस्य, चाऽभेदेन ग्रहणं-संकीर्णता–सा सवितर्कसमापत्तिरिति ।

एवमधिकमपि बोध्यम्-यथा–पृथिवीपरमाणुः–अनेकधर्मैर्व्याप्तो विद्यते तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः परमाणुधर्माः, पार्थिवपरमाणोः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्य उत्पन्नत्वात् । एवं–घटादिरपि परमाणुवृत्तिः परमाणुधर्मः–परमाणुतादात्म्यात् परमाणुजन्यत्वाच्च । एवं संख्यापरिमाणसंयोगपरत्वाऽऽदयोऽप्यन्ये धर्मा वेदितव्याः । एवं परमाणोः कस्मिन्नपि घटादिप्रदेशे स्थितत्वात् प्रदेशावच्छिन्नत्वरूपः परमाणुधर्मः, तथा कस्मिन्नपि वर्तमानादिकाले वर्तमानत्वात् वर्तमानादिकालावच्छिन्नत्वमपि परमाणुधर्मः, एवं परमाणोः शब्दादिसहकृतगन्धतन्मात्रजन्यत्वेन गन्धतन्मात्रजन्यत्वमपि परमाणोर्धर्मः, इत्येवमादयो विविधधर्माः परमाणुभिन्नाः परमाणुवृत्तयः परमाणुव्याप्तसंकाश्च, तदेतेषाम्–अभिन्नतया ग्रहणमितरेतराऽध्यासः, सा–संकीर्णा सविचारा समापत्तिरिति कथ्यते । एवं–जलपरमाणुषु गन्धमात्रां विहायाऽन्ये शब्दादिधर्मा ये ये वर्तन्ते तेषां सर्वेषामभिन्नतया ग्रहणम्–इतरेतराध्यासः,–सा संकीर्णा सविचारा समापत्तिरिति । एवं तेजःपरमाणुषु वायुपरमाणुषु गगने च यथायोग्यं विद्यन्ते ये ये धर्मास्तेषां संकीर्णतया ग्रहणं सविचारः सम्प्रज्ञातसमाधिर्बोध्यः । एवं शब्दादितन्मात्रेष्वपि–सूक्ष्मभूतेषु ये ये परमाणुकारणत्वाहंकारजन्यत्वाऽविशेषत्वादिधर्माः, तेषामितरेतराध्यासतया ग्रहणं–संकीर्णा सविचारा सम्प्रज्ञाता समापत्तिर्बोध्या ॥ एवमिन्द्रियाऽहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतिष्वपि धर्मधर्म्यभेदाध्यासप्रयुक्ता संकीर्णा सविचारा समापत्तिर्बोध्या ॥

यदा च–परमाणुरितिसूक्ष्मः शब्दः, अथवा परमाणुरिति सूक्ष्मशाब्दबोधः, अथवा परमाणुरिति विषयश्चेति यत्र प्रज्ञायां स्वतन्त्रतया निर्भासते–सा–इतरेतराध्यासरहिता-लक्ष्यमात्रैकाऽऽलम्बना निर्विचारा समापत्तिरुच्यते, । तत्र प्रथमं

संकेतेन त्रयाणामपि शब्द—शाब्दबोध—विषयाणां स्वरूपाणि विज्ञाय ततः संकीर्णतोद्भावकसंकेतस्य परित्यागेन या केवले सूक्ष्मशब्दे वा केवले सूक्ष्मशाब्दबोधे, वा केवले सूक्ष्मे परमाणुविषये या समापत्तिः साऽसंकीर्णा निर्विचारा बोध्या। एवं—योगिप्रयुक्तपरार्थानुमानस्थलेऽपि—संकेतविषयकस्मरणेन कारणीभूतेन—परमाणुरितिशब्द—परमाणुविषयकानुमानज्ञान—परमाणुरितिविषयाणां स्वरूपाणि विज्ञाय ततः संकेतस्मरणस्याऽभ्यासात्मकस्य त्यागात्—केवले—परमाणुरितिसूक्ष्मे शब्दे—तदनुमानज्ञाने,—परमाणुरिति विषये च या प्रज्ञा भवति सा—असंकीर्णा निर्विचारा बोध्या। एवं—शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध—घटसंख्यापरिमाण संयोग—परत्व—प्रदेशावच्छिन्नत्व—कालावच्छिन्नत्व—तन्मात्राजन्यत्वादिधर्मान् विहाय केवले परमाणौ या धारणा सा परमाणुमात्रविषयिणी अतः असंकीर्णा निर्विचारा समापत्तिरित्युच्यते॥ एवं जलपरमाणूनां तेजःपरमाणूनां वायुपरमाणूनां सूक्ष्मगगनस्य च धर्मान् विहाय केवलपरमाणुगगनविषयिणी या धारणा सा असंकीर्णा निर्विचारा समापत्तिरित्युच्यते। एवं शब्दादितन्मात्रेष्वपि सूक्ष्मभूतगतान्—परमाणुकारणत्वाहंकारजन्यत्वाऽविशेषत्वादिधर्मान् परित्यज्याऽसंकीर्णतया यत् तेषां तन्मात्राणां केवलस्वरूपमात्राऽवधारणं सा—असंकीर्णा निर्विचारा सम्प्रज्ञातसमापत्तिरुच्यते। एवमिन्द्रियाहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतिष्वपि—या केवलस्वरूपमात्राऽऽलम्बनानुरक्ता धारणा सा धर्मधर्म्यादीनामितरेतराध्यासरहितत्वाद् असंकीर्णा निर्विचारा सम्प्रज्ञातसमापत्तिरुच्यत—इति॥ ४४॥

विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोगस्य सूक्ष्मपदार्था एव विषया भवन्ति। तत्राऽभिमतपदार्थेषु कियन्तः कियन्त सूक्ष्मा इति भवन्तीत्याकांक्षायामाह—

## ॥ सूक्ष्मविषयत्वञ्चाऽलिंगपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्माणां विषयाणां भावः सूक्ष्मविषयत्वम्,—तच्च अलिंगपर्यवसानम्—अलिङ्गम् प्रकृतिः, तत्पर्यन्तं बोध्यमिति। तद्यथा—स्थूलत्रसरेण्वपेक्षया द्व्यणुकं सूक्ष्मम्, ततः परमाणवः सूक्ष्माः, परमाण्वपेक्षया तन्मात्राणीन्द्रियाणि च सूक्ष्माणि। तत्र पृथिवीपरमाण्वपेक्षया गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मम्, जलपरमाण्वपेक्षया रसतन्मात्रं सूक्ष्मम्, तेजःपरमाण्वपेक्षया रूपतन्मात्रं सूक्ष्मम्, वायुपरमाण्वपेक्षया स्पर्शतन्मात्रं सूक्ष्मम्, सूक्ष्माकाशापेक्षया च शब्दतन्मात्रं सूक्ष्ममिति॥ एवमग्रे—इन्द्रियतन्मात्राऽपेक्षया मनः सूक्ष्मम्, तदपेक्षयाऽहंकारः सूक्ष्मः, अहंकारापेक्षया तत्कारणं महत्तत्त्वं सूक्ष्मं, महत्तत्त्वं लिङ्गपदवाच्यम्—लिङ्गयति ज्ञापयति स्वकारणं प्रकृत्यात्मकं तत्—लिङ्गम् महत्तत्त्वमिति, अथवा—लयं गच्छति यत्—तल्लिङ्गम्, संसारे जन्यपदार्थानां महत्तत्त्वपर्यन्तो लयः प्रदर्शित इति॥

लिङ्गस्य—महत्तत्त्वस्य कारणं तु अलिङ्गम्, मूलप्रकृतेर्लयाभावात्, तदेतद् महत्तत्त्वाऽपेक्षया सूक्ष्ममिति । तथा च द्व्यणुकादिप्रभृतिप्रकृतिपर्यन्तः सूक्ष्मो विषयः । तत्र गता धर्मा गुणा वा यत् किमपि तत्सर्वमपि सूक्ष्ममिति बोध्यम् । तदिदं कार्यत्वात् स्थूलता कारणत्वात् सूक्ष्मता इति प्रदर्शितम् । यद्यपि प्रकृत्यपेक्षया पुरुषः सूक्ष्मः, पुरुषापेक्षया परमेश्वरः सूक्ष्मतरः—इत्यस्ति, तथापि तत्रोभयत्र कारणत्वेन रूपेण सूक्ष्मता न संभवति, अतः सूक्ष्मत्वं पुरुषे परमेश्वरे च न वर्णितम् अत उत्कर्षतया सूक्ष्मत्वस्य पराकाष्ठा मूलप्रकृतावेवेति । वस्तुतः आत्मस्वरूपस्यापि योगिभिरेव धारणादिना ग्राह्यत्वात्—पुरुषः सूक्ष्मस्वरूपो भवितुमर्हति, सूक्ष्मस्वरूपत्वञ्चाऽत्र—स्थूलवद् अदृश्यस्वरूपत्वं बोध्यम्, तेन न परममहानात्मा इति योगसिद्धान्तविरोधः । एवं परमेश्वरोऽपि योगिना स्वाऽऽत्मस्वरूपदर्शनानन्तरं तत्राऽन्तर्यामितया दिव्यस्वरूपो द्रष्टुं शक्यते अतः पुरुषापेक्षया परमेश्वरः सूक्ष्मतर इति, अत्रापि सूक्ष्मतरत्वं स्वात्माऽपेक्षयाऽप्यदृश्यस्वरूपतयाऽन्तर्यामितया च बोध्यं तेन न स्वसिद्धान्तविरोध इति ॥

अत्राऽयं सिद्धान्तः—स्थूलानां सूक्ष्माणां च विषयाणां यानि स्वरूपाणि तान्येव स्वाकारैश्चित्तं परिणामयन्ति, विषयाकारोपरक्तं च चित्तं तत्र तत्र स्थिरीभूतं जायत इति । तत्र स्थूलसूक्ष्माऽऽलम्बने चित्तस्य यावन्तो विषयाः षड्विंशतिपदार्थात्मकाः, तत्तदाकाराऽऽपन्नत्वं च चित्तस्येति । तेन—पृथिवीजलतेजोवायुगगनात्मकानां भूतानां—तत्कारणतन्मात्राणाम्—अन्येषामपि गुणानाम्—इन्द्रियाणां मनोबुद्धिचित्ताहंकाराणां—प्रकृतेः—तद्गुणसत्त्वरजस्तमसां—पुरुषस्य—परमेश्वरस्य च—आकाराः केचिच्चित्तावलम्बनीभूताः स्वानुरूपतया चित्तस्य परिणामयितारो योगशास्त्रसिद्धान्तसिद्धाः, अतो यावतां पदार्थानां साकारत्वमेव सिद्धम् ॥ तदत्र साकारत्वं विचार्यते—

१ स्वा(सत्ताऽ)धिकरणवस्त्वनुरूपेन्द्रियवृत्तिपरिणामकसत्तात्वम् आकारत्वम् ॥ तत्र—यत्र पदार्थे स्थूले सूक्ष्मे वा नेत्रादीन्द्रियद्वारा बहिर्गतां बुद्धिवृत्तिं स्वाकारेण परिणामयितुं सामर्थ्यं विद्यते, तद्वस्तु साकारमिति, यथा घटं प्रति नेत्रवृत्तिर्गता सती घटाकारेण परिणमते, पृथिवीजलतेजसामयं स्वभावस्तस्मात् साकारत्वम् ॥ २ एवं—यत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणानां मिलितानां प्रत्येकस्य वाऽऽधारत्वं तत्राऽवश्यम् आधारत्वनियामकः कश्चिदाकारोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथाऽऽधारत्वमेव न स्यादिति,—अत आधारात्मकं वस्तु साकृति, एवमाधेयात्मकमपि साकृति, द्वयोराकारसद्भावे एवाऽऽधाराधेयभावसंभवात्, भवन्ति च षड्विंशतिपदार्थाः—आधाराधेयभावाऽऽपन्ना अतस्ते सर्वे साकारा इति ॥ ३-एवं—यस्योत्पत्तिः कारणतोऽभिव्यक्तिर्वा तत्सावयवं भवतीति नियमात्—अवयवैरुपष्टब्धोऽवयवी भवत्याकृतिमानिति, अन्यथाऽवयवाऽवयवीति व्यवहाराऽनुपपत्तेः, तस्मादेतन्नियमेन प्रकृतिपर्यन्तं

यावन्तः पदार्था भवन्ति साकाराः, प्रकृतेरपि त्रिगुणात्मकाऽवयवत्रययुक्तत्वं युक्तमेव नैतावता तस्या अनित्यत्वं कारणान्तराऽभावादिति ॥ ४—एवं—सावधिप्रदेशे स्वकीयाऽस्तित्ववत्पदार्थः साकारः, तत्राऽऽकृतिनिबन्धन एव—'अत्राऽस्ति तत्र नास्ती'ति व्यवहारः, आकाराभावे तु तस्य—'अत्र सत्त्वम् अन्यत्राऽसत्त्व'मिति ज्ञातुमशक्यत्वात् तस्माद्भवन्ति सावधिकप्रदेशावच्छेदेन सत्त्वाऽसत्त्वप्रतीतिविषयाः पदार्थाः साकारा इति । भवन्ति च परमेश्वरं सर्वान्तर्यामिणमन्तरेण सर्वेऽपि न्यूनप्रदेशसत्त्वाऽसत्त्वाद्विमन्त इति । तस्मादेतन्नियमेन पञ्चविंशतिपदार्थाः साकारा इति ॥ ५ एवं—न्यूनदेशवत्त्वेन—अल्पपरिमाणेनाऽपि तत्राऽवश्यं भाव्यम्, तथा चाऽल्पपरिमाणवान्पदार्थः साकार इति । यतोहि तस्याऽल्पपरिमाणम्—अल्पाकारनिबन्धनमिति । एवम्—अधिकदेशवृत्तित्वेन महत्परिमाणवत्त्वमपि यस्य पदार्थस्यानुभवसिद्धं भवति, तदप्याकारनिबन्धनमेवेति । तस्मादनेन नियमेन महत्परिमाणे वस्त्वपि साकृति बोध्यम् । अतः षड्विंशतिपदार्था अपि भवन्ति साकाराः, तत्र केषाञ्चिदल्पपरिमाणवत्त्वात् केषाञ्चिच्च महत्परिमाणवत्त्वात् । यद्याकारो न स्यात्तर्हीदमल्पमिदं महदिति व्यवहार एव न स्यात् खपुष्पवदिति ॥ ६ एवं—यस्य पदार्थस्याऽन्यपदार्थकृतबन्धनवत्त्वम्,—तस्य साकृतित्वमेव । भवति हि—आकृतिमदेव वस्तु घटादिरिव बन्धनसम्बद्धम्, यत्र च पुनराकृतिर्नास्ति तस्य कुतो बन्धनम्, यथा खपुष्पस्य, भवत्यत्र तु पृथिव्यां गन्धो बद्ध इति, एवं शरीरे हृदयप्रदेशेन आत्मा बद्ध इति । तथा—हिरण्मयकोशान्तर्वर्तित्वेनाऽऽकाशो बद्ध इति, तस्मात्ते सर्वेऽप्याकृतिमन्त इति । अन्यथा जन्याकाशस्य प्रकृत्युदरान्तर्वर्तित्वमेव न तु ब्रह्मलोके इति व्यवस्था न स्यात्, तस्मादनेन नियमेन प्रकृत्युदरान्तःस्थितं बद्धमाकाशं स्वाकृतिं साधयतीति, एवं सर्वे पञ्चविंशतिपदार्थाः साकारा अनेन नियमेन सिद्धा भवन्तीति ॥ ७ एवं—ययोर्द्वयोः परस्परं संयोगादिसंसर्गः, स चाऽऽकारे सत्येव सम्भवतीति, न ह्याकृतिरहिते खपुष्पशशशृङ्गादौ कश्चिदपि संसर्गोऽनुभूयते, भवति च षड्विंशतिपदार्थानां संसर्गः संयोगाद्यात्मकः । तस्मादनेन नियमेन षड्विंशतिपदार्थानां परस्परसंसर्गवत्तया साकारस्वरूपत्वं सुनिश्चितमिति ॥ ८ एवं—येषाम्—एकत्वद्वित्वादिसंख्यावत्त्वं तेषामाकृतिरवश्यं भाव्या, विना ह्याकृतिमत्त्वं 'इदमेकमिमौ द्वाविमे त्रय इमे बहव'इत्यादिव्यवहारो न स्यात् तादृशव्यवहारस्याऽऽकृतिनिबन्धनत्वात् । न ह्याकृतिरहितानां खपुष्पादीनामसतां भवत्येकत्वद्वित्वादिमत्तया कदाचिदपि गणनम् । भवन्ति च साकृतयो घटादयः संख्याप्रकारकज्ञानविषया इति । एवमेव षड्विंशतिपदार्थाः संख्यामत्तया व्यवहारविषयाः सन्ति अत एवाऽनेन नियमेन संख्यावत्त्वव्यापकं साकृतित्वं तेषु सिद्धमिति ॥ ९ एवं—येषां परस्परविभागः स च पदार्थानामाकृतिनिबन्धनः, पदार्थाः आकृत्या एव परस्परं विभक्ता

भवन्ति विना ह्याकृतिं-'इदमस्य विभक्तमिति' व्यवहारविषयं खपुष्पवन्न स्यादिति, असतस्तथाविधप्रतीत्यभावात् । भवन्ति च घटादिषड्विंशतिपदार्थाः परस्परं स्वाकृत्या विभक्ताः, अतोऽनेन नियमेन षड्विंशतिपदार्थानां साकारत्वमिति ॥ १० एवं-येषां पदार्थानां निरूपणं गुणजात्यादिभिः कृतं भवति, तेषां स्वरूपाकारं विना गुणादिमत्त्वमेव निश्चितं न स्यात्, विनाऽऽकृतिस्वरूपं कुत्र ते गुणादयोऽवतिष्ठेरन् । आकृतिं विना गुणगुणिभावनिरूपणं खपुष्पवदलीकमस्थानमसदिति । भवति तु-षड्विंशतिपदार्थानां भिन्नभिन्नगुणादिमत्तया निरूपणम्, अतो निरूपणविषयपदार्थाः साकृतय एव, निरूपणस्याऽऽकृतिनिबन्धनत्वात् । अनेन नियमेन सर्वेषां पदार्थानां साकारत्वं सिद्धमिति । ११ एवं येषां परस्परं भेदः, स स्वाकृतिनिबन्धन एव, भवति च घटाऽऽकृतिभेदे-'अयं घटोऽस्माद्भिन्न'इति व्यवहारः, तथा सर्वत्र षड्विंशतिपदार्थेषु बोध्यम्, माया-पुरुष-परमेश्वराणां स्वरूपाकारभिन्नतयैव-'इमे भिन्ना' इति व्यवहारो भवति, स्थूलसूक्ष्मेषु सर्वत्रैवैवम् । न ह्याकृतिरहितानाम् असतामेवाऽसतां खपुष्पाणां शशविषाणानां वा परस्परभेदा भवन्ति, अलीकप्रतियोगिकभेदाऽनभ्युपगमात् । तदेतन्नियमेन सर्वेऽपि षड्विंशतिपदार्थाः साकारा इति सिद्धम् ॥ १२ एवं-ये ये भवन्ति स्वस्वधर्मावच्छिन्नाः सन्तः स्वाऽन्यवृत्तिधर्माऽनवच्छिन्ना-इति, तत्र 'अयमेव धर्मोऽस्यावच्छेदको न त्वन्यो ह्यधिकरणत्वात्' इति व्यवहारो भवति स चाधर्मस्वरूपस्य वस्तुनो न स्यात्, अस्वरूपे खपुष्पादौ धर्मधारणाया एवाऽभावात् । यत्र च धर्मधारणा भवति सा च तत्तदाकृतिनिबन्धना, यथा घटस्य-स्वरूपसत्त्वे तत्र घटत्वमिति धर्मधारणा भवति, एवं प्रकृतेः आकारसत्त्वे तत्र त्रिगुणत्वादिधर्मधारणा भवति, परमात्मनस्तु प्रकृत्याद्याकृतिविरूपाऽऽकृतिमत्तया तत्र न जडत्वादिधर्मधारणा किन्तु-परमेश्वराकृत्यनुरूपा परमेश्वराकृतिबोधकाः परमेश्वरत्वसच्चिदानन्दत्वादयो धर्मा निश्चिता भवन्ति । अतोऽनेन नियमेन स्वविशेषधर्मनिर्णयविषयाणां यावतां षड्विंशतिपदार्थानां साकृतित्वं सिद्धमेवेति ॥ १३-एवं-न्यायदर्शने 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थाः'-इति सूत्रेण गौतममुनिनाऽपि पदार्थस्य जात्याकृतिव्यक्त्यात्मकत्वमुक्तम्, तथा च-येन केनाऽपि पदेन वाच्योऽर्थः पदार्थ-इत्यभिधीयते । भवन्ति च षड्विंशतिपदार्थाः-भिन्नभिन्नशब्दवाच्याः, ते पदार्था यद्याकारवन्तो न स्युस्तदा भिन्नभिन्नाऽसमानाधिकरणशब्दवाच्या न स्युः, शब्दः-आकृतिनिबन्धनत्वात्, न ह्यलीकस्याऽभिधानं दृष्टम् । तस्मादनेन नियमेन-असमानाधिकरण-भिन्नभिन्नशब्दवाच्यत्वेन व्याप्येन भवति व्यापकस्याऽऽकृतिमत्त्वस्य सर्वत्र सिद्धिरिति ॥ १४ एवं-यथाऽस्माकं बाह्यप्रत्यक्षं-चक्षुरादिना भवति तावत्सर्वमेव साकृतिपदार्थनिबन्धनमिति, एवमेव परमात्मनः प्रत्यक्षात्मकमेव नित्यज्ञानं वर्तते तथा च तस्य नित्यज्ञानस्य विषयेणाऽवश्यमाकृतिमत्तया भाव्यम्, प्रत्यक्षस्याऽऽ-

कृतिनिबन्धनत्वात् । यत्र पुनराकृतिमत्त्वं नास्ति तस्य खपुष्पादेरसतोऽलीकस्य परमेश्वरप्रत्यक्षविषयत्वमपि नास्ति वस्तुस्थितेर्विरहात्, तदेतन्नियमेन परमेश्वरज्ञानविषयाः षड्विंशतिपदार्थाः साकृतय एवेति ॥ १५–एवं–येषां पदार्थानां ज्ञानं विशेषणविशेष्यभावापन्नं भवति, यथा घटस्य घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकं ज्ञानम्, तेषां विशेषणविशेष्यभावो विशेष्यपदार्थस्याऽऽकारनिबन्धन इति । यद्याकारो न स्यात् तदा 'इदमेवमिदं नैव' मिति विशिष्य व्यवहारोपि न स्यादिति । नहि जायतेऽलीके शशशृङ्गे कूर्मरोमे गगनकुसुमे वा 'इदमेवमिदं नैव'मिति विशेषव्यवहारः । भवति च षड्विंशतिपदार्थानामेवं विशिष्य व्यवहारः, अतोऽनेन नियमेन सर्वेषां साकारत्वं सिद्धमिति ॥ १६–एवं–यत्र भवति व्याप्यव्यापकभावो,–यथा घटाकाशमहदाकाशयोः, तत्र घटाकाशो व्याप्यो महदाकाशो व्यापकः । यथा वा पाषाणपर्वतयोः, यथा वा पुरुषप्रतिबिम्बान्तःकरणयोः, सोऽयं व्याप्यव्यापकभावो भवत्साकारनिबन्धन इति,–न ह्यनाकृतेर्गगनकुसुमस्य क्वापि व्याप्यत्वं दृष्टम्, न्यूनाकृतेर्व्याप्यत्वादधिकाकृतेर्व्यापकत्वादिति । तदेतन्नियमेन षड्विंशतिपदार्थानां व्याप्यव्यापकभावतयैवाऽवस्थितत्वेन साकृतित्वं सिद्धमिति ॥ १७–एवं–यत्र यत्राऽनेकविधा विविधाः शक्तयो विद्यन्ते, ता अपि तत्तत्पदार्थाकारनिबन्धनाः, यथा घटे जलधारणानुकूला शक्तिः, वस्त्रे प्रावरणानुकूला शक्तिः, प्रकृतौ बन्धनानुकूला शक्तिः परमेश्वरे मोक्षानुकूला शक्तिः, जीवात्मनि सुखदुःखाद्यनुकूला शक्तिः, इति ताश्च सर्वाः स्वस्वाऽऽधाराऽऽकारनिबन्धना इति । यद्याकारो न स्यात् तदा ताः शक्तयः कुत्राऽवतिष्ठेरन् । तासां स्थितेः पदार्थस्वरूपनिबन्धनत्वात्, यथा वह्नावुष्णस्पर्शानुकूला दाहशक्तिः, यत्र च नास्ति स्वरूपाकारस्तत्र शशशृङ्गादौ न काचिदपि शक्तिर्निर्धारिता विज्ञैरिति ॥ षड्विंशतिपदार्था अवान्तरशाखारूपाश्च सर्वेऽपि स्वस्वविचित्रशक्तिमन्त इत्यनुभूयते सर्वैः । तस्मादनेन नियमेन सर्वेषां साकृतित्वं सिद्धम्, शक्तिभेदस्याऽऽकृतिभेदनिबन्धनत्वात् ॥ १८ एवं–येषां भवति प्राविर्भावतिरोभावव्यवहारविषयत्वं तदप्याकृतिनिबन्धनमिति, आकारसत्त्वे एव तस्याऽऽविर्भावतिरोभावस्वभाववत्त्वमपि युज्यते । न ह्यनाकृति खपुष्पवदलीकं कश्चिदाविर्भवति तिरोभवति वा । यद्धि घटादि वस्तुतः सदाकारं तदेवाऽऽविर्भवति तिरोभवति चेति । तथा स्थूलभूतानि सूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियाणि मनोऽहंकारबुद्धयः सर्वं एवाऽऽविर्भवन्ति तिरोभवन्ति चेति, ते सर्वेऽप्याकृतिमन्तः । प्रकृतेरपि भवति त्रिगुणविषमाऽवस्थारूपस्त्रिगुणसाम्यावस्थारूपो वाऽऽविर्भावतिरोभाव इति, न तूत्पत्तिविनाशात्मक इति । अथवा प्रकृतेरपि भवति संसारोत्पत्त्यादिकाले हिरण्यमयकोशस्वरूपग्रहणात्मक आविर्भाव इति, स चायं महत्तत्त्वाऽऽविर्भावः प्रकृतावुपचर्यते । एवं परमेश्वरस्यापि योगिभ्यः स्वभक्तेभ्यो दर्शनदानाय भवति नृसिंहावतारादिवत् दिव्यस्वरूपाऽऽवि-

भावः । एवं—जीवात्मादीनामपि योगिनां हृदयावच्छेदेन स्वस्वरूपप्रदर्शनार्थं दिव्यस्वरूपाऽऽविर्भाव इति । तस्मादनेन नियमेन षड्विंशतिपदार्था विविधविषयस्वरूपाऽऽत्मकाऽऽविर्भावादिस्वभावाः अत आकृतिमन्त इति सिद्ध्यन्ति ॥ अन्ये तु—आकाशस्याऽऽत्मनः परमात्मनोऽन्येषामपि बुद्ध्यादिपदार्थानां निराकारत्वं मन्यन्ते, तेषां मते उक्ता एते नियमाः कथमुपपद्येयुः, प्रत्युत पदार्थाः स्वरूपत एव व्याहन्येयुरलीकत्वमापद्येयुरिति ॥ आकाशस्य भूपञ्चत्वात् प्रकृत्युदरगतत्वात् प्रकृत्युदरान्तर्गतमेवाऽऽकाशस्वरूपं सिद्ध्यति, अत एव ब्रह्माण्डमध्याकाशम् व्यापकमित्युच्यते कैश्चित्, न तु ब्रह्मलोके तत्राऽनित्याकाशस्याऽसत्त्वात् इति ॥ परमेश्वरस्वरूपस्य योगिभिः प्रत्यक्षकरणेन साकृतित्वमित्युक्तमेव, पुरुषस्वरूपस्यापि तथेति ॥ ४५ ॥

तदेवंविधायाः सम्प्रज्ञातसमाधेरङ्गभूताया वितर्कस्य भेदद्वयमुक्तम्, विचारायाश्च भेदद्वयमुक्तम्, मिलित्वा एवंविधाश्चतस्रः—

## ॥ ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ताः—सवितर्को निर्वितर्कः सविचारो निर्विचारश्चेति चत्वारः समाधयः—'सबीजसम्प्रज्ञातसमाधि'रिति—व्याख्यायते । यतः—तत्र स्थूलसूक्ष्मविषयेषु धारणया चित्तस्य स्थैर्ये सति प्रमाणादिवृत्तीनामनुद्भवात्, अविद्यादयः क्लेशाः प्रादुर्भूता न भवन्ति किन्तु स्वकारणे चित्तवृत्तौ तिरोभूताः, अत एव बीजभावतया स्थिताः सन्ति, अतः सबीजसमाधिरिति संज्ञा भवति । अथवा आत्मानं परमात्मानं वा विहायाऽन्येषु सुखदुःखमोहात्मकेषु स्थूलसूक्ष्मविषयेषु या धारणा सापि विषयाऽनुरूपसंस्कारजनिका, तादृशीषु चतुर्विधासु धारणासु कृतासु सुखदुःखमोहात्मकाः संस्कारा भवन्ति, तैश्च क्लेशादयो बीजभावतया तत्र पुष्टा भवन्ति न स्वकार्याणि दुःखादीन्युद्भावयन्ति, समाधिधर्मस्य तत्प्रतिबन्धकत्वात्, किन्तु ते बीजभावमात्रतयाऽवतिष्ठन्ते, अतः सबीजसमाधिरित्युच्यते ॥ एवं चात्र सम्प्रज्ञातयोगः षोढा विभक्तः—सवितर्कः, निर्वितर्कः, सविचारः, निर्विचारः, सानन्दः, सास्मितश्चेति । तत्र ग्राह्यस्थूलविषयविषयकः—सवितर्को निर्वितर्कश्च । ग्रहण-सूक्ष्मेन्द्रियादिविषयकः—सविचारो निर्विचारश्च । अहंकारगताऽऽनन्दमात्रविषयकः सानन्दः । बुद्धिचेतनस्वरूपयोरैकात्म्यमात्रविषयकः सास्मितश्चेति विवेकः ॥ ताः = चतस्र एव सबीजा नान्ये द्वे । यद्यपि सानन्दसास्मितसमयेऽपि क्लेशादयो बीजभावतया संभवन्ति,—किन्तु निर्विचारापर्यन्तं ते क्लेशादयोऽक्षतबीजभावाः । निर्विचारस्य च तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यते, तत्त्वज्ञानाग्निना च सानन्दाख्यसमापत्तिकाले क्लेशादीनां बीजभावस्य दग्धभावः प्रारभ्यते एवमेव सास्मितकालेऽपि दाहप्रवाहोऽविच्छिन्नः, ततो

विवेकख्यातिर्भवति तथा च पूर्णतया दग्धता क्रियते, तदाऽसम्प्रज्ञातसमाधिरिति । अतो विरोधिना ज्ञानाऽग्निना भर्ज्यमाणे क्लेशबीजे सति तदा सबीजत्वं न युक्तमित्यभिप्रेत्य चतसृणां सबीजत्वविज्ञापनाय सूत्रे 'ता एवे'त्येवकारग्रहणमिति । अतः सर्वोऽपि सम्प्रज्ञातः सबीज इति तूपचारमात्रम् ॥ ४६ ॥

सवितर्कनिर्वितर्कसविचारनिर्विचारासु मध्ये निर्विचारायाः केवलसूक्ष्मैकपदार्थस्य असङ्कीर्णतया साक्षात्कारकरणत्वात् तस्या अन्याभ्यो विशेषं दर्शयति—

## ॥ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारायाः समापत्तेर्वैशारद्यं नाम—रजस्तमःसमुत्पादकपापादिलक्षणमलरहितस्य प्रकाशस्वभावस्य बुद्धिसत्त्वस्य स्वच्छो ध्येयगताऽशेषविशेषप्रतिबिम्बोद्ग्राही स्थित्यैकाग्रताधाराप्रवाहः । तस्मिन्सति शुद्धं तत्त्वज्ञानं प्रादुर्भवति, तेन च प्रकृतिजन्यसकलपदार्थेषु सुखदुःखमोहात्मकेषु घृणाद्युत्पद्यते, ततो मायामयपदार्थांश्च विहाय केवलमानन्दमात्रां प्राप्तुं यतते सानन्दसम्प्रज्ञातयोगेन । पुनश्च तत्त्वज्ञानेन बुद्धिधर्मात्मकाऽऽनन्दमात्रायां घृणाद्युत्पत्त्या तां विहाय नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं स्वात्मानं प्रति चित्तस्य प्रवाहोऽस्मितायोगात्मको भवति तदा क्लेशाश्रितमायाजन्यबुद्ध्यादिपदार्थानामवलम्बनाऽऽहितस्य चेतसः चेतनस्वरूपाऽऽकारमात्रो विशदः प्रज्ञालोको भवति, स एव स्वात्मविषयकः प्रसाद इति बोध्यम् ॥ ४७ ॥

तदेवमध्यात्मप्रसादे जायमाने सति—

## ॥ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

'तत्र'—अध्यात्मप्रसादे, या प्रज्ञा—स्वात्मविषयकसाक्षात्कारः—प्रज्ञालोकः, सा-ऋतम्भरा,—ऋतं सत्यं यथार्थम्—आत्मस्वरूपं बुद्ध्यादिभिन्नतया बिभर्ति विषयीकरोति सा 'ऋतम्भरा'इत्युच्यते । सत्त्वबुद्ध्यादिविषयिणी या प्रज्ञा सा तु न—ऋतम्भरा' भवितुमर्हति, यतः—सत्यार्थो हि परमपुरुषार्थः, न तु तदन्यः,—बन्धप्रयोजकत्वात् । तथा च परमपुरुषार्थात्मकं सत्यमर्थन्तु 'बुद्ध्यादिव्यतिरिक्ताऽऽत्मविषयकं ज्ञान'मेव बिभर्ति न तु पुरुषं विहाय बुद्ध्यादिविषयकं शुद्धमपि ज्ञानं तादृशं सत्यार्थं बिभर्ति । अतो बुद्ध्यादिविषयिणी प्रज्ञा न ऋतम्भरा किन्तु स्वात्मपरमात्मविषयिण्येवेति—तत्त्वम् ॥ ४८ ॥

बुद्धिविषयिणी या प्रज्ञा सा तु विपरीतविषयाऽपि स्यात् बुद्धेः शाब्दबोधानुमित्याद्यात्मकत्वात्, शाब्दबोधानुमित्योश्च सामान्यविषयकत्वेन तत्तद्व्यक्त्यात्मकविषयविनिमयसंभवात् ॥ इयमात्ममात्रविषयिणी या प्रज्ञा सा तु—

## श्रुताऽनुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।४९।

केवलस्वात्मस्वरूपविषयिणी प्रज्ञा तु प्रत्यक्षरूपा, योगजधर्मस्याऽलौकिकप्रत्यक्षात्मकत्वात्, विशेषार्थत्वाच्च । विशेषो नाम–तत्तद्धर्मावच्छिन्नः पदार्थः,–स एव–अर्थो विषयो यस्येति विशेषार्था, तस्मात्–तत्तद्धर्मावच्छिन्नपदार्थविषयकत्वादित्यर्थः । भवति च तत्तत्पुरुषस्य स्वात्मस्वरूपविषयिणी प्रज्ञा प्रत्यक्षरूपा विशेषविषयेति, चाक्षुषप्रज्ञायां तच्चक्षुःसंयुक्तविशेषघटादिरिव । सा च श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्–अन्यविषया भिन्नविषया–इति भवति ॥ श्रुतप्रज्ञा–अनुमानप्रज्ञा वा भवति सामान्या । घटपदस्य घटत्वात्मकसामान्यधर्मावच्छिन्ने शक्तत्वात् घटपदजन्यशाब्दबोधः सामान्यघटविषयक एवेति । एवं 'शुक्लघट' इत्युक्तेऽपि शुक्लगुणविशिष्टघटत्वावच्छिन्नसामान्यशुक्लघटबोधः, न तु तच्छुक्लघटबोधः, प्रत्यक्षस्थले तु तमेव शुक्लघटं गृह्णाति चक्षुर्नान्यं शुक्लघटमिति ॥ अनुमानप्रज्ञापि–सामान्यवह्न्यादिविषयिणी,–तत्र व्याप्तिज्ञानस्य कारणत्वात्, व्याप्तिज्ञानञ्च सामान्यमेव वह्निं विषयीकरोति न तु विशेषम्, तथा सति महानसीयविशेषवह्निविषयकव्याप्तिज्ञानस्य पर्वतीयवह्निवृत्तित्वाऽभावप्रसंगेन तत्र पूर्वं व्याप्तेरग्रहीतत्वादनुमितिरेव न स्यात् अतो भवति श्रुतप्रज्ञाया अनुमानप्रज्ञायाश्च सामान्य एव विषयः, तदन्यो विशेषविषयस्तु प्रत्यक्षस्येति–सा प्रत्यक्षप्रज्ञा ऋतम्भरेति ॥ ४९ ॥

तदेवमृतम्भरया प्रज्ञया बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तात्मस्वरूपविषयकाः सद्भावा एव संस्काराः समुत्पाद्यन्ते । ते चाऽसद्भावानां रजस्तमोमयबुद्ध्यादिसंस्काराणां विरोधिनो भवन्ति, अतः —

## ॥ तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तया—ऋतम्भरया प्रज्ञया जन्यते यः–स्वात्मविषयकसंस्कारः सः–अन्यान्–व्युत्थानादिविषयजान् बुद्ध्यादिमायामयपदार्थविषयकान् रजस्तमोऽभ्यासान् बन्धनप्रदान् संस्कारान् प्रतिबध्नातीति । तथा च क्षिप्तमूढविक्षिप्तेतिभूमिकात्रयात्मकव्युत्थानचित्तजसंस्कारान्प्रति निरुद्धचित्तसंस्काराणां प्रतिबन्धकत्वम् अथ च–निरुद्धेऽप्यवान्तरगतान् वितर्कानुगतविचारानुगताऽऽनन्दानुगतसम्प्रज्ञातचित्तवृत्तिजन्यसंस्कारान् प्रति अस्मितासम्प्रज्ञातस्थर्तम्भराप्रज्ञाजन्यसंस्काराणां प्रतिबन्धकत्वमिति । ऋतंभराप्रज्ञाजन्याः संस्काराश्च प्राथमिका एव न पूर्णतया बाधयितुं समर्थाः किन्तु तनुतामात्रकारकाः, अतः पुनरपि ऋतम्भरा प्रज्ञा पुनः संस्काराः पुनः प्रज्ञा पुनः संस्कारा इत्येवमनेकविधैः सजातीयसंस्कारैर्मूलत एव पूर्वसंस्कारा विनाश्यन्त इति । तदिदं प्रज्ञासंस्कारचक्रम् प्रवर्तते पूर्वसंस्कारनाशाऽवधिकमिति ॥ ननु–ऋत-

म्भराप्रज्ञाजन्यसंस्कारैः पुनरपि भोगात्मकः संसारः स्यादिति चेन्न । ऋतम्भराप्रज्ञाजन्या ये संस्कारास्ते तु केवलपूर्वसंस्कारप्रतिबन्धकत्वयोग्याः, न तु तत्र संसारभोगप्रदातृत्वयोग्यताऽपि । भोगजनकता तु बुद्ध्यादित्रिगुणविषयकप्रज्ञायामेव तत्र त्रिगुणविषयकसंस्कारसत्त्वात् । न चैषा ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा त्रिगुणविषयिणी । अतः—ऋतम्भराप्रज्ञासमारूढं चित्तं तादृशसंस्कारैर्भोगादिकार्यक्षमं न क्रियते, तदानीं तत्त्वज्ञानसहकृतास्ते संस्काराश्चित्तं स्वकार्यादवसादयन्ति । अतः प्रारब्धकर्माण्यपि न भवन्ति फलायाऽलम्, प्रारब्धकर्मकारणीभूतसंस्काराणामपि ऋतम्भराप्रज्ञासहकृतपरमवैराग्यजन्यसंस्कारैर्नाशात् । प्रकृतिपुरुषादितत्त्वविषयिणी विवेकख्यातिस्तदानीं समुद्भवति । विवेकख्यातिपर्यन्तमेव प्रकृतिचेष्टितस्य संभवो न तु सत्यां विवेकख्यातावपि, तथा च विवेकख्यातिदार्ढ्ये परवैराग्योऽपि दृढीभूतो भवति, असम्प्रज्ञातसमाधिराविर्भवति, चित्तं च निरोधाऽवस्थायां प्रविशतीति ॥ ५० ॥

निरोधावस्थायां चित्ते प्रविष्टे सति तु—

## ॥ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

तस्याऽपि—ऋतम्भराप्रज्ञाजन्यसंस्कारप्रचयस्यापि, असम्प्रज्ञातपरम्परया निरोधेऽत्यन्ताऽभिभवे जायमाने सति, सर्वनिरोधात्—ऋतम्भरा प्रज्ञा तत्संस्काराणां साकल्येन निरोधात्—सम्प्रज्ञातसमाधिनाऽऽहितसंस्काराणामपि विलयान्निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञात इत्युच्यते । तत्र—ऋतम्भराप्रज्ञाया विवेकख्यात्या निरोधः । अथ च परमवैराग्येण जायमाना ये असम्प्रज्ञाताऽनुकूलाः संस्कारास्तैः परिपन्थिभिः सम्प्रज्ञातसंस्कारा नाश्यन्ते इति विवेकः । निर्बीजत्वञ्चाऽस्य सर्वस्योत्पद्यमानस्य प्रज्ञासंस्कारप्रवाहस्य निरोधात् बीजाऽभावेन कार्याऽनुत्पादात् बोध्यम् । ननु निरोधावस्थायामपि निरोधजन्यसंस्कारसद्भावे किं मानम् ! नहि तत्र प्रत्यक्षं भवितुं योग्यम्, सर्ववृत्तीनां निरोधात्, न वा वृत्तिमात्रनिरोधतया तैः संस्कारैस्तत्र स्मरणमुत्पाद्यते, येन स्मरणेनाऽप्यनुमेयाः स्युरिति । न चाऽऽगमोऽपि तत्र प्रमाणं दृश्यते—इति चेन्न । निरोधावस्थं चित्तम्,-संस्कारवत्,—निरोधप्रकर्षाऽधिकरणमुहूर्तयामादिकालाऽपेक्षणात्, इत्यनुमानप्रमाणात् । एतदुक्तं भवति—निरोधप्रकर्षो नाम—निरोधस्य दार्ढ्यम्, तच्च मुहूर्तयामदिवसादिकालमपेक्षते, अतश्चित्तस्य निरोधदार्ढ्याय मुहूर्तादिकालाऽपेक्षा भवति, नहि क्षणमात्रसमयेन निरोधस्य दृढता सुसम्पाद्या । क्षणमात्राच्च भवति शिथिलस्य दार्ढ्यमिति सर्वानुभवसिद्धत्वात् । तस्मान्मुहूर्तादिकालाऽपेक्षितदृढतायाः किं कारणम्! येन शनैः शनैः सुदृढता क्रियते इति । न हि त एव क्षणा विभिन्ना एकां दृढतां विधातुं शक्ताः, अतस्तत्र कश्चित्संस्कारप्रचयो—मुहूर्तदिवसादि-

कालस्य व्यापकः स्वीकार्यः, तेन च भवति निरोधसमाधेर्दृढता इति । ते च निरोधवर्तिनः संस्काराः स्वकार्यं निरोधवृत्त्यात्मकं सम्पाद्य निवृत्त्यं कृतकृत्या इति मोक्षपर्यन्तस्थायिभिस्तादृशसंस्कारैः सहितं चित्तं बुद्धितत्त्वं स्वकारणे प्रकृत्यात्मके प्रविलीयते । बुद्धिवियोगे च सति शरीरवियोगस्तु सुतरामेव । तथा च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः पुरुषः स्वात्मदर्शनपरः परमेश्वरदर्शनपरायणो वा महामुक्तो भवतीति ॥५१॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे श्रीमद्दार्शनिकपंचानन—षड्दर्शनाचार्य—
नव्यन्यायाचार्य—सांख्ययोग—वेदान्त—मीमांसातीर्थ—पण्डित—
'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्य'—स्वामिनारायणविरचिते
भाष्ये प्रथमः समाधिपादः ॥

# अथ द्वितीयः साधनपादः

समाहितयोगारूढचित्तस्योत्तमाऽधिकारिणोऽभ्यासवैराग्यात्मकसाधनेनैव पूर्वे-पादे योगः क्रियायोगादिसकलांगनिरपेक्षः प्रदर्शितः । अभ्यासवैराग्ये चाऽतिकठिने न सर्वेषां द्रागित्येव भवतः । तस्माद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य योगाऽऽरुरुक्षोः केनोपायेन क्रमशो योगसिद्धिः स्यात् ! तदर्थं क्रियायोगं सत्कर्माद्यङ्गादिसापेक्षं सपरिकरं विवेचयिष्यन् भगवान्पतञ्जलिमुनिर्द्वितीयस्याऽस्य साधनपादस्य प्रारम्भे क्रियायोगम् उपदिशति—

## तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

क्रियैव योगः क्रियायोगः, क्रियाः—सत्कर्मात्मिकाः, ताश्च योगसाधनीभूता इति तत्र योगपदोपचारः, ताश्च क्रियाः—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानरूपाः, तपः-अनादिक्लेशवासनादिभिः सम्बद्धां विविधनयनविषयतरङ्गसङ्कुलां चेतसोऽशुद्धिं संभिनत्ति तस्मात् तपः शरीरधातुवैषम्याऽनापादकं चित्तप्रसादसम्पादकमाचरणीयं, तदेव चित्तवृत्तिक्लेशादिक्षयसम्पादकं जात्यायुर्भोगप्रदकल्मषविनाशकं तप्तकृच्छ्रचान्द्रायण-व्रतोपोषणादिना देहेन्द्रियाऽन्तःकरणदमनरूपमिति । अथ सात्त्विकं राजसं तामसञ्चेति त्रिविधं तपः, तत्र राजसं तामसञ्च तपः-आसुरमेव क्लेशादिवर्धकं हठधर्मिक-मतएवाऽशास्त्रीयं गताऽनुगत्या पाखण्डादाचरितं दम्भाऽहंकारकामरागाद्यभिलाषाभिः कृतं परप्रतारणस्वोत्तमत्वख्यापनाऽज्ञानेन यक्षादिप्रसादार्थं कृतं सात्त्विकत्वाभा-समानं पञ्चाऽग्नितपनादिकं, राज्यधनाद्यपेक्षात्मकञ्च शरीराऽवयवहस्तादीनां सततं दीर्घकालं गगनसन्मुखमूर्ध्वं स्थिरीकरणेन मांसादिशोषणात् काष्ठवत्खिली-करणम्,—इत्याद्यात्मकं तपस्तु योगप्रतिरोधकमेव न तु योगसम्पादकमिति तदना-चरणीयमेव । उक्तं च गीतायां 'अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः । दम्भाऽहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः । कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां चैवाऽन्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्याऽसुरनिश्चयान्' ॥ 'सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्' ॥ 'मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः । परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतमिति' ॥ तस्मात् राजसं तामसं च तपः सदा योगिभिः परित्याज्यमेवेति ॥ सात्त्विकन्तु तपः श्रद्ध-याऽनुष्ठेयम्—'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः । अफलाऽऽकाङ्क्षि-

भिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते’ इति ॥ अफलाकाङ्क्षिभिः = राजसतामसभोगाद्यनुकूले-च्छारहितैः,–अत एव युक्तैः–परमेश्वराऽऽराधन–स्वात्मप्रसादाऽभिलाषवद्भिः कृतं तपः सात्त्विकमित्यर्थः । तच्च त्रिविधम्–कायिकं वाचिकं मानसञ्चेति । तत्र कायिकं यथा–‘देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते’ इति ॥ देवानां–स्वेष्टदेवानां, पूजनम् । द्विजानां–सात्त्विकानां परमेश्वरपरायणानां पूजनम्, गुरोः–ब्रह्मविद्याप्रदातुः–पूजनम् । प्राज्ञस्य–विवेकज्ञानवतो योगिनः पूजनम् । पूजनं नाम शरीरेण सेवनमिति । शौचम्–मृज्जलादिभिः शरीरशुद्धिः । आर्जवम्–ऋजुत्वं विहितनिषिद्धेषु यथार्हप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वम् । ब्रह्मचर्यम्–मैथुनाऽऽसमाचरणम्, अहिंसा–केनाऽपि निमित्तेन कथमपि प्राणिनामपीडनम् । चकारेण व्रतोपोषणादिकं ग्राह्यम् । शारीरतपसा–चित्तवृत्तिक्लेशादीनां पाप्मनां विनाशकमदृष्टमुत्पद्यते, अदृष्टेन च क्लेशादिपाप्मनां तनुता भवतीति ॥ वाचिकं यथा–‘अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाऽध्यायाऽभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ अनुद्वेगकरं–प्राणिनामदुःखकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यदुच्यते तद्वाङ्मयं तप उच्यते । तत्र परप्रत्यायनार्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य सत्यप्रियहिताऽनुद्वेगकरत्वानामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा राहित्यं स्याद्यदि तदा तन्न वाङ्मयं तपः । तथा सत्यवाक्यस्य–इतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा राहित्ये सति न वाङ्मयतपस्त्वम् । तथैव प्रियवाक्यस्य–तदितरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा राहित्ये सति न वाङ्मयतपस्त्वम् । तथैव हितकरवाक्यस्याऽपीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा राहित्ये सति न वाङ्मयतपस्त्वम् । तस्मात्–सत्यं प्रियं हितमनुद्वेगकरं वाक्यं यत् तत्परमं तपो वाङ्मयमिति ‘यथा–सात्त्विको भव वत्स ! स्वाध्यायं योगञ्चाऽनुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यति’ इत्यादिवाक्यम् ॥ एवं–स्वाध्यायाऽभ्यसनम्–वेदशास्त्रादीनां निःश्रेयसानुकूलविद्याप्रदानां परिशीलनम् पुण्यप्रदपरमेश्वरस्तवपाठादिकरणमिति तत्सर्वं वाङ्मयं तप उच्यते तेन वाङ्मयेन तपसाऽपि चित्तवृत्तिक्लेशादिपाप्मप्रध्वंसकमदृष्टमुत्पद्यते, तेन च चित्तप्रसादनमिति ॥ मानसिकं यथा–‘मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।’ मनःप्रसादो नाम–मनोवृत्तेर्विषयाऽनुकूलेन्द्रियेभ्यो व्यावर्तनं कृत्वाऽऽत्मपरमात्मविषयकसंकल्पादिमत्तया–शान्तत्वमिति । सौम्यत्वं नाम–सौमनस्यं–रजस्तमोक्लेशराहित्येन सात्त्विकभावेनैवाऽवस्थानम्, अभ्युदयप्रवीणत्वमिति यावत् ॥ मौनम्–वाक्संयमो मनःसंयमपूर्वकः, मनसा वाक्प्रवृत्तिनियमनमिति यावत् । अथवा मननशीलत्वं मौनत्वम्, ‘एतेन हीदं सर्वं मतं यदनेन हीदं सर्वं मतं तस्मान्मुनिस्तस्मान्मुनिरित्याचक्षते’ इति भाल्लवेयश्रुतेः । आत्मविनिग्रहः–मनोवृत्तेः ध्येये स्वात्मस्वरूपेऽवस्थानं, स्थिरतेति यावत् । भावसंशुद्धिः–भावो नाम–धर्मः मनोधर्माणां कापट्या-

दीनां सर्वथैव स्वकारणे बुद्धौ लय इति । तदेतत्सर्वं मानसं तप उच्यते । मानसिकं तपस्तु साक्षादेव रजस्तमोदुःखात्मकक्लेशादिपाप्मनां विरोधीति । तदेतत्त्रिविधमेव सात्त्विकं तपो योगफलसिद्धिदमिति ॥

अथ स्वाध्यायः—प्रणवादिपवित्रभगवन्नाम्नां श्रीहरि–घनश्याम–सहजानन्द–स्वामिनारायणादीनां जपः पुरुषसूक्त–रुद्रमण्डल–ब्राह्मणादीनां श्रीहर्युपदिष्टवचनामृतशिक्षापत्र्यादीनां च वैदिकानां पाठः, वेदानुकूलशास्त्राणां परिशीलनञ्चेति सर्वं स्वाध्यायः । वेदाः—पूर्वोत्तरभागात्मकाः परब्रह्माऽऽराधनभूतकर्मप्रतिपादनपराः, आराध्यपरब्रह्मस्वरूप–तदुपासनप्रतिपादनपरायणाश्चेति, तदुपबृंहणभूतानि स्मृतीतिहासादीनि शास्त्राणि, एषामभ्यासः—एतत्प्रतिपाद्यार्थानामनवरतं पुनः पुनः परिशीलनम्, परिशीलितो हि वेदशास्त्रार्थः विक्षोभकाणामर्थान्तराणामवकाशं चेतसि न प्रयच्छेत् । तत्त्वविज्ञानदाढ्योपादनद्वारा निःश्रेयसोपायानुष्ठाने उपकारश्च भवति । उक्तं च भारतीयराजधर्मे 'यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रं निषेवते । तथा तथा विजानाति विज्ञानमथ रोचते' इति ॥ तदेवं यस्य मुमुक्षोर्यावती मेधाशक्तिस्तावत् तेन वेदाध्ययनं मन्त्रजपादिश्चेत्युभयमपि कर्तव्यम् यस्य पुनर्मेधाविरहाद् वेदादिपरिशीलनयोग्यता न भवेत् तेन तु परमेश्वरस्य प्रणव-हरिकृष्ण-परमेश्वर-परब्रह्म-अक्षरातीतपुरुषोत्तम-सहजानन्द–सच्चिदानन्द–स्वामिनारायण-सत्यनारायण-रामकृष्णाद्यनेकनामभिः जपः कीर्तनभक्तिरूप एव विधेयः, स च पावनः पुरुषं पुनातीति । तदुक्तं विष्णुधर्मोत्तरे 'अधीताः सकला वेदाः साङ्गोपाङ्गा हि तेन तु । भगवन्नाम येनाऽत्र जप्तं सर्वार्थसिद्धिदम्" । "ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः । अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्" इति ॥ ब्रह्माण्डपुराणे च—'महापातकयुक्तोऽपि कीर्तयन्ननिशं हरिम् । शुद्धान्तःकरणो भूत्वा जायते पंक्तिपावनः"—इति ॥ गीतायां च—"ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्" इति ॥ तदेवं परमेश्वरनाम्नां कीर्तनेन वा परं योगफलं चित्तशुद्धिपूर्वकं तत्त्वज्ञानं च प्राप्य परममुक्त्यात्मकं फलं परम्परया लभते—इति ॥ अथवा द्विजवर्णेन गायत्रीजपो विधेयः, स च महापातकनाशक इति बोध्यम् ॥

अथेश्वरप्रणिधानम्—परमेश्वरे सर्वक्रियाणां समर्पणमित्यर्थः । तत्सर्वपातकनाशकं विवेकख्यातिद्वारा परमेश्वराऽऽश्रयणेन परममुक्तिप्रदमिति । उक्तं च गीतायां—'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्' इति अर्पणञ्च—'कामतोऽकामतोऽपि वा यत्करोमि शुभाशुभम् । तत्सर्वं त्वयि सन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्' इति रीत्या बोध्यम् । यथा कौर्मे—'ब्रह्मणा दीयते देयं ब्रह्मणे सम्प्रदीयते । ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मा-

र्पणमिदं परम्'' 'नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा । एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः' ॥ 'यद्वा फलानां सन्यासं प्रकुर्यात्परमेश्वरे । कर्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम्' ॥ 'करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्' । गीतायां च—'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् । प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेभ्यः पद्मपत्रमिवाऽम्भसा' इति ॥ एवं 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः' इति ॥ तथा—'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इत्येवं ब्रह्मदृष्ट्या हि परमेश्वरार्पणमुत्तमं बोध्यम् ॥ तदेवं परमेश्वरशरणगतं पुरुषं परमेश्वरः स्वयमुद्धरति,—यथोक्तम्—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ॥ ये तु भगवन्तमाश्रित्याऽपि न त्वरन्ते निःश्रेयससाधनीभूते प्रणिधानात्मके भक्तियोगे, तैरपि मुमुक्षुभिः परमपुरुषार्थस्य परमेश्वरस्य प्राप्तये साधनान्तरैः विशेषतो यतितव्यम्, यत्ने सततं कृते सति दयालुः परमेश्वरस्तमनुगृह्णाति, तेन सोऽपि—'अम्बरीष'वत् आत्मनिवेदी भक्तो भवति । तत्राऽस्य भक्तस्य जाग्रत्स्वप्नादौ सर्वदा निरतिशयप्रेमगर्भस्मृत्यभ्यासाऽतिशयसम्पाद्यो भक्तियोगः सेवा—पूजन—मालागुम्फन—कुसुमसमर्पण—नामसङ्कीर्तन—स्तुतिनमस्कारादिविविधप्रकारोऽनुवर्तते, यानि पुनर्लौकिकानि—देहयात्राशेषभूतानि तान्यपि परमेश्वराराधनशेषतयैवाऽस्य भक्तकानि न तु व्यावहारिकाणि ॥ यानि च वर्णाश्रमानुवृत्तानि कर्माणि तान्यपि परमेश्वराज्ञापालनरूपाणि भगवदाराधनात्मकतयैव प्रसक्तानीति भवन्ति । शयनाऽऽसनादिषु सर्वत्रैव सर्वदैव निरतिशयप्रेमगर्भं परमेश्वरस्य स्मरणं कर्तव्यम्, तेन स्मृत्यभ्यासेन मनसो निर्मलता भवति, तस्यां च सत्यां परमेश्वरानुचिन्तनमनुवर्तेत चिरं योगकाले इति ॥ स्मृत्यभ्यासो हि—ज्ञानेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियेषु वा व्यापृतेषु न सिद्ध्येदित्यतस्तस्मेचादौ परमेश्वरप्रणिधानयोगे प्रवृत्तेन सर्वेन्द्रियाणि परमेश्वरार्थमेव विनियोज्यानि, यथाऽम्बरीषेण—'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने । करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराऽच्युतसत्कथोदये ॥ मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् । घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरः हृषीकेशपदाऽभिवन्दने । एवं सदा

कर्मकलापमात्मनः परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ॥ सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राऽभिहितः शशास ह' इति परमेश्वरे सर्वक्रियासमर्पणं कृतम्, तथा योगिनाऽपि कर्तव्यम् । उक्तं च—गीतायाम्—अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव । मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसीति ॥ मोक्षधर्मे च—'याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताः स्युरेकान्तगतिबुद्धिभिः । ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयमिति ॥ आत्मनिवेदनात्मका धर्मा भागवते उक्ताः—'श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते' इति ॥ एवम्—आत्मानं भगवदेकशेषमवबुध्य सर्वथा परमेश्वरस्याऽऽराधनाय प्रयतमानाः—अत्यर्थप्रेमपूर्वकं सर्वैरपीन्द्रियैस्तत्प्रकारेण परमेश्वरार्थमेव कर्म कुर्वाणा ये भक्तास्ते निर्गुणा एवाऽभिहिताः, तदुक्तं शिक्षापत्र्यां—'प्रोक्तास्ते निर्गुणा भक्ता निर्गुणस्य हरेर्यतः । सम्बन्धात् तत्क्रियाः सर्वा भवन्त्येव हि निर्गुणाः' इति ॥ भागवते च—'सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः । तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः' इति ॥ तदेवं भक्तेन क्रियमाणाः सर्वाः क्रियाः मायात्मकसत्त्वरजस्तमोभिः शून्ये परमेश्वरे सम्बद्धाः प्रेमपूर्वकं परमेश्वरार्थमेवाऽनुष्ठितास्तस्मात् स्वयं निर्गुणाः,—ताश्च भवन्ति भगवत्प्रसन्नताकारिण्य अत एव मुक्तिप्रदा इति ॥ १ ॥

तदेवं तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानात्मकक्रियायोगो दर्शितः, स च—

## ॥ समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सम्यक् निष्कामादिरूपेण सेव्यमानः कर्मयोगः कर्माऽतिरिक्तविषयेभ्यः परावृत्त्यैकाग्रवृत्तिकं निष्पापं च चित्तं करोति, ततः क्रमेण सत्त्वोद्रेकात् अन्यत्राऽपि लक्ष्येष्वेकाग्रं भवति, सम्प्रज्ञातसमाधिं च भजते । तदानीम् अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाख्याः क्लेशास्तनुतां गच्छन्ति-स्वकारणे-एकाग्रावस्थे चेतसि लयं गताः सन्तः कारणात्मकतया सबीजभावा वर्तन्ते, क्लेशानां बीजभावदहने क्रियायोगस्याऽसामर्थ्यात् ॥ ततस्तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धबीजभावेषु क्लेशेषु सत्सु-क्लेशैरनभिभूता सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः समुदेति, चित्तं च समाप्ताधिकारं निरुद्धावस्थं सत्-असम्प्रज्ञातयोगमनुभवति, जीवन्मुक्तिं गतः स योगी परमेश्वरस्वरूपे लग्नः सन् यदैवेच्छति तदैव परमं कैवल्यं विन्दते ॥ २ ॥

अथ के ते क्लेशाः कियन्तश्चेत्याकाङ्क्षायामाह—

**॥ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥**

अविद्या नाम—अज्ञानं विपर्यय इति यावत्। तत्र—अविद्याया विपर्ययत्वेन—तज्जन्यानामस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशानां कार्यकारणयोरभेदाद्विपर्ययत्वमिति, तेषां स्वरूपलक्षणानि यथायोगं वक्ष्यन्ते। ते च पञ्चक्लेशा लब्धवृत्तिकाः सत्त्वादिगुणानां कार्याऽऽरम्भणात्मकं सामर्थ्यं द्रढयन्ति, वैषम्यरूपं परिणामं समवस्थापयन्ति महदादिरूपकार्यकारणप्रवाहं प्रवर्तयन्ति जात्यायुर्भोगांश्च निष्पादयन्ति। क्लेशैः पुण्यापुण्यकर्माणि कर्मभिश्च क्लेशा इत्येवमनिशं चक्रमावर्तते—इति ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञानस्याऽविद्यानाशकत्वेन—अन्येऽपि क्लेशास्तत्त्वज्ञानेनैव विनाश्या भवन्तीत्युपपादयितुं तेषामविद्यामूलकत्वं दर्शयति—

**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥**

उत्तरेषाम्—अस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशानां चतुर्विधविकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारेतिचतुर्विधाऽवस्थापन्नप्रत्येकानाम्,—क्षेत्रम्—प्रसवभूमिरविद्या,—इति। यत्राऽविद्या मोहात्मिकाऽज्ञानाऽपराऽभिधाना शिथिला भवति तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते, विपर्ययज्ञानसद्भावे एव तेषां समुद्भवदर्शनाद् भवति तन्मूलत्वमविद्यायामिति ॥ प्रसुप्तत्वं तनुत्वं विच्छिन्नत्वमुदारत्वञ्चेति चतुष्टयं प्रत्येकेऽविद्यादौ बोध्यम् ॥ तत्र—'प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्। विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्' इति संग्रहः ॥ तद्यथा—प्रसुप्तिर्नाम—अनागताऽवस्था, चेतसि शक्तिमात्रेण कारणात्मकत्वेनाऽनागताऽवस्थयाऽवस्थितानां सुस्थितबीजभावानामविद्यादीनां क्लेशानामुत्तरकालीनस्वकार्यजननसामर्थ्यस्वरूपयोग्यतावत्त्वम्—प्रसुप्तत्वमिति यावत् ॥ भवन्ति चाऽविद्यादयः क्लेशा अनागतावस्थाश्चिरात्मन्यनुद्भूताऽवस्थया स्थिता अपि सबीजभावत्वेन कदाचित्सहकारिसमवधाने सति प्रादुर्भावात्मकस्थूलावस्थामासादयन्तः सन्तः शुभाशुभकर्मात्मककार्यजननसमर्था इति ॥ यावच्चाऽनागतावस्थास्तावत्तु कार्यजननसामर्थ्यस्वरूपयोग्यतावन्त एवेति प्रसुप्ता इत्युच्यते। सेयं क्लेशानां गर्भात्मिका प्रथमावस्था कारणाऽभिधानेत्यप्युच्यते। तनुत्वं नाम—स्वविरोधिविषयकप्रबलभावनाजनितक्षीणताऽनुपयोगित्वम्, तिरोभावस्वभावत्वं वा। भवन्ति च स्थूलावस्थामुपगताः स्वस्वकार्योद्भवानुकूला अप्यविद्यादयः स्वविरोधिनस्तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानात्मकक्रियायोगस्य प्रबलभावनया क्षीणास्तनव इति, त एव तिरोभूता इत्युच्यते सेयं प्रादुर्भूय मरणाऽभिमुखात्मिका द्वितीयावस्था सूक्ष्मा—इत्युच्यते ॥ एवं प्रत्येकमविद्यादि स्वस्वविशेषविरोधिनापि तनुतां गच्छति, यथा विरोधिना तत्त्वज्ञानेन—अज्ञानात्मिकाऽविद्या क्षयं यातीति ॥ बुद्धिपुरुषयोरे-

कात्मत्वज्ञानम्—अस्मिताक्लेशः, तस्य विरोधिना—भिन्नाऽऽत्मत्वज्ञानरूपविवेकख्यात्या सोऽस्मिताक्लेशः क्षयं यातीति ॥ सुखानुशयिरागस्य दुःखानुशयिद्वेषस्य च विरोधि भवति तत्पक्षद्वयाऽननुकूलस्विमाध्यस्थ्यज्ञानम्, तेन सुखदुःखे क्षयं यातः ॥ जन्ममरणाद्यनुबन्धबुद्धिजन्यभयात्मको हि—अभिनिवेशः, जन्ममरणाद्यनुबन्धबुद्धेस्तु विरोधिना—जनिमृतिरहितस्वात्मविषयकज्ञानेन नाशः । तन्नाशे च कार्यस्याऽभिनिवेशस्याऽपि क्षयो भवतीति बोध्यम् ॥ विच्छिन्नत्वमत्र—'विच्छिद्य विच्छिद्याऽपि पुनः पुनः प्राविर्भावेन कार्यसम्पादकत्वं पुनर्विच्छेदः पुनः कार्यसम्पादकत्वमित्येवं यो प्राविर्भावतिरोभावात्मको विच्छेदप्रवाहस्तद्वत्त्वम् । भवन्ति चाऽविद्यादयः क्लेशा कदाचित् केनचिदल्पविरोधिना पराभूता अपि पुनरुद्बोधकवशात् प्रादुर्भूताः—स्वकार्यसम्पादकाश्चेति ॥ तदेवं कर्मनिमित्तकं क्लेशानां प्राविर्भावतिरोभावचक्रमनिशमावर्तते इति । सेयं क्लेशानां प्राविर्भावतिरोभावाऽन्यतरत्वाऽऽत्मिका तृतीयाऽवस्था—स्थूलसूक्ष्मान्यतरात्मिका इति, न तु स्थूलतः सूक्ष्मतो वा भिन्नेति, किन्तु व्यवहारमात्रप्रयोजिकेति ॥ उदारत्वं नाम—सर्वदा कार्यंजननसमर्थवृत्तिमत्तया स्थूलावस्थत्वम् । भवन्ति च सर्वेषां प्रवृत्तिजनकाः क्लेशाः स्थूलावस्था निरन्तरवर्तमाना सेयं क्लेशानां स्थूलाऽवस्थेति । यद्यपि क्लेशानां पञ्चम्यवस्था भवति दग्धबीजभावरूपा, विवेकख्यातिमतः पुरुषस्य जीवन्मुक्तस्य दग्धक्लेशबीजतया सन्निकृष्टेऽपि विषये क्लेशानां सम्मुखीभावः पुनर्न भवति कार्यंजननसामर्थ्यं च न भवति । सेयं दग्धबीजभावाऽवस्थेति चरमावस्थाऽऽत्यन्तिकनिधनात्मिकेत्युच्यते । तथापि साऽत्र न परिगणिता, यतो हि—क्लेशत्वं नाम दुःखप्रदत्वम्, यत्र च दग्धबीजभावाऽवस्थायां दुःखप्रदत्वं नास्ति, तत्र क्लेशत्वमपि प्रकृतोपवर्णितं न युक्तं भवतीति । ननु तर्हि कथं तत्राऽपि क्लेशपदवाच्यत्वम् ? इति चेत् ? राज्यपदादवतीर्णेऽपि भूतपूर्वनृपतौ 'राजाऽयमि'ति व्यवहारवत् ॥ ननु प्रसुप्ततनुक्लेशानामपि दुःखजनकत्वाऽभावेन तत्र कथं क्लेशपदवाच्यत्वमिति चेत् ?, तत्र दुःखजननयोग्यत्वमेव क्लेशत्वं बोध्यम्, तथा च प्रसुप्ततनुक्लेशानां क्वचिद् दुःखजननयोग्यतायाः सत्त्वात् क्लेशत्वमिति ॥ ननु दुःखजननयोग्यत्वाऽऽत्मकक्लेशलक्षणस्य सर्वेषु क्लेशेषु समानत्वात् कथं चतुर्विधभेदकथनं युक्तम् ? इति चेत् ?, यथैकस्य पुरुषस्य बालतरुणवृद्धाद्यवस्थाविशेषास्तथा क्लेशानामपि प्रसुप्ताद्यवस्थाविशेषा भवन्तीत्यवान्तरविज्ञानार्थमेव विशदीकरणं युक्तमिति । ते सर्वे क्लेशा अविद्याभेदाः, यतो हि सर्वेषु क्लेशेषु—अविद्यैव व्यापिका भवति, अविद्यया यद्वस्तु विपर्यीक्रियते तदनुगता एते भवन्ति, अविद्याक्षये च सति क्षीयमाणा भवन्तीति ॥ अत्र सूत्रे—प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारावस्थात्मकक्लेशानां मूलं कारणमविद्येत्युक्तम् । सा चाऽविद्या अज्ञानमेवेति । अज्ञानञ्च बुद्ध्यात्मकम्, बुद्धिश्च त्रिगुणात्मकप्रकृतिकार्यं प्रकृत्यभिन्नमिति योग-

सिद्धान्तः । प्रसुप्ततनुविच्छिन्नानां क्लेशानां पुनराविर्भावकथनेन सत्कार्यवादोऽत्र प्रदर्शित इति ॥ सा च मायापदवाच्या प्रकृतिर्नित्या,–तथा च श्रुतिः–'सेयं गुणमयी माया' 'प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै' ॥ 'स एवेदं ससर्जाऽग्रे भगवानात्ममायया । सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभु'रिति भागवतोक्तिश्च । सत्त्वरजस्तमइति गुणत्रयम्, तत्स्वरूपाणि मोक्षधर्मेषूक्तानि–यथा–'आनन्दश्च तपः शान्तिः प्राकाश्यं पुण्यशीलता । सन्तोषः श्रद्दधानत्वमार्जवं त्यागशीलता ॥ ऐश्वर्यञ्चेति सत्त्वस्य गुणा दश निसर्गजाः' इति ॥ 'अस्थिरत्वमकार्पण्यं सुखदुःखोपसेवनम् । भेदः पुरुषता चैव कामो नानामदस्तथा ॥ मत्सरश्चाऽतिवादश्च नवैते रजसो गुणाः' इति ॥ तमो मोहो महामोहस्तामिस्रश्चान्धपञ्चमः । निद्रा प्रमाद आलस्यमित्यष्टौ तमसो गुणा' इति ॥ साङ्ख्यकारिकायामपि—'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' । 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अन्योऽन्याऽभिभवाऽऽश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः' इति । तादृशत्रिगुणात्मिका माया तमःपदवाच्या इति । 'तदानीं तम आसीत्' 'अक्षरं तमसि लीयते' 'इत्यादि श्रुतेः । 'तमस्तदासीद् गहनं गभीरं यस्तस्य पारेऽभिविराजते प्रभु'रिति भागवतोक्तेश्च । सा च माया जगदुत्पत्तावुपादानकारणभूता । विना कारणनिश्चयं कार्यकारणतदन्यविषयकयथार्थज्ञानं न स्याद्, अतः प्रकृतिं साधयितुमत्र प्रथमं सत्कार्यवादोऽभ्युपेयः, अन्यथा प्रकृतिसिद्धिर्न स्यात् ।

सन्ति च वादिनां कार्यकारणविषयका विविधाः ख्यातिवादाः । यथा–'असतः सज्जायते' 'सतः–असज्जायते' 'सतो विवर्तः कार्यजातं जायते' 'सतः–परिणामः कार्यजातं जायते' 'सतः सज्जायते' इति च । तत्र सत्कार्यवादाऽतिरिक्तवादेषु कार्यकारणयोस्तादात्म्याऽभावेन प्रकृतिसिद्धिर्न स्यादिति । यथाहि तत्र–'असतः सज्जायते–इति वादिनां बौद्धानां चत्वारो भेदाः–माध्यमिका योगाचाराः सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्चेति । अयमेतेषां सिद्धान्तः 'असदेवेदमग्र आसीदिति'–असतो नाम–अभावात्–सतो भावस्योत्पत्तिरिति । भवति च बीजप्रध्वंसे सत्यङ्कुरोत्पत्तिः बीजध्वंसाऽभावे त्वङ्कुरं न ततो बहिर्निर्गच्छतीति । तथैव सर्गादिकाले सर्वं शून्यमेवाऽऽसीत् शून्यत एवेदं सर्वं भावरूपं समुत्पन्नमिति ते वदन्ति । तत्र माध्यमिकाः सर्वशून्यत्वसिद्धान्तं स्वीकुर्वन्ति । योगाचारास्तु विज्ञानमात्राऽस्तित्वम् । सौत्रान्तिकाश्च विज्ञानाकारानुमेयबाह्यास्तित्वम् । वैभाषिकास्तु प्रत्यक्षबाह्याऽस्तित्वमिति । तत्र सौत्रान्तिकवैभाषिकबौद्धानां साधारणतया सर्वास्तित्ववादित्वमिति । हीनमध्यमोत्कृष्टबुद्धयो भवन्ति हि शिष्याः । तत्र ये हीनमतयस्ते सर्वाऽस्तित्ववादेन तदाशयानुरोधाच्छून्यतायामवतार्यन्ते, ये तु मध्यमबुद्धयस्ते

ज्ञानमात्राऽस्तित्वेन शून्यतायामवतारयन्ते, ये तु प्रकृष्टमतयस्तेभ्यस्तु साक्षादेव-शून्यतातत्त्वं प्रतिपाद्यते इति । तत्र माध्यमिकाः 'यावदन्यद् बुद्धिबोध्यं संस्कृतं क्षणिकञ्चेति तत्त्वं' वर्णयन्ति । त्रयन्तु—प्रतिसंख्यानिरोधः,—अप्रतिसंख्यानिरोधः[1],—आकाशञ्चेति । एतत्त्रयमप्यवस्तु—अभावमात्रं निरुपाख्यमिति, तत्र प्रतिसंख्यानिरोधो यथा—'भावविषयिणी बुद्धिः प्रतिसंख्या, तया निरोधः—'सन्तमिममसन्तं करोमी'त्याकारकबुद्धिपूर्वको भावानां विनाश इति । अप्रतिसंख्यानिरोधो नाम—अबुद्धिपूर्वको भावानां विनाश इति । उभयविधोऽप्ययं निरोधः-सन्तानगोचरो निरोधः । सन्तानलक्षणगोचरो वा विनाश इति यावत् । आकाशं नाम—आवरणाऽभावमात्रं तत्त्वम् । इत्येवं सर्वं शून्यतायां पर्यवसन्नमिति तेषां सिद्धान्तः । स चाऽयं प्रत्याख्येयः । यतः बुद्धिपूर्वको भावानां विनाश-इत्यभ्युपगच्छता भवता किं नाम भावविनाशेऽसाधारणं कारणमभ्युपगम्यते ? यदि बुद्धिरेव, तन्न, व्यभिचारात् । नहि स्थिरे घटे शतवारमपि बुद्ध्या 'अयं विनश्यत्वि'ति निर्णितेऽपि विना दण्डाद्युपघातं न तस्य विनाशो दृश्यते, नहि बुद्ध्यतिरिक्तानां पदार्थानां विनाशं प्रति बुद्धेः कारणत्वं केनाऽप्यनुभूयते । तथासति संसारलयविषयकबुद्ध्या अध्यवसाये कृते एव दुःखादिनिबन्धनसंसारो विनश्येत् यावत्प्रतिकूलपदार्था अपि विनश्येयुः, तथा च संसारे केऽपि क्लिष्टा न स्युः, प्रत्युत यथाबुद्धि मुक्तिमेवाऽऽसादयेयुरिति । नचाऽऽत्मसंगामिन्यां बुद्धौ व्यधिकरणायां मृत्तिकाद्यवस्थितघटध्वंसस्य जनकत्वं भवितुमर्हति, समानाधिकरणयोरेव कार्यकारणभावाऽनुभवादिति । एवं सन्तानगोचरः सन्तानस्य निरोध इत्यपि न संभवति । नहि सन्तान उदयव्ययधर्मा, किन्तु हेतुफलभावेन व्यवस्थिताः सन्तानिन एवोदयव्ययधर्माणः । तत्र योऽन्त्यसन्तानी स च निरुद्धः सन् सन्तानमपि न रुन्ध्यात्, स च तदानीं सफलो वा निष्फलः । यदि सन्तान्यन्तरमारभते तदा तु तस्य सन्तानस्यापि आरम्भः प्रस्तुत एव तथा च न सन्तानोच्छेदः । यदि च निष्फलस्तदा स एवाऽन्तिमोऽसन्निति भवेत्, तस्यार्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वस्य विरहात् । एवञ्च—तस्यासत्वे तज्जनकमप्यसज्जनकत्वेनाऽसदित्येवं क्रमेण सर्वेऽपि सन्तानिनः असन्त एवेति तत्सन्तानस्तु नितरामसन्निति कथं तस्य प्रतिसंख्यया निरोधः संभवेत् । नाऽपि च सन्तानक्षणानामपि निरोध इति युक्तं भवति, क्षणनिरोधं प्रति बुद्धेः पूर्वोक्तयुक्त्या कारणत्वाऽभावादिति । एवम् भावानां निरोध इत्यपि वक्तुं न शक्यते, यतः—उत्पन्नस्य सतोऽप्रवृत्तस्य भावस्य निरोधे सति तस्य सप्रयोजनत्वमेव न स्यात्, पदार्थं चोत्पन्नं सत्प्रवृत्ति प्रयोजनं चाऽभिनिर्वेदयति न त्वप्रवृत्तमिति । निष्प्रयोजनस्य तूत्पत्तिरेव नाऽभिमता भवति । तस्मादुत्पन्नस्य भावस्य सप्रयोजनत्वसम्पादनाय प्रवृत्तिमत्त्वेन भाव्यम्, प्रवृत्तिश्चोत्पन्ना सती तस्य भावस्य

कतिपयक्षणस्थितिं निवेदयति । तथा च क्षणिकत्वमेव न भवति, स्थितिमत्तया च निरोधत्वमेव न संभवति । निरोधत्वं नाम—असत्त्वम्, भावत्वं नाम—सत्त्वम्, उभयोर्विरुद्धयोः कथमेकस्मिन् संभवः । तस्मान्नहि भावस्य निरोधः । एवं विनाशस्तु सान्वयः सम्भवति न तु निरन्वयः । अन्वयश्च संयोजनाऽवयविसत्त्वसम्बन्धः । भवति च भावस्य सर्वाऽवस्थासु अन्वयाविच्छेददर्शनमिति कथं तत्र विनाशः—प्रतिसंख्यानिरोधोऽभ्युपेयते इति । एवम्—अप्रतिसंख्यानिरोधोऽपि न संभवति, अप्रतिसंख्यानिरोधो नाम—अहेतुकनिरोध इति । कथं च निरोधस्याहेतुकत्वमुपपद्येत । निरोधो हि कश्चिद् द्रव्यप्रतियोगिकपदार्थो भावान्वितः, स च भावहेतुक एव सर्वैरनुभूयते, यथा वस्त्रविनाशो मद्ध्यादिहेतुक इति । तथा च अप्रतिसंख्यानिरोधस्यात्यन्ताऽसम्भवोति । एवम्—आकाशनिरोधोऽपि न सम्भवति, आकाशस्य निरुपाख्यस्याऽसतोऽभावरूपस्य भवन्मतसिद्धस्य कथं पुनरभावः स्यादिति, वस्तुतस्तस्यैवाऽभावदर्शनाऽननुभविकत्वादिति, तस्मादाऽऽकाशनिरोधोऽपि सुस्थित इति । भावकार्यस्य असद्रूपनिरोधशून्यप्रतियोगित्वाऽभावात्, शून्यात्मकत्वाऽभावाच्चेति ॥ यच्च स्थिरमनुगतकारणमस्वीकुर्वतां बौद्धानामभावाद्भावोत्पत्तिर्भवति यथा "नाऽनुपमृद्य प्रादुर्भावा"दिति । विनष्टाद्बीजादङ्कुरमुत्पद्यते तथा विनष्टान्मृत्पिण्डाद् घट इति, कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येत तदा सर्वस्मात्सर्वं जायेत, इत्यतोऽभावादेव भावोत्पत्तिरिति मतम् ॥ तदपि न युक्तम् । यतः भवेच्चेदभावादसतः—कार्योत्पत्तिस्तदाऽसतः शशशृङ्गस्याऽऽकाशकुसुमादेरप्यङ्कुरादीनां कार्याणामुत्पत्तिः स्याद्, अभावत्वेन तत्रापि कारणतायाः प्रसक्तत्वात्, तच्च न दृश्यते ॥ एवम्—अभावस्य कारणत्वे बीजादिकारणानामन्यथासिद्धत्वापत्तिरपि स्यादिति, न त्वेवमनुभूयते, किन्तु बीजादेवाऽङ्कुराद्युत्पत्तिसंभवस्य सर्वानुभवसिद्धत्वादिति । ये च विकारास्ते सर्वे भावविकारा एव न त्वभावस्य विकारा दृश्यन्ते । अभावस्य कारणत्वे तु सर्वत्रैवाऽभावस्य सुलभत्वात् सर्वत्र सर्वमपि कार्यमुत्पद्येत न तु तत्तत्कारणत एवेति व्यवस्थितम् । यदि च प्रतियोगितासम्बन्धेन तत्तद्बीजविशिष्टाऽभावस्य कारणत्वेऽभ्युपगते सति नाऽव्यवस्थेत्युच्येत, तदा बीजाभावत्वेन कारणत्वाऽपेक्षया बीजत्वेनैव कारणत्वं लाघवात् समुपपन्नम्, किं पुनरभावकल्पनया । तस्माद्भवति भावाद्भावोत्पत्तिरिति, न त्वसतः सदुत्पत्तिरिति ॥ किञ्च—अभावाद्भावोत्पत्तिं मन्वता च निरोधात्मकत्वमभ्युपगच्छता बौद्धेन सदसतोरैकाकारत्वं सम्पादयता प्रकटीकृतं स्वमतिवैलक्षण्यमिति । तस्मात् सर्वं सत् सर्वदा स्थायि, भावाच्च भावोत्पत्तिः, भावश्च नित्यप्रकृतिकारणक इति सिद्धान्तः समञ्जसः ।

योगाचारास्तु—सर्वं विज्ञानमेव यथा 'प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति चतु-

विधं तत्त्वपर्यवसानम् । तदेतच्चतुष्टयाऽन्यतमाऽभावे तस्याऽव्यवस्थानात् चतुष्को
विधा विज्ञानस्कन्ध एवाऽभिमत इति । सत्स्वपि बाह्यपदार्थेषु बुद्ध्यारोहमन्तरेण
प्रमाणादिव्यवहाराऽनवस्थानादिति । यावन्त एव विषया विज्ञानाऽऽरूढाः, विज्ञानं
च घटविषयकं पटविषयकं मठविषयकमिति प्रतिविषयमनुभवमात्रं हृदि संस्थितम्, तच्च बाह्यविषयाणामसत्याकारेणाऽऽन्तररूपेण सत्याऽऽकारेण युक्तं प्रमेयमित्युच्यते, तादृशप्रमेयप्रकाशनं प्रमितिरिति । प्रकाशनशक्तिश्च प्रमाणम् ।
प्रमाता च विज्ञानात्मा, इति सर्वेषां सामानाधिकरण्यमुपपन्नम् । अतः सत्याकारेण तु विज्ञानमात्रमनुभूयते न तु बाह्यविषयाः, ते तु सर्वे मिथ्याकारा इति ।
तस्माद्बाह्यविषयाणामभावे एव पर्यवसानम्—इति सिद्धान्तयन्ति ॥ स च न भवति
युक्तः । यतः भावस्य—प्रत्यक्षतयोपलभ्यमानस्य नहि कदाचिदपि 'अयमभाव'इतिप्रत्ययो भवितुमर्हति । नहि घटं पश्यता केनचित् प्रमात्रा 'अयमभाव' इति
प्रमीयते, प्रमीयते चेत् सोऽनवधानः स्यादिति । नहि विषयाणां विज्ञानाकारत्वम्,
येन विज्ञानाऽऽकारा विज्ञाने एव पर्यवसिताः स्युः । किन्तु विषयसमानाकारत्वं
विज्ञानस्य भवति, तथा च बाह्यविषया यादृशाऽऽकारा भावरूपा दृश्यन्ते
तत्तदाकारं विज्ञानं भवति प्रमात्मकं हृदि, न तु विषयाऽसारूप्यम् । तथा च बहिर्देशस्थं कठिनत्व—गुरुत्वादिधर्मसहकृतं विषयमनुभूय प्रमाणवृत्तिर्हृदये सुस्थिता भवति ॥
सा च 'अयं घटोऽर्थक्रियाकारित्ववान् सन् भावरूप' इत्येवमेव प्रत्यभिज्ञानं करोति,
न तु 'अयं घटोऽभाव'इति प्रत्यभिज्ञानं करोति । तस्मादुपपन्नो बाह्यविषयाणां
सत्त्वधर्मो भावरूप इति ॥ किञ्च—विज्ञानं यदि सत्स्वरूपतयाऽङ्गीक्रियते भवता, तत्र
किंनिबन्धनं सत्त्वम्, विषयसत्तानिबन्धनम् !, स्वसत्तानिबन्धनं वा !, न हि तस्य
स्वसत्त्वं स्वाभाविकं संभवति । विषयाऽधीनस्य विज्ञानस्य विषयाणां खपुष्पादीनामसत्त्वे नहि तद्विज्ञानं सद्विति कदाऽपि भवति । भवेच्चेत् स्वतन्त्रं सत्त्वं तदा
'इदं खपुष्प'मित्यादिकमपि विज्ञानं सत् स्यात्तेन च सद्व्यवहारोपपत्तिः स्यादिति ।
तस्मात्—विषयसत्त्वमपेक्षितं विज्ञानस्य सत्तासद्भावे । तथा च घटादयोऽपि
भावाः सन्त इति—अवश्यमभ्युपेयाः—येन तद्विज्ञानं सद्व्यवहारप्रयोजकं भवति ।
घटादीनामसत्त्वे तु कथं तद्विज्ञानमपि सद्भावतया प्रकाशितं स्यात् । एवञ्च संसारपदार्थानामभावाऽऽत्मकत्वेन सर्वमभावत्वप्रकारकमेकमेव विज्ञानमापद्येत ।
तस्माद् भवन्ति विज्ञानस्य सदाकारतया तद्विषया सदाकारा इति ॥ यच्चोच्येत
विज्ञानात्मकत्वमेव भावानां बाह्यानाम्, तस्माद्विज्ञानमात्रमेव सद्रूपतयोपपद्यते,
न पुनर्विज्ञानभिन्नतया बहिर्विषयाः सद्रूपा इति ॥ तत्त्वत्यन्तमविचारसहम् ।
यतः 'इमं घटमहं जानामी'ति भवति प्रतीतिरहंकारगोचरेदङ्कारगोचरा चेति ।
तत्र इदंकारगोचराद्घटपदार्थादहंकारगोचरः प्रमाता कश्चित् स्वसत्त्वं घटादिकमं-

भिन्नमान्तरं निवेदयति । इदङ्कारगोचरश्च प्रमेयो घटादिरहंकारगोचराद्विज्ञानात्स्व-रूपं बहिर्निवेदयति । तथा च विषयविषयिणोर्भिन्नतयैवोपलम्भात् कथं स्याद्विज्ञानभिन्नविषयस्य विज्ञानात्मकत्वमिति । एवं विज्ञानधर्माः प्रकाशनादयो न भवन्ति जडे घटादौ, न च घटादिधर्माः कठिनत्वादयो भवन्ति विज्ञाने । तस्माद्भिन्नधर्माणाम् आश्रयपदार्थभेदसाधकत्वं सर्वानुभवसिद्धं भवति, येन बाह्यविषयाणां विज्ञानस्य च भेद एवोपपन्न इति ॥ किञ्च सर्वेषां विज्ञानात्मकत्वे 'अयं घटः पट' इत्यादिविभिन्नव्यवहारोऽपि न स्यात्, विज्ञानस्यैकाऽऽकारत्वादिति । न च जात्यादिभेदनिबन्धनो भेदव्यवहारः स्यादिति वाच्यम् । जात्यादीनामपि विज्ञानात्मकत्वेन केन विज्ञानेन कस्य विज्ञानस्य भेदः साध्येत । न हि स्वं स्वस्माद्भिन्नं सत् स्वभेदसाधकं भवति कदाचिदपि । किन्तु भवन्ति विज्ञानविषया भावा विज्ञानभिन्नाः पृथिव्यादयः स्वस्वकारणाऽनतिरिक्ताः पञ्चतन्मात्रात्मका इति । इत्येवं क्रमेण प्रकृतौ सर्वकार्यजातस्य पर्यवसानं भवति । तस्मात् सन्त्येव कार्याणि स्वस्वकारणेष्वेव तादात्म्यतया स्थितानि स्वकारणाऽभिन्नानीति सिद्धम् । तस्मादुपपद्यते सत्कार्यवाद इति ॥

अथ विज्ञानाकारानुमेयबाह्यास्तित्ववादिनां सौत्रान्तिकानाम्,–प्रत्यक्षबाह्याऽस्तित्ववादिनां वैभाषिकाणामवान्तरमतभेदेऽपि सर्वाऽस्तितायां द्वयोर्मतैक्यमिति । ते च बाह्यमान्तरञ्चोभयविधं पदार्थमभ्युपगच्छन्ति । तत्र बाह्यं भूतं भौतिकञ्चेति । आन्तरन्तु चित्तं चैत्तञ्चेति । तत्र भूतानि पृथिव्यादयश्चत्वारः । तत्र पृथिवी गन्ध( खर )स्वभावा । आपः स्नेहस्वभावाः । अग्निरुष्णस्वभावः । वायुः प्रेरणस्वभावः । ते च सर्वेऽपि पृथिव्यादिभावेन परस्परमुपहता घटाद्यनेकाऽऽकारा भवन्तीति भौतिकन्तु–रूपादयश्चक्षुरादयश्चेति–रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराः पञ्चस्कन्धाः । तत्र रूप्यन्ते एभिरिति,–रूप्यन्ते इति–, च व्युत्पत्त्या–इन्द्रियाणि विषयाश्च–रूपस्कन्धः–आध्यात्मिक एव भवति । तत्र विषयाः पृथिव्यादयो बाह्या अपि शरीरात्मकत्वेनेन्द्रियसंसर्गवत्त्वेन च भवन्ति–आध्यात्मिका इति ॥ एवं–विषयेन्द्रियात्मकरूपस्कन्धस्य विज्ञानात्मकत्वेन विज्ञानस्य चाऽऽत्मपदार्थत्वेन 'रूपस्कन्धविषयको य'अहमित्याकारः प्रत्ययः' स विज्ञानस्कन्धः । एवमनुकूलप्रतिकूलविषयग्राही तन्निमित्तकसुखदुःखादिसमन्वितं चित्तं वेदनास्कन्धः । विशेष्यविशेषणभावाऽऽपन्नप्रत्ययः संज्ञाभासः–यथा 'रक्तो घटो विद्वान् द्विज' इत्यादिः संज्ञास्कन्धः । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः पुण्याऽपुण्ये चेति–संस्कारस्कन्धः । एतेषां समुदायः 'पञ्चस्कन्धी'त्युच्यते इति । तत्र भूतभौतिकसमुदायः–पृथिव्यादिपरमाणुहेतुको बाह्यः । पञ्चस्कन्धी समुदायः रूपविज्ञानादिस्कन्धहेतुक आध्यात्मिक इति, तदेतेषामयं भूतभौतिकप्रपञ्चश्चित्तचैत्तप्रपञ्चश्च सर्वोऽपि विज्ञानात्मक एव, विज्ञानभे-

चाऽऽत्मरूपं सत् क्षणिकञ्चेति । तान् स्कन्धान् । सर्वास्तित्ववादपूर्वके सर्वक्षणिकवादेऽवतार्य पुनः सर्वशून्यतायामवतारयन्ति, वस्तुतस्त्वन्तिमं तत्त्वं सर्वं शून्यमेवेति असदेवेति, मिथ्यैवेति ॥ अत्रेदमभिधीयते । पृथिव्यादिपरमाणुजन्योऽयं समुदाय एव भवितुं नार्हति । जडस्य समुदायकर्तृत्वाऽसंभवात् । दृष्टं हि लोके मृद्दण्डादिकारणकूटमादाय कुलालादिना घटादिरचनम् । नहि मृद्दण्डादिव्यापारिणं ज्ञातारं कुलालमन्तरेण दण्डादयः स्वयं व्यापृत्य घटादिकं रचयितुं शक्ता भवन्ति । न च कुविन्दमन्तरेण तन्तुवेमादयः पटवयनं कर्तुं शक्ताः । तस्मात्कार्योद्भावनं कार्योद्भवनानुगुणकारणकूटसमवधानाऽधीनम्, कार्योद्भवनाऽनुगुणञ्च कारणकूटसमवधानं केनाऽपि कर्त्राधिष्ठितम्, विना कर्त्रधिष्ठानं कारणसमवधानं निर्व्यापारं सत् कार्योद्भावनाऽसमर्थमिति । यद्युच्येत–चित्तचैत्ताऽधीनमेव कार्योद्भवनं भवतीति । तदपि न । यतः विज्ञानविशेषं चित्तम्, तेन सविषयेण भाव्यम्, पूर्वं विषयस्य सत्ता, ततस्तद्विषयकविज्ञानस्येति सर्वानुभवसिद्धम् । विषयं विना विषयिणोऽभावात्, एवञ्च–घटविषयकविज्ञानस्यैव घटं प्रति कारणत्वं युक्तम् । तथा च घटस्य विषयस्यैवाऽसत्त्वात्,–कथं तद्विषयकं विज्ञानं तत्र भवेत्, विज्ञानं विना च कथं घटोद्भवः । प्रत्युत घटादिकार्यस्य चित्तसत्त्वापेक्षा चित्तसत्त्वस्य च घटादिकार्याऽपेक्षेत्यन्योन्याश्रयणमापद्येतेति ॥ यद्युच्येत–प्राक्क्षणवृत्तिचित्तस्य तत्र कारणत्वमिति । तदपि नोपपद्यते । घटोत्पत्तिपूर्वक्षणीयं विज्ञानं भाविघटविषयकमेव भवतीत्यत्र प्रमाणाऽभावात् । यदि च भिन्नकालीनयोरपि विषयविषयिभावसत्त्वेन पूर्वं विज्ञानं पश्चाद्भाविघटविषयकं नियतं भवति तेन च घटाद्युत्पत्तिरिति युक्तं भवति । तदपि न । भवन्मताऽभिमतक्षणिकविज्ञानस्य क्षणमात्रस्थायित्वेन भाविघटादिक्षणकाले तस्य नाशात् तस्य कारणत्वमेवाऽसम्भवि । समानाधिकरणपदार्थयोरेव कार्यकारणभावाङ्गीकारात्, असमानाधिकरणानां कार्यकारणभावे तु सर्वं प्रति सर्वं कार्यकारणभावापन्नमापद्येतेति । यद्युच्येत—चित्तसन्तानस्य तु सर्वदाऽवर्तमानत्वात् कार्योद्भवनानुगुणसंस्काराऽऽहितचित्तसन्तानस्यैव कार्यजनकत्वं स्यादिति । तदपि न । सन्तानो यदि चिरकालस्थायी, तदा सद्रूपस्य तस्य क्षणिकत्वव्याहत्या क्षणिकवादभङ्ग आपद्येत । यदि च क्षणिकः सः, तदा क्षणमात्रस्थायिनस्तस्याऽपि कार्यजनकत्वमित्याशामात्रम् । किञ्च–सन्तानो नाम–प्रवाहः,–अव्यवहितोत्तरत्वसंसर्गरूपः, न च तादृशसंसर्गस्य कार्यजनकत्वं कुत्राऽपि संभवेत् । यद्युच्येत–घटं प्रति कथं कपालसंयोगस्य कारणत्वं भवतीति चेत् !, अर्थान्तरमिदम्, यतः–कपालसंयोगस्य कपालजन्याऽवयविघटं प्रति कारणत्वं तथा प्रकृते क्षणिकचित्तजन्याऽवयविद्रव्यस्यैवाऽप्रसिद्धत्वेन कुत्र सन्तानात्मकसंयोगस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यादिति । यदि च सन्तानजन्यमवयविद्रव्यं घटादिकमित्यभ्यु-

पगम्यते । तदा 'परमाणुपुञ्ज एव घटादिर्न त्ववयवी'ति भवत्सिद्धान्तहानिः । प्रत्युताऽस्मन्मताभिमतघटाद्यवयविनां परम्परया शुद्धपात्मकप्रकृतेः कारणत्वसिद्धिः स्यादिति । तस्माच्च सन्तानस्य भवन्मताऽभिमतं कारणत्वं संसिद्ध्यतीति । अथ पुनरयं प्रतीत्यसमुत्पादः—हेतूपनिबन्धनः प्रत्ययोपनिबन्धनश्चेतिद्वाभ्यां कारणाभ्यां भवति । तत्र हेतूपनिबन्धो यथा—भवति बीजादङ्कुरोऽङ्कुरात्पत्रं पत्रात्काण्डं काण्डान्नालो नालाद्गर्भो गर्भाच्छूकः शूकात्पुष्पं पुष्पात्फलमिति । नहि बीजेऽविद्यमानेऽङ्कुरः सम्भवति । सति तु बीजे भवत्येवेति । अतो बीजादीनामधिष्ठातरि कर्त्तर्यपि कार्यकारणभावनियमो भवत्येवेति दृश्यते । एवं प्रत्ययोपनिबन्धः—प्रत्ययो हेतूनां समुदायः, हेतुं हेतुं प्रति अयन्ते हेत्वन्तराणीति, अयमानानां भावः प्रत्ययः समवाय इति यावत् । यथाहि—षण्णां धातूनां समुदयाद् बीजहेतुकोऽङ्कुरो भवति, तत्र पृथिवीधातुर्बीजस्य संग्रहकृत्यं करोति येनाऽङ्कुरः कठिनो भवति, अब्धातुर्बीजं स्नेहयति, तेजोधातुर्बीजं परिपाचयति, वायुधातुर्बीजमभिनिर्हरति येन बीजादङ्कुरो निर्गच्छति, आकाशधातुर्बीजस्याऽनावरणं करोति, ऋतवश्च बीजस्य परिणामं विधापयन्ति, इत्येवं पृथिव्यादिधातुविशेषाणां कृते सति भवति बीजादङ्कुरोत्पत्तिरिति, नान्यथा, तदेतौ बाह्यौ प्रत्ययोपनिबन्धहेतूपनिबन्धौ प्रदर्शितौ । तथैवाऽऽध्यात्मिकौ—तत्र हेतूपनिबन्धो यथा—संसारस्य मूलकारणमविद्या, तया च रागद्वेषमोहात्मकाः संस्काराः प्रवर्त्यन्ते, संस्कारेभ्यश्च विषयाणां विज्ञानम्, विषयविज्ञानाच्च नामरूपस्कन्धाः, ते च शरीरे कलल-बुद्बुद-मांसपेशीकरण्डाऽङ्गप्रत्यङ्गव्यूहात्मकाः, नामरूपमिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनम्, ततो नामरूपेन्द्रियाणसन्निपातः, सन्निपाताद् वेदना, वेदनातस्तृष्णा । तृष्णातो वाक्कायचेष्टा, ततो धर्माऽधर्मौ, ततो जात्यायुर्भोगाः, जरामरणञ्चेति ॥ प्रत्ययोपनिबन्धो यथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशविज्ञानधातूनां समवायात्कायस्योत्पत्तिः, तत्र पृथिवीधातुः कार्यस्य काठिन्यं करोति, अब्धातुः कायं स्नेहयति, तेजोधातुः कायं पाचयति, वायुधातुः प्राणरूपो भवति, आकाशधातुः कायस्यान्तः सुषिरभावं तनोति, विज्ञानधातुर्नामरूपाऽङ्कुरमभिनिर्वर्त्तयति, इति तत्पञ्चात्मकविज्ञानकार्यं मनोविज्ञानं जनयतीति ॥ तेऽमी परस्परहेतुकाः, जन्मादिहेतुका अविद्यादयोऽविद्याहेतुकाश्च जन्मादयो घटीयन्त्रवदनिशमावर्त्तमाना विद्यन्ते, तैस्तैरविद्यादिभिराक्षिप्तः संघात इति सर्वेषामविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येय इति वदन्ति ॥ तन्न ॥ यतः—नहि तथाविधः सङ्घात उपपन्नो भवति, भवेदुपपन्नः संघाते यदि सङ्घातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्येत, न त्वत्राऽवगम्यते किमपि निमित्तम्, किमपि साक्षात्परम्परया वा कारणं न भवति निरपेक्षं स्वजनकम् । निरपेक्षस्य जनकत्वे तु कार्यमपि स्वं निरपेक्षं स्वजनकं स्यादित्यापद्येत, धरणीसलिलसंयोगादिरहितावपि कुसूलस्थबीजा-

निरपेक्षादङ्कुरोत्पत्त्याऽऽपत्तिश्च स्यादिति ॥ यच्च-स्वयं निरपेक्षाऽविद्या कारणं साक्षात्परम्परया वा सर्वहेतुप्रत्ययानां भवतीत्यभ्युपगम्यते । तन्नैव नोपपद्यते । यतः निरपेक्षाया अविद्यायाः कारणत्वे तुल्ययुक्त्या-अविद्यामारभ्य मरणपर्यन्तानां सर्वेषां हेतूपनिबद्धानां स्वतन्त्रनिरपेक्षतया कारणत्वं समुपपन्नम्, अतो निरपेक्षाः सन्तस्ते स्वकार्यमुत्पादयिष्यन्ति । एवञ्च क्रमेण हेतूपनिबन्धकल्पनमाभासमात्रं स्यादिति ॥ किञ्च-भवदभिमताऽविद्यायास्तदन्यानां क्रमोपनिबद्धानां हेतूनाञ्च क्षणिकत्वेन स्थायित्वविरहात् केन कदा किमुत्पादितमित्यत्र नियमवैरूप्यमेव स्यादिति, तथा च कथमिदं सर्वं क्षणिकं परम्परया कारणरूपक्षणिकविज्ञानेनाऽऽ-जगतं स्यादिति !, एवं क्षणिकेन विज्ञानेनाऽनेकेषां क्षणिकानां पदार्थानां कार्यका-रणधारानिर्धारणे कृते कार्यकारणधारानिर्धारणमपि क्षणिकं स्यात्, तथा च कथं तत्र परम्परया कार्यकारणनिश्चय इति । तथा चाऽर्द्धं स्वस्य दूषणरूपस्य दूषणा-न्तरदानेनेति ॥ किञ्च-अविद्यादितो यदि संघातः, तस्माच्च संघातान्तरमुत्पद्यते । तदा तदुत्पद्यमानं नियमेन सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमे तु क्वचिद्विसदृशमुत्पद्येत, अथवा न सदृशं न वा विसदृशमुत्पद्येत, नियमाऽभ्युपगमे वा मनुष्यो जन्मान्तरे मनुष्य एव स्यान्न तु पशुर्देवादिः, घटश्च स्वध्वंसानन्तरं घट एव स्यान्न तु पृथिवीति, अनियमे तु क्षणिको मनुष्यः क्वचिद् गतो शूकरो राक्षसो वा मनुष्यो वा भवेदित्य-स्मिन्नेव कलेवरे परिणाममवाप्नुयादिति ॥ किञ्च-क्षणिकेन भोक्ता क्षणिकमेव वस्तु भोग्यमिति कथं स्यात् ! । यतो भोक्तृभोग्यभावस्य स्थिरपदार्थनियतत्वात् ॥ किञ्च-उत्तरस्मिन्क्षणे उत्पद्यमाने सति पूर्वक्षणो निरुद्ध्यते एव । तथा च पूर्वो-त्तरक्षणयोः परस्परप्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावे समुत्पन्ने कथं तयोर्हेतुफलभावः शक्यते सम्पादयितुमिति । निरुद्ध्यमानस्य पूर्वक्षणस्याऽभावग्रस्ततया नहि तत्क्ष-णमुत्तरक्षणं प्रति कारणं भवितुमर्हतीति । हेतुमन्तरेण यदि फलोत्पत्तिं स्वीकुर्यात् तदा भवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात्, भवतामियं प्रतिज्ञा-'नीलाभासस्य चित्तस्य नीला-दालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता, पूर्वविज्ञानात् समनन्तरप्रत्ययाद्बोधरूपता, नेत्रस्याऽ-धिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणनियमः, सहकारिहेतोरालोकात्स्पष्टार्थता, एवं सुखादी-नामपि चित्ताऽभिन्नहेतुजानां चत्वार्येतानि कारणानि'ति सेयं प्रतिज्ञा चतुर्विधा-न्हेतून्प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते इति, साऽभावस्य कारणत्वे तु समुपरुद्ध्येत । निर्हेतुकायामुत्पत्तौ च सर्वत्र सर्वमप्युत्पद्येतेति ॥ यदि चोत्तरक्षणपर्यन्तं भवति सुस्थितः पूर्वक्षण इत्युच्येत, तदाऽपि क्षणिकाः सर्वे संस्कारा-इति प्रतिज्ञोपरोधः स्यादिति ॥ किञ्च-सर्वमेतत्प्रत्ययोपनिबन्धं हेतूपनिबन्धञ्च प्रपञ्चं भावरूपतया प्रतिपादयता बौद्धेन पुनस्तादृशप्रपञ्चस्य शून्यत्वे पर्यवसानं क्रियते । तदेव अनु-पपन्नम् 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' इति स्मृतेः । भावस्य

पुनरभावात्मकत्वेन स्थापनार्थं प्रवृत्तोऽयं वैनाशिकोऽसम्बद्धभाषी–उन्मत्तवदुपेक्षणीय इति । किन्तु–सर्वप्रपञ्चस्य पृथिव्यादिपरमाणवोऽविद्या चेति कारणं स्वीकृतम् तत्राऽविद्यातः पृथिव्यादीनां परम्परयोद्भवात्परमाणवोऽप्यनित्या इति तत्कारणं तन्मात्राणि–इत्येवं परम्परया सर्वेषां सतां पदार्थानां मूलकारणं भवति प्रकृतिरिति, यतः सत्कार्याण्याविर्भवन्ति पुनस्तिरोभवन्ति चेति, तस्मात्सत्कार्यवाद एव समुपपन्न इति ॥

जैनास्तु ‘असतः-कथञ्चित्स्थायिनः पुद्गलाख्यपरमाणुतः-सतो-भावस्योत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति । सप्तैषां पदार्थाः–जीवाऽजीवाऽऽस्रव–संवर-निर्जर-बन्ध-मोक्षा इति । संक्षेपतस्तु द्वावेव–जीवाऽजीवाख्याविति । सप्तानामत्रैवाऽन्तर्भावात् ॥ तमिमं प्रपञ्चं प्रकारान्तरेणापि निरूपयन्ति–यथा–जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, धर्मोऽस्तिकायः, अधर्मोऽस्तिकायः, आकाशाऽस्तिकायश्चेति, । तत्र च सर्वत्र ‘सप्तभङ्गीन्यायमवतारयन्ति । यथा–स्यादस्ति,–स्यान्नास्ति,–स्यादस्ति च नास्ति च,–स्यादवक्तव्यः,–स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च,–स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्च,–स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्च ।तमिमं सप्तभङ्गीनयं ‘स्याद्वादः’इत्यभिदधति ॥ स चायं वादोऽपि न युक्तः । यतो हि न ह्येकस्मिन्धर्मिणि सदसत्त्वादिपरस्परविरुद्धधर्माः सामानाधिकरण्यतया स्थातुं योग्याः । यदि वस्तु–स्वभावतः सत् तर्हि कदाचित्केनाऽपि–असदिति कर्तुं शक्यम्, यदि वस्तु–‘अस्तिपद’विषयम्, तत् सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मना स्वस्वरूपेणाऽस्त्येवेति, न तु नास्तीतिविषयम्, यच्च ‘असत्–नास्ती’ति भवति गगनकुसुमादिकं तन्नहि कदाचिदपि ‘सदस्ति’इति भवितुं शक्यम् । तस्मात्परस्परविरुद्धानां ‘स्यादस्ति स्यान्नास्ती’तिवाक्यानामुन्मत्तप्रलपितत्वमेवाऽवशिष्यते ॥ किञ्च–एते पदार्थाः निर्णीताः–एतावन्तः एवंरूपाश्चेति । ते तथैव स्युः । तथैव वा न स्युः । इतरथा हि तथा वा स्युः । तथा अतथा इतरथा वा स्युः । इत्येवंविधाः परस्परं विरुद्धप्रत्ययाः कथमेकत्र संभवेयुः । तत्र प्रथमं निर्धारितं पश्चादनिर्धारितं प्रवदन्मदोन्मत्तवदनवधेयवचनः स्यादेवेति ॥ तथा–पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्याऽस्ति नास्ति वेति विचारणे पक्षेऽस्ति, पक्षान्तरे नास्ति वेति स्यात् । पक्षे च वक्तव्याः पदार्थाश्चेत् !, नाऽवक्तव्या ते भवन्तीति । अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चेदवक्तव्या इति प्रतिषिद्धम् । इत्यतस्तथाविधं पूर्वापरविरुद्धं विपरीतञ्च सप्तभङ्गीनयं प्रजल्पन् वक्ता विभ्रान्त इति सिद्ध्यति । तस्मात्तन्मतं तत्त्वज्ञानोपयोगीति ॥ किञ्च–‘असतः–कथञ्चित्स्थायिनः,–सतः भावस्योत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति । तत्रेदं विचार्यते–कथञ्चित्स्थायिपरमाण्वादिकारणात् सद्भावो घटादिरुत्पद्यते, स चाऽयं सर्वदा सन् ! असन् वा ! । यदि सन्–तदा तस्य कारणेनाऽपि सता भवितव्यम्, तथा चाऽस्मत्सिद्धान्तसिद्धिः, भवत्सिद्धान्तहानिश्च, यदि चाऽसत्कार्यस्य

तदाऽस्य सत्त्वं कर्तुं नहि केनाऽपि शक्यम्, नहि शिल्पिसहस्रेणाऽप्यसतः खपुष्पस्य सत्त्वं कर्तुं शक्यते। तथा च घटस्वरूपमेव नोत्पद्येतेति। यद्युच्येत–असत्कारणादसन्नेव घट इत्युत्पत्स्यते। तदा तु वैनाशिकविजयः। न च भवन्मतेऽपि असतः सतः कार्यकारणभावो युक्तिसहः संभवति, प्रत्युत विरुद्धयोः कार्यकारणभावविरहाच्च काऽपि स्वमतसिद्धिः। तस्माद् दृश्यमानः सन्नेव घटः स्वकारणात् सद्रूपात् प्रादुर्भवतीति सिद्धान्तः समञ्जस इति॥

अथ–'सतोऽसज्जायते' इति वादिनां नैयायिकवैशेषिकाणां–'सतः नित्य-परमाणुतः–सतः–कार्यद्रव्यस्य, द्रव्यतश्चानित्यकार्यगुणादीनामुत्पत्तिस्वीकारान्न भवत्यपेक्षा प्रधानस्येति। स चाऽयं वाद इत्थं समुपतिष्ठते–'घटपटादिद्रव्यपदार्थाः सावयवा असमवायिकारणसंयोगसहितैः समवायकारणात्मककपालतन्त्वादिभिर्द्रव्यैः समारभ्यमाणाः समनुभूयन्ते। तथा च 'यत्सावयवं तदसमवायिकारणसंयोगसहकृतसमवायिकारणद्रव्यजन्य'मितिव्याप्तिनियमः सामान्यतस्तावदवधार्यते, ये च सावयवास्ते ध्वंसप्रतियोगिनो भवन्तीति, अतो यदा जन्यानां तेषां प्रलयाऽवस्थायां विनाशाऽभिमुखता तदा तदवयवाऽवयवधारायाः विश्रामाऽऽधारं द्रव्यं किमप्यवश्यमन्तिमं नित्यकारणात्मकं कल्पनीयम्, तच्चाऽतिसूक्ष्मत्वादणुपरिमाणवत्परमाणुरितिख्यायते, तज्जन्यद्व्यणुकत्र्यणुकादिकं समस्तपृथिवीजलतेजोवाय्वात्मकं द्रव्यजातं भवत्यनित्यं सावयवमिति, तदित्थंभूतस्य सावयवस्याऽनित्यद्रव्यस्य कारणं पृथिव्यप्तेजोवायूनां चतुर्णां परमाणव एव नित्या जगदाधारा जगज्जनका इति घोष्यन्ते, सावयवानाञ्च पृथिवीजलतेजोवाय्ववयवानां विनाशकाले परमाण्वन्तो विभागो भवति, स चायं परमाणुकालः प्रलयसमय इत्युच्यते, पुनश्च सर्गान्तराऽऽरम्भे वायवीयेषु परमाणुष्वदृष्टाऽपेक्षं कर्म उत्पद्यते, तेन च कर्मणा प्रेर्यमाणः स्वाश्रयीभूतः परमाणुः–परमाण्वन्तरेण सह संयुज्यते, ततो द्व्यणुकत्र्यणुकादिक्रमेण महावायुरुत्पद्यते, तथैव जलतेजःपृथिवीपरमाणुष्वदृष्टाधीनसमुत्पद्यमानकर्मणा द्व्यणुकादिक्रमेण स्थूलजलतेजःपृथिवीपदार्थाः समुत्पद्यन्त इति। तेभ्यश्च भुवनसङ्कुलं ब्रह्माण्डमिति शरीरेन्द्रियादिकं वस्तुजातञ्च भवति, एवं परमाणुगतेभ्यो गन्धरूपरसादिगुणेभ्यो द्व्यणुकादिद्रव्यकार्यगतानि गन्धरूपादीन्युत्पद्यन्ते, अतः केषाञ्चित्पदार्थानामनित्यत्वं केषाञ्चिच्च नित्यत्वमिति, तथाविधनित्याऽनित्यपदार्थानां समुदायरूपमिदं जगद् भासते, तत्र नित्यानां परमाण्वादीनां सर्वदा स्थायित्वेनाऽनित्यानां तेभ्यो नित्यपरमाण्वादिभ्य एवोत्पत्तिस्वीकाराच्चास्ति कल्पितप्रकृत्यपेक्षेति नैयायिकवैशेषिकाणां सिद्धान्तः॥ अत्रेदं विचार्यते, यत् खलु विभक्तानां परमाणूनां संयोगे जगदुत्पादनार्थमेव प्रथमं कर्माऽपेक्षा स्वीक्रियते भवता, तच्च कर्म–अनित्यम्, तत्कालीनोत्पत्तिमदिति तस्योत्पादकेनाऽन्येनाऽपि

भवितव्यम्, तदानीं परमाणुव्यन्यस्य कस्यचिदुत्पादकस्याऽनुपलभ्यमानतया केवलमदृष्टमेव तदुत्पादकं कल्प्यते, इति ॥ तत्तु न युक्तम् । कर्माऽधिकरणे परमाणावेव कर्मकारणेन भवितव्यम्, समानाधिकरणयोरेव कार्यकारणभावस्वीकारात्, यच्चाऽदृष्टं कर्मकारणतयाऽभिप्रेयते भवता, तत्त्वात्मगुणः कस्मिंश्चन्यात्मन्येव वृत्तिमत् स्यात् न तु परमाणौ, तथाचाऽदृष्टजन्यं कर्म इति तु वितण्डामात्रम् । किञ्च–यदि यस्याऽदृष्टं तत्तेनाऽऽत्मना भोग्यं भवति, अतस्तदात्मनः कृते एव तददृष्टमुपभोगनियतम्, परमाणुकर्म च कस्याप्यदृष्टेनोत्पद्यमानं केनाऽऽत्मना भोग्यं स्यात् !, यद्युच्येत परम्परया त्र्यणुकादिकं तत्तददृष्टमतः पुरुषस्य भोग्यं स्यादिति । सत्यम् । तथाप्युत्पद्यमानानि त्रसरेणुजालान्यसंख्यान्यसंख्यात्मभिर्भोग्यानि लोके दृश्यन्ते, तस्मात्परमाणुकर्माणि प्रत्यसंख्याऽऽत्माऽऽदृष्टानां कारणत्वमुपपन्नम्, नैतावता कस्यचिदेकाऽदृष्टस्य जनकत्वव्यवस्था, तथा कस्याऽदृष्टं कुत्र कारणमिति नियम एव न स्यादिति ॥ किञ्च आत्मगतमदृष्टं तत्कारणं स्याद् यदि, तदा प्रलयकाले तस्य स्थितिः स्यात्, किन्त्वनित्यस्यादृष्टस्य त्र्यणुकादिवत्प्रलये नाशसम्भवादनित्यस्य तदानीं सत्त्वाऽभावादेव कथं केन परमाणुकर्म उत्पाद्यत इति । यदि चाऽऽत्मसमवेतं यत्र क्वापि वर्तमानकालीनब्रह्माण्डान्तरस्थाऽऽत्मवृत्ति तददृष्टमभ्युपगम्यते !, तदाऽपि तस्य कारणत्वमसम्भवि, यतः तेनाऽदृष्टवताऽऽत्मना सहाऽसंख्यपरमाणूनां प्रलयकालस्थानां सम्बन्धाऽभावात्, असम्बद्धयोश्च कार्यकारणभावाऽनभ्युपगमादिति । यदि चाऽऽत्मनो व्यापकत्वात् सर्वत्र परमाणुभिः सह संसर्गः सम्भवत्येवेत्यभ्युपगम्येत, तदा नित्यात्मनः सम्बन्धसातत्येन यावत्परमाणुकर्मणामपि सातत्यात् परमाणुद्वयं द्व्यणुकं भूत्वा त्र्यणुकं भूत्वा वा क्रियाऽनधिकरणं सत् स्थिरीभूतं न स्यात्, दीर्घकालस्थिरीभूतस्यैव द्व्यणुकघटपटादिद्रव्यस्याऽवयविपदार्थत्वस्वीकारात्, परमाणुकर्मणा च स्वाश्रयस्य परमाण्वन्तरेण सह संयोगः, तं परमाणुं विहाय पुनरन्येन सह संयोग–इत्येवं यावतां परमाणूनां संयोगविभागैकसंयोगवत्त्वेन स्थिरसंयोगो न स्यादिति । तदर्थं सर्गपर्यन्तं नियमितसंयोगसंस्थापकं नियामकं किञ्चित्कल्पनीयम् । नहि कश्चिदात्मा तथा समर्थो यः सर्गादिमारभ्य सर्गान्तं संसारस्थितिजनकमविचलमदृष्टमेकविधमेव संरक्षेदिति । यद्युच्येत हिरण्यगर्भस्तादृशाऽदृष्टवानिति; सत्यम्, तथापि–हिरण्यगर्भस्य निधनानन्तरमपि या ईश्वरसृष्टिर्हिरण्यकोशाख्ये मायाया उदरे विराजपुरुष–प्रधानपुरुष-प्रकृति-पुरुषादीनां लोकरूपा सा कस्याऽदृष्टाऽधीना ?, यद्युच्येत प्रधानपुरुषाऽदृष्टाधीनेति, तन्न, पुरुषस्य भगवन्मतसिद्धपरमेश्वरस्याऽदृष्टाऽभावात्, अतः प्रकृत्यधीनेत्यगत्या वक्तव्यम्, तथा च प्रधानस्य प्रकृतेरेव सृष्टिजननस्थितिलयकर्तृत्वमुपपन्नमेवाऽस्मन्मतसिद्धमिति ॥ ननु भवन्मते परमाणोः परमाण्वन्तरेण संयोगो भवति, अत्रेदं विचार्यते,–स च संयोगः किमेक-

देशेन ! वा सर्वावच्छेदेन भवति !। यदि सर्वावच्छेदेन,—तदा परमाणुना सह परमाण्वन्तरस्य समानाभिहाराग्निमिश्रणादन्तःप्रवेशात् परमाण्वपेक्षया तदधिकपरिमाणयुक्तं द्व्यणुकं न स्यात्, तत्र परमाणावेव परमाणूनां समावेशात्, तथा च परस्परसंयोगे सत्यपि सर्वे परमाणव एव स्युर्न तु द्व्यणुकादिक्रमेण घटादिस्थूलद्रव्यमिति, तथा च स्वाभिमतविपर्ययसिद्धिः। यदि चैकदेशेन भवति संयोगस्तदा-एकदेशस्याऽवयवात्मकत्वेन परमाणूनां सावयवत्त्वप्रसङ्गः, यदि च परमाणुप्रदेशास्तु कल्पिता न तु वास्तविका इत्युच्यते, तदाऽपि प्रदेशाऽभावेन संयोगाऽभावात्, संयोगस्य चाऽसमवायिकारणस्य विरहेण कार्यद्रव्यस्योत्पत्तिरेव न स्यादिति, अतः प्रदेशवत्परमाणूनां संयोगः सुस्थितः, तथा च प्रदेशवतां तेषां कारणान्तरेणाऽपि भवितव्यम्, तच्च शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावश्चेतनस्तु भवितुं नार्हति, विरुद्धधर्मवत्त्वात्, तादात्म्याऽभावाच्च, तस्मात् सदृशं समानधर्मकं कारणं कल्पनीयम्, तच्च तन्मात्रादिक्रमागतं नित्यं स्थिरं प्रकृतिसंज्ञकं कल्प्यत इति, तस्मादेव सन्ति कार्याणि समुद्भवन्तीति ॥ किञ्च—परमाणुद्वयसमवेतं द्व्यणुकं भवतीति भवन्मतम्। तदपि न युक्तम्। यतः परमाणुद्वयं द्व्यणुकं चेति वस्तुत्रयं संभवति, तच्च नोपलभ्यते, उपलभ्यते चेत्!, तदा घटेऽपि इमे परमाणवः, इमे द्व्यणुकाः,—इमे पिण्डाः, इमे कपाले-अयं घटश्चोत्पनेकानि द्रव्याणि स्युर्न 'अयमेको घट' इत्येकं वस्तु, न हि घटे गृह्यते तदवयवत्वेनाऽभिमताः कपालादयस्तद्व्यतिरिक्ताश्चेति, अनुभवविरोधात्, अतो घटपटादियावत्पदार्थाः कारणाऽभिन्नाः कारणतादात्म्या इति मन्तव्यम्, तथा चाऽस्मन्मतसिद्धिरिति। यच्च परमाणुद्वयं समवायेन सम्बन्धेन द्व्यणुकेन सह सम्बद्धं भवतीति, तदपि न युक्तम्, सम्बन्धो हि सत्त्ववतो द्रव्ययोर्दृष्टः,—यथा घटपटयोरेकक्षणावच्छेदेन संयोग इति, अत्र तु परमाणुकाले द्व्यणुकमसत्, द्व्यणुककाले च द्व्यणुकभिन्नः परमाणुर्न भासते, इति कथं परमाणुद्व्यणुकयोरेकक्षणावच्छिन्नः समवायः संसर्गतयाऽवगतः स्यादिति। किञ्च समवायस्यापि संसर्गतया समवायस्य तत्सम्बन्धिनोश्च संसर्गान्तरं कल्पनीयम्, तच्च सम्बन्धान्तरमपि स्वसम्बन्धिसमवाय-द्रव्याभ्यां भिन्नमिति तस्यापि पुनः सम्बन्धान्तरं कल्पनीयमित्येवमनवस्थाऽऽपातः, तस्मात्सम्बन्धाऽसिद्धौ नाऽवयवाऽवयविनोः समवायः, तद्विरहाच्च न द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकमिति, किन्तु परमाणुद्वयमेव द्व्यणुकमिति परमाणुद्व्यणुकानां तादात्म्यमेव संसर्गः, तथा च कार्यात्मकतया परमाणूनामप्यनित्यत्वम्, अनित्याश्च ते स्वकारणानि तन्मात्रात्मकानि—अवगमयन्ति, एवमेव परम्परया तत्कारणं प्रकृतिरेवेति बोध्यम् ॥ अथ—वैशेषिकाः। सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न स्यात् ते परमाणवो रूपादिमन्तश्चतुर्विधाः पृथिवीजलतेजोवाय्वात्मका इति स्वीकुर्वन्ति।

अत्रेदं विचार्यते । यद्धि रूपादिमद्वस्तु भवति तत्तु स्वकारणाऽपेक्षया स्थूलमनित्यञ्च भवति, दृष्टञ्च पटादौ तन्तूनपेक्ष्य स्थूलत्वमनित्यत्वञ्च, तन्त्वादौ अंशूनपेक्ष्य स्थूलत्वमनित्यत्वञ्च, अंश्वादौ त्रसरेणूनपेक्ष्य स्थूलत्वमनित्यत्वञ्च, एवमेव रूपादिमन्तः परमाणवः स्वकारणाऽपेक्षया स्थूला अनित्याश्चेत्यवश्यं भाव्याः, तत्कारणञ्च पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्माणि स्युरित्येवं तत्कारणतया परम्परया प्रधानस्य सिद्धिरिति ॥ किञ्च वैशेषिकाः द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽऽख्यान् षट्पदार्थान् स्वीकुर्वन्ति, ते च परस्परं भिन्ना इति निरपेक्षं निरूपणं कुर्वन्ति यथा गवयाऽश्वमातङ्गाः । अत्रेदं विचार्यते ॥ गुणादयस्तावद्द्रव्ये वर्तमाना द्रव्याधीना एव निरूपणार्हा भवन्ति न तु द्रव्याऽनधीननिरूपणार्हाः, अतो द्रव्याधीनत्वाद् द्रव्यत एव प्रादुर्भावात् तत्रैव च तिरोभावाद् द्रव्यात्मकत्वमेव गुणानां न तु द्रव्यभिन्नत्वमिति, अतएव तत्र तत्र द्रव्यमेव सामान्यतया ख्याप्यते, यथा–'शुक्लो घटः' रक्तं वस्त्रमिति, तत्तत्प्रतीतिरपि–अभेदतया बोधं–जनयति, तस्माद् गुणानां द्रव्यात्मकत्वेन भवति द्रव्येण सह तादात्म्यसंसर्गः, तथा च परमाणुतादात्म्यतया तत्कारणतन्मात्रादिक्रमेण परम्परया प्रधानस्य सिद्धिरिति ॥ एवं यत् 'सतः–असज्जायते' सतः–परमाणुतः,–असदनित्यं विनाशि पृथिव्यादि कार्यं भवतीति न्यायवैशेषिकमतम् । तदपि न युक्तम् । सदसतोस्तादात्म्याऽनुपपत्तेः, परमाण्वादीनां प्रथमं द्व्यणुकादिना सह तादात्म्यसम्पादनार्थोभयमपि कार्यं कारणञ्चेति सदेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, तच्च कार्यं सत्–यस्मादेव कारणादाविर्भवति तत्रैव च पुनस्तिरोभवति, तस्माद् एवमेव क्रमेण प्रधानसिद्धिसम्पादनार्थं कार्यकारणयोरभेदाऽनुगुणः 'सतः सज्जायते' इति वादः समञ्जस इति ॥ बृहस्पतिमतानुयायिनश्चार्वाकाः–'सतः—स्थायित्रसरेणुतः असदनित्यं जगज्जायते' स्थायिकारणेभ्यः प्रत्यक्षेभ्यः त्रसरेणुभ्यः पृथिव्यप्तेजोवाय्वभिधानानि चत्वारि भूतद्रव्याणि परिणामित्वादनित्यानि जायन्ते, अप्रत्यक्षेषु द्व्यणुकपरमाणुषु प्रमाणाऽभावः, अप्रत्यक्षं यत्किमपि तत्सर्वं कल्पितमसदेवेति न तत्प्रामाणिकम्, अत एव न तस्य कल्पितस्य वस्तुसत्त्वं भवतीति, तस्मादनित्यानां घटादिद्रव्याणां विनाशोन्मुखतायामवयवविभागस्य विश्रामस्तावत् त्रसरेणुष्वेव सुस्थितो भवति, तदा च केवलं त्रसरेणव एव स्वतन्त्राः परस्पराऽसंयुक्ता वर्तन्ते, स चायं प्रलयकालः, तदानीं रूपरसादयो गुणा अपि त्रसरेणावेव विश्रान्ता भवन्ति, यदा च पुनः सृष्ट्यारम्भस्तदा त्रसरेणुस्थिता एव काचिच्छक्तिः स्वाभाविकी त्रसरेणून्प्रेरयति, तेन क्रियावत्त्रसरेणूनां परस्परसंयोगाऽनुकूला भवन्ति, तदा चतुरणुकादिक्रमेण महाभूताऽऽरम्भः, नैसर्गिकगुणारम्भश्च, पृथिव्यादिभ्यो देहाकारपरिणतेभ्यश्च किण्वादिभ्यो मदशक्तिरिव चैतन्यं विज्ञानघनरूपं समुत्पद्यते, तदेव ज्ञानात्मको गुणः, तस्य कारणं शरीरमेवाऽऽत्मेति,

तथाच प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धं वस्तु सत्, अतएव नास्ति प्रधानादीनां सत्त्वम् अप्रत्यक्षत्वादिति वदन्ति, तन्न त्रसरेणूनां नित्यत्वाऽनुपपत्तेः । तद्यथा त्रित्वसंख्याविशिष्टानां पदार्थानाम् 'इमे त्रय' इति प्रतीतिर्भवति,—यथा कटकमुकुटकुण्डलानि, तेषां समुदायत्वेन बोधस्तु 'इदं त्रिक'मिति, अत्र च त्रसरेणुरपि त्रयाणां वस्तुविशेषाणां समुदायः, समुदायस्य प्रत्येकविभक्तपदार्थसापेक्षत्वात्, एवं च त्रसरेणुविशेषसमुदायप्रागवस्थायां विभिन्नाः सजातीयाः परस्परं संयोगमपेक्षमाणास्त्रयः पदार्थाः—'इमे त्रय'इति प्रतीतिविषया अवश्यं मान्याः, अन्यथा तज्जन्यस्य 'त्रसरेणु'रितिसंज्ञैव त्रित्वसंख्याविशिष्टाऽणुविषयकबोधजनिका नोपपद्येत, ते च परमाणव इति त्रसरेणूनामवयवविशेषा भवन्तीति, एवञ्च—परमाणूनां संयोगेन त्रसरेणोरुत्पत्तिस्वीकारात् संयोगोऽवश्यं यत्किञ्चित्प्रदेशावच्छेदेन स्वीकार्यः, सर्वावच्छेदेन स्वीकारे तु परमाणौ परमाण्वन्तरस्याऽन्तर्भावात् परमाण्वपेक्षया स्थूलं द्व्यणुकादिकं नोऽपपन्नं स्यादिति, एवञ्च सावयवपरमाणूनां तन्मात्रादिकारणपरम्परया प्रकृतिकारणवाद एव सुस्थितो भवतीति । ननु यस्य द्रव्यस्य भवन्मते त्रसरेणुसंज्ञा तस्याऽस्मन्मते परमाणुसंज्ञा तथा च न तत्र त्रित्वादिसंख्यामादाय सावयवत्वादि निर्णीतं भवतीति चेन्न । चक्षुषो भूतविकारात्मकतया सावयवत्वस्योभयमते निराबाधात् त्रसरेणुप्रत्यक्षोपपादने च चक्षुरवयवस्य संयोगस्य द्वारतया त्रसरेणावश्यं स्वीकार्यः, स च संयोगः त्रसरेणुना सह सर्वावच्छेदेनाऽसंभवी, चक्षुरिन्द्रियाऽवयवाऽपेक्षया त्रसरेणोः स्थूलतमपदार्थत्वात् न ह्यल्पः पदार्थो महत्पदार्थं व्याप्नोति, तस्मात् त्रसरेणुः सावयवः स्वाऽव्यापकचक्षुरवयवसंयोगद्वारकप्रत्यक्षत्वादिति यत्र संयोगो व्याप्नोति सः त्रसरेणोरवयव इति । अथ यदुक्तं नैसर्गिकगुणारम्भ इति, तदपि न, नैसर्गिकत्वाऽऽरब्धत्वयोर्व्याहतत्वात् । कलेवरगतनैसर्गिकरूपरसादिगुणानां नित्यत्वे सर्वदा सर्वेषामुपलम्भेन सर्वदा सुखी सर्वदा दुःखी वा सर्वदा ज्ञानीति स्यात्, एवं घटादयोऽपि सर्वदा रक्ताः कृष्णा वा, आम्रफलादयश्च सर्वदाऽम्ला इति स्युः, न स्युश्च मधुराः, न चैवं क्वाऽप्यनुभूयते, तस्मादनित्या अभ्युपेयाः सर्वेऽपि गुणाः, एवञ्च अनित्यानामुत्पादकं किम् !, यदि च भूतचतुष्टयनिष्ठा काचिच्छक्तिस्तदुत्पत्तिजनिका, सा तु प्रत्यक्षप्रमाणाऽनवगम्यमानाऽलीकैव, नहि शक्तिः केनाऽपीन्द्रियेण प्रत्यक्षं भवति । यदि तत्र किमप्यन्यदुत्पादकं द्रव्यमेवाऽधिकरणात्मकं कल्प्यते !, तदाऽपि करणात्मकद्रव्यस्य पाषाणादेः चिरकालस्थायित्वेन यावत्पाषाणोपस्थितिस्तावत्पर्यन्तं गन्धोपलब्धिः, रसाद्युपलब्धिश्चाऽपद्येत । ननु तत्र स्वभाव एव नियामकः, येन स्वभावेन कदाचिद्गन्धादीनामुपलम्भो भवति कदाचिच्च न भवतीति चेन्न । स्वभावः किं दृश्यः पदार्थः, अदृश्यो वा ! अदृश्यस्य तु भवताऽनङ्गीकारात् दृश्यएव पदार्थः स्वीकार्यः, सो दृश्यवृत्ति-

गुणानां सत्त्वाऽसत्त्वनियामको वस्तुविशेषो भवेत्, नियामकाऽभावे तु जलादुष्णस्पर्शः, तेजसो गन्धः, वायुतो रसः, इत्येवमुत्पद्यमानमव्यवस्थितं सर्वं स्यादिति सुव्यवस्थार्थं भूतानां कारणीभूतं सूक्ष्मं तन्मात्रं नियामकं स्वभावव्यवस्थापकं द्रव्यं कल्पनीयमिति, एवं च सति सुव्यवस्था—'शब्दतन्मात्रातो गगनं शब्दगुणमुत्पद्यते शब्दस्पर्शतन्मात्रातो वायुः शब्दस्पर्शगुण उत्पद्यते, इत्येवमादिरूपा भवति। तन्मात्राणि च सूक्ष्मद्रव्याणि स्वकार्यं स्वाऽनुरूपं सुखदुःखादिमदनुमापयति। तथा च भवति कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्प्रधानसिद्धिरिति। अतस्त्रसरेणुकारणवादः परमाणुकारणवादश्चानुपेक्षणीय इति। यच्चाऽभिहितं शरीरादेव चैतन्यमुत्पद्यत इति। तत्त्वत्यन्तमसङ्गतम्। यतो मृतशरीराऽवस्थायां चैतन्याऽभावेन व्यभिचारात् न पृथिव्यादिभूतानि चैतन्यकारणानि। ननु प्राणविशिष्टशरीरस्यैव चैतन्यकारणत्वाऽङ्गीकारे न व्यभिचारइति चेन्न। एवमपि सुषुप्त्यवस्थायां प्राणविशिष्टशरीरसत्त्वेऽपि ज्ञानाऽनुपलंभेन तत्र व्यभिचारतादवस्थ्यात्, अतो न चैतन्यकारणं पृथिव्यादिस्थूलभूतचतुष्टयम्, किन्तु यत्राऽन्वयव्यतिरेकावुपलभ्येते तत्रैव कार्यकारणभावो भवति नाऽन्यत्र, यथा सूक्ष्मशरीरसत्त्वे चैतन्यसत्त्वं सूक्ष्मशरीराऽभावे चैतन्याऽभाव इति भवत अन्वयव्यतिरेकौ। तथा च ज्ञानकारणं सूक्ष्मं शरीरमिति, तत्र सूक्ष्मं बुद्धितत्त्वं न स्याद्यदि तदा चैतन्यं लुप्तमेवेति भवति मोक्षावस्थायामात्मनः, अतो बुद्धिरेव चैतन्यकारणीभूतेति, बुद्धेश्च कारणीभूता प्रकृतिरिति सुस्थितः प्रकृतिकारणकसत्कार्यवादः—'सतः सज्जायते' इति॥

अद्वैतवेदान्तिनः—'सतो ब्रह्मणः, असत् मिथ्यात्मकं जगदिदं विश्वं जायते' इति। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यं ब्रह्मैव परमात्मा व्यापको नित्यविज्ञानाऽऽत्मकः सृष्टिपूर्वसमये आसीदिति, तच्च ब्रह्म सदैवाऽऽसीत्, संसाराऽऽरंभे हि 'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'स ईक्षाञ्चक्रे'—इत्येवं परमेश्वरो बहुरूपेण भवितुमभिलषितवान्, ततः स्वेच्छयैव मायायां त्रिगुणात्मिकायां स्वच्छदर्पणतुल्यायां परमेश्वरस्य प्रतिबिम्बमवतरितम्, तच्च ब्रह्म निराकारमकर्तृ निरञ्जनं निरवद्यं शान्तं निष्क्रियं भवति, तस्य निर्धर्मकस्याऽकर्तुः स्वतन्त्रं संसारकारणत्वं न युक्तम्, यतः 'यत्कर्तृ तत्सधर्मकम्' 'यत्सधर्मकं तन्नश्वरम्' इति व्याप्तेः, परमेश्वरभिन्नं किमपि जगत्कारणं सधर्मकमवश्यं साध्यम्। घटपटाद्यात्मकं जगदिदं नश्वरं मायिकं सधर्मकमतएव तादृशधर्मकं जगत्कारणमज्ञानमविद्यापदवाच्यं सिद्ध्यति, तच्च—'अहमज्ञ' इत्यनुभवसिद्धम्, तदेव माया विचित्रपरिणामस्वभावेति, अतस्तदुत्पन्नं जगदपीदं विचित्रं परिणममानं विद्योतते, तच्चाऽज्ञानं यदि शुद्धसत्त्वप्रधानं—तदा तत् मायेत्युच्यते, यच्चाऽज्ञानं मलिनसत्त्वप्रधानं तच्चाऽविद्येत्युच्यते। ब्रह्मणः प्रति-

बिम्बानि शुद्धसत्त्वात्मकमायायां गतानि—ईश्वरा इत्युच्यन्ते, अथ चाऽविद्यायां गतानि ब्रह्मप्रतिबिम्बानि जीवा इत्युच्यन्ते, तथा च शुद्धमायाविशिष्टं चैतन्यमीश्वरः, अविद्याविशिष्टं चैतन्यं जीव इति । ब्रह्मणो मायाऽविद्यासम्बन्धादीश्वरजीवपदवाच्यत्वमिति व्यवह्रियते, रज्जौ सर्पाद्यवभासवद् ब्रह्मणि भवति जीवेश्वराद्यवभास इति । तथाच श्रुतिः—'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयमि'त्यादि, तत्र विकारो घटादिर्वाचाऽऽरभ्यते न तु वस्तुसदिति । जगदिदं मायिकं मिथ्याभूतं ब्रह्मणि भासत इति । अविद्यायाश्च विचित्रप्रभावशालिनी शक्त्यात्मकानां भावानां सर्वदा वर्त्तमानत्वेन तैर्भावैर्भावितं ब्रह्म विभूतिमापाद्यमानं सन्निखिलजगदुपादानं भवतीति । उपादानत्वं नाम जगदध्यासाऽधिष्ठानत्वमिति । तदेव ब्रह्म सृष्टिक्रमेण बुद्ध्यहंकारमनश्चित्तात्मकान्तःकरणात्मकं श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियात्मकं वागादिकर्मेन्द्रियात्मकं सूक्ष्मशब्दादितन्मात्रात्मकं स्थूलपृथिव्यादिभूतात्मकञ्च भवति, सर्वमिदं ब्रह्मात्मकमपि मायोपाधिकत्वान्मायिकमिति प्रतीयते, तत्र मायामये मिथ्यात्वमवगम्य सर्वत्र 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्येवं ब्रह्मभावनां कुर्वन् 'नेह नानाऽस्ति किञ्चने'त्येवं भेदभावं परित्यजन् केवलया ब्रह्मभावनया चित्तशुद्धौ सत्याम् अद्वैतस्फुरणयाऽविद्यानिवृत्तौ च मुमुक्षुर्मोक्षमधिगच्छतीति सिद्धान्तयन्ति । तन्न । अविद्यायाः स्वरूपाऽनुपपत्तेर्बन्धचारसमये प्रसाधितत्वात्, अनिर्वचनीयतायाश्च कथंचिदप्यनुपपन्नत्वस्याऽप्युक्तत्वात्, जीवब्रह्मणोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावस्याऽप्यसंभवाच्च, तथाहि—नहि अचाक्षुषस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बनं भवति, चाक्षुषस्यैव तथा—नियमात् । ननु गगने व्यभिचार इति चेन्न । तत्र गगनं न प्रतिबिम्बते, किन्तु नक्षत्राऽभ्रप्रभृत्येव । भवतु वा साऽभ्रनक्षत्रगगनस्य प्रतिफलनम्, किं तत्रोर्ध्वं प्रसारितदृष्टिभिः केवलमभ्रनक्षत्रादि दृश्यते इति मन्यते भवान् ?। उत साभ्रनक्षत्रगगनम् !, अभ्रनक्षत्राद्येवेति चेत् ! तदेव प्रतिबिम्बते न त्वाकाशमित्यभ्युपगन्तव्यम्, ऊर्ध्वं कथमपि दृष्टेरविषयस्य सलिलान्तः प्रतिफलनस्याऽयुक्तत्वात् । यदि साभ्रनक्षत्रमाकाशं दृश्यते इतीष्यते ? तदा निरूपस्याऽपि चाक्षुषता स्वीकृता नाम ! रूपं वा स्वीकार्यम्, तत्र, तेन चाक्षुषमेव प्रतिफलति न त्वचाक्षुषमिति तु व्यभिचरितमेव । तथा चाऽचाक्षुषस्य ब्रह्मणस्तत्र घटत इति । किञ्च सर्वत्र व्याप्तस्य प्रतिफलनमप्यनुपपन्नम्, यतः प्रतिफलता ह्यन्यदेशस्थेन भाव्यम्, नहि जलान्तःस्थस्य कदाचिदपि तत्रैव जले प्रतिफलनमिति ॥ ननु सर्वतो व्याप्तस्याकाशस्य तत्र जले प्रतिफलनं दृष्टमिति चेन्न । तत्र प्रदेशभेदस्यैवोपरितनस्याऽभ्रनक्षत्राद्याश्रयस्य प्रतिफलनं भवद्भिरिष्टं न तु जलान्तःस्थाकाशस्येति । न चात्र ब्रह्मणि प्रदेशभेदेन तथा निर्वाहः, निरवयवे प्रदेशाऽसंभवात् । न चाऽविद्या-तदभावाभ्याम् औपाधिकः प्रदेशभेदो ब्रह्मणि वक्तुं युक्तः भावाऽभावयोरेकत्र विरोधात् । न चाऽवच्छेदकभेदेन तत्संभवः, ब्रह्मणि

तदवच्छेदकाऽसंभवात्, अवच्छेदकान्तरकल्पनेऽनवस्थापाताच्च । किञ्च–अविद्याधीनत्वेन प्रतिबिम्बरूपस्य जीवस्य सादित्वं स्यात्, प्रतिबिम्बं सर्वमेव ह्युपाध्यधीनं जन्यं दृष्टम् । ननु भवतु लोके तथा, न त्वविद्याधीनस्य जीवस्येति चेत् ? तदा तुल्ययुक्त्या लोके ह्युपाध्यधीनप्रतिबिम्बदर्शनेऽपि ब्रह्मप्रतिबिम्बे नोपाध्यपेक्षेति अविद्योपाध्याश्रयणं व्यर्थमिति । लोकदृष्ट्या चेदुपाध्यपेक्षा तदोपाध्यधीनस्य जन्यत्वनियमोऽपि लोकसिद्ध इति जीवानां जन्यत्वमनिवार्यमिति । किञ्च–अविद्यायामावरणशक्तिर्विक्षेपकशक्तिश्चेति शक्तिद्वयम्, अतोऽविद्ययैव ब्रह्मस्वरूपतिरोधानमित्यपि न घटते, यतः अविद्यया चेद् ब्रह्मणस्तिरोधानं ? तदा निर्विशेषप्रकाशैकरसता न घटेत, निर्विशेषप्रकाशैकरसं चेद् ब्रह्म ? तदा तस्याऽविद्यया तिरोधानं न घटेत ॥ ननु न ब्रह्मस्वरूपतिरोभावः, किन्तु तत्प्रकाशतिरोभाव इति चेत् ? किमयं प्रकाशस्तदभिन्नो भिन्नो वा ? प्रथमे ब्रह्मस्वरूपनाशप्रसङ्गः, यतः–प्रकाशप्रतिरोधो द्वेधा,–उत्पत्स्यमानप्रकाशस्योत्पत्तौ प्रतिरोधः, सतः प्रकाशस्य विनिवर्तनं वा । सतो ब्रह्मणोऽनतिरिक्तप्रकाशप्रतिरोधेन निवृत्तिरूपेण भाव्यम्, तथा च ब्रह्मणो नाश एव पर्यवसानम् । न द्वितीयः, सविशेषत्वापत्तेरिति ॥ जगदध्यासाऽधिष्ठानस्याऽपेक्षाया अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्, अतः कल्पनामात्रं ब्रह्म जगत्कारणमिति । कारणन्तु–'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा'मित्यादिश्रुतिप्रसिद्धा त्रिगुणा प्रकृतिः, यावत्कार्याणां कारणेनाऽभेदात् तत्सिद्धिर्भवति ॥ अद्वैतमते तु 'एकस्य सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानेन परिकल्पितमिदं जगत्'सत्' न भवति, असदपि न भवति, सत्त्वाऽसत्त्वयोर्विरोधात् 'सदसदपि'न, किन्तु चतुर्थः प्रकारो मिथ्यात्वमिति विवर्त इति च, 'उपादानत्वाऽभिमतवस्तुविषमसत्ताकत्वे सति तदवस्थाविशेषरूपत्वं तद्विवर्तत्व'मिति लक्षणात् । तथाचैतन्मते उपादानोपादेययोस्तादात्म्यं न वास्तवम्, किन्तु कल्पितम्, कल्पिततादात्म्येन कार्यकारणयोरभेदसिद्धिरपि न भवति । तस्मात् प्रधानसिद्धयर्थं 'सतः सञ्जायते' इति वादः समञ्जस इति ॥

विज्ञानभिक्षवस्तु–'एकस्य सतो ब्रह्मणः परिणामः–असत् कार्यजातं जायते' इति । तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः । ब्रह्म न समवायि, नाऽसमवायि, न वा निमित्तम्, किन्तु संसाराधिष्ठानम्, 'यत्राऽविभक्तं येनोपष्टब्धं च सत् उपादानकारणं कार्याकारेण परिणमते तदधिष्ठानकारण'मिति । यत्र–ब्रह्मणि, अविभक्तं–विभागरहितम्, येन–ब्रह्मणा, उपष्टब्धं–साक्षितामात्रेणाऽङ्गीकृतम्, सत्–सर्वदास्थायि, उपादानकारणं–प्रकृत्यात्मकं कारणम्, कार्याकारेण–जगदाकारेण, परिणमते तद्ब्रह्म भवत्यधिष्ठानकारणमिति समन्वयः । ब्रह्मणः कर्तृत्वं मायोपाधिकमिति । परिणामिस्वरूपोपादानत्वं च प्रकृतितत्कार्यांशौपाधिकमिति, जगद्रूपेण विपरिणतमायाऽधिष्ठानं ब्रह्मेति, जगद्ब्रह्मणोस्तु तादात्म्यव्यपदेशो भवतीति विवेचयन्ति ॥

तदपि न युक्तम्। यतः—ब्रह्मणः साक्षितामात्रेणाऽङ्गीकरणमन्तरेणाऽपि मायायाः कार्योन्मुखप्रवृत्तौ पुरुषार्थस्य हेतुतासंभवेन तत्र साक्षित्ताया निष्प्रयोजनत्वात्। अधिष्ठानं विनाऽपि तात्त्विकाऽन्यथाभावरूपपरिणामस्य स्वातन्त्र्येण मायायां संभवेन ब्रह्मणस्तत्कल्पनस्याऽन्यथासिद्धत्वात्। तस्माद्ब्रह्म न परिणतमायाऽधिष्ठानं, अत एव तन्मते परिणतस्य कार्यस्याऽसतः, ब्रह्मणः सतश्च तादात्म्याऽभावात्र कार्यतः कारणस्य प्रधानस्य सिद्धिः प्रत्युत ब्रह्मणो जगद्रूपत्वापत्तिः। तस्मात् प्रधानसिद्ध्यर्थं 'सतः सञ्जायते' इति वादः समञ्जसइति॥

द्वैतास्तु 'सतः परमाण्वादितो ब्रह्माण्डात्मकं जगदसत्—अनित्यं भवतीति। तन्मते पञ्चभेदा नित्याः—जीवभेदः, ईश्वरभेदः, जडभेदः, जीवपरस्परभेदः, जडपरस्परभेद इति, तत्रजडानां परमाणूनां नित्यत्वेन सृष्ट्यावावपि प्रलयेच वर्तमानत्वात्, सृष्ट्यारंभे परमेश्वरेच्छात्मकमायया प्रेरितास्ते सक्रिया द्व्यणुकादिक्रमेण जगदुत्पादका भवन्तीति, तथाच जगत्कारणं परमाणव इति सिद्धान्तयन्तीति। तन्मतं तु न्यायमतखण्डने परमाणुकारणवादनिरासेन निरस्तमेव। परमाणूनां तु प्रादेशिकसंयोगस्यैव पूर्वं साधितत्वेन सत्कारणपरम्परया प्रधानकारणवादानुगुणः 'सतः सञ्जायते' इति सत्कार्यवादः सुस्थितः॥

निम्बार्कास्तु—ब्रह्म—माया—जीवाश्चेति तत्त्वत्रयं स्वीकुर्वन्ति। ते च त्रय एव नित्याः। माया त्वीश्वरशक्तिः, माययोत्पन्नं ब्रह्माण्डमिदं, 'सतः—नित्यमायातः—असदनित्यं जगज्जायते' इति वदन्ति। तदेतस्मिन्वादेऽपि—सदसतोस्तादात्म्याऽनुपपत्तेः कथमसज्जगतः परमेश्वरेच्छात्मकमायायाश्च तादात्म्यं घटेत, कथं च तयोः कार्यकारणभावोऽपि घटेत, तस्मात्कल्पनामात्रं—परमेश्वरेच्छात्मकमायाया जगतश्चोपादानोपादेयभावइति। अतः परमेश्वरेच्छाभिन्ना काचित् सुखदुःखमोहात्मिका माया प्रकृतिरभ्युपेया। यत्र सर्वंसंसारकार्यं तिरोहितं भवेत् प्रादुर्भवेच्चेति, तथाच सति—'सतः सञ्जायते' इति सिद्धान्त एव समुपस्थितः, तेन च प्रधानसिद्धिरिति

एवं विशिष्टाद्वैतवादेऽपि—'सतः—परमेश्वरशरीरात्मकजडभूतप्रकृतितः—जगदसद्विकृतिमयं जायतइति सिद्धान्तः॥ तन्मतेऽपि सदसतोस्तादात्म्याऽनुपपत्तेः कार्यलिङ्गेन कारणस्य प्रकृतेः सिद्धिर्न स्यात्। अतः 'सतः सञ्जायते' इति सिद्धान्तः समञ्जसः॥

एवं चत्वारो माहेश्वराः—'शैवाः,—पाशुपताः,—कारुणिकसिद्धान्तिनः,—कापालिकाश्चेति, ते सर्वेऽपि महेश्वरप्रणितसिद्धान्तानुयायितया माहेश्वरा इतिप्रथन्ते, ते हि 'कार्य—कारण—योग—विधि—दुःखान्ताः—पञ्चपदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशूनां जीवानां पाशविमोक्षायोपदिष्टाः, तत्र कार्यं प्रधानजन्यं महदादि असत्, कारणम्—ईश्वरः, स च जगत्कारणानां प्रधानपरमाण्वादीनामधिष्ठाता निमित्तकारणमिति,

न तूपादानम्, योगः—ओंकारध्यानादिः विधिः—त्रिषवणस्नानादिः, दुःखान्तः—मोक्षः, इति। माया महेश्वरशक्तिरेव—अतः—'सतः—प्रधानतः—असत्—महदादिकार्यात्मकम-नित्यं जगज्जायते' इति सिद्धान्तयन्ति। स चायं सिद्धान्तः प्रकृतिकारणवादे तु युक्तः। किन्त्वसत्कार्यवादांशे प्रतिकूलः, असत्कार्यस्य तन्मते कथं प्रकृत्या सह तादात्म्यं स्यात्, अतः 'सतः सज्जायते' इति सिद्धान्तस्यैव सामञ्जस्यमिति ॥

वैयाकरणाः शब्दब्रह्मवादिनस्तु 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।' 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां २ आविवेश' तदर्थञ्च—व्याचकार भाष्यकारः—'चत्वारि शृङ्गाणि—पदजातानि नामाऽऽख्यातोपसर्ग-निपाताः। 'त्रयो अस्य पादाः—लडादिविषयास्त्रिधा—भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः। 'द्वे शीर्षे—द्वौ नित्याऽनित्यात्मानौ—नित्यः—कार्यश्च,—व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदात्। 'सप्त-हस्तासो अस्य—तिङा सह सप्त सुब्विभक्तयः। 'त्रिधा बद्धः—त्रिषु स्थानेषु—उरसि, कण्ठे, शिरसि च, बद्धः। वृषभो रोरवीति—ज्ञानपूर्वकाऽनुष्ठानेन फलप्रदशब्दप्रपञ्चः 'महोदेवो—महादेवः—शब्दः। 'मर्त्यां आविवेश—मर्त्यानाविवेशेति। अतो जगन्नि-दानं स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति। तदित्थं कूटस्थे परस्मिन् ब्रह्मणि सच्चिदानन्दस्वरूपे प्रत्यगभिन्नेऽवगतेऽनाद्यविद्याऽज्ञानस्य निवृत्तौ तादात्म्यब्रह्मात्मना-ऽवस्थानलक्षणं निःश्रेयसं सेत्स्यतीति। 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति' इति श्रुतेः। अत एव सतः—स्फोटाख्यशब्दब्रह्मणः—विमर्शबिन्दु—महत्तत्त्वादिक्रम-शोऽसद्—विवर्तं जगज्जायते' इति,—विवर्तो नाम—अतात्त्विकोऽन्यथाभाव इति सिद्धान्तयन्ति ॥

अयं सिद्धान्तः कल्पित एव। यतः—एवं हि वर्णाऽतिरिक्तः स्फोटोऽभ्युपेयेत यदि वर्णानां वाचकत्वं न संभवेत्, वर्णेभ्योऽर्थप्रतीतेः संभवात् स्फोटकल्पनाऽन-र्थिका, क्रमानुसारिण एव वर्णाः पदबुद्धिमारोहन्तीति। स्फोटस्याऽप्रामाणिकत्वेन तदभिन्नतया नित्यशब्दात्मकब्रह्माऽप्यप्रामाणिकमिति, सर्वानुभवविषयस्याऽनित्य-शब्दस्य भूतात्मकस्य तु ब्रह्मत्वमसम्भवीति ॥ यद्युच्येत—परा वाणी नित्या सैव ब्रह्म, न तु पश्यन्तीमध्यमावैखरीसंज्ञिका—ब्रह्मात्मिकाः, किन्तु ता ब्रह्मकार्यात्मिका भवन्ति। तदपि न युक्तम्। यतः पश्यन्त्यादिवाणीनामुपादानकारणन्तु परावाण्यात्मकं ब्रह्माऽभ्युपगन्तव्यं भवता, एवं च सति पश्यन्त्यादीनां वाणीनां धर्मात्मिकानां जडानां धर्मिरूपं ब्रह्माऽपि जडमित्याऽऽपद्येत, यच्च ब्रह्म—विमर्श—बिन्दु—नाद—ध्वनीतिक्रमेण शब्दसत्ता भवति—अतो विमर्शबिन्द्वादीनां जडत्वं न तु ब्रह्मण इति। तदपि न। ध्वन्यन्तानां जडरूपाणां कार्याणां स्वानुरूपेण कारणेन भवितव्यमिति साधारणतया ब्रह्माऽपि जडमेव स्यादिति, तस्माच्छब्दस्य ब्रह्माभिन्नत्वं ब्रह्माऽकार्य-

ब्रह्मेति स्वीकार्यमिति । किञ्च—'उत्पादविनाशस्वभावं जगदिदं शब्दब्रह्मणः शब्दब्रह्मव्यापक'मिति—यद्भवन्मतं तदपि निरस्तमेव, यतः—शब्दस्य अव्याप्यवृत्तितया—व्यापकत्वाऽभावात् । ननु वाच्यत्वसंसर्गेण सर्वत्र शब्दः स्थास्यतीति—चेन्न ! किम् ! अनेन वाच्यत्वसंसर्गेणैक एव शब्दः सर्वत्र व्यापकः ! वाऽनेके सर्वत्र व्यापकाः ?, प्रथमे तु नह्येकस्य शब्दस्य वाच्यं सर्वं जडचेतनात्मकं वस्तुजातं भवति, नवाऽनेके शब्दाः स्वस्ववाच्यं विहाय सर्वत्र तादृशसंसर्गेण स्थातुं शक्नुवन्ति, यद्युच्येत—सर्वेषां जडचेतनानां 'पदार्थां'—इति समान्या संज्ञा, तथाच 'पदार्थ-शब्दो वाच्यत्वसम्बन्धेन सर्वत्राऽवतिष्ठेतेति तस्य व्यापकत्वं युक्तमेवेति । तदपि न विचारसहम् । स्वस्य स्ववाच्यत्वाऽभावात्, तदर्थमन्य'पदार्थ'-शब्दाऽपेक्षणे पुनस्तदर्थमन्य इत्यनवस्थापत्तात्, अतः सर्वथैवाऽव्यापकत्वमुपपन्नं तस्य शब्दब्रह्मण इति । ननु शब्दब्रह्मत उत्पन्नाः शब्दब्रह्माकारा रूपादयः सर्वेऽपि पदार्थाः, तथाच तादात्म्येन सर्वं ब्रह्मैवेति तादात्म्येन तस्य व्यापकत्व-मव्याहतमितिचेन्न । किं तावत्ते पदार्था ब्रह्माऽतिरिक्ता ! वाऽनतिरिक्ताः ?, यद्यति-रिक्तास्तदाऽस्मत्सिद्धान्तसिद्धिर्भवन्सिद्धान्तहानिः, नातिरिक्ताश्चेत् ! तदा विरुद्ध-धर्माणां रूपत्वरसत्वादीनां तत्राऽसमावेशात्—ते आकाराः पदार्थान्तराणि, कल्प-नीयानीति, तथाच सति भवत्सिद्धान्तहानिः, तस्माद्ब्रह्मभिन्नमेव—मायामयं जगत्प्रकृतिजन्यं शब्दादयोऽपि प्रकृतिजन्या इति ॥ किञ्च—'ब्रह्मबिन्दूपनिषदि— 'द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म-परं च यत् । शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽ-धिगच्छति" इति । सूत्रे च—'तस्य वाचकः प्रणवः, 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इत्यत्र परमेश्वरवाचकप्रणवादिशब्दस्य जपस्तदर्थभावना च प्रदर्शिता, न तु शब्द एव ब्रह्मेति प्रदर्शितम् ॥ 'चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा' इत्यादिश्रुतिरपि ब्रह्माण्ड-ब्रह्मणोरन्वयभावमवलम्ब्य व्याप्यव्यापकभावं दर्शयति, न तु केवलं शब्दविषय-मादाय शब्द एवोपयुज्यत इति । किञ्च—जगतः शब्दब्रह्मजन्यत्वे न ह्युपलभ्यते किमपि प्रमाणम् । उक्ता श्रुतिस्तु—तन्मात्रात्मकशब्दद्वाराकाशादिप्राविर्भावस्य प्रक्रि-यापरायणा, अतएव—ब्रह्मबिन्दूपनिषदि-'शब्दमायाऽऽवृत्तो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे' । 'शब्दाक्षरं च यद्ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्' इत्यादौ शब्दस्य मायात्मकत्वं क्षीणत्वञ्च प्रतिपादितम् । अतएव क्षीणस्य तिरोभावस्थानमवश्यं किमपि कल्प-नीयम्, तच्चाहंकारात्मकमिति, एवमेव क्रमेण प्रकृतिसिद्धिरिति । अतः—'सतः सञ्जा-यते' इति सत्कार्यवाद एव प्रकृतिसाधनाय समञ्जसइति ॥

अथ शुद्धाद्वैताः—'सतो—ब्रह्मणः—सज्जगज्जायते' इति सिद्धान्तयन्ति । तेषाञ्चा-ऽयमभिप्रायः—अस्य—'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम—चेत्यर्थपञ्चकात्मकस्य जगतस्ता-दात्म्यसंसर्गेण कारणं तदुपादानं ब्रह्मैवेति । जगतो ब्रह्मसमानसत्ताककार्याऽऽकारेणा-

ऽऽविर्भावः, तत्र सृष्ट्यारम्भे साकृतिः सच्चिदानन्दः परमात्मा 'स ईक्षाञ्चक्रे' इति, ततो ब्रह्मणि विद्याऽविद्याख्यं शक्तिद्वयं प्राविर्भवति, ते चोभे ब्रह्मशक्ती, न स्वतन्त्रमायारूपे किन्तु परमेश्वरेच्छात्मकमायास्वरूपे। तत्र ब्रह्मतो जीवानामग्नितो विस्फुलिंगानामिवाऽऽविर्भावो जायते, एवमेव महदहंकारेन्द्रियतन्मात्रादयः सर्वे पदार्थाः ब्रह्मत एवाऽविर्भवन्ति, अतस्ते सर्वे कारणावस्थायां सन्त एवाऽऽसन् तस्मात्सत्याः, न त्वसत्या न वा विकारिण इति, एवञ्च सर्वसंसारोत्पत्त्यनन्तरं तत्र प्रविष्टा जीवा अविद्यात्मिकया भगवच्छक्त्या तिरोहिताऽऽनन्दांशा भवन्ति विविधानि शुभाऽशुभकर्माणि कुर्वन्ति तेन बन्धः। यदा च विद्यया स्वात्मपरमात्मविवेकरूपया निर्मलाः शुद्धा भवन्ति तदा परमा मुक्तिरिति। परमेश्वरेण हि स्वस्य रमणार्थमेव स्वेनैव स्वस्मादाविष्कृतमिदं जगदादि जडचेतनात्मकं सर्वं तत् सदैव ब्रह्मात्मकमेव नान्यत्तत्त्वमिति, अत एव 'शुद्धमद्वैत'मिति ख्यातिः, ततः—ब्रह्मणः सज्जगज्जायते इति सिद्धान्तश्चेति ॥ तन्न। सत्कार्यत्वांशेऽविरोधेऽपि, ब्रह्मकारणकत्वांशस्याऽयुक्तत्वात्। यतः नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तस्वभावं सच्चिदानन्दं सर्वेश्वरं ब्रह्म, तस्माद्—दृश्यमानमनित्यमशुद्धमबुद्धममुक्तमचिद्दुःखात्मकं जीवसमूहाऽऽकुलीभूतं जगदिदं कथं प्रादुर्भवेत्, तत्र तिरोभवेद्वा, विरुद्धधर्मकयोरभेदाऽसंभवात्, नहि जडाचेतनं चेतनाच्च अदमभेदसंसर्गेण तत्र प्रादुर्भूतं तत्र तिरोभूतं च क्वचिद् दृष्टम्। व्यवस्थाविरोधात्। तस्माद् यादृशं कारणं, कार्यमपि तादृशं प्राविर्भवतीति दृश्यते नियमः, न च ब्रह्मणि नित्यानन्दात्मके केनचिदपि वेदान्तवाक्येन दुःखं निर्णीयते, अनुभूयते च जगदिदं दुःखमोहतत्साधनादिव्याप्तपदार्थसंकुलमिति, ततो विरुद्धधर्मकस्य नित्याऽऽनन्दस्वरूपस्य परमेश्वरस्य तदभिन्नतया दुःखमोहाद्यात्मकत्वमापद्येत, तथाच 'हेयं दुःखमनागत'मिति सूत्रोपदेशमगृहीत्वा सर्वैर्मुमुक्षुभिर्ब्रह्म दूरादेवोपेक्षितं स्यादिति, किं पुनरन्यत्—मोक्षदं तत्त्वमवशिष्येत, तस्मान्न ब्रह्मात्मकं जगत् किन्तु नित्यमायात उत्पन्नं नित्यमायया च ब्रह्माधिष्ठितेति, न तु तदिच्छारूपा, इच्छात्मकाऽविद्यावत्त्वापत्तेः, सर्वज्ञत्वहान्यापत्तेश्च, यच्च 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' 'स वै सर्वमिदं जगत्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वोऽपि जगत्प्रपञ्चो ब्रह्मकार्यमिति सिद्धान्तिततया 'अविकृतपरिणामवाद' इति स्वीकुर्वन्ति शुद्धाद्वैताः ॥ न चाऽयमपि संगतो भवति। यतः परिणामत्वं नाम—अन्यस्वरूपेणाभासमानत्वे सति तदात्मकत्वम्, तात्त्विकोऽन्यथाभाव इति वा। तथाच 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे' त्यादिश्रुत्या सत्यस्वरूपस्य नित्यविज्ञानस्य यथार्थसतो ब्रह्मणो निर्णयात् तस्याऽन्यस्वरूपेण भासमानत्वादिधर्मवत्त्वं व्याहतमेव। यच्च—'अविकृतपरिणामवाद' इत्यभ्युपगम्यते तेन। तदपि न, परस्पर—विरुद्धस्यैक्यकरणेन कथमपि तन्निर्वाहाऽसंभवात्, नहि विषममृतमित्युभयमप्येकतत्त्वं भवति, परस्परविरु-

द्धत्वात्, एवम् परिणामः स्याद्यदि तदाऽविकृतिर्न स्यात्, यद्यविकृतिः स्यात्तदा परिणामो न स्यात्, परस्परविरुद्धत्वात्, यदि च परिणतं स्यात् तदा विकृतमेव स्यात्—यथा दुग्धपरिणतं विकृतं दधीति, अतः परिणतं सद् अविकृतम्—अविकृतं सत्परिणतमित्युभयथापि विरुद्धं तैरेकोक्तस्याऽविकृतपरिणामवाद—इतीव तूच्यते—तदेव वक्तारं भ्रान्तमनवधेयवचनं चेति निर्धारयति। तस्मान्न तत्समञ्जसमिति ॥ किन्तु सुखदुःखादिगुणाऽन्वितं जगदिदं स्वकारणं स्वाऽनुरूपां त्रिगुणामनुमापयति, सा च ब्रह्मतच्छक्तिभिन्ना नित्या त्रिगुणात्मिकेति। तत्रैव स्वानुरूपगुणवत्तां सतां सावतां कार्याणां तादात्म्यतारतम्येन समावेश इति सुसिद्धान्तः, अतः 'सतः प्रकृतितः सज्जगज्जायते' इति वादः सुस्थ इति ॥ सुखदुःखमोहरूपेण परिणतशब्दस्पर्शाद्यात्मकं जगत् स्वकारणस्य सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वमवगमयति, यद्गुणकं कार्यं तद्गुणकं कारणमितिनियमात्, यथा शुक्लपटकारणानि शुक्लास्तन्तव इति, एवमेव जगदिदं सुखदुःखमोहात्मकं, यथा—एकैव स्त्री स्वस्वामिनं सुखयति—सपत्नीं दुःखयति—पुरुषान्तरं च मोहयति, तथैव सर्वे पदार्थाः सुखदुःखमोहात्मका विद्यन्त इति तत्कारणमपि तथा, तत्र या सुखात्मकता सः सत्त्वगुणः, या दुःखात्मकता स रजोगुणः, या मोहात्मकता स तमोगुणः, तादृशगुणत्रयात्मकं प्रधानमत्राऽभिप्रेतम्, तच्च कार्यकारणयोरभेदे सति सिद्ध्येत्, अभेदश्च सत्कार्यवादेनैव सिद्ध्येदिति। सत्कार्यवादे चाऽनुमानानि यथा 'कार्यम्—सत् क्रियमाणत्वात्, अत्र यद्यपि सत्त्वं नाम यदि—उपादानसमवेतत्वम्, तच्च कार्यस्योत्पत्त्यनन्तरं न्यायमते सिद्धमेवेति पुनस्तत्साधनेन सिद्धसाधनम्, यदि तु—कार्यपूर्वक्षणावच्छेदेन वृत्तिमत्त्वं सत्त्वम्, तदा पूर्वक्षणस्य कार्याऽनधिकरणत्वनियमात् साध्याभाववत्त्वेन बाधः, तथापि—कारणव्यापाराऽभिव्यक्त्यधिकरणक्षणपूर्वक्षणावच्छेदेन कारणे तादात्म्येन वृत्तिमत्त्वात्मकस्य सत्त्वस्य साध्यत्वेन न क्षतिः। अथवा कार्यम्, स्वोपादाननिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावाऽप्रतियोगि,—तादात्म्येन कारणेऽभिव्यज्यमानत्वात्,—इति। एतदुक्तं भवति यदि कार्यं स्वरूपेणाऽसत् स्यात्, तदा कारणव्यापारपूर्वकमप्यस्य सत्त्वं कर्तुं केनाऽपि न शक्यं स्यात्, नहि कृष्णं रूपं शिल्पिसहस्रेणाऽपि शुक्लं कर्तुं शक्यते, यदि च सद्रूपं विकारजातं स्यात् तन्नहि कदाचित् कश्चिदप्यसत् स्यात् नहि विकृतमपि सत् सलिलं कदाचिदपि वह्निरूपं भवति। यदि तु सत्पदार्थस्य स्वकारणाधीनप्रादुर्भावतया सत्त्वमसत्त्वञ्चेति धर्मौ कल्पनीयौ, एतदपि न युक्तम्, यतः सत्पदार्थस्य सत्त्वमेव धर्मो न त्वसत्त्वमपि, असत्त्वस्यापि तद्धर्मत्वे तदधिकरणमपि पुनरसत् स्यात्, न चोभयधर्मौ विरुद्धौ एकत्र सम्भवतः, असत्पदार्थत्वे तु असतः स्वरूपरहितस्य तस्यैव गगनकुसुम इवाऽलीकत्वेनाऽसति धर्मिणि कथं तत्राऽसत्त्वरूपो धर्मः सम्भवेत्। तस्मात् सत्पदार्थस्यैव धर्मत्वानुभवात् सत्त्वमेवोपपन्नमिति ॥ यदि च असत्त्वं

घटादिपदार्थस्य न धर्मो न वा स्वरूपं किन्तु तटस्थं पदार्थान्तरमित्युच्यते, तत्र किमिदं तत्र सम्बद्धं ? न वा ?, सम्बद्धं चेत् सतोरेव सम्बन्धसम्भवात् सत्त्वं सिद्धम्, असम्बद्धं चेत्, असम्बद्धेनाऽतदात्मनाऽसत्त्वेन धर्मेण कथं तदनधिकरणं घटादिकमसदिति सिद्ध्येत् ? तस्माद् कारणव्यापारात्परमिव पूर्वमपि कार्यं सदिति अतएव अनभिव्यक्तस्य सतः कार्यस्य कारणव्यापारेणाऽभिव्यक्तिरेव भवति, यथा दधिमन्थनेन नवनीतस्य घृतस्य च, पीडनेन तिलेषु तैलस्य चेति । स्वरूपतस्तावदसत्पदार्थस्य शशविषाणतुल्यस्याऽभिव्यक्तिः कदापि न दृष्टा, न हि कदाचिदप्यसदुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते वा । तस्मात्सत्कारणात् सत्कार्यमेवाऽऽविर्भवतीति सिद्धम् किञ्च कार्यार्थिना उपादानग्रहणं क्रियते, यथा दध्यर्थी क्षीरं तैलार्थी च तिलानेवोपादत्ते नान्यद्, यदि चाऽसत् स्यात् कार्यं तदा दध्यर्थी जलमेव गृह्णीयात्—नतु तथा करोति तस्मात्कारणे कार्यं नियत एवेति । तथाऽत्रानुमानम्—'उपादानानि,—कारणव्यापारात्प्रागपि कार्यवन्ति,—कार्यसम्बन्धानुयोगित्वात्,—यो यत्सम्बन्धाऽनुयोगी स तद्वान् यथा घटसम्बन्धानुयोगि भूतलं घटवदिति । भवति च कार्येण सम्बद्धमेव कारणं कार्यजनकम्, सत्पदार्थयोरेव सम्बन्धो न त्वसतोस्तस्मात् कारणमिव कार्यमपि प्राक् सदिति ॥ एवं 'कार्यम्,—कारणेन सम्बद्धम्,—कारणे नियमेनाऽभिव्यज्यमानत्वादिति, अथवा—'कारणानि, कार्यसम्बद्धानि,—स्वसम्बद्धकार्यवत्त्वादिति, तादृशाऽनुमानाभ्यां कार्यकारणसम्बन्धस्तावदुपपादनीयः सर्वेषां कार्याणां कारणैः सहाऽसम्बद्धत्वे तु सर्वं सर्वतोत्पद्यमानं स्यात् तेन वृक्षाम्भांसम् मांसात् फलं कुसुमात्पाषाणो ब्राह्मणान्महिषः इत्येवमव्यवस्थितमुत्पद्येत, न त्वेवमसम्बद्धमुत्पद्यते किन्तु कारणैः सह सम्बद्धमेव कार्यमुत्पद्यत इति । सम्बन्धश्च सतोरेवेति सत्कार्यं सिद्धम् ॥ अथ—असदेव कार्यं भवतु, तथा सत्यपि न सर्वत्र सर्वकार्योत्पत्त्यापत्तिः, यत्र यस्य प्रागभावस्तत्रैव तस्योत्पत्तिस्वीकारादिति चेत् । नैवम् । तन्त्वनुत्पादशायां कुत्र स्यात् पटस्य प्रागभावः । न च काले स्यादिति—वाच्यम् । कालवृत्तिप्रागभावस्य क्रियाविरहात् कालस्यापि क्रियारहितत्वात् तन्तावागमनाऽसंभवात् तन्तुवृत्तित्वं न स्यादिति । न च कालस्तन्त्वात्मक एवेति वाच्यम् । तथा—सति तन्त्वनुत्पाददशायां कालस्याऽसत्त्वेन पटप्रागभावस्य क्व स्थितिः स्यात् ? । पृथिव्यादाविति चेत् । पृथिवी तु सर्वसाधारणी, तथा च पटप्रागभावाऽधिकरणपृथिवीतो घटाद्युत्पत्तिरप्यापद्येत । न च पटनिरूपितकारणताविशिष्टपृथिवीत्वं कारणतावच्छेदकं तदवच्छिन्ने च पृथिव्यादौ पटप्रागभाव इति वाच्यम् । असतः पटादेः स्वकारणनियामकत्वाऽसंभवात्, एवं च का पृथिवी कारणीभूतेति निर्णयविरहेण सर्वत्र सर्वसम्भवः समुपतिष्ठति, तस्मात् सत्कार्यं सता कारणेन सह सम्बद्धं सत् प्रादुर्भवतीति सिद्धान्तः । अत्रार्थे प्रमाणम्—

'असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः। असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति'रिति। अथ—असम्बद्धमपि सत्कारणं तदेव कार्यमुत्पादयिष्यति यत्र कार्ये यत्कारणं शक्तं स्यात्, यथा तन्तवः पटे शक्ताः पटोत्पादका भवन्ति, तथा च—असत्कार्यस्वीकारेऽपि न क्षतिरिति चेत्। नैवम्॥ सा शक्तिः कार्यमात्रे स्यात्! कारणमात्रे वा स्यात्! कारणसामान्ये वा स्यात्!। यदि कारणसामान्ये स्यात्—तदा सर्वत्र सर्वकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः इत्यव्यवस्थाऽऽपातः। कार्यमात्रे चेत्—तदाऽसत्कार्ये शक्तिकल्पनमयुक्तम्, यत्स्वरूपतोऽसत् तत्र शक्तिकल्पनं शशविषाण इवास्थानमेव। तस्मात् सत्कार्यमभ्युपेयम्। 'कारणमात्रे चेत्! शक्तिस्तत्र सम्बद्धा! न वा सम्बद्धा! असम्बद्धा चेत्,—सैवाऽव्यवस्था, सम्बद्धत्वे तु नाऽसत्पदार्थस्य सम्बन्धः संभवति, अतः सत्कार्यमेव शक्तिसम्बद्धमनभिव्यक्तावस्थं कारणस्थितं निर्णेयम्, तथा च सत्कार्यमिति सिद्धम्। तथाचाऽनुमानम्—'कारणगता शक्तिः—अनागतावस्थकार्यसम्बद्धा,—विद्यमानसत्पदार्थविषयकत्वात्, ज्ञानवदिति॥ एवं—यत्कारणस्य यत्कार्यशक्तिमत्त्वं तत्कार्यस्य तत्कारणाऽभिन्नत्वमिति। नहि कारणाद्भिन्नं भवेत् कार्यम्, अतएव सत्कार्यमिति। अनुमानन्तु 'कार्यम्—सत्,—कारणाऽभिन्नत्वात्—कारणवदिति। एवं कार्यकारणयोरभेदसाधकाऽनुमानम्—'पटो—न तन्तुभिन्नः, तन्तुधर्मत्वात्। यत्—यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा घटत्वं पटस्य, धर्मश्च पटस्तन्तूनां तस्य न तन्तुभिन्नत्वमिति। एवं 'तन्तुपटयोः—न भिन्नत्वम्,—उपादानोपादेयभावात्, यत्—यस्माद्भिन्नं—नास्ति तयोरुपादानोपादेयभावः, यथा तन्तुघटयोः। ययोश्चोपादानोपादेयभावस्तयोर्न भेदो—यथा तन्तुपटयोः, तस्मान्न भिन्नमिति। एवं—'तन्तुपटयोः—न भिन्नत्वं,—संयोगाऽप्राप्त्यभावात्। यत्र हि भेदस्तयोः संयोगो दृष्टो यथा कुण्डघटयोः, यत्र च भेदस्तयोरप्राप्तिर्दृष्टा यथा रैवताचलद्वारिकयोः, न तु तथा तन्तुपटयोः संयोगोऽप्राप्तिर्वा दृश्यते तस्मान्न भेद इति। एवम्—'पटो—न तन्तुभिन्नः,—गुरुत्वान्तरकार्याऽग्रहणात्, यद्—यस्माद्भिन्नं तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तरं ग्राह्यं भवति, यथा—एकपलिकस्य सुवर्णस्य गुरुत्वापेक्षया द्विपलिकस्य सुवर्णस्य गुरुत्वमधिकमिति। न चैवं तन्तुपटयोर्गुरुत्वभेदः, किन्त्वभिन्नमेव तत्, तस्मात् तन्तुभ्यो न भिन्नः पट इति॥ विस्तरस्तावदस्मत्कृतसांख्यस्वामिनारायणभाष्यतोऽवलोकनीय इति। तदेवं सत्कार्ये सिद्धे कारणेन सह कार्याऽभेदे च सिद्धे—पृथिव्यादीनां कारणानि तन्मात्रात्मकानि, तेषां कारणमहंकारः, तत्कारणं महत्तत्त्वम्, तत्कारणं च प्रकृतिरिति माया बोध्या। सा चेयं माया परमेश्वरेच्छाभिन्ना नित्या—इति योगसिद्धान्तः पूर्वमुक्तः॥

अत्र विषयेऽद्वैतास्तु मायाम्—अविद्यामेवेति मन्यन्ते, सा च सदसद्विलक्षणाऽनिर्वचनीया मिथ्येति, तत्र प्रमाणम् 'नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं तम—आसी'-

दिति श्रुतिः, तथा च सृष्टेः पूर्वं सदसती निरस्य तमोमात्रसद्भाव एव निरूप्यते । अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं तमःपदवाच्यमविद्या मायेति सिद्धम्, तामिमां मायां लक्ष्यीकृत्य 'मायान्तु प्रकृतिं विद्या' दित्यत्र प्रकृतिरभिहिता । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यनयाऽपि सैवाऽनिर्वचनीया मायोच्यते। एवम्-अहमज्ञो मामन्यं च न जानामी'त्यादिरूपं प्रत्यक्षमप्यविद्यायां प्रमाणमिति । ननु सद्रूपा नित्या काचित् माया श्रुत्यादिप्रसिद्धा-इति च सिद्धान्तं दृढीकुर्वन्ति । तदत्र विचारयामः सदसद्विलक्षणाऽनिर्वचनीयत्वमेव मायात्वमिति तु न संभवति, तस्य मायामृगादाव-व्याप्तेः, मायामृगस्य मारिचसृष्टिरूपस्य मायात्मकत्वात्, तदुक्तम्-'मायामृगो हि मारिचसृष्टिरेव हि तात्त्विकी । न चेद् रामशरेणाऽस्य निधनं नोपपद्यते'इति । किञ्च—सृष्टेः पूर्वं सदसतोः प्रतिषेधं कृत्वा भवता तमस्यनिर्वचनीयत्वं साध्यते,-स चाऽयं सदसत्प्रतिषेधः कुत्र क्रियते ! यदि च 'तदानीं'-मिति शब्दस्वारस्येन कालविशेषे,-तदा काले-एवाऽनिर्वचनीयत्वं साध्यताम्, ननु तमसीति-अर्थान्तर-दोषः । यदि च तमसि सदसन्निषेधः क्रियते । तदा किं सृष्टेः पूर्वं तम आसीन्न वा !, यद्यासीत्, तदा तस्य सत्त्वमुपपन्नमेव तथा च नहि तत्र सत्त्वस्य निषेधः संभवति । यदि च नाऽऽसीत्-तदा तस्य 'तदानीं तम आसी'दिति श्रुत्या विरोधः। किञ्च-प्रतिषिध्यमाने सत्त्वाऽसत्त्वे के ? इति तु पर्यालोचनीयम् । यदि पारमार्थिकं सत्, निरुपाख्यं च असदिति । अहो ! तयोस्तु निषेधो न संभवति । परब्रह्मणः पारमार्थिकसत्तत्त्ववादिनां सत्त्वेन तस्य सतो निषेधाऽसंभवात् । असतश्च निरुपाख्य-स्य शशशृंगस्य कदाप्यसत्त्वेन तन्निषेधस्याऽप्यनुपपत्तेः। अथ-सदसच्छब्दाभ्यां व्या-वहारिकप्रातिभासिकौ गृह्येते; भवति च व्यावहारिकसत्ता घटादौ,-प्रातिभासिकी च असत्ता शुक्तिरजतादौ, तयोश्च सृष्टिपूर्वसमये निषेध उपपन्न-इति चेन्नैवम् । तमसो व्यावहारिकत्व,-प्रातिभासिकत्वनिषेधे तदुभयविलक्षणत्वसिद्ध्या पारमार्थि-कत्वमापतेत् । पारमार्थिकत्वस्याऽपि श्रुत्या तत्र निषेधे वा तुच्छत्वमेवाऽऽपतेत्, नैतावता भवदभिमताऽनिर्वचनीयतायाः सिद्धिरिति । तस्मात् तत्र सदसतोर्निषेध-स्तु महत्तत्त्वान्तव्यावत्कार्यविलयाऽभिप्रायेणोक्तः, तत्तात्पर्यन्तु-'सत्-अनुभूय-मानकार्यात्मकप्रपञ्चः, स नासीत् । एवम्-'असत्-अभावात्मकमपि नासीत्, किन्तु 'तमः-साम्यावस्थात्मिका प्रकृतिरासीदिति । अतो न विरोधः, न चाऽनिर्व-चनीयतासिद्धिरिति । 'यच्चुच्येत-तस्याः श्रुतेर्न सत्त्वाऽसत्त्वनिषेधे तात्पर्यम्, किन्तु सदसद्वैलक्षण्यज्ञापनमात्रे एव तात्पर्यम्, तेन तम आसीत्, तच्च सद्विलक्षणमस-द्विलक्षणञ्चेति निष्पन्नो बोध इति । तदपि न समीचीनम् । यतोहि तथा सति 'नाऽसदासीन्नो सदासी'दिति श्रुतिर्विगलिततात्पर्या स्यात्। किञ्च यथाऽनया श्रुत्या तमसोऽनिर्वचनीयत्वं साध्यते तथा 'अनादिमत्परब्रह्म न सत् तन्नाऽसदुच्यते' इति

युक्त्या ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयत्वं कथं न साध्यते, तस्मान्न केनाऽपि प्रकारेणाऽनिर्वच-
नीयत्वसिद्धिरिति । यच्च सदसद्विलक्षणत्वरूपमनिर्वचनीयत्वं स्वीक्रियते भवता ।
तत्त्वनिर्वचनीयमेव, नहि संसारे किमपि सदसद्भिन्नं तृतीयं दृश्यते । प्रतीयमानं
सर्वं हि—अस्ति वा नास्ति वेति प्रतीयते, न तु ततोऽन्यथा, अतो न कोऽपि सद्-
सद्विलक्षणत्वात्मक आकारः कस्यामपि प्रतीतौ भासते, येन तत्सिद्धिः स्यादिति ।
प्रतीत्यनुरोधेनैव हि भवति विषयव्यवस्था, यथा—नीलपीताद्याकारप्रतीतौ नीलपी-
तादेर्विषयता, नतु ततो विलक्षणस्याऽन्यस्य । तस्मात् सदसद्विलक्षणं नैव सिद्ध्येत्
प्रत्युत—अस्तीति प्रत्ययात् सदाकारत्वं, नास्तीति—प्रत्ययादसदाकारत्वञ्चेति सिद्ध्यति ।
तथा चोक्तमभियुक्तैः 'नाऽसत्प्रतीतेर्बाधाच्च न सदित्यपि यच्च तत् । प्रती-
तेरेव सत् किं न बाधाच्चाऽसत्कुतो जगत्' इति ॥ ननु सत्त्वाऽसत्त्वयोः परस्परविरु-
द्धयोरेकत्र समावेशाऽभावेऽपि घटादिमायामयपदार्थेषु 'घटोऽस्ती'तिप्रतीतेः सत्त्वम्
'घटो नास्तीति प्रतीते'रसत्त्वम्'—इत्युभयसमावेशप्रसंगभिया सदसद्विलक्षणत्वमव-
श्यमङ्गीकार्यमिति चेन्न । तुल्ययुक्त्या उभयविधप्रतीतेः—सदसदाकारत्वमेव घटादि-
ष्वास्थीयताम्, अविरोधश्चोभयोः समर्थ्यताम्, एकतरप्रतीतेरन्यथात्वं वा कल्पयित्वा
अन्यतराकारत्वं वा तत्राऽऽस्थीयताम् । तत्सर्वं विहाय प्रतीतिद्वयविपरीताकार-
कल्पनं तु कथञ्चिदपि न युज्यते, वस्तुतो घटादिष्वस्तित्वनास्तित्वे व्यवस्थाविशेषे
कालभेदेनैकत्र संभवत इति न कोऽपि विरोधः । अथ—अनिर्वचनीयत्वाऽभावे शुक्तौ
रजतप्रतीतिर्नोपपद्येत, न ह्यसतश्चाक्षुषख्यातिः, तथा चेन्माध्यमिकाः सर्वशून्यत्व-
वादिनो विजयेयुः, सतश्च नोत्तरकालीनबाधो युज्यते, शुक्तौ रजतप्रतीतौ तु ख्याति-
र्बाधश्चेत्युभयं भवति । तस्मात् सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धमिति चेत्
नैवम् । शुक्तौ रजतप्रतीतेर्विपर्ययाऽभिधानया बुद्धिवृत्त्यैव निर्वाहे सति—अप्रामाणि-
काऽनिर्वचनीयत्वकल्पनमनुचितमिति ॥ यत्तु—अविद्याया मिथ्यात्वमुच्यते, तत्तु
न युक्तम् । मिथ्यात्वस्य दोषप्रयुक्तत्वात् दोषेऽपि मिथ्यात्वं कल्पनीयं तस्य पुन-
र्दोषाऽपेक्षा, तत्र दोषे पुनर्मिथ्यात्वम्, तत्र च पुनर्दोषाऽपेक्षेत्येवमनवस्थाऽऽपातात् ।
यदि च स्वभावत एव मिथ्यात्वम्, न तु दोषाधीनम्, तथा च तुल्ययुक्त्या
जगद्भ्रमेऽपि दोषं नाऽपेक्षेत । यद्युच्येत—जगतः काल्पनिकत्वेन तत्र दोषाऽ-
पेक्षा, तर्ह्यविद्याया अपि काल्पनिकत्वेन संसिद्ध्यति दोषान्तराऽपेक्षा, तथा चाऽन-
वस्था तादवस्थ्यम् ॥ किञ्च—जीवभावस्याऽनादित्वेऽपि मिथ्यात्वादविद्यापरिकल्पि-
तत्वमिव, अविद्यास्वरूपस्याऽनादित्वेऽपि मिथ्यात्वादविद्यान्तरपरिकल्पितत्वस्याऽऽ-
वश्यमाश्रयणीयतयाऽनवस्थाऽपरिहार्यैव । किञ्च—काल्पनिक्यविद्या न हि ब्रह्मणः
परिणामं विधातुं समर्था, काल्पनिकस्य कल्पनामात्रविषयत्वेऽपि स्वरूपतोऽप्रति-
ष्ठानात् । यच्च गगनकुसुमवत् स्वरूपतोऽप्रतिष्ठितं तत् केन किं सृजेत्, तस्माद्

स्वरूपसती काचिन्नित्या मायाऽभ्युपेया सैव जगत्कारणीभूतेति कृतं विलक्षणाऽविद्याकल्पनेन ॥ 'यच्च–'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामी'ति प्रत्यक्षं प्रमाणमविद्यायामुक्तम् । तदपि विचारणीयम् । किमिदं ज्ञानसामान्याभावविषयं भवति ? । तत्तु न युक्तम् । यतः–अज्ञस्वरूपस्य ज्ञानाऽभावस्यापि तत्र विषयत्वेनाऽनुभूयमानत्वात्, ज्ञानेऽसति कथं तस्याऽनुभवः । सति चाऽनुभवे ज्ञानसामान्याऽभावप्रत्यक्षं कथं घटेत ? । विद्यते च तदानीं प्रतियोग्यनुयोगिनोर्ग्रहणम्, नहि प्रतियोग्यनुयोगिग्रहं विनाऽभावग्रहः–उपपद्येत । अत्र प्रतीतौ तु पदार्थात्मकविषयाऽवलम्बिज्ञानं प्रतियोगिरूपम्, तथाचार्थज्ञाने तद्विषयप्रतियोगिज्ञानेऽनुयोगिज्ञाने च सति कथं पुनर्ज्ञानसामान्याभावः प्रतीयेत, न चाऽत्र ज्ञानविशेषाऽभावोऽपि विषयः, अहमज्ञ—इति ज्ञानसामान्याऽभावस्योल्लेखात् । तस्माद्भावरूपाऽज्ञानस्यैव विषयता वाच्या, भावरूपस्य तस्य स्वरूपेणैव विना प्रतियोग्यपेक्षणं निरूपणं कर्तुं शक्यत्वात् । दृष्टश्च स्वरूपेणैवोल्लेखः—मूढोऽस्मि मुग्धोऽस्मीति । एवमेवाऽज्ञानमपि भावरूपं सविषयमेव । 'अहमज्ञो मामन्यं च जानामी'त्यत्र भावरूपाऽज्ञानस्य ग्रहः स्वरूपतो भवति, तस्यैतस्य भावरूपस्य बुद्धिधर्मत्वेन बुद्ध्यात्मकत्वमिति स्वानुषङ्गात् सिद्धम् । तथा च प्रकृतिजन्यत्वाद् बुद्धेः, प्रकृतिर्माया नित्या त्रिगुणात्मिकैव स्वतन्त्रतत्त्वान्तरं सत्पदार्थो भावपदार्थो द्रव्यपदार्थ इति च सिद्धम्, कृतं पुनर्मिथ्याभूतेन काल्पनिकेनाऽज्ञानरूपेणाऽविद्यातत्त्वेनेति ॥

त्रिगुणात्मिकाया मायाया लक्षणं गुणसाम्यमिति, साम्यं च-अवैषम्यमिति । गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि, उक्तं च गीतायां 'सत्त्वरजस्तम-इति-गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम्' ॥ 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् । सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥ सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ! ॥ सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ !॥ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ इति । तथाविधमायायाः प्रपञ्चोऽयं जगद्रूप इति ॥ ४ ॥

तत्राऽविद्यास्वरूपमुच्यते—

## अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या

अविद्यादिचतुष्टये क्रमेण नित्यादिबुद्धिरविद्या । तत्र· अनित्ये पदार्थे नित्यबुद्धिः,

यथा—तत्र केचित् पृथिव्यादिभूतानि नित्यत्वेनाऽभिमन्यमानास्तत्स्वरूपाऽभिज्ञामुकास्तान्येवोपासते, एवं केचिच्च सूर्यचन्द्रतारकाद्युलोकादीन् नित्यानभिमन्यमानास्तत्प्राप्त्यर्थं धूमादिमार्गानुपासते, केचित्तु स्वर्गवासिदेवानमृतानभिमन्यमानास्तादृशदेवत्वप्राप्त्यर्थं तत्साधनीभूतं सोमं पिबन्ति—आम्नायते हि—'अपाम सोमममृता अभूम' इति, एवं केचित्तन्मात्रेन्द्रियाऽहंकारबुद्धिषु नित्यत्वाऽभिमानवन्तस्तत्स्वरूपमभिप्सवस्तत्तदुपासनां विदधति, । एवम्—असत्पदार्थे-खपुष्पशशविषाण-कूर्मरोम-वन्ध्यापुत्र-मरुमरीचिकाजलादौ सत्त्वख्यातिरप्यविद्या, एवं शुक्तौ रजतबुद्धिः,—रज्जौ सर्पबुद्धिश्चाऽप्यविद्या, एवं नटकृतमायाजालेन पुरुषे प्रमदादिबुद्धिरविद्या, 'यथा गारुडे—'अनात्मन्यात्मविज्ञानमसतः सत्स्वरूपता । सुखाऽभावे तथा सौख्यं माया विद्याविनाशिनी' इति । एवं वैपरीत्येनाऽपि नित्येष्वात्मादिपदार्थेष्वनित्यादिबुद्धिः—सत्सु पदार्थेष्वसद्बुद्धिरपि—अविद्या बोध्या ॥ तथा—अशुचौ पदार्थे शुचिबुद्धिरविद्या । यथा कलेवरे ''स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥' तत्र—स्थानम्—मूत्रादिसमन्वितं जनन्या उदरम्, बीजम्—पित्रोः शोणितशुक्रे, उपष्टम्भः—अशितपीताहाररसप्रचुरता, निःस्यन्दः—नवद्वारैर्लोमच्छिद्रादिभिश्च घर्मस्वेदचिन्द्वादिक्षरणम्, नवद्वाराणि तु-कर्णद्वयनेत्रद्वयनासिकाद्वयमुखलिङ्गगुदात्मकानीति, निधनम्—मरणम्, इत्येतेभ्यःस्थित्वाद् मात्रजशरोमलोहितमांसात्मकैः पितृजस्नाय्वस्थिमज्जात्मकैः षट्कोशैः संहतत्वाच्च कलेवरमशुचीत्युच्यते, तत्राऽनुष्ठितशौचक्रियपैव शुद्धता न तु वास्तविकी,- अतोऽशुद्धमेवेति । तादृशशरीरे या शुचिख्यातिः—यथा सच्चिदानन्दांशाज्जसंभूतविग्रहा दिव्यशीतलतेजः—किरणरेखेव कमनीयस्वरूपेयं—कन्या नीलोत्पलपत्राऽऽयताक्षी निःशेषसौन्दर्यनिधिरूपा सुस्तविकसितयथार्हसर्वाङ्गसम्पन्ना मोहिनीव मनोहरा विमला भवत्यलौकिकेति, एवं पुरुषशरीरेऽपि शुचिख्यातिः, एवमपवित्रेषु मांसादिपदार्थेषु पवित्रबुद्धिरविद्येति, एवम्—अपुण्ये तप्तशिलाऽऽरोहण—पर्वतपतनादौ हिंसादौ वा पुण्यबुद्धिरपि भवत्यविद्या, एवं दुःखबहुलेऽत एवाऽनर्थभूते द्रव्यधान्यादिपदार्थेऽर्थबुद्धिरप्यविद्या बोध्या, एवं—वैपरीत्येनाऽपि शुचौ परमेश्वरे स्वात्मस्वरूपे च अशुचिबुद्धिरस्याश्चाऽप्यविद्या बोध्यैवेति ॥ तथा—दुःखे सुखख्यातिर्यथा—'संसारस्य परिणामितया दुःखसाधनत्वं दुःखबहुलत्वञ्चेति, तत्र दुःखसाधने दुःखनिवृत्त्यात्यन्तिकसुखसाधनत्वबुद्धिः, तथा दुःखमधुरे सुखमधुरत्वबुद्धिरविद्येति । तथा—अनात्मन्यात्मख्यातिर्यथा—यावन्तो वियोगधर्मकाः पदार्था न भवन्ति कदाचिदपि स्वात्मीयाः, अतश्चेतनाऽतिरिक्तेषु देहेन्द्रियाऽन्तःकरणादिषु घटपटादिविविधस्फाटिकविभूत्यादिषु या स्वात्मीयत्वबुद्धिः साऽविद्येति, तथाऽनात्मरूपेषु जडपदार्थेषु या चेतनात्मकताबुद्धिः साऽविद्येति, यथोक्तं पञ्चशिखाचार्येण—'व्यक्तमव्यक्तं

वा सत्त्वमात्मत्वेनाऽभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध' इति, सैषा चतुष्पदाऽविद्या भवति मूलं क्लेशानां कर्मणां वासनानाञ्चेति, अतः सा न विद्याऽभावरूपा किन्तु भावस्वरूपा, अविद्याशब्दस्य भावविशेषे रूढत्वात्, विद्याविरुद्धं तच्चाऽज्ञानं विपर्ययात्मकमिति बोध्यम्। वस्तुतो अयथार्थे यथार्थबुद्धिः, यथार्थेऽयथार्थबुद्धिः तदभाववत्सु तद्वत्ताबुद्धिः, तद्वत्सु तदभाववत्ताबुद्धिः, भिन्नयोरभेदबुद्धिः, अभिन्नस्य भेदबुद्धिरित्यादिकमविद्यास्वरूपं बोध्यमिति ॥ ५ ॥

अविद्यानन्तरं तत्कार्यस्याऽस्मितायाः स्वरूपमुच्यते—

## दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

'दृग्–द्रष्टा पुरुषः, दर्शनम्—दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं करणं बुद्धिः, तयोर्भोक्तृभोग्ययोर्योग्यतालक्षणं संसर्गं प्रदर्शयितुमभिहितं–शक्तिरिति, शक्तिर्नाम योग्यता, तथाच दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्तिर्बुद्धिः, तयोरेकात्मकता–स्वरूपतो धर्मतश्चात्यन्तमेकस्वरूपाऽऽपत्तिरिव–विपर्ययोऽस्मिताऽहंकार इति यावत्। भवति हि भोक्तृशक्तिर्भोग्यशक्तितोऽत्यन्तं भिन्ना जडत्वादिविरुद्धचेतनत्वादिधर्मवत्त्वात्, एवम् भोक्तृशक्तिर्भोग्यशक्त्याऽत्यन्तमसङ्कीर्णा–परिणामित्वादिविरुद्धाऽपरिणामित्वादिधर्मवत्त्वात्, तदेवमत्यन्तविभिन्नयोरत्यन्ताऽसङ्कीर्णयोरभेदप्रत्ययसद्भावे एव भोगः कल्प्यते। सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञानेन च यदा विवेकख्यातिराविर्भवति, तदा तु तयोरन्योऽन्यवियोग एव जायते कैवल्यमेव च भवति न तु भोगः, तथा च भोगाऽन्यथाऽनुपपत्तिरेकात्मताऽऽरोपे प्रमाणमिति, एवं 'सुखदुःखज्ञानाद्याश्रयोऽहमेक एवेति—प्रत्ययोऽपि बुद्धिपुरुषयोरेकात्मताऽऽरोपे प्रमाणमवसेयम्, अत एव च–'योऽहं सुखी सोऽहं तदनुभविता–' इत्येकाकारतासत्त्वे एव सर्वत्र भोगव्यवहारो दृश्यत इति, सेयमस्मिता भ्रमरूपा, अविद्याऽपि भ्रमरूपा, अतस्तयोर्भ्रमत्वेनाऽविशेषेऽपि कार्यकारणरूपाऽवान्तरविशेषाद् भेदेन उपन्यासः, यथाहि–यत्र बुद्धावात्मनि वा सामान्योऽहंप्रत्ययो भेदालम्बनोऽभेदालम्बनो वा जायते, न तु तदुत्तरसमये पुरुषे बुद्धिगतदोषारोपः–'अहं सुखी दुःखी चे'त्यादिरूपः, न वा दूरस्थवनस्पत्योरिव तयोरत्यन्तमेकताभ्रमः, सा त्वविद्या–इत्युच्यते, यत्र च बुद्धिपुरुषयोः परस्परधर्माऽऽरोपः–अत्यन्तमेकाकारताभ्रमश्च भवति साऽस्मिता—इत्युच्यते। अविद्याऽस्मितयोः जनकजन्यभावस्तु लोकव्यवहारसिद्धः–यथा प्रथमतः कलत्र-पुत्र-भृत्या दिष्वात्मीयभावो भवति–साऽविद्या, ततस्तेषां सुखदुःखादिकमात्मन्यभिमन्यते,–साऽस्मिता, तथैवाऽऽत्मा जलादिपूपाधिषु प्रतिबिम्बादिरूपेण

चन्द्राद्यारोपो भवति पश्चादेव चन्द्रादिषु तद्द्वारा कम्पनमालिन्याद्यारोपो भवतीति बोध्यम् ॥ ६ ॥

अस्मितां लक्षयित्वा तत्कार्यं रागं लक्षयति—

## सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखम्–अनुशेते–इति सुखानुशयी, सुखतत्साधनाभिज्ञस्य पुरुषस्य सुखतत्साधनानुस्मरणपूर्वकः सुखतत्साधनमात्रविषयकाऽभिलाषात्मकः–क्लेशः, स एव रागो लोभस्तृष्णा विषयप्राप्त्यभिलाषा गर्द्धं आतुरता इति चोच्यते, दृश्यते हि लोके–प्रथमं विविधाऽऽनन्दप्रदस्त्रीशब्दादिपञ्चविषयपदार्थेषु तृष्णासन्तानः सर्वेषाम्, स चाऽयं स्त्रीशब्दादिसुखानुभवाऽनन्तरं कालान्तरे पुनः पुनर्भवति, अतः सुखानुभवस्य रागं प्रति कारणत्वं बोध्यम्, एवं–सुखस्मरणेनाऽपि पुनः पुनस्तत्र तृष्णासन्तानो भवति, तेन सुखस्मरणस्यापि रागं प्रति कारणत्वं बोध्यम्, एवं–सुखसाधनानां स्त्रीशब्दादिविषयाणामपि प्रत्यक्षाद्यनुभवतः स्मरणतोऽपि च राग उत्पद्यते तत्र, तस्मात्–विषयाऽनुभवस्य विषयस्मरणस्य चापि रागं प्रति कारणत्वं बोध्यमिति ॥ ७ ॥

रागप्रतियोगित्वतया रागानन्तरं द्वेषं लक्षयति—

## ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखम्–अनुशेते इति दुःखानुशयी, दुःखतत्साधनाऽभिज्ञस्य पुरुषस्य दुःखतत्साधनानुस्मरणपूर्वको दुःखतत्साधनमात्रविषयकाऽभिलाषात्मको यः क्लेशः, स एव द्वेषः क्रोधो मन्युर्जिघांसा प्रतिघोऽनिष्टता विषयदूरीकरणाऽभिलाषा इति चोच्यते, दृश्यते हि लोके प्रथमं विविधदुःखद-विषादिपदार्थेषु द्वेषसन्तानः सर्वेषाम्, स चायम् 'विषं मृत्युसाधनं दुःखदञ्चे'त्यनुभवानन्तरं पुनः पुनरुद्भवति, अतो दुःखानुभवस्य द्वेषं प्रति कारणत्वम्, एवं–दुःखस्मरणेनाऽपि पुनः पुनर्द्वेषसन्तानो भवति,–अतो दुःखस्मरणस्यापि द्वेषं प्रति कारणत्वं बोध्यम् , एवं–दुःखसाधनानां विषादिविषयाणामनुभवतः स्मरणतश्चाऽपि द्वेष उत्पद्यते तत्र, तस्माद् विषयानुभवस्य विषयस्मरणस्यापि च द्वेषं प्रति कारणत्वमवसेयमिति ॥ ८ ॥

द्वेषमूलकतया द्वेषानन्तरमभिनिवेशं लक्षयति—

## ॥ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

अभिनिवेशो नाम–भयत्रास इति, स च प्रतिकूलतया वेदनीयेभ्यो व्याघ्रपदार्थेभ्यो दुःखप्रदेभ्य एव यावतां प्राणधारिणां समुपजायते, अनुभूयते हि सर्वस्य

विदुषोऽविदुषश्चैवमात्मन्यिच्छा प्रार्थना सदैव–'माऽहमभावी भूवं भूयासं जीव्यासमित्येवंरूपा, एवं 'न मे दुःखं भवेत्,–न मे सुखं विलुप्येत, न मे सुहृदादिकं प्रतिपक्षिभिरुपघातितम्,—धनं मे मा नश्यतु,–सदैव भूयात्' इत्येवंरूपा च, स चायं मरणत्रासः स्वस्मै सुखप्रदपदार्थनाशप्रयोज्यत्रासश्च सर्वदैव यथाऽज्ञानां मनुष्यपश्वादिकृम्यन्तानां विद्यते तथा विदुषो विज्ञस्यापि रूढः प्रसिद्धो विद्यते, यतः सः 'स्वरसवाही,–स्वरसेन संस्कारमात्रेण वहतीतिस्वरसवाही,–संस्कारमात्रलभ्य इति यावत्। एतदुक्तं भवति–यस्खलु यावतां त्रासजनकानां पदार्थानां साक्षात्परम्परया वाऽनुभवे कृते सत्येव तत्तत्पदार्थविशेष्यकत्रासप्रदत्वसंस्कारा भवन्ति, नहि संस्कारं विना अयंपदार्थस्त्रासजनकइति स्मरणं भवति, न च तथाविधस्मरणं विना तेभ्यस्त्रासो जायते, तस्माल्लौकिकपदार्थेषु त्रासप्रदत्वसंस्कारैरेव त्राससन्तानः सम्प्रवर्तत इति। एवं–मरणत्रासोऽपि यावतां प्राणधारिणां विद्यते, मरणं नाम स्थूलशरीरेण सहात्मनो वियोगः, स च प्राणधारिणां भविष्यत्कालीन एव, अतो न जीवनसमये तदनुभवः, तस्मात् प्राग्भवीयमरणाऽनुभवजन्यसंस्कारैरेवेदानीं स्मरणात् त्रासो भवतीति निर्णीयते, जातमात्र एवहि बालको मारकपदार्थदर्शनात् कम्पमानो ज्ञातमरणत्रासः समुपलभ्यते, दुःखाद् दुःखसाधनाच्च त्रासो दृष्टः, न चाऽस्मिन्नेव जन्मनि तेन मरणत्रासोऽनुभूतः, येन स्मरणं स्यात्, तस्मात्तस्य या स्मृतिः परिशिष्यते, न चेयं संस्कारमन्तरेण, न च संस्कारोऽनुभवमन्तरेण, अनुभवश्च प्राग्भवीय एव परिशिष्यत इति। तथा च सामान्यतस्त्रासं प्रति त्रासप्रदपदार्थविषयकसंस्काराणां प्रयोजकत्वं बोध्यमिति॥ केचित्तु पूर्वाऽननुभूतनवीनवीभत्सपदार्थप्रत्यक्षमात्राद् भयो भवतीति, तस्मात् क्वचित्पूर्वानुभवस्यापि त्रासप्रयोजकत्वं वदन्ति॥ वस्तुतो नाऽत्र सूत्रे 'स्वरसवाही'तिपदेन संस्कारस्यैव त्रासकारणत्वमिति प्रदर्शने तात्पर्यम्, किन्तु यावत्प्राणिनां मरणविषयकसंस्कारजन्यस्यैव भयस्यैवाऽनुगततया–सर्वेषां मरणविषयकसंस्कारजन्यभयं प्रदर्श्यसामान्यतोऽभिनिवेशस्वरूपनिरूपणे–इति ध्येयम्॥ ९॥

तदेवं क्लेशानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाररूपतया चतस्रोऽवस्थाः पूर्वं सूत्रकारेण प्रदर्शिताः, या च पञ्चमी दग्धबीजभावावस्था सा तु कारणावस्थागतानां सूक्ष्माणां क्लेशानां निर्णीता भवति। ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावाऽनन्तरं च—

## ॥ ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥ १०॥

ते अविद्यादयः क्लेशाः पञ्च सूक्ष्मा दग्धबीजभावाः प्रतिप्रसवहेयाः, प्रसवाद्विरुद्धः–प्रतिप्रसवः प्रलयः, तथाच प्रतिप्रसवेन–चित्तस्य प्रलयेनैव, 'हेयाः–अस्तंगता भवन्तीति, योगिनश्चेतसि प्रलीने सति तेनैव सह प्रलीना भवन्तीति। ननु क्लेशा-

तत्संस्काराणाञ्च विवेकख्यात्यैव विलयो भवतु का पुनश्चित्तनाशस्य तत्राऽपेक्षा ! इति चेन्न । सत्कार्यवादिनां क्लेशात्मककार्यस्य चित्तसत्त्वे कदापि न विलयः संभवति, किन्त्वात्मना सह वियोगे सति चित्तस्य ते क्लेशा अपि वियुक्ता भवन्तीति, स एव बुद्ध्या सहाऽऽत्यन्तिको विलय इति योगसिद्धान्तः । नहि क्लेशानां विलयश्चित्तसत्त्वे भवितुमर्हति, अतो ज्ञानाग्निना केवलं क्लेशानां दग्धबीजभाव एव सम्पाद्यते न त्वात्यन्तं विलय इति, तस्मात् क्लेशानां विलये भवति चित्तविलयाऽपेक्षेति ॥ १० ॥

क्लेशैरुद्भाव्यमानानां विषयाऽभिमुखवृत्तीनां लोपस्तु क्लेशलोपाऽनपेक्षमाण एव शक्यसंभवः, नहि क्लेशसत्ता तद्वृत्तिसत्तानियामिका भवति क्लेशसत्त्वेऽप्युपायान्तरेण क्लेशोद्भाव्यमानवृत्तीनां लयेऽविरोधात्, तस्माद् यावतीनां बीजभावात्मकक्लेशजन्यानां स्थूलवृत्तीनां क्रियायोगेन तनुभावे कृते सति--

## ॥ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

ध्यानेन समाधिजप्रज्ञात्मकेन विरोधिना, तेषां क्लेशानां यास्तद्वृत्तयस्ताः, हेयाः—हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः कर्त्तव्या यावद्दग्धबीजकल्पाः स्युरिति, यथा पटस्य स्थूलो मलस्तु जले प्रक्षालनेन निर्धूयते, ततः क्षारयोगेन सूक्ष्मो मलोऽपनीयते, तथाऽत्रापि क्रियायोगेन स्थूलवृत्तयो हेयाः, ध्यानेन च सूक्ष्मवृत्तयो हेया इति ॥ ११ ॥

स्यादेतत्—पुरुषं क्लिश्नन्तो जात्यायुर्भोगहेतव एव क्लेशपदवाच्या इति भवन्ति, अस्ति च कर्माशयस्तथा, इति स एव क्लेशः स्यात्, कथं पुनरविद्यादयः क्लेशा उच्यन्ते ! इत्याकाङ्क्षायामाह--

## क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

'कर्माशयः' आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः, कर्मणाम् आशयः—धर्माऽधर्मौ, स च धर्माऽधर्मात्मकः कर्माशयः—'क्लेशमूलः—अविद्यादयः क्लेशा मूलं यस्योत्पत्तौ—सोऽविद्यादिक्लेशमूलक इति क्लेशजन्य इति यावत् । भवति च—अविद्यादिक्लेशमूलकः कर्माशयो जात्यायुर्भोगजनक इति, अतः कर्माशयस्य यथा क्लेशपदवाच्यत्वं तथैव तज्जनकत्वेनाऽविद्यादीनामपि क्लेशपदवाच्यत्वं युक्तमिति । स च पुण्याऽपुण्यकर्माशयः कामक्रोधलोभमोहप्रयोज्योऽपि भवति, यथा कामेन प्रयुक्तः पुरुषः स्वर्गाङ्गनाद्युपभोगमिच्छन् तत्प्राप्त्यर्थं ज्योतिष्टोमादिकाम्यकर्मणि प्रवर्तते, तस्य स्वर्गादिहेतुर्धर्मो भवतीति । कामात्—अधर्मोऽपि—बलात्कारेण परस्त्रीसंभोगजन्यो भवतीति । तथा क्रोधात्—धर्मो भवति, यथा ध्रुवस्य स्वजनकापमानजन्यात्

क्रोधात् तज्जिगीषया चित्तेन तपश्चरणात्मकप्रयत्नद्वारा पुण्यप्रचयलाभेनाऽन्तरिक्ष-लोकवासिनामुपरि स्थानमविचलमिति ख्यायते, तथा क्रोधादधर्मोऽपि भवति पर-शिरश्छेदनाद्यात्मक इति, एवं लोभात्–परद्रव्याऽपहरणाद्यात्मकोऽधर्मोऽपि भवति। धर्मस्तु लोभेन–नीतिपूर्वकं द्रव्यसंग्रहं विधाय यज्ञादिशुभकर्मणि तद्व्ययात् भव-तीति, मोहाद् धर्मो यथा मुग्धा गोपिकाः श्रीकृष्णभगवति कामभोगे प्रवृत्ता अपि तासां प्रवृत्तिर्मोक्षप्रदभगवत्प्रसन्नतार्थमेव सम्भूता, अतो धर्माय तत्र मोहजा प्रवृत्तिः कल्प्यते, मोहादधर्मस्तु–हिंसादौ धर्मबुद्धेः प्रवर्तमानस्य भवतीति। एवम् अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशात्मकक्लेशैस्तदनुगुणैर्दम्भमत्सराऽऽशादिदोषैर्गुणैर्वा कर्माशयो धर्माऽधर्मोभयात्मकः संजायते, स च कर्माशयः–दृष्टजन्मवेदनीयः, अदृष्ट-जन्मवेदनीयश्च भवति, दृष्टजन्मवेदनीयो नाम–अस्मिन्नेव जन्मनि–अनुभवनीयः, यथा तीव्रवैराग्येण तीव्राऽभ्यासेन चाऽनुष्ठितैर्मन्त्रजापतपःसमाधिभिर्निर्वर्तितः पुण्यपुञ्जः स्वेष्टदेवताऽऽराधनेन महर्षिमहायोगिमहापुरुषाणामाशीर्वचनेन चाऽर्जि-तपुण्यपुञ्जश्च सद्य एवाऽस्मिन्नेव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छति, यथा नन्दीश्वरस्य महेश्वराऽऽराधनप्रतापेनाऽत्रैव जन्मनि–जात्यायुर्भोगा दिव्याः देवत्वा-वच्छिन्नाः प्रादुर्भूता इति। एवम् अन्येषां विश्वामित्रादीनामपि तपःप्रभावात् क्षत्रियत्वपरित्याणपूर्वकब्राह्मणत्वाऽवाप्तिः श्रूयते, तस्य जात्यायुषी परिणते जाते, तथा त्रस्त-दुःखित-दरिद्रेषु–निर्बलेषु,–वा स्वस्मिन् विश्वस्तेषु, महत्सु पुरुषेषु, वा तपस्विषु, योगीषु च,–तीव्रक्लेशैः पुनः पुनः कृतोऽपकारः पापपुञ्जमर्जयति, सोऽपि सद्य एव परिपच्यते यथा–नहुषो नाम राजा देवानामिन्द्रः सन्नपि स्वकं जातिस्वरूपं हित्वा परिणतः सन् तिर्यक्त्वं प्राप्त इति, एवम्–उर्वश्यप्सरायाः कार्तिकेयवने लतास्वरूपता जाता इति। अदृष्टजन्मवेदनीयो नाम–जन्मान्तरानु-भवनीयः, भवति च नारकाणां पूर्वजन्मकृतपापसञ्चयभोगो नारकीयशरीरावच्छे-देनेति, भवति च–ज्योतिष्टोमादियज्ञकारिणां धर्मसञ्चयभोगः स्वर्गे देवशरीरावच्छे-देनेति, तथाच केचिद्–विविधधर्मसञ्चयमत्रैव भुञ्जते, केचिच्च जन्मान्तरे,–इत्येवं यथायोगं शुभाऽशुभकर्मात्मकधर्माऽधर्मसञ्चयो भोक्तव्यो भवतीति बोध्यम् ॥१२॥

कर्माऽऽशयस्य फलमाह—

## सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूलम्–अविद्यादयः पञ्चक्लेशाः, ते यावदनभिभूतास्तावत्तेभ्यः शुभाऽशुभ-कर्मणो विपाकः–फलं जात्यायुर्भोगात्मकं त्रिविधं समुद्भवति, तत्र जातिर्मनुष्यत्व-पशुत्वादिः, आयुश्चिरकालमेककलेवरसम्बन्धः, भोगाः–विषया इन्द्रियाणि सुख-मात्रा दुःखमात्रा चेति। चित्तभूमावनादिकालतः सञ्चिताः शुभाऽशुभकर्मजन्य-

धर्माऽधर्मविषयकवासनाः यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा जात्यायुर्भोगात्मकं स्वकार्यमारभन्ते, यथा सतुषा अदग्धबीजभावाः शालितण्डुला अङ्कुरजननसमर्था भवन्ति न त्वपनीततुषा दग्धबीजभावा वा, एवमेव सक्लेशः कर्माशयो जात्यायुर्भोगाङ्कुरजनको भवति, न त्वपनीतक्लेशो विवेकख्यात्या दग्धबीजभावो वा विपाकजनको भवितुमर्हतीति । तस्मात्—सक्लेशकर्माशयस्य जात्यायुर्भोगं प्रति कारणत्वमिति सिद्धम् । जात्यायुर्भोगश्च जन्मप्रायणान्तराले एव नियतः, तत्र—'निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरभिसम्बन्धो—जन्म, 'निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिर्वियोगो—मरणमिति, तादृशजात्यायुर्भोगसंघातसन्तानस्तावज्जन्मत आरभ्य मरणाऽवधिको विविधाऽसंख्यविषयसुखदुःखाद्यात्मनोऽनुभूयते सर्वैः, अतस्तत्कारणात्मकः कर्माशयोऽपि प्राग्भवीयो विविधाऽसंख्यधर्माऽधर्मसंघातात्मको—भवितुमर्हति, कारणवैचित्र्ये एव कार्यवैचित्र्यनियमात्, दृश्यते च लोके एकस्या एव व्यक्तेः कश्चित्सुखसन्तानः कश्चिद्दुःखसन्तानः कश्चिद्बालत्वं कश्चिद् यौवनादिकम्, एवमेवाऽऽजीवनम्—आयुर्भोगसन्तानः पुनः पुनर्विपरिणममानो भवति, स चायं यदि—एकविधकर्मजन्यः स्यात् तदा—एकविध एकस्वरूप एवाऽपरिणतः सन्—बाल एव स्यात् सुखी एव वा स्यात्, न तु युवा दुःखी चेति, न ह्येकस्य कर्मणोऽनेकविधपरिणामं प्रति कारणत्वं कदापि संभवति, तथा सति—एकेनैव कारणेन यावतां कार्याणां निर्वाहे सति संसारस्थः कारणकूटो निष्फल एवाऽऽपद्येतेति, तस्मादनेकविधः कर्माशयः—एककलेवरावच्छेदेन जात्यायुर्भोगजनक इति सिद्धान्तः । तथाविधो जात्यायुर्भोगश्च दृष्टजन्मवेदनीय इति ॥ तत्राऽयं नियमः—'जातिजनकं कर्म भिन्नम्, आयुर्जनकं कर्म भिन्नम्, भोगजनकञ्च कर्म भिन्नमिति, तत्रापि च विश्वामित्र-नहुषादीनाम्—एकस्मिन्नेव जन्मनि जातिद्वयप्राप्तिश्रवणात्—यदा एकस्मिन् जन्मनि जातिभेदस्तदा तदापादकं कर्माऽपि विभिन्नम्, एवं—बाल्याद्यवस्थात्मकाऽऽयुर्भेदेन तज्जनककर्माऽपि विभिन्नम्, एवं—विचित्रभोगजनकं कर्माऽपि विचित्रमिति । तथा च—जन्मप्रायणान्तरालकृतस्य शुभाऽशुभकर्माऽऽशयस्य फलं कश्चिदस्मिन्नेव जन्मन्येतत्कलेवरावच्छेदेन भोक्तव्यम्, तत्—दृष्टजन्मवेदनीयमित्युच्यते । कश्चित्तु तन्मध्यस्थ एकेन विनाशकेन कर्मणा मरणं प्रसाध्य ततः कर्मबलात् कलेवरान्तरप्राप्तौ सत्यां यत्कर्माशयो जात्यायुर्भोगरूपेण प्रतिफलति, तत्कलेवरान्तरावच्छेदेन भोक्तव्यम्, अदृष्टजन्मवेदनीयमित्युच्यते अतएव—कर्माशयः—कश्चिन्नियतविपाकः, कश्चिच्चाऽनियतविपाक इति प्रवर्तते ॥ तत्र नियतविपाकः—अस्मिन् जन्मनि फलप्रदः, अव्यवहितोत्तरजन्मनि वा निश्चयेन फलप्रदः कर्माशय उच्यते, तद्वस्य नियतविपाकस्य—जन्मप्रदत्वम्—आयुर्जनकत्वं भोगसम्पादकत्वं चेति त्रिधा गतिर्भवति, जात्यायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभि-

धीयत इति ॥ अनियतविपाकस्तु कर्माशयः—दीर्घकालान्ते क्वचित् बहुजन्मनामन्ते फलप्रद इति भवति, तदेतादृशस्याऽदृष्टजन्मवेदनीयस्याऽनियतविपाकस्याऽपि त्रिधा-गतिर्भवति यथा—अल्पसंख्याकास्तन्तवस्तावन्मासवर्षादिसमयाऽतीते सति क्वचि-द्विरोधिना वह्निना विनष्टा विदग्धा भवन्ति, अथवा तु महापटोत्पादकतन्तुभिः सह मिलिता महापटमारभन्ते, अथवा तु—अन्यतन्तुभिर्महापटारम्भानन्तरमल्पं स्वतन्त्रं पटमारभन्ते, इति भवति त्रिधा गतिस्तन्तूनाम् ''नाशः,—'कारणान्तरसद्भावः—आवापगमनम्,—चिरकालावस्थानं चेति'' । एवमेव कर्मविपाकस्यापि सम्य-गनुष्ठितस्य—अपक्वस्य—''नाशः,—क्वचिच्च प्रधानकर्मान्तरेण सहाऽऽवापगमनम्,—क्वचिच्च—स्वोत्तरकालोद्भूतनियतविपाकप्रधानकर्मणा पराभूतस्य चिरमवस्थानम्'',—इति त्रिधा गतिर्भवति ॥ तत्र—प्रथमा गतिः—अनुष्ठितस्य कर्माशयस्य नाशो यथा—अपुण्यात्मककर्मणः केनचित्प्रबलेन पुण्यकर्मणा विरोधिना नाश एव भवति न तूपभोगाय कल्पत इति । अत्रेदमाम्नायते—'द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोपहन्ति । तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते' ॥ एतदुक्तं भवति—कर्म त्रिविधम्, कृष्णं कृष्णशुक्लं शुक्लं चेति । तत्र कृष्णं कर्म—अधर्मजनकम्, कृष्णशुक्लं—अधर्मधर्मोभयजनकम्, शुक्लं—केवल-धर्मजनकम् । अत्र कृष्णकर्म प्रति शुक्लकर्मणो विरोधित्वम्, कृष्णशुक्लकर्म प्रत्यपि शुक्लकर्मणो विरोधित्वम् भवति, तत्र शुक्लेन विरोधिना कर्मणा कृष्णांश एव विनाश्यते शुक्लांशं च स्वस्मिन्नेकत्वमानयतां नीयते तस्मात्—परदुःखाऽजनकसाधनसम्पाद्यः शुक्लः कर्माशयो बलवान्—कृष्णान्—शुक्लकृष्णांश्च विरोधिनः कर्माशयानपहन्तीति । श्रुतितात्पर्यन्तु—'पापकस्य पुरुषस्य—कृष्णं कृष्ण-शुक्लं चेति द्वे कर्मणी भवतः, ते एकः पुण्यराशिर्बलवानपहन्तीति, तस्माच्छुक्ल-कर्माण्येव विधेयानि—यानि विद्वांसो जानन्ति प्रतिपादयन्तीति । क्वचिच्च कृष्ण-शुक्लं कर्म—उभयांशमेव शुक्लेन कर्मणा विनश्यतीति । एवम्—अल्पः पुण्यप्रचयः कदाचिद् बलवता पापकर्मणाऽपि विनाश्यते । एवम्—पापपुण्योभयविधोऽपि कर्मप्रचयो योगिसंकल्पादिना परमेश्वरेच्छया वा विलुप्तो भवतीत्यपि बोध्यम् ॥ तत्र—द्वितीया गतिः—अनुष्ठितस्याऽल्पस्य कर्मणः प्रबलकर्मणा सहाऽऽवापगमनं यथा—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत,—'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इत्याम्नायते, तथाच स्वर्गादिप्राप्त्यर्थं ज्योतिष्टोमादियागं प्रकुर्वता यजमानेन यागाङ्गभूत-पशुहननं कृत्वा होमः क्रियते, तत्र प्रधाने कर्मणि ज्योतिष्टोमादिके पुण्ये तदङ्गस्य पशुहिंसादेरावापगमनं भवति, पशुहिंसाया यागसाधनत्वेन पशुहिंसाऽ-न्वितयागकर्मणः प्रधानपुण्यजनकत्वेऽपि—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानी'ति निषेधात् हिंसाया अनर्थहेतुत्वमिति निर्णीयते,—सा च हिंसा यागात्मकप्रधानकर्मनिरपेक्षा

सती स्वफलमनर्थं प्रसोतुं नाऽलं भवति, किन्त्वारब्धविपाके प्रधाने कर्मणि साहाय्यमाचरन्ती व्यवतिष्ठते, प्रधानसाहाय्यम् आचरन्त्याश्च तस्याः स्वकार्येऽनर्थे कर्तव्ये—बीजमात्ररूपेणोपस्थितिः—तदेव प्रधाने कर्मणि—आवापगमनमिति। तदुक्तम्—पञ्चशिखाचार्येण—'स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः' इति। ज्योतिष्टोमादिजन्यप्रधानाऽपूर्वस्य पशुहिंसाजन्यपापाऽपूर्वेण सह सङ्करो दोषः, स च प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः, यदि च यजमानेन प्रमादतः प्रायश्चित्तं नाऽनुष्ठितं चेत् तदा स्वर्गभोगसमये तेन सह भोक्तव्यो भवतीति, 'सहन्ते खलु सुकृतसम्पदासादितस्वरमृतमहासमुद्रशायिनः पुण्यात्मानो दुष्कृतलेशाऽपगमितं वेदनावह्निस्फुलिङ्गमि'ति। तदिदमुक्तं विजातीयकर्मणो विजातीयेन सहाऽऽवापगमनम्॥ क्वचित्तु—सजातीयेन सह सजातीयाऽऽवापगमनमपि भवति यथा—स्वर्गप्राप्तीच्छया सहस्रदिवसाद्यवधिकां तपश्चर्यां कुर्वतः पुरुषस्य तपश्चरणात्मकप्रधानकर्मणा सहाऽनुष्ठितस्य मालाजापाद्यप्रधानकर्मण आवापगमनं भवति—तत्र मालाजापादिकर्म—प्रधानभूतेन तपश्चरणेन सह मिलितमेव स्वर्गं प्रापयतीति न तु स्वतन्त्रम्॥ एवमेव—योगिनाऽपि यमनियमाद्यप्रधानाङ्गैर्धारणाध्यानाद्यात्मकप्रधानाङ्गसहभूतैरेव समाधिरूपं फलं लभ्यते इति यथायोगं बोध्यम्, एवम्—अशुभं कर्म बलवताऽशुभेन कर्मणा सहैकीभावं भजत इति यथायोगं बोध्यम्॥ अथ तृतीया गतिः—नियतविपाकप्रधानकर्मणा पराभूतस्य चिरमवस्थितिः, यथा—'केनचिद् ग्रहपीडादिनिवारके शुक्ले कर्मणि विहिते यावदेतद्विपाकं नाऽऽरभते तावत्पुण्यात्मकमपुण्यात्मकं वा कर्माऽव्यवहितोत्तरकाले द्रागेव फलप्रदं प्रधानं कृतं स्याच्चेत् तस्य बलवतः फलं प्रथममेवोपतिष्ठतेऽनन्तरं च ग्रहशान्तिकर्म स्वफलं प्रसूत इति लोके दृश्यते, तथैवाऽदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकः कर्माशयः क्वचिज्जन्मान्तरे फलप्रदत्वेन समुपस्थितोऽपि तदानीं क्रियमाणेन बलवता धर्माऽधर्मात्मकेन कर्मणा पराभूतः सन्नवतिष्ठते यावच्च बलवत्प्रधानकर्मणः फलं भुङ्क्ते, ततोऽप्रधानस्य कर्माशयस्य विपाको भवतीति, देशकालनिमित्तानवधारणात्—अनियतविपाकस्य कर्माशयस्य चित्रा गतिर्दुर्विज्ञेया त्रिधा सामान्यतो भवतीति सिद्धान्तः। इदमत्रवधिकमवसेयं—यथा जन्माऽऽयुर्भोगं प्रति कर्माशयस्य जनकत्वम्, तथा क्लेशानामपि जनकत्वं सम्भवति, यतोहि विविधयोनिहेतुभूतशुभाऽशुभकर्मसु सत्सु यत्रान्तकाले रागादिरुद्बुद्धः समुपतिष्ठति, तत्र स एव मरणोत्तरं तामेव योनिं प्राप्नोति न त्वितराम्—इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मवद् रागादिद्वेषोऽपि विपाकहेतुरिति। तत्र श्रुतिः—'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य'। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति च। गीतायामपि—'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति। न्यायसूत्रञ्च 'वीतरागजन्माऽदर्शनादि'ति, अतः क्लेशोऽपि विपाका-

रम्भे भवति हेतुरिति तत्त्वम् । ननु–स्वर्गि-नारकिणां पुनर्जन्मादिर्न स्यात्, स्वर्गादिशरीरे धर्माद्यनुत्पत्तेः, पूर्वकृतकर्मणां च तत्रैव समापनादिति चेन्न । स्वर्गादिजनककर्मणामेव ब्राह्मणस्थावरादियोनिप्राप्तिपर्यन्तफलश्रवणात्, अतो यावदवधिकं पुण्यं स्वर्गादिभोगप्रदं तावद् भुक्त्वा मनुष्यादिजन्मप्रदपुण्यावलेपेन सहभूता एव जीवाः स्वर्गादितोऽधःपतन्तीति सर्वशास्त्रसिद्धान्तः । तच्च पुण्यं स्वर्गादिप्रदपुण्यकालाऽर्जितमेवेति निर्णीयते, अत एव तत्–अदृष्टजन्मवेदनीयं नियतविपाकञ्चेत्युच्यते ॥ १३ ॥

उक्तं क्लेशमूलत्वं कर्मणाम्, कर्ममूलत्वं जात्यायुर्भोगानाम्, अथ जात्यायुर्भोगाः कस्मात् त्यक्तव्या ? इति चेत् ?—

## ते ह्लादपरितापफलाः पुण्याऽपुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

'ते–जन्माऽऽयुर्भोगाः । ह्लादः—सुखम्, परितापः–दुःखम्, तत्फलवन्तो भवन्ति, तत्र पुण्यहेतुकाः सुखफलाः, अपुण्यहेतुकाश्च दुःखफला भवन्ति । यद्यपि जन्माऽऽयुषोरेव पुण्याऽपुण्यपूर्वकतया पुण्याऽपुण्यफलकत्वं युक्तं न तु भोगस्य, सुखदुःखोदयाऽनन्तरभाविनः सुखदुःखसाक्षात्कारात्मकस्य भोगपदार्थत्वात्, अतो न भवतः सुखदुःखे भोगकारणे इति, तथा च भोगस्य पुण्याऽपुण्यकारणकत्वाऽभावेन सुखदुःखफलकत्वं न स्यादिति, तथापि सुखदुःखे भोगसाधने भवतः, भोग्यतया च भोगकर्मता तत्र युक्ता, भोगकर्मतामात्रेण भोगस्य ह्लादपरितापकर्मकत्वमेव ह्लादपरितापफलकत्वमवसेयमिति । ननु तथापि सुखदुःखहेतुका एव जात्यायुर्भोगा दुःखफला एव भवन्तु हेयाः प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, कस्मात्पुनः पुण्यहेतुका जात्यायुर्भोगाः सुखफलाः परित्यज्यन्तेऽनुकूलवेदनीया इति चेन्न । पुण्यहेतुका अपि जात्यायुर्भोगाः प्रकृतिपदार्था अतएव सुखदुःखमोहव्याप्ताः, तत्र सुखमात्रालाभेऽपि सा दुःखानुविद्धा प्रतिकूलवेदनोत्पादिका भवति योगिनाम्, सा च सुखमात्रा मायामयी, अतएव योगविघ्नकरी प्रतिकूलवेदनीया, तस्माद् दुःखरूपैवेति ॥१४॥

यद्यपि साधारणतया पुरुषस्य विषयसुखसमये दुःखं न पृथक्तया संवेदितं भवति, तथापि विवेकज्ञानेन पश्यतो योगिनः—

## ॥ परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तेषां दुःखानि, तत्सम्बन्धिदुःखानीत्यर्थः, तैः । अथ च गुणानां या वृत्तयस्ताभिर्विरोधाच्च सर्वत्र दुःखमात्रोपलम्भ एव भवतीति, तत्र परिणामदुःखं यथा—'चेतनाशक्तेरतिरिक्ता यावन्तः प्रकृतिपदार्थास्तावन्तः सुख-

दुःखमोहात्मकगुणत्रयोत्पन्ना गुणत्रयव्याप्ताः सुखदुःखमोहात्मकाश्चेति सर्वसिद्धम्, तत्र केचित्पदार्थाः कस्यचित् सुखाय भवन्ति, त एवाऽन्यस्य दुःखायैव भवन्ति, त एव चाऽपरस्य मोहाय भवन्ति—यथा—एकैव स्त्री स्वस्वामिनः सुखाय भवति, सपत्न्या दुःखाय भवति, पुरुषान्तरस्य च मोहाय भवति, सेयं स्त्री समानकालावच्छेदेनैव भिन्नभिन्नव्यक्तीनां सुखदुःखमोहकारिणी भवति। यथा वा शर्करा—शर्करामोक्त्रे सुखप्रदा, रोगिणे दुःखप्रदा, तामविन्दमानाय च मोहप्रदेति, तथैव सर्वे पदार्था बोध्याः। ते च प्रतिक्षणं परिणामिन ऋते चितिशक्तेः। तत्र चैकस्मै पुरुषायैकस्यैव वस्तुनः कश्चित्परिणामः सुखप्रदः, कश्चित्परिणामो दुःखप्रदः, कश्चिच्च मोहप्रदः, यथा दुग्धस्य परिणामो नवनीतं भोक्त्रे सुखप्रदम्, तदेव नवनीतं शतवारं जलेन क्षालितं सद् विषभावाऽऽपन्नं भोक्त्रे दुःखप्रदम्, तदेव चोष्णदाहरोगिणे पादतलघर्पणोपयोगितया मोहप्रदमिति भवति, अतो यावत्पदार्था यथा सुखप्रदास्तथा परिणताः सन्तो भवन्ति दुःखप्रदा मोहप्रदाश्चेति, नहि कश्चिदपि पदार्थः सर्वथा सुखप्रद एवेति भवितुमर्हति, ऋते परमेश्वरतत्त्वाद् यावतां नित्यसुखत्वस्याऽभावात्, विवेकिनामविवेकिनाञ्च—यदाऽनुकूलतया वेदनीयः कश्चिदपि विषयः समुपतिष्ठते तदा तत्र रागो भवति, रागेण च तदनुपतनशीलानां प्रागेव विषयस्य दुःखदपरिणामे जाते सति भवति द्वेषः परिणामान्तरे च मोह इति। अतो विवेकिनस्तस्य परिणामं जानतो दुःखमेव दृश्यते॥ किञ्च—सुखप्रदपदार्थेषु रागेण प्रवृत्तिमान् यो भवति, तस्य प्रवृत्तिः शारीरिकी मानसिकी वाचिकी वा या काचिदपि स्यात् सा पुण्याऽपुण्यजनिका भवति, पुण्याऽपुण्येन च कर्माशयेन जात्यायुर्भोगात्मकसंसारो जायते, अतः संसारे द्वेषदृष्टिमतो योगिनो विवेकिनः संसारसाधनभूतायां प्रवृत्तौ तत्साधने च रागे तदुत्पादके च सुखदविषये स्वाभाविकत्वेन प्रतिकूलवेदनीयता वर्तते, अतो दुःखं द्वेषमति च तत्र विन्दत इति, यथोक्तं गीतायां 'विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्' इति। किञ्च विषयभोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तितो या शान्तिस्तत्सुखम्, या तत्र तृष्णातोऽशान्तिस्तद्दुःखम्, तथा च सुखप्रदस्त्र्यादिविषयेषु विवेकिनामविवेकिनाञ्च रागात् तत्र तृष्णा विवर्धते,—यदुक्तम्—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते' इति। तृष्णा नामाऽनुपशान्तिः, सैव दुःखम्। यावद्रागद्वेषादिक्लेशाः सबीजास्तावद्विद्यते जात्यायुर्भोगाङ्कुरप्रसवप्रवाहः, अतो विवेकिनः सुखदमपि वस्तु दुःखदमेव भवति। एवं—दिव्येषु शब्दादितन्मात्रेषु—इन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिप्रकृतिषु या केवला सुखमात्रा सापि विवेकिनामविवेकिनां च भोग्यतया गृहीता सती रागविवर्धिनी, तृष्णात्मकेन रागेण च क्लेशेन बीजेन धर्माऽधर्मप्रचयद्वारा जात्यायुर्भोगः समुत्पाद्यते, अतः प्रकृतिसत्त्वात्मिका सुखमात्रा

परिणामे दुःखता, तस्मात् परिणामदुःखेन विवेकिनः सर्वं दुःखमेव चेतनतत्त्वमन्तरेणेति । तदिदं परिणामदुःखेन रागजं दुःखं प्रायशो बोध्यम् ॥ तापदुःखं–द्वेषजं दुःखम्,–यथा तापस्त्रिविधः–आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविकश्चेति, तत्र शारीरिको मानसश्च ताप आध्यात्मिकः, शरीरे हि वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्ये ज्वराद्युत्पादके प्रतिकूलवेदनीये यो द्वेषो जायते, अथ च मानसे कामक्रोधलोभादिकषायाणां वैषम्ये चिन्तोत्पादके प्रतिकूलवेदनीये यो द्वेषो जायते तत्तद्द्वेषेण क्लेशेन बीजरूपेण योऽधर्मात्मककर्माशयः समुद्भवति तेन च जात्यायुर्भोगा भवन्ति, एवमेव शरीरे मानसे च द्वेषकाले तत्प्रतिद्वन्द्विनि वातपित्तश्लेष्मणामवैषम्यरूपे कामादीनामवैषम्यरूपे च रागोऽनुवर्तते तेन च पुण्यमात्राऽर्जनं भवति तेन च शुक्लकर्मणा जात्यायुर्भोग इति ॥ एवम्–आधिभौतिकं–स्वभिन्नभूतप्राणिमात्रत उत्पद्यमानं दुःखमुच्यते, तत्र स्वसम्बन्धिष्वपि दुःखमात्रैव विशेषतो लभ्यते, तदुक्तं–विष्णुपुराणे–'कलत्रमित्रपुत्रार्थगृहक्षेत्रधनादिकैः । क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम्' इति । यावदंशेन भूतप्राणिमात्रतो दुःखमात्रा उपलभ्यते तावद्भवति तत्र कायेन वाचा मनसा च द्वेषः, अथ च सुखं प्रार्थ्यमानस्य सुखसाधनेषु रागो द्वेषप्रतिद्वन्द्वी भवति, तदेवं रागेण द्वेषेण च क्लेशेन धर्माऽधर्मौ जायेते ततो जात्यायुर्भोगा इति ॥ एवम्–आधिदैविकं यद् ग्रह-भूतप्रेतादिपवित्राऽपवित्रदेवेभ्य आगतं दुःखम्, अनुभवतस्तत्र भवति द्वेषः, तदानीं सुखं प्रार्थ्यमानस्य भवति हनूमन्मन्त्रादौ रागः, तदेवं रागद्वेषाभ्यां धर्माऽधर्मौ ताभ्यां च जात्यायुर्भोगा भवन्ति, इत्येवं पश्यतो विवेकिनः सर्वमेव दुःखं दुःखसाधनञ्च ज्ञायत इति ॥ एवं–संस्कारदुःखता यथा–सुखानुभवो हि सुखानुरूपं संस्कारमाधत्ते, दुःखानुभवो हि दुःखानुरूपं संस्कारमाधत्ते, संस्कारेण च सुखस्य दुःखस्य वा स्मरणं भवति, स्मरणेन तत्र रागो द्वेषश्च, रागाद्–द्वेषाच्च कायवाङ्मनश्चेष्टा, चेष्टया च पुण्याऽपुण्ये भवतः, ततो जात्यायुर्भोगा इति भवन्ति । अतो जात्यायुर्भोगात्मके विपाके मोक्षप्रतिद्वन्द्विनि विरक्तस्य स्वाभाविकी प्रतिकूलवेदनीयता भवति, अतो दुःखविषयकसंस्कारेष्विव सुखविषयकसंस्कारेष्वपि विवेकख्यातिमतः पुरुषस्य दुःखमयतैव भासत इति । अतः स एव दुःखप्रवाहः–ततो विरक्तं योगिनमेव क्लिश्नाति प्रतिकूलवेदनीयत्वात्,–नेतरम्, यथा कर्दमस्था मण्डुका नहि कर्दमदुःखं जानन्ति कर्दमवासस्य मण्डुकानां स्वभावसिद्धत्वात्, तथैव त्रिविधतापं स्वकर्माऽऽसादितमुपात्तमुपात्तं परित्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तं चोपाददानम् अविद्यया च देहेन्द्रियादावहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं दुःखगृहरूपन्त्वविवेकिनं त्रिविधतापा अनुपतन्तीति, अतो, दुःखमग्नानां तेषामविवेकिनां नहि भवति दुःखपरिचयं विना दुःखसम्वेदनमिति । भवति हि हंसस्य कर्दमस्पर्शे कर्दमं जानतस्तत्संसर्गजा चिन्ता, तथा परिणामताप-

संस्कारदुःखानि शानतस्तत्तद्दुःखप्रदपदार्थसंसर्गपरिहानेच्छोर्विवेकिनो भवति दुःखदर्शनं सर्वत्रेतिसिद्धान्तः ॥ अथ गुणवृत्तिविरोधात्–दुःखमात्रा सर्वत्रोपलभ्यते, गुणास्त्रयः सत्त्वरजस्तमांसि, तेषां वृत्तयो–व्यापाराः क्रियाः–परस्पराऽभिभवरूपाः, परस्पराऽऽश्रयरूपाः,–परस्परजननरूपाः,–परस्परमिथुनरूपाश्चेति ॥ तत्र–अन्योऽन्याभिभवा वृत्तयो यथा–'त्रिगुणानामन्यतमेनाऽर्थवशादुद्भूतेनाऽन्यदभिभूयते, यथा सत्त्वमुत्कटं भूत्वा रजस्तमस्यभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते, एवं–रजोगुणस्तावदुत्कटो भूत्वा सत्त्वतमस्यभिभूय घोरामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते, एवं तमोगुणोऽप्युत्कटो भूत्वा सत्त्वरजस्यभिभूय मूढामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते इति ॥ अन्योन्याश्रयवृत्तयो यथा–यदपेक्षया यस्य क्रिया भवति स तस्याऽऽश्रय इति, यथा सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, एवं रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य सत्त्वतमसोः प्रवृत्त्योपकरोति, एवं तमः प्रकाशप्रवृत्त्याश्रित्य सत्त्वरजसोर्नियमेनोपकरोतीति, तथातथेपकारकत्वमेवाऽऽश्रयत्वमिति बोध्यम् । अन्योन्यजननवृत्तयो यथा–जननं परिणामः, स च त्रिगुणानां साम्याऽवस्थात्मकप्रकृतिस्वरूप इति–अन्यतमोऽन्यतमं जनयति परिणमयतीति, यथा प्रतिसर्गसमये बुद्ध्यादिकं सर्वं प्रकृत्यन्तर्गतं भवति तदा विपरिणममाना गुणाः परस्परं स्वस्वोत्कटत्वमाकुंचमाना विसदृशपरिणामं संकुच्य सदृशपरिणामा भवन्ति, यथा–सत्त्वं प्रकाशपरिणामं संकुच्य रजस्तमसोः प्रवृत्तिनियमौ संकोचयति, रजः–प्रवृत्तिपरिणामं संकुच्य सत्त्वतमसोः प्रकाशनियमने संकोचयति, तमो–नियमनं संकुच्य सत्त्वरजसोः प्रकाशप्रवृत्ती संकोचयति, अत एव त्रिगुणानां साम्यावस्था प्रकृतिरित्युच्यते ॥ अन्योन्यमिथुनवृत्तयो यथा–अन्योन्यसहचरा अविनाभाववृत्तय इति यावत्, न चैकं विहायेतरो व्यवतिष्ठेते, अत एव सर्वदा सहयोगिन इति ॥ त एते गुणास्तत्तद्व्यापारेण व्याप्रियमाणाः शुभाऽशुभप्रवृत्तिमुत्पादयन्ति, प्रवृत्त्या च पुण्याऽपुण्यात्मकः कर्माशयः, तेन च जात्यायुर्भोगा इति भवन्ति । अतो जात्यायुर्भोगजनिकासु त्रिगुणवृत्तिषु विरोधात् प्रतिकूलवेदनीयत्वाद् विवेकिनस्त्रिगुणव्यापारात्मकं सर्वं दुःखमेवेति भवति । दुःखकारणं–प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः, संयोगकारणं च अविद्या, विवेकख्यात्या तन्नाशे संयोगनाशादात्यन्तिकदुःखात्यन्ताभाव एव कैवल्यमिति, तच्च वक्ष्यति सूत्रकार इति ॥ १५ ॥

दुःखं त्रिकालावच्छिन्नं–भूतकालीनं वर्तमानकालीनं भविष्यत्कालीनञ्चेति । तच्च प्रतिकूलवेदनीयं भवत्यात्मनः, अतस्त्रिविधस्यापि हेयता युक्ता । तत्र चाऽतीतं दुःखन्तु सम्भोगेनैवाऽतिक्रान्तम्, न तु तत्पुनरुपभोगाय समुपस्थास्यत्यतस्तद्धेयताप्रयासोऽपि न युक्तः, एवं वर्तमानं दुःखमपि स्वसत्तासमये भोगारूढं तच्च स्वोत्तरोत्पन्नगुणेन तृतीयक्षणे स्वयमेव नङ्क्ष्यतीति तद्धेयताप्रयासोऽपि विफलः ।

अतो यद् भोग्यतया समुपस्थास्यति–तदेव—

## ॥ हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अनागतम्–भविष्यत्कालीनम्, दुःखं हेयम् मुमुक्षुणेति । हेयस्य दुःखस्य कारणीभूता याऽविद्या सा विवेकख्यात्या विनाश्येति तात्पर्यम् ॥ एतेन "भविष्यत्कालीनमपि दुःखं स्वयं चित्तधर्मत्वादवश्यं भावि–अतस्तस्य हानं कदाऽपि न संभवति, संभवे तु स्वाभाविकत्वं दुःखे न स्यादतश्चित्तस्थस्य भविष्यत्कालीनदुःखहानं न युक्तम्" इति केषाञ्चिच्छंका समाधत्तैव । दुःखनाशस्य–अविद्यानाशे तात्पर्यादिति । यद्यप्यविद्यानाशः सर्गान्ते स्वयं प्रकृतिरेव करिष्यति, सर्गान्ते सूक्ष्मशरीरेण सहाऽऽत्मनो वियोगात्, 'सूक्ष्मं शरीरं हि–आ च आदिसर्गात्–आ च प्रलयादवतिष्ठते–प्रलयप्रारम्भे च प्रकृतिः स्वयमेवोपसंहरति, तथाच तद्धानप्रयासोऽपि विफलः, तथापि विना विवेकख्यातिं सर्गान्ते सूक्ष्मशरीरवियुक्तानां पुरुषाणामपि प्रकृत्यधीनतया पुनः सर्गान्तरे संसारपातित्वमापद्येत, अतो विवेकख्यात्यैव तद्धानं कैवल्याय भवति, तच्च सर्गान्तेऽपि कैवल्याऽभिलाषुकेणाऽवश्यं कर्तव्यम्, इत्येतदपेक्षया–इदानीमेव विवेकख्यातिलाभेन शीघ्रमेवाऽविद्यानाशे बुद्धिवियोगे कैवल्यप्राप्तिः स्यादिति–सार्थकस्तद्धानप्रयास इति तु समीक्षणीयम् । अनेन सूत्रेण त्रिविधदुःखाऽत्यन्तनिवृत्तिरेव परमपुरुषार्थ इति विज्ञापितं भवति, तत्र 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमि'ति परमेश्वरशरणे नित्यसुखाऽवाप्तिरित्यप्यनुषञ्जनीयं, सएव मोक्ष इति ॥ १६ ॥

हेयस्य दुःखस्य कारणं निर्दिश्यते—

## ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा–बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः, द्रष्टृत्वं–स्वगतौपाधिकप्रकृतिशीलधर्मगुणादिज्ञातृत्वम्, तच्च पुरुषे संभवति, अव्यवधानेन हि बुद्ध्यहंकारादीनां द्रष्टा भवति पुरुषः, अविषयत्वात् , घटपटादयो हि न द्रष्टारो भवन्ति, अत एते विषया इत्युच्यन्ते । न हि विषयस्तावदचेतनः स्वस्मै विषयं दर्शयितुं शक्यो येन विषयस्य द्रष्टृत्वं स्यात् तस्मात् पुरुषप्रतिबिम्बगतानां पुरुषस्वरूपगतानां वा प्रकृतेः–शीलधर्मगुणानामौपाधिकानां ज्ञाता–अतएव द्रष्टा पुरुष इति ॥ दृश्यं–बुद्धितत्त्वम्, स्वाभाविकप्रकृतिशीलधर्मगुणादिवदुपभोगसाधनं–दृश्यम्, भवति च प्रकृतिमहदहंकारेन्द्रियतन्मात्रभूतादीनां स्वाभाविकप्रकृतिधर्मसुखदुःखमोहात्मकत्वमुपभोगसाधनत्वञ्चेति, तस्माद् बुद्धितत्त्वादिकं सधर्मकं सर्वमेव दृश्यमिति । तदेवं प्रकृतिकार्यात्मकदृश्येषु मध्ये–साक्षादुपभोगसाधनत्वेनाऽऽत्मना सह संयुक्तं बुद्धितत्त्वमत्र मुख्यं दृश्यं ग्राह्यम्, तादृशयोर्बुद्धिपुरुषयोर्यः संसारजनकः संयोगः स एव हेयस्य

दुःखकारणीभूताऽविद्याया हेतुरिति, स च परस्परसापेक्ष एवेति भवति, निरपेक्षयोर्भिन्नपदार्थयोः संयोगाऽनवकाशात्, अपेक्षा च भवति परस्परमुपकार्योपकारकभावेन, अत्र च पुरुषः कैवल्यार्थं प्रकृतिमपेक्षते प्रकृतिश्च स्वस्या—उपभोगार्थं दर्शनार्थं पुरुषमपेक्षते, अतएव प्रकृतेर्भोग्यता पुरुषस्य च भोक्तृतेति, भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न संभवतीति तदर्थं प्रकृतिः—'अहं केनाऽपि पुरुषेणोपभोग्या स्या'मिति—पुरुषमपेक्षते तेन भवति प्रधानस्य पुरुषं प्रति स्वस्योपभोगार्थमपेक्षेति । एवम्—पुरुषस्य प्रकृतिं प्रति भवत्यपेक्षा, भोग्यया प्रकृत्या सह संयुक्तः पुरुषः प्रकृतिगतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानो बद्धवदवस्थितः सन् दुःखत्रयाऽत्यन्ताऽभावलक्षणं कैवल्यं प्रार्थयति, तच्च कैवल्यं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वकम्, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिश्च न प्रधानमन्तरेण, अतः पुरुषः कैवल्यार्थं प्रधानमपेक्षते इति ।। तदेवं द्वयोः संयोगस्य प्रवाहोऽनादिरेव, संयोगो नाम—सन्निधानम्—प्रतिबिम्बत्वमिति यावत्, तस्य हेयहेतुत्वं यथा—'बुद्धेः स्वच्छरूपत्वात् तत्राऽऽत्मनः प्रतिबिम्बं जायते, आत्मनश्च ये धर्माश्चेतनत्वादयस्ते आत्मनः प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्बरूपेण संस्थिता बुद्धितत्त्वे समुपसंक्रान्ता भवन्ति, अत एव बुद्धिः स्वस्यां चेतनत्वादिधर्मानभिमन्यमाना सती स्वयं जडरूपाऽपि भ्रमेण—'अहं चेतने'—त्यभिमन्यते, एवम्—पुरुषः शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि स्वप्रतिबिम्बे समुपसंक्रान्तान् बुद्धिधर्मान् सुखदुःखमोहान् कर्तृत्वादींश्च स्वस्मिन्नभिमन्यते, तथाच कर्तृत्वाऽभावेऽप्यात्मनि स्वप्रतिबिम्बे बुद्ध्यन्तर्गते कर्तृत्वभ्रमेण स्वं कर्तारं मन्यते, अतोऽहं जानामि करोमि चे'त्याकाराः प्रत्यया धर्मिणोर्भेदाऽग्रहादुद्भवन्तीति । तेन 'जडचेतनधर्माणामभेदेन प्रत्ययोऽविद्या—इत्युच्यते, सा च क्लेशानां कारणीभूता, तया क्लेशा रागद्वेषादय उत्पद्यन्ते, क्लेशैश्च धर्माऽधर्मात्मककर्माशयः, कर्माशयेन जात्यायुर्भोगा भवन्ति, अतस्तद्धेतुभूतस्य द्रष्टृदृश्ययोः—हेयत्वं बोध्यमिति । ननु बुद्धिपुरुषयोरयं संयोगः—किं नित्यः ! किम्वा संयोगजन्यः ! किं वा कर्मजन्यः !, नहि तस्य विवेकख्यात्या मुक्तावस्थायां बुद्धिवियोगे सति नाशात् नित्यत्वं संभवति, न वा संयोगजन्योऽपि,—यतोहि दृश्यतेऽवयवसंयोगजन्योऽवयविसंयोगः—यथाऽङ्गुलिशाखयोः संयोगाच्छरीरवृक्षसंयोगइति, न चाऽत्र पुरुषस्य तथाऽवयवा विद्यन्ते, पुरुषस्य निरवयवपदार्थस्याऽवयवत्त्वाऽभावात्, यद्यपि बुद्धेस्त्रिगुणात्मकत्वात्रयो भवन्ति तथापि न तज्जन्यः संयोगः पुरुषेण सह कल्पयितुं युक्तः, यतः प्रत्येकगुणेनाऽवयवेन संयोगः पुरुषस्य स्वीकार्यः, तथासति सत्त्वपुरुषसंयोगः, रजःपुरुषसंयोगः; तमःपुरुषसंयोगइति—अवयवसंयोगास्त्रयः स्युः, तज्जन्यो बुद्धिपुरुषसंयोगोऽपि त्रिविधः स्यान्न त्वेक इति न ह्यनेकावयवसंयोगैरेकाऽवयविसंयोगः कैश्चिदभ्युपगम्यते, तथासति ज्याधनुषोः प्रान्तद्वयेऽवयवसंयोगद्वयजन्या-

ऽवयविसंयोगद्वयाऽनुपपत्तिः स्यात्, प्रत्युत सर्वैरनुभूयमानस्य संयोगद्वयस्यैकसंयोगत्वाऽऽपत्तिः स्यादिति ॥ किञ्च–अनेकैरवयवसंयोगैरेकस्याऽवयविसंयोगस्य स्वीकारे 'सामान्यतोऽवयविसंयोगं प्रति–अवयवसंयोगानां कारणत्वमिति कार्यकारणभावाऽभ्युपगमः, तथा च सति यत्र संयुक्तयोर्द्वयोर्वृक्षयोर्भिन्नाऽनेकशाखासंयोगजन्या अनेकेऽवयविसंयोगास्तत्र शाखाद्वयान्तरसंयोगजन्यमवयविसंयोगं प्रति तदन्यशाखाद्वयसंयोगस्य कारणत्वाऽऽपत्तिः स्यात्, अतस्तत्तदवयवसंयोगजन्याऽवयविसंयोगं प्रति एव–तत्तदवयवसंयोगस्य कारणत्वमिति स्वीकार्यं भवति, तस्माद् भिन्नाऽवयवानां ये भिन्नाः संयोगास्तज्जन्या अवयविसंयोगा अपि भिन्ना एव भवन्तीति । अत्र तु बुद्ध्यात्मनोर्यः संयोगः स एक एवेति निर्णीयते, यतः सत्त्वरजस्तमांसीति त्रिगुणात्मकबुद्धित्वावच्छेदेनैव सुखदुःखमोहाद्युपभोक्तृत्वस्य पुरुषे समुपलभ्यमानत्वात्, नतु प्रत्येकत्वावच्छेदेन प्रत्येकोपभोक्तृत्वम्, यदि प्रत्येकत्वावच्छेदेन प्रत्येकसुखाद्युपभोक्तृत्वं स्यात् तदा प्रकृतेरेव प्रत्येकगुणत आत्मनो भोक्तृत्वनिर्वाहे बुद्ध्यात्मकसाक्षात्साधनं निष्प्रयोजनं स्यादिति, तस्माद् बुद्ध्यात्मनोरेकस्यैव संयोगस्य न अवयवसंयोगजन्यत्वं संभवतीति । किन्तु–कर्मजन्य एव संयोगस्तत्र स्वीकार्यः, स नोभयकर्मजन्यः, आत्मनः क्रियाराहित्यात्, किन्त्वन्यतरकर्मजन्यः, तथाहि–साम्यावस्थात्मकत्रिगुणानां यदा–उपमर्द्योपमर्दकभावेन विसदृशपरिणामो भवति तदा प्रवृत्तिस्वभावेन रजसा उपष्टभ्येते–क्रियावती कार्येते सत्त्वतमसी, ततो बुद्धितत्त्वमाविर्भवति, तदपि सक्रियमात्मना सह संयुज्यतइति, तस्मादन्यतरक्रियाजन्य एव बुद्ध्यात्मनोः संयोगोऽभ्युपगन्तव्य इति सिद्धम् । एतेन–'स च संयोगजः संयोगो न तु कर्मजः, अवयवसंयोगादवयविसंयोगवत्–अवच्छेदकीभूतगुणसंयोगादेव विभ्वोः संयोगोत्पत्ते'रिति विज्ञानभिक्षुकृतं व्याख्यानं–खण्डितमेव,–उक्तरीत्याऽनुपपत्तेः ॥ तदस्य संयोगस्याऽऽदिमत्त्वेऽपि तत्प्रवाहस्याऽनादित्वात् संयोगेऽप्यनादित्वव्यवहारो विधीयते सांख्ययोगैरिति ॥ स चायं संयोगो बुद्धिपुरुषयोर्यावत्त्वावच्छेदेन विद्यते, अतएव द्वयोरभेदभ्रमोऽपि संभवतीति, 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोग–इत्यादिसूत्रेऽपि द्रष्टृपदेन द्रष्टृप्रतिबिम्बं बुद्ध्यन्तर्गतं ग्राह्यं, पुरुषप्रतिबिम्बमादाय बुद्धेरवस्थानात् नतु पुरुषमादाय, पुरुषस्तु सन्निधावेवाऽवतिष्ठति, अतस्तत्सन्निधिमात्रतया वास्तविकत्वेन नहि बुद्ध्या सह संयुक्तो भवति पुरुषः, किन्तु तत्सन्निधानात् तत्प्रतिबिम्बं बुद्धावुपगतं तदेव संयुक्तमिति, प्रतिबिम्बबुद्धिसंयोगेन चाऽविद्यादिकं जायते, विना प्रतिबिम्बं न संयोगो न चाऽभेदभ्रमो न च संसार इति व्यतिरेकस्य मुक्तेषु दर्शनात्, अतएव दर्पणे प्रतिबिम्बस्य दृष्टान्तं युक्तं भवति । तत्र दर्पणसन्निधावुपस्थितोऽपि पुरुषो न संयुक्तो भवति दर्पणेन सह, किन्तु तदन्तर्गतं तत्प्रतिबिम्बमेव संयुक्तं भवति, तेन च दर्पणस्थमालिन्यादिधर्माः पुरुषप्रतिबिम्बे समुपसंक्रान्ता भवन्तीति

ततः परस्परधर्मभ्रम इत्युपपद्यते ॥ ननु संयोगस्य द्विष्ठत्वात् संयोगाश्रयपदार्थद्वयोरेव विकारः परिणामश्चेत्यभ्युपेयं नैयायिकानां पदार्थद्वयकार्यसंयोग इव, तथा च संयोगस्य बुद्धेर्विकारत्वाद् यथा बुद्धेः परिणामित्वं तथा पुरुषस्याऽपि परिणामित्वमापद्येतेति चेत् ! न । यतः संयोगो विकारो बुद्धिधर्म एव बुद्धेः स्वाभाविकः, स च बुद्धावेव तिरोभूतः सन् वर्तते यावत् पदार्थान्तरस्य पुरुषस्य तत्प्रतिबिम्बस्य वाऽसन्निधानं स्यात् , पदार्थान्तरस्याऽत्यन्तसन्निधौ सत्यां तु बुद्धिस्थः कारणावस्थात्मकः संयोगः प्रादुर्भवति, स च पदार्थान्तरे पुरुषे तत्प्रतिबिम्बे वा सवस्त्वौपाधिकः समुपसंक्रान्तो न तु वास्तविकः तथाच पुरुषप्रतिबिम्बगतोऽपि सः संयोगो नहि भवति पुरुषस्य परिणामित्वं साधयितुं शक्तः, किन्तु बुद्धेः परिणामितया तया सहाऽभिन्नभावं भ्रमेणाऽभिमन्यमानस्य पुरुषस्य स्वस्मिन्नपि जायते परिणामित्वभ्रमः, स तु आविद्यक एवेति संयोगवत्त्वेऽपि पुरुषस्य जलकमलवदसङ्गता बोध्येति ॥ १७ ॥

दृश्यस्य–स्वभावं स्वरूपं प्रयोजनञ्चाऽऽह—

## प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

दृश्यं–बुद्धितत्त्वम्, तच्च सत्त्वरजस्तमइतित्रिगुणात्मकम्, तत्र सत्त्वस्य स्वभावः प्रकाशः, रजसः स्वभावः प्रवृत्तिः, तमसः स्वभावो नियमनमिति । सत्त्वगुणेन पदार्थाः प्रकाश्यन्ते यथा–यदा सत्त्वगुणःप्रधानस्तदा तेन यावतां कार्याणां यथावत्तयाऽवभासो भवति, सत्त्वस्य पराभवे सति रजस्तमसोरुत्कटत्वे च न सात्त्विकं यथार्थं सर्वं कार्यं भवति, सत्त्वसमुद्रेके तु शान्तां स्वां वृत्तिमुपलभ्य यथावत्कार्यमनुभूय निर्वर्तयतीति–सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वम् , तदेव सत्त्वं रजोगुणेन चालितं सत् कार्यं जनयेद् यद्यावरकेण तमसा न नियम्येतेति–रजसः प्रवर्तकत्वं विज्ञेयम्, तमसः प्राधान्ये सति तु किमपि कार्यं न भवति, तस्मात् तमसो नियमनप्रयोजनकत्वं विज्ञेयमिति, 'इतश्चोपलक्षणं–सत्त्वगुणः–प्रीतिसरलता-ह्री-श्रद्धा क्षमाऽनुकम्पा-ज्ञान-प्रसाद-लघुता–तितिक्षा–सुख सन्तोषाद्यनेकस्वभावः, रजोगुणः–प्रद्वेष–मत्सर-निन्दा-पराभव-शोक-दुःखादिस्वभावः, तमोगुणः-वञ्चन-भय-नास्तिक्य-कौटिल्यकार्पण्याऽज्ञान-निद्रा-मोहस्वभाव इति। तदेवं प्रकृत्यात्मकं त्रिगुणं प्रत्येकमेकमेवेति-सत्त्वमेकमेवेति, रज एकमेवेति, तम एकमेवेति, ये च कार्यात्मका गुणाः प्रतिव्यक्तिभिन्नास्ते त्वनेके, अनेके सत्त्वगुणाः, अनेके रजोगुणाः, अनेके तमोगुणाः ॥ उक्तश्च तेषां स्वभावः सांख्ये 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टंभकं चलञ्च रजः । गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्ति'रिति, । सत्त्वगुणस्य स्वभावो लाघवम्,

तच्च कार्योद्गमने कारणीभूतधर्मो गौरवप्रतिद्वन्द्वी भवति, यतोऽग्नेरूर्ध्वं ज्वलनं भवति, तदेव लाघवं वायोस्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, शरीरेऽपि सत्त्वाऽऽधिक्येनैवाऽङ्गानां लघुताया उपलब्धेः, करणानामिन्द्रियाणां च विषयग्रहणसामर्थ्यदर्शनेन सूचितपटुत्वहेतुर्लाघवम्, लाघवाऽभावे तु गुरूणीन्द्रियाणि मन्दानि स्युरिति। प्रकाशकत्वञ्च–निर्मलतया यथार्थत्वेनाऽर्थावभासकत्वम्, बुद्ध्यादिकं सत्त्वप्रधानं सत् प्रत्यक्षानुमेयाद्यर्थाऽवभासकं भवति। इन्द्रियाणि चाऽर्थसन्निकर्षे सत्यर्थाऽवभासकानि भवन्ति, सत्त्वाऽभावे तु रजस्तमःप्रभावेणाऽन्यत्रस्थिते प्रवृत्तिनियमने भवत इति, तस्मात् सर्वत्र सत्त्वस्यैव प्रकाशकत्वं लघुत्वञ्चेति॥ रजोगुणस्य स्वभावः–उपष्टम्भकत्वम्,–प्रवृत्तिरिति यावत्, सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वस्वकार्यजननप्रवृत्तिं प्रति शिथिलीभूते भवतः, ते रजोगुणेनोपष्टभ्येते–शैथिल्यात्प्रच्याव्य स्वस्वकार्ये प्रकाशाख्ये नियमने वा प्रयत्नं कार्येते। अतो गुणानां–स्वस्वकार्यानुकूलप्रयत्नकारणत्वमुपष्टम्भकत्वं रजोगुणस्य स्वभाव इति। प्रयत्नजनकत्वन्तु सक्रिये पदार्थे संभवति, तस्मादिदं रजश्चलं सक्रियमिति॥ तमोगुणस्य स्वभावो गुरुत्वम्, बुद्ध्यादीनामिन्द्रियाणां च गुरुत्वसम्पादकं तम एव, यत्र यत्र तमस्तत्र तत्र गुरुत्वमिति व्याप्तेः, चलस्वभावस्तावद्रजोगुणः–परितश्चाञ्चल्यं चालयन्नपि गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा प्रवृत्तिप्रकाशप्रतिबन्धकेन तत्र तत्र कचिन्निरुध्यते तदा न भवति प्रकाशनं प्रवृत्तिर्वेति। नियमनञ्च–यत्र गुरुत्वमावरणत्वञ्च तत्रैव दृश्यते यथा पाषाणे, तमोगुणेऽपि वरणकत्वं भवत्येवेति, वरणकत्वं नाम–विषयाऽवभासप्रतिबन्धकत्वमिति। तदेतद्दृश्यम्–पुरुषेण सह संसारदशायां संयोगस्वभावं मुक्तिदशायां वियोगस्वभावमिति भवति॥ भवति च दृश्यं–'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गं सावयवं परतन्त्रञ्चेति, तत्र मूलप्रकृतिः कारणं बुद्ध्यादेरतः प्रकृतिकारणकत्वं–हेतुमत्त्वम्, प्रतिसर्गावस्थायां बुद्धिपर्यन्तानां यावतां विकाराणां प्रकृतौ लयो भवति, अतस्तिरोभावस्वभावत्वम्–अनित्यत्वमिति, अव्यापि-बुद्धिरूपं कार्यम्–अव्यापकं व्याप्यमिति, भवति हि कारणं व्यापकं कार्यन्तु व्याप्यमिति, कारणेन कार्यं व्याप्तम्, न तु कार्येण कारणमिति, । न च बुद्ध्यादयः प्रकृतिं व्याप्नुवन्तीत्यव्यापका बुद्ध्यादय इति। 'सक्रियं–क्रिया नाम–व्यापारः, स्वस्वव्यापारवत्त्वमिति यावत्, यथा बुद्धेरध्यवसायो व्यापारः, तथाऽहङ्कारस्याऽभिमानम्, मनसः संकल्पः, श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणां शब्दादयः, कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः, पञ्चतन्मात्राणां भूतानि, भूतानां तु घटादय इति। 'अनेकम्–बुद्ध्यादयो हि प्रतिव्यक्तिभिन्नाः सन्ति, एवं घटपटादिरूपमनेकविधं भवति दृश्यमवस्थितमिति, आश्रितम्–स्वस्वकारणे तादात्म्येन सम्बन्धेन वृत्तिमत्, सांख्ययोगानां मते यावतां कार्याणां स्वकारणे तादात्म्येनैव वृत्तिताऽभिमता भवति बुद्ध्यादिकं सर्वं स्वकारणे

तादात्म्येन तिष्ठतीति भावः । 'लिङ्गम्–लिङ्गयति ज्ञापयति–अर्थानिति लिङ्गं ज्ञापकं स्वकारणानुमितिजनकम्, यथा–'बुद्धिः–स्वसदृशसुखाद्यात्मककारणिका, सुखाद्यात्मककार्यत्वात्' इत्यनेन बुद्धौ प्रकृतिकारणकत्वे साधिते–'प्रकृतिः–बुद्धिकारणम्, बुद्धेः आविर्भावतिरोभावक्षेत्रत्वात्, इत्यनेन प्रकृतौ बुद्धिकारणत्वं सिद्धम्, तथाच प्रकृतिसिद्धिर्बुद्ध्यादिना भवतीति । अथवा–लयं गच्छतीति लिङ्गम्, भवति च बुद्धिः–स्वकारणे प्रकृतौ लयतामापन्ना प्रलयकाले इति । सावयवम्–अवयवा नाम-उपादानकारणानि, तैः सह वर्तमानं सावयवम्, भवति हि घटादिबुद्ध्यन्तानामुपादानकारणवत्त्वमिति । 'परतन्त्रं–स्वकार्यजनने सहकारिकारणाऽपेक्षमिति, बुद्धिर्हि स्वकार्येऽहंकारे जननीये प्रकृतिसाहाय्यमपेक्षते, अन्यथा क्षीणा सती नाऽहंकारमुत्पादयितुं समर्था भवतीति ॥ किञ्च–भवति दृश्यम्–अविवेकि–विषयः–सामान्यम्–अचेतनम्–प्रसवधर्मि चेति । तत्र–अविवेकित्वं–स्वकारणान्न विविच्यते भिद्यते इत्यविवेकि, स्वकारणाऽभिन्नमिति यावत् । 'विषयः–उपभोगसाधनम्–भोग्यमित्यर्थः, त्रिगुणात्मकं सर्वमपि भवति पुरुषस्य भोग्यमिति 'सामान्यम्–घटादिवदनेकैः पुरुषैर्गृहीतम्, पण्यस्त्रीवत् सर्वैः पुरुषैर्भोग्यम्–सर्वान्प्रति साधारणमिति यावत्, यथा नर्तकीभ्रूलताभङ्ग एकस्मिन् बहूनां प्रेक्षकाणां प्रतिसन्धानं युज्यते तथा बुद्ध्यादावपि भोग्यत्वम् । 'अचेतनत्वं–सर्वमपि त्रिगुणात्मकं कार्यं भवति–अनित्यं जडरूपमचेतनमिति । 'प्रसवधर्मि–प्रसवरूपो धर्मोऽस्याऽस्तीति–प्रसवधर्मि परिणामीति यावत् । तच्च भूतेन्द्रियात्मकम्–महदादिविशेषभूतपर्यन्तम् यथाहि–महत्तत्त्वाऽहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपञ्चभूतात्मकं सूक्ष्मस्थूलरूपं परिणतं भवतीति ॥ तच्च नाऽप्रयोजनम्, अपि तु पुरुषस्य भोगापवर्गार्थमेव प्रवर्तते, अत एवाऽऽत्मनि भोगसम्पादनानन्तरं तदेव दृश्यं शरीरं सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानद्वारा नित्यमपवर्गं ददाति । अतएव भोगाऽपवर्गलक्षणपुरुषार्थावगम एव प्रयोजनमिति १८

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदान् दर्शयति—

## विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

त्रिगुणं दृश्यं चतुर्धाऽवस्थितम्, विशेषस्वरूपम्, अविशेषस्वरूपम्, लिङ्गमात्रस्वरूपम्, अलिङ्गमात्रस्वरूपञ्चेति । तत्र विशेषाः स्थूला योग्याः शब्दादयः पञ्च शान्तघोरमूढस्वरूपाः पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकाः, विशेषत्वं नाम अस्मदिन्द्रियप्रयोज्यलौकिकसन्निकर्षग्रहणयोग्यत्वम्, पृथिव्यादिपञ्चभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणवन्ति तानि भवन्त्यस्मदिन्द्रियप्रत्यक्षयोग्यानि, तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिव्यादिपञ्चभूतवृत्तिशब्दादयः स्थूला अपि अस्मदिन्द्रियग्रहणयोग्या भवन्तीति । अथवा सूक्ष्माणां श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनसामेकादशाना-

मिन्द्रियाणामपि शान्तघोरमूढत्वादिधर्मवत्त्वेन विशेषत्वमिति योगाचार्याऽभिमतविशेषत्वसम्पादनाय शान्तघोरमूढत्वाश्रयात्मकत्वं विशेषाणां सामान्यलक्षणं, तथा चाऽनुमितं 'स्थूलशब्दाद्यात्मकानि पञ्चभूतान्येकादशेन्द्रियाणि च, विशेषाः, शान्तघोरमूढत्वाद्याश्रयात्मकत्वादिति। शान्तेत्युपलक्षणम्, तेन सुखाः प्रकाशा लघवश्चेति ग्राह्यम्, घोरेत्युपलक्षणम्, तेन दुःखत्वमनवस्थितत्वं चेति ग्राह्यम्, मूढेत्युपलक्षणम्, तेन विषण्णा गुरवश्चेति ग्राह्यम्, भवन्ति च भूतेन्द्रियेषु केचित्सत्त्वप्रधानतया शान्ताः सुखकराः प्रकाशा लघवश्चेति, एवं केचिद् रजःप्रधानतया घोरा दुःखा अनवस्थिताश्चेति, एवं केचित् तमःप्रधानतया मूढा विषण्णा गुरवश्चेति। तेऽमी शान्तत्वादयो धर्माः सुखदुःखमोहैर्व्यासाः स्थूलभूतेष्वेकादशेन्द्रियेषु चोपलभ्यन्ते अतएव तानि सर्वाणि विशेषा इत्युच्यन्ते। विशेषाश्च त्रिधा भवन्ति, सूक्ष्माः, मातापितृजाः, पञ्चमहाभूतानि चेति, तत्र सूक्ष्माः सूक्ष्माणीन्द्रियाण्येकादशविधानि, तान्येको विशेष इति। यद्यपि सात्त्विकाहंकारादुत्पन्नानीन्द्रियाणि सात्त्विकान्येव भवितुमर्हन्ति, नतु घोरमूढात्मकान्यपि, तथापि शान्तघोरमूढात्मकविषयग्राहकत्वेन तादृशविषयाकारपरिणतवृत्तिजनकानि तादृशवृत्त्यभिन्नानि तानि सुखदुःखमोहात्मकान्येव भवन्तीति बोध्यम्। एवं पञ्चतन्मात्राणि तामसाहंकारादुत्पन्नानि तानि तामसान्येव भवितुमर्हन्ति नतु केवलानि शान्तरूपाणीति, तथा च तान्यपि विशेषाऽपि भवितुं योग्यानि, तथापि तानि सर्वथा दिव्यतया सुखमात्रसम्पादकतया देवानां दिव्यलोचनानां महर्षीणां योगिनाञ्च शान्तस्वरूपेणाऽनुभवविषयतया शान्तस्वरूपाण्येव भवन्ति, अतोऽविशेषा उच्यन्ते वक्ष्यामश्चाऽधिकमविशेषनिरूपणाऽवसरे। वाचस्पतिमिश्रास्तु सूक्ष्माः सूक्ष्मदेहम्, महदहंकारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तं शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद् 'विशेष' इति विवेचयन्ति। तत्तु न समीचीनम्। यतस्तथासति तुल्ययुक्त्या तन्मात्रैरविशेषैरप्यन्वितत्वेन सूक्ष्मशरीरमविशेषमपि स्यात्, इति तेन विरुद्धयोर्विशेषत्वाऽविशेषत्वयोरेकत्र समावेशे साङ्कर्यप्रसङ्गेन विशेषात्मकमविशेषात्मकं च तत्त्वं किमपि निर्विवादं न सिद्ध्येत्। किञ्च शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वेन यदि सूक्ष्मं शरीरं विशेषः स्यात् तदा सूक्ष्मशरीरान्तर्गतानां तादृशेन्द्रियैरन्वितानां तन्मात्रमनोऽहंकारबुद्धीनामपि तन्मते विशेषत्वाऽऽपत्तिः स्यादिति। तस्मात्सूक्ष्मपदेनेन्द्रियाण्येव ग्राह्याणीति। एतेन 'सूक्ष्मं शरीरमेकादशेन्द्रियबुद्ध्यहंकारपञ्चतन्मात्राणां संघातरूपं भवति तच्च सुखदुःखमोहाद्युपभोगजनकमपि भवति, अतएवाऽष्टादशतत्त्वानां संघातरूपं सूक्ष्मं शरीरमिति व्याख्यते नतु प्रत्येकं तत्त्वम्। नहि केवला बुद्धिः सप्तदशतत्त्वसंघातमन्तरेण पुण्यपापोपभोगं दातुं समर्था न वा केवलोऽहंकारस्तदितरसप्तदशतत्त्वसंघातमन्तरेणाऽभिमत्योपभोगं दातुं समर्थः न वा

तथैव केवलं मनः संकल्प्य पुरुषायोपभोगं दातुं शक्तम् । न वा केवलं तत्तदिन्द्रियं स्वस्वविषयमालोच्याऽऽत्मने तदुपभोगं दातुं समर्थं भवति, अत एवाऽष्टादशतत्त्वानां मध्ये प्रत्येकस्य स्वेतराऽपेक्षारहितस्य सुखदुःखमोहात्मकभोगसम्पादकत्वं कदाचिदपि न संभवति किन्तु मिलित्वा संघातरूपं सूक्ष्मं शरीरं सुखदुःखमोहान् समर्पयत्यात्मने, तस्मात् 'सूक्ष्म'पदेन सूक्ष्मं शरीरं विशेषत्वेन कल्पित'मिति केषाञ्चिन्मतं—निरस्तम् । केचित्तु तन्मात्राणि विहाय दशेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धीनामात्मनि सुखदुःखभोगस्य सम्पादकत्वात् 'सूक्ष्मपदेन' दशेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिरूपो गणः सूक्ष्मविशेषपदवाच्य इत्यपि वदन्ति । तच्चु चिन्तनीयम् ॥ अथ द्वितीयो विशेषः 'मातृपितृजाः षाट्कौशिकाः, पञ्चभूतेभ्यः परिणतेभ्य उत्पद्यमानाः स्थूलशरीरात्मकाः षट्कोशाः, तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतः—स्नाय्वस्थिमज्जानः, तैः षट्कोशैः सम्भूतमिदं स्थूलं शरीरं द्वितीयो विशेषः, शान्तघोरमूढरूपत्वादिति ॥ तृतीयो विशेषस्तु पञ्चमहाभूतानि शरीरातिरिक्तानि घटपर्वतादिपृथिवीसमुद्रादिजलमहातेजोमहावायुमहदाकाशादीनीति बोध्यम् ॥ अथ अविशेषाः, 'अविशेषत्वं नाम अस्मदिन्द्रियप्रत्यक्षाऽयोग्यत्वम् । भवन्ति च तादृशानि शब्दादिपञ्चतन्मात्राण्यहंकारश्चेति, नास्ति विशेषः शान्तघोरमूढत्वादिरूपो यत्र इत्यविशेषम्, शान्तघोरमूढरूपता हि स्थूलभूतेष्वेवोपलभ्यते, एवमिन्द्रियेष्वपि, अतो भवति भूतेन्द्रियाणां विशेषत्वं, न तु तन्मात्राऽहंकारेषु शान्तघोरमूढता कदाचिदपि समुपलभ्यते, तेषां शान्तैकरूपतयाऽवस्थानात्, ते च शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमहङ्कारश्चेति षड् अविशेषाः, उक्तञ्च विष्णुपुराणे 'तन्मात्राण्यविशेषाणि—अविशेषास्ततो हि ते । न शान्ता नाऽपि घोरास्ते न मूढाश्चाऽविशेषिणः' इति ।

'लिङ्गमात्रम् बुद्धितत्त्वम्, तच्च—अविशेषेभ्यः पूर्वमुत्पन्नम्, अतो जगदङ्कुररूपम्, महत्तत्त्वं हि सर्गादौ सर्वं जगदवभासयदेवोदेति, अध्यवसायाऽतिरिक्तस्तु व्यापारोऽभिमानाद्यात्मकः पश्चादेवाऽहंकारादुत्पन्नो भवति, अतो बुद्धिः—लिङ्गमात्रमित्युच्यते । तथाच स्मृतिः—'ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालनोदितात् । विज्ञानात्माऽस्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जं तमोनुदः'—इति । अत्र लिङ्गपदस्य—लयं गच्छतीति तु नार्थः, तथा सत्यहंकारादेरप्येतत्सूत्रोक्तलिङ्गमात्रताऽऽपत्तेः, किन्तु लिङ्गशरीरे यत्प्रधानं मुख्यं तदेवात्र लिङ्गमात्रमुक्तम्, यतोऽन्द्रियमनोऽहंकाराः सत्त्वरजस्तमसां विकाराः परस्परविरोधस्वभावा अपि भोगाऽपवर्गात्मकेन पुरुषार्थेनैकवाक्यतां नीताः सन्तः पुरुषभृत्युपभोगार्थं समग्रं स्वस्वविषयमालोच्य संकल्प्याऽभिमत्य च बुद्धावध्यवसायार्थमर्पयन्ति, यथा स्थायुको ग्रामणिभ्यः करमादाय गोपाय प्रयच्छति, गोपश्च राष्ट्राध्यक्षाय, राष्ट्राध्यक्षश्च प्रधानमन्त्रिणे, स च भूपतये

इति । तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्याहंकाराय, अहंकारश्चाऽभिमत्य राज्याध्यक्षभूतायै बुद्धये समर्पयतीति, तस्माद् बुद्धिः प्रधानम् अन्तःकरणम्, अतो लिङ्गमात्रमित्युच्यते । भोगाऽपवर्गौ हि पुरुषार्थः, तत्र भोगात्मकपुरुषार्थस्य साक्षात्सम्पादकं प्रधानं करणं लिङ्गमिति, बुद्धिश्च पुरुषार्थस्य साक्षात् सम्पादिका अतः प्रधानं लिङ्गमिति । एवं प्रधानं करणं व्यापकं सर्वसत्तामद्भवति । बुद्धिर्हि सर्वकरणानां पुरुषार्थसाधनत्वस्य साक्षात्परम्परया वा सम्पादिका अत एव भवति सर्वकरणाऽपेक्षया स्वतन्त्रसत्तावती । तथाचाऽनुमानानि 'बुद्धिः—प्रधानं लिङ्गं,—तदन्यकरणेषु पुरुषार्थसाधनतासम्पादकत्वात् । 'बुद्धिः—भवति प्रधानं लिङ्गम्,—पुरुषे साक्षादुपभोगस्य सम्पादकत्वात् । 'बुद्धिः—भवति प्रधानं लिङ्गं,—दशेन्द्रियग्राह्यविभिन्नविषयविषयकसंस्कारैकाऽधारत्वात् । 'बुद्धिः—भवति प्रधानं लिङ्गम्,—प्रकृतिजन्यत्वे सत्यहंकारादीनां जनकत्वात् । बुद्धिः—भवति प्रधानं लिङ्गं, तत्त्वज्ञानेनाऽहंकारमनसोः स्वस्वव्यापारसहितयोर्लये सत्यपि स्मरणाऽधिकरणत्वेनाऽवस्थानात् । 'बुद्धिः—भवति प्रधानं लिङ्गम्, पुरुषप्रतिबिम्बस्य साक्षादाधारत्वादिति । अशेषसंस्काराऽधारतया बुद्धेरेव सर्वेभ्यः प्रधानत्वम् । एवम् -'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यादिश्रुत्या निदिध्यासनस्य सर्ववृत्तिषु श्रेष्ठत्वकथनेन-'बुद्धिः—भवति प्रधानं लिङ्गं,-निदिध्यासनात्मकवृत्त्यधिकरणत्वादिति ॥ सा च बुद्धिः साक्षादपवर्गलक्षणस्याऽपि पुरुषार्थस्य सम्पादिका भवति—पुरुषे, दुर्लक्ष्यं यत्प्रधानपुरुषयोरन्तरं—'प्रधानं सविकारमन्यत्—अहं च चेतनोऽन्य' इति विद्यमानमप्यविवेकेनाऽविद्यमानमिव स्थितं मेदं विशिनष्टि तथाच 'बुद्धिः—प्रधानं लिङ्गम्,—पुरुषस्याऽपवर्गबोधकत्वादि'त्यनुमितम् । अतः सिद्धं—बुद्धेः प्रधानकरणत्वं प्रधानलिङ्गत्वं लिङ्गमात्रत्वमिति । 'अलिङ्ग—गुणसाम्यावस्थात्मिका प्रकृतिः, प्रतिसर्गावस्थायां पृथिव्यादिभूतानि तन्मात्रेषु सूक्ष्मशब्दादिषु तिरोभवन्ति, तन्मात्रादयश्चाऽहंकारे, अहंकारश्च बुद्धौ स्वकारणे, बुद्धिश्च स्वकारणे त्रिगुणात्मके प्रधाने तिरोभवति, तदेव लिङ्गमात्रस्य तिरोभावस्थानं प्रधानम्—अलिङ्गमित्युच्यते लिङ्गमात्राद्यवस्थात्मकं बुद्ध्यादिकन्तु कार्यं पुरुषार्थेन कृतं अतोऽनित्यं भवति, अलिंगावस्थं प्रधानन्तु पुरुषार्थेन न कृतं तस्मान्नित्यमिति, अतोऽत्र—न लयं गच्छतीत्यलिङ्गमित्यर्थो घटते । यदि ह्यलिंगावस्था प्रकृतिः शब्दाद्युपभोगं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिं वा पुरुषार्थं वा निर्वर्तयेत् तर्ह्यलिङ्गाऽवस्थायां पुरुषार्थता तत्कारणं स्यात्, किन्तु तथा सति साम्यावस्था नोपपद्येत, तस्मादलिंगावस्थायां पुरुषार्थो न कारणमिति साम्यावस्थात्मकप्रकृतिरलिंगादपदवाच्येति । सा च प्रकृतिः—'विशेषाऽविशेषलिंगमात्रात्मकत्रयोविंशतितत्त्वानां कारणीभूतसत्त्वरजस्तमःस्वरूपा सूक्ष्मद्रव्यमिति, गुणशब्दश्च तेषु पुरुषोपकरणत्वात् प्रतिपुरुषं बन्धनकर्तृत्वाच्च प्रयुज्यते,

तच्च गुणत्रयं सुखदुःखमोहधर्मकत्वात् त्रिगुणमित्युच्यते, पुरुषाणां सर्वार्थसाधकत्वाद् राजाऽमात्यवत् प्रधानमित्युच्यते, जगदुपादानत्वान्मूलप्रकृतिरित्युच्यते, मूलं चाऽसौ प्रकृतिः, जगतः कार्यसंघातस्य मूलं प्रादुर्भावकारणं साऽस्तीति, न च पुनरस्याः कारणान्तरमुपलभ्यतेऽतोऽविकृतिरप्युच्यते। तथा च 'अजन्यत्वे सति जनकत्वं लक्षणमुपपन्नम् तदुक्तं 'सत्त्वं रजस्तम इति–एषैव प्रकृतिः सदा। एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारे परं पदमि'ति। तानि च विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि–गुणानां सत्त्वरजस्तमसां पर्वाणि–अवस्थाविशेषा इति ॥ १९ ॥

अथ द्रष्टुः स्वरूपं दर्शयति—

## ॥ द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

द्रष्टा–बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः,–दृशिमात्रः–चेतनामात्र इति, सच्चिदानन्दः पुरुष इत्यर्थः, अत एव 'शुद्धः–परिणामित्वजडत्वादिप्रकृतिधर्मरहितः–स्वरूपमात्रप्रतिष्ठ इति भवति, यत्र वृत्तिमत्त्वं तत्रैव परिणामित्वम्, प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका प्रसवधर्मिणी बुद्ध्याकारेण परिणमते, बुद्धिश्च प्रमाणादिवृत्तिरूपेण परिणमते जाग्रदवस्थायाम्, अतो ज्ञातविषया, पूर्णसुषुप्तौ तु वृत्तिराहित्येनाऽज्ञातविषया भवति, अतः परिणामस्वभावा–इति भवति, न च पुरुषस्तथा प्रमाणादिवृत्तिरूपपरिणामोपादानं, येन तत्र परिणामित्वं कल्प्येत, चेतनभिन्नपदार्थस्यैव परिणामस्वभावत्वं संहतत्वं च युक्तमिति, पुरुषस्त्वसंहतोऽतः स्वार्थ इति, बुद्धिस्तु परार्था, संघातत्वात्–शयनाऽऽसनाऽभ्यंगादिवत्। परत्वं चात्र भोक्तृत्वं, योहि भोक्तृतया स्वार्थः परो भवति स आत्मा, एवम्–अत्रिगुणत्वमविवेकित्वमविषयत्वमसाधारणत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वं चेत्यादिधर्मवत्त्वादात्मा भवति साक्षीति। चेतनो हि साक्षी द्रष्टा च भवति न त्वचेतनः, अचेतनस्य तु दृश्यत्वमेव युक्तम्, यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी–यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः, एवं प्रकृतिः स्वचरितं विषयं–पुरुषाय दर्शयति तस्मात् पुरुषः साक्षी, अथवा बुद्ध्या सह साक्षात्सम्बन्धाद् भवति साक्षित्वं 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञाया'मिति साक्षिशब्दस्य निर्वचनात् बुद्धेरेव साक्षी पुरुषः, साक्षित्वञ्च–बुद्ध्यवगतविषयाऽनुसन्धातृत्वे सति चेतनत्वं, तच्चाऽऽत्मनीति भावः। अतएव शुद्धः–कैवल्ययोगीति, आत्यन्तिको दुःखत्रयभोगाऽभावो हि कैवल्यम्, तच्च पुरुषे स्वाभाविकादेवाऽत्रैगुण्यात् संभवतीति। किन्तु–यावच्छरीरसम्बन्धस्तावदविद्यया–बुद्ध्या सहाऽभिन्नतामाप्त इव प्रत्ययाऽनुपश्यो भवति यथा निर्मले सलिलेऽसंक्रान्तोऽपि, शशांकः संक्रान्तप्रतिबिम्बतया संक्रान्त इव, तथाऽसंक्रान्तोऽपि संक्रान्तप्रतिबिम्बश्चेतनः संक्रान्त इव, तेन बुद्ध्यभिन्नत्वमापन्नो बुद्धिमनुपश्यति बुद्ध्याख्यं प्रत्ययम्–अनुकारेण पश्यतीति–अनुपश्यः,

तावत् संसारीत्युच्यते, प्राप्ते बुद्धिभेदे तु–ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति पुरुष इति ॥ २० ॥

दृश्यस्य द्रष्टृर्थत्वमुच्यते—

## तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

तस्य दृशिमात्रस्य चेतनस्य भोक्तुः–भोगकर्मताऽऽपन्नं दृश्यमिति, तस्माद् द्रष्टर्थं एव दृश्यस्य बुद्धितत्त्वस्य आत्मा–स्वरूपं भवतीति न तु दृश्यार्थमिति । 'सन्ति च भूतेन्द्रियप्राणतन्मात्राऽहंकारमहदव्यक्तानि,–परार्थानि, संहतत्वादिति' । ननु शयनाऽऽसनादयः सङ्घाताः संहतशरीराद्यर्था दृष्टाः, न त्वदृश्याऽतिरिक्तं परं भोक्तारं पुरुषं प्रति परार्थाः, तस्माद् भोक्तृतया परमपि पुरुषं सङ्घातान्तरमेव–सङ्घातस्वरूपात्मकमेव गमयेयुर्न त्वसंहतमिति चेन्न । शयनाऽऽसनादीनां संघातान्तरार्थत्वे तस्याऽपि सङ्घातत्वेन तेनाऽपि सङ्घातान्तरार्थत्वेन भवितव्यम्, एवं तेनाऽपि सङ्घातान्तरार्थत्वेनेत्यनवस्था स्यात्, न च व्यवस्थायां सत्यामनवस्था युक्ता । व्यवस्था तु यत्र त्रिगुणत्वं तत्रैव संहतत्वम्, त्रिगुणा च दृश्यजनिका प्रकृतिर्नित्या संहता, सा परार्थेन मान्या, परश्च पुरुषस्त्रिगुणत्वरहितोऽसंहतोऽपरार्थश्चेति, तस्माद् दृश्यमेव परार्थं, न तु पुरुषः, स तु स्वार्थः शुद्ध इति ॥ भोग्यं च भवति सुखदुःखात्मकं दृश्यमेव, भोगापवर्गात्मकमेव भोग्यस्य प्रयोजनम्, सुखदुःखे चानुकूलयितृप्रतिकूलयितृणी भोग्यत्वेन पुरुषार्थे एव व्यवतिष्ठेते, शब्दादयो विषयाश्चाऽपि तादात्म्येनैवाऽनुकूलयितारः प्रतिकूलयितारश्च भवन्तीति, न च त एव स्वयं स्वेषामनुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा भवितुं शक्याः, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, अतश्चेतन एवाऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयश्च भवितुं योग्यः, अतः पुरुषार्थमेव दृश्यं न तु दृश्यार्थम्, तस्माद् दृश्यस्याऽऽत्मा पुरुषप्रयोजनक इति । यावद्भोगापवर्गात्मकं प्रयोजनं पुरुषस्य तावद् दृश्यस्य स्वरूपमप्यनुवर्तते, पुरुषार्थे निवर्तिते च सति निवर्तते दृश्यमिति, भोगः–सुखाद्याकारो विषयाऽनुभवः । अपवर्गः–सत्त्वपुरुषान्यताऽनुभवः, तदुभयं बुद्धिप्रतिबिम्बितः सन् पुरुषो विन्दते, भोगापवर्गयोः कृतयोस्तु दृश्यस्य भोगाऽपवर्गार्थता परिसमाप्यते, तथा सति च दृश्यं न पुनर्मुक्तेन पुरुषेण दृश्यते, उक्तं च सांख्यकारिकासु 'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्ये'ति । तस्मात् याम्प्रति चरितार्था तान्प्रति न प्रवर्तत इति ॥ २१ ॥

दृश्यं मुक्तपुरुषं प्रत्यप्रवृत्तं सल्लीनमपि स्वरूपतो न नश्यति, कुतः ?—

## कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

दृश्यात्मकप्रकृतेः स्वरूपतो विनाशे सति तु संसारप्रवाहस्तावद्विच्छिन्नः स्यादिति, तस्मान्नित्यमसङ्ख्यदृश्यात्मकं प्रकृतितत्त्वं कृतभोगापवर्गात्मकप्रयोजनं पुरुषं प्रति नष्टं निवृत्तं भवति, ये पुनरकृतभोगापवर्गात्मकप्रयोजनास्तान् प्रति तु न निवृत्तं भवति किन्तु प्रवृत्तमेव, अतस्तान्प्रति तु प्रकृतिस्वरूपमनष्टमनिवृत्तं सद्-भोगकर्मतापन्नं वर्तते, यतो हि—बुद्ध्याद्यन्तःकरणानामसंख्यानां जनकं प्रकृतितत्त्वमेकमेव, यथाऽगणितपत्राणां जनकं वृक्षमेकमेवेति, तत्रैकस्य पर्णस्य वियोगे सत्यपि न वृक्षो नश्यति—तथैवैकस्य बुद्धितत्त्वस्यैकं पुरुषं प्रति निवृत्तौ सत्यामपि वृक्षस्थानापन्नं प्रकृतितत्त्वं न नश्यतीति, तस्याऽनवयवाद् व्यापकत्वान्नित्यत्वात् संसारकार्यजनकशक्तिमत्त्वात् सर्वसाधारणत्वाच्च, उक्तं च श्रुतौ—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य' इति । अतएवाऽनन्तानां जीवानां मध्यतः केचित्—प्रकृतिं मुक्त्वाज्ञानात्ततः कैवल्यं गच्छन्ति, केचित्तु अमुक्ता एव प्रकृतिमनुयान्ति, तस्मात् संसारप्रवाहचक्रमविच्छिन्नमनिशमावर्तते—इति ॥ २२ ॥

संसारप्रवाहस्याऽनादित्वेन संसारिणोऽपि जीवा अनादिनो नित्येन प्रकृतितत्त्वेन समावृत्ताः प्रकृतिकार्यात्मकब्रह्माण्डान्तर्गता एव वर्तमानास्तिष्ठन्ति, न तु प्रकृतितत्त्वाऽऽवरणं विहाय तद्बहिः स्थातुं शक्ताः, विवेकख्यात्यभावात्, भवति च सामान्यतो मायालोको ब्रह्मलोकश्चेति विभागद्वयम्, तत्र—मायालोकः—संसारः, तत्र स्थिताः संसारिणः, ब्रह्मलोकश्च मुक्तिस्थानम्, तत्र स्थिता मुक्ता इति । ये विवेकख्यातिरहितास्ते तु यावन्न मुक्तिं गच्छन्ति तावत्प्रकृतितत्त्ववेष्टिता एव नैरन्तर्येण वर्तन्ते, एवं च प्रकृतिरपि नित्या पुरुषा अपि नित्याः, प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वाद् द्रव्यात्मकत्वाच्च भवति कश्चित्संसर्गोऽनादिस्तयोः, स चाऽनादिः संयोग इत्युच्यते सांख्ययोगैः, द्वयोर्द्रव्ययोरनादित्वेन संसृष्टत्वात् संयोगात्मकसंसर्गस्याऽनादित्वमिति कल्प्यते, स चाऽयं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगो मोक्षावस्थाप्रतिबन्धकमात्रो न तु भोगप्रदोऽपि, भोगप्रदस्तु संयोगो बुद्धिपुरुषयोः संसर्ग एव, यदा हि सर्गादौ प्रकृतितोऽसंख्यानि बुद्धितत्त्वानि प्रादुर्भवन्ति तत्तद्बुद्धितत्त्वेन संयुक्तो यदा भवति पुरुषस्तत आरभ्य एव भोगमनुभवति चेतनः, न तु तत्पूर्वं प्रकृत्या सह संसृष्टोऽपि भोगान् भुङ्क्ते । अयमेव प्रकृतिपुरुषसंयोगाद् बुद्धिपुरुषसंयोगे विशेषः, अतएव प्रकृत्या सह नित्यसंयुक्तोऽपि पुरुषो भोगाऽपवर्गार्थं पुनः संयुज्यते इति सिद्धान्तः संगच्छते । 'प्रकृत्या सह संयुक्तोऽपि पुनस्तत्कार्याऽऽत्मकसूक्ष्मशरीरेण बुद्ध्यादिना सह संयुज्यते' इति

तात्पर्यात् । तथा च—समुपपन्नः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगोऽनादिः, बुद्धिपुरुषसंयोगस्तु नाऽनादिः, किन्तु तत्प्रवाहोऽनादिरिति सिद्धान्तः । अतो बुद्धिपुरुषयोर्यः संयोगः स एव—

## स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥२३॥

स्वशक्तिः—दृश्यं बुद्धितत्त्वम्, स्वामिशक्तिः—भोक्ता पुरुषः, यतो दृश्यं पुरुषार्थमेव,—अतस्तज्जनितमुपकारं भजमानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति, भवति च दृश्यमस्य पुरुषस्य स्वम्, स चाऽनयोः संयोगो द्वयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुरिति, तत्र सुखदुःखात्मकस्य दृश्यस्वरूपस्य या उपलब्धिः—स भोगः, सच्चिदानन्दस्य पुरुषस्वरूपस्योपलब्धिस्त्वपवर्ग इति, भोगाऽपवर्गात्मकोपलब्धेर्हेतुः सः संयोग इति, स च यावदविद्यासत्ताभावी विवेकख्यात्यवसान इति, तस्मात् संयोगकारणमविद्या, वियोगकारणं विवेकख्यातिरिति, विवेकख्यात्याऽविद्या समूला विनश्यतीति ॥२३॥

सन्ति हि बुद्धिपुरुषयोः संयोगहेतौ वादिनां विकल्पाः, तत्र केचिद् गुणानां कार्याऽऽरम्भणसामर्थ्यं शक्तिविशेषमेव संयोगकारणमाहुः, केचिच्च—अनागतावस्थयोः स्वकारणे चित्तेऽवस्थितयोर्भोगाऽपवर्गयोरेव संयोगप्रयोजकत्वमिति वदन्ति, अपरे तु—चित्तस्थानां सृष्ट्यारम्भकसंस्काराणां संयोगकारणत्वमिति स्वीकुर्वन्ति, अन्ये तु बुद्धितत्त्वमेव संयोगहेतुरिति मन्यन्ते, केचिच्च विवेकख्यात्यनुत्पादरूपां—विवेकख्यातिप्रागभावाऽभिधानां बुद्धिशक्तिमेव संयोगकारणमाहुः, केचित्तु—प्रकृतिरेव नित्या संयोगकारणमित्याहुः, आचार्यास्तु—

## तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

अविद्या—पञ्चपर्वा क्लेशात्मिकाऽविद्या संसारसम्पादनाय स्वकारणेन बुद्धितत्त्वेन सह त्रिगुणेषु लीना सती कारणात्मिका वर्तते, पुनः सृष्ट्यारम्भकाले—बुद्धितत्त्वं साऽविद्यकं प्रादुर्भवति, प्रारब्धीयाऽविद्यावासनाप्रेरितं रजसा प्रवृत्तं च बुद्धितत्त्वं पुरुषसन्निधिमुपगतं भवति, तेन प्रागेव बुद्धितत्त्वे पुरुषप्रतिबिम्बं समापतति, प्रतिबिम्बेन संयुक्तं बुद्धितत्त्वं भोगादिकमारभते, अतः पुरुषप्रतिबिम्बस्य बुद्धितत्त्वस्य च यः संयोगस्तस्य यदसाधारणं कारणं तत्—अविद्यैवेति, विनाऽविद्यां भोगप्रदसंयोगाऽसंभवात्, अविद्यासत्त्वे एव भोगप्रदसंयोगसम्भवादिति ॥ ननु बुद्धिपुरुषसंयोगजन्याया विपर्ययज्ञानात्मिकाया अविद्यायाः कथं संयोगकारणत्वं स्यादिति चेन्नैवम् । सत्कार्यवादिनां मते यावतां कार्याणां सत्त्वेन कारणतादात्म्येन तदवस्थितेरङ्गीकारात् , तथा च तत्तद्बुद्धितत्त्वगता अविद्याविक्लेशा अपि सर्वदा सन्त एव वर्तन्ते, भवति च यावत्कार्याणाम्—अवस्थाद्वयम्, स्थूलावस्था सूक्ष्मावस्था चेति, तत्र कारणव्यापारे सति कार्यं स्थूलतां याति, अर्थ-

क्रियाकारितां च लभते, उपरते च कारणव्यापारे विरोधिनि विद्यमाने वा कार्यं लयगतं सत् सूक्ष्मावस्थात्मकं कारणतादात्म्यं भवति न तु स्वरूपतोऽपि विनश्यतीति । एवं च त्रिगुणात्मकप्रकृतितत्त्वे सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थात्मके बुद्धितत्त्वानि साऽविद्याविक्लेशानि प्रलयकाले तिरोभूतानि तिष्ठन्ति तदा 'सूक्ष्माणि कारणात्मकानी'त्युच्यन्ते, सत्त्वरजस्तमसां च विपरिणामे संसाराऽवस्थायां प्राविर्भूतानि स्थूलावस्थानि कार्यात्मकानी'त्युच्यन्ते ॥ तत्तद्बुद्धितत्त्वं पुरुषेण सह सर्गादौ संयुज्यते सर्गान्ते च वियुज्यते इति । न चैवं वियोगे सत्यपि मोक्षः, यतो हि बुद्धितत्त्वं स्वबुद्ध्यविद्यावासनावासितं विवेकख्यातिं विनाऽपि यदा सर्गान्ते प्रलयनियमाऽधीनं सत् पुरुषाद् विभक्तं सत् प्रविलीयते तत्तु साऽधिकारमेव पुनरागामिसर्गप्रारम्भे पुरुषसंयोगाऽऽशासहितमेव विलीयते, अतः प्राक्सर्गीयसूक्ष्मावस्थापन्नाऽविद्यावासनावियुक्तमेव बुद्धितत्त्वं पुनः सर्गान्तरादावात्मना सह संयुक्तं भवतीति । अतोऽविद्यायाः संयोगहेतुत्वे न कश्चिद्विरोधः । यथोक्तं-बुद्धिपुरुषयोः संयोगोऽविद्याहेतुरिति, अविद्याहेतुरित्यस्याऽविद्या तत्र स्थूलावस्था हेतुरित्यर्थो बोध्यः, सूक्ष्मावस्थात्मकाऽविद्यायास्तु सर्वदैव वर्तमानत्वादिति ॥ सा चाऽविद्या विवेकख्यात्या दग्धबीजभावा भवति यदा तदा तु बुद्धितत्त्वमपि चरिताऽधिकारं सत् पुनः पुरुषयोगाऽभिलाषारहितं सदेव निवर्तते-आत्यन्तिकलयं याति नेदं पुनरावर्तते उक्तञ्च—'विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टित'मिति ॥ २४ ॥

तदेवं विवेकख्यात्या विरोधिन्या—परमवैराग्यद्वारा पञ्चक्लेशानां दग्धबीजभावे सति बुद्धितत्त्वस्य स्वकारणे त्रिगुणात्मके आत्यन्तिकलयो भवति, अतः—

## तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

तस्याः—अविद्यायाः, अभावात्—आत्यन्तिकलयात्, बुद्धिपुरुषयोः संयोगस्याऽपि अभावः—आत्यन्तिको लयो दुःखबन्धनोपरम इति, तदिदं 'हान'मित्युच्यते। दुःखत्रयकारणस्य संयोगस्य निवृत्तौ सत्याम् ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखाऽभाव एव हानम्, तदा च स्वस्वरूपमग्नः पुरुषो भवति, अतस्तद् दृशेः—पुरुषस्य, कैवल्यं मोक्ष इति, पुनर्गुणैरसंयोग इति । तदनेन तत्त्वज्ञानिनो वैराग्यवतो योगिन आत्यन्तिकदुःखक्षयाऽत्यन्ताभाव एव कैवल्यमित्युक्तम्, इदं च कैवल्यं केवलस्यात्मस्वरूपमात्राऽनुभवरूपमिति, अतस्ततोऽप्यधिकं परमेश्वरोपासनया भगवच्चरणे निवासरूपं कैवल्यं परमा मुक्तिरित्युच्यते ॥ सा च परमा मुक्तिरित्थं बोध्या—जीवात्मान ईश्वरात्मानश्च परमेश्वरस्य श्रीस्वामिनारायणस्य परब्रह्मणो भक्त्या मायिकं कलेवरं विहाय सच्चिदानन्दात्मके धाम्नि गताः स्वात्मस्वरूपे परमेश्वरस्वरूपं यथास्वभावनानुकूलं दिव्यं साकारमनवरततया पश्यन्ति, तत्र तेषां मुक्तानां

दिव्याऽऽकृतयः चैतन्याकृत्यात्मिका एव भवन्ति, आत्मानः स्वयं चेतनाः परमेश्वरेच्छया यथास्वभावनानुकूलां मनुष्याद्याकृतिं विन्दमाना वर्तन्ते इति। अथ लोके पाञ्चभौतिकं शरीरं वर्तते यथा तथैव तत्र चेतनात्मकमेव स्वरूपमात्मरूपचेतनतत्त्वस्यैवाऽऽकृतिः सम्पद्यते। यथाऽत्रेन्द्रियाणां गोलकानि पांचभौतिकानि सन्ति तथा तत्राऽपि चेतनात्मरूपाण्येव गोलकानि विद्यन्ते, यथाऽत्र तत्तद्गोलकेष्विन्द्रियाणि मायिकानि सन्ति तथा तत्र न सन्तीन्द्रियाणि पृथक्तया किन्तु ये मुक्तात्मानस्ते दिव्याऽनेकग्रहणधारणादिशक्तिमन्त इति तत्तच्छक्तयस्तत्र तत्र गोलकेषु विद्यन्ते ता सर्वा आत्मशक्तय एव न मायिकेन्द्रियाणीव बुद्धिशक्तय इति, ये च तत्र व्यापारास्ते स्वात्मपरमेश्वरविषया एव अतो दिव्याः सच्चिदानन्दमयाः सन्त एव नित्या एवाऽऽविर्भावाऽनाविर्भावस्वभावा एव परमेश्वरेच्छाधीना एवेति च, अतो मुक्तानां सेव्यः परमेश्वरः मुक्ताश्च सेवका इति। महात्मना तत्र सेवा परमेश्वरस्य या सा मुक्तिरिति, 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' इतिश्रुतेः। नन्वाविर्भूतस्वरूपस्याऽस्याऽशरीरस्य मुक्तस्य कथं सेवारस–इति चेन्न। तत्र सम्पद्यते हि ब्राह्मी तनुः, दिव्यस्वरूपाऽविर्भावस्तु न तद्विरोधी किन्त्वनुगुण एवेति, 'सशरीरस्य न प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ती'तिश्रुतिस्तु लौकिककर्माधीनभौतिकशरीरे प्रियादियोगपरेति। अथ सेवकवृत्तिरूपा सेवा न मुक्तिः, यतो विलुप्तकर्मबन्धनस्य परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण निष्पन्नस्य तस्य मायिककर्ममूलकप्रकृतिसंसर्गनिमित्तकसेवकभावस्याऽसंभवात्, स्वतन्त्रस्य तस्य तदानीं पारतन्त्र्ये तु अपुरुषार्थाऽन्वयप्रसंगाऽऽपत्तेरिति। ननु कथमयमपुरुषार्थान्वयः, दुःखान्वयादिति चेत्!, कथं दुःखान्वयः?, पारतन्त्र्यान्वयादिति, पारतन्त्र्यं च तत्रोपलभ्यते—स्वभिन्नस्य परमेश्वरस्येच्छयैव तत्र प्रवृत्तिरवश्यं भाविनी। सा च प्रवृत्तिः परेच्छाधीनाऽपि स्वेष्टे पदार्थे स्यात् तदा तु न दुःखं किन्त्वनिष्टेऽपि परनियन्त्रणया प्रवर्तितव्यमिति तदेव दुःखमिति चेत्! उच्यते। परेच्छयाऽनिष्टेऽपि पदार्थे प्रवृत्त्यापातादेव दुःखमापद्यते, यदि च परः स्वेष्टे एव प्रेरयेत् तदा न भवति दुःखावकाशः, प्रेरयति च गुणाऽभिज्ञः पतिः भार्यामिष्टे एव सुखप्रदे न त्वनिष्टे, भार्या च पत्यादिष्टं स्वसुखावहमित्येवाऽभिमत्य प्रवर्तते, तदेवं पतिव्रताऽऽचरणे सुखमेव स्यादिति। मुक्तिदशायां च परमेश्वरः सत्यकामः पतिः स्वभक्ताय प्रियाय योगिने स्वशरणं दत्त्वा न पुनः संसारे योजयेदिति, येन संसारपतनमनिच्छताऽपि तेन तत्र निपतितव्यतया दुःखं प्राप्येत, तस्मात्परमेश्वरपारतन्त्र्यं न दुःखप्रदमिति। उक्तं च भगवता 'मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते' 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे'ति। न च मायाकृतकर्मसम्बन्धरहितस्याऽऽविर्भूतदिव्यस्वरूपस्य परमेश्वराऽनन्तकल्याणगुणमनुभवतो मुक्तस्य तदनुभव-

प्रयोज्यप्रीतिकारितत्तच्चरणपरिचरणे कोऽप्यनिष्टः प्रकारः संभवेत्, अतो न तत्पार-
तन्त्र्यं दुःखप्रयोजकमिति । किञ्च—स्वतन्त्रतया प्रवृत्तिरेव सुखप्रदा—इत्यपि न
नियमः, संसारे विषयेषु स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तानामपि दुःखप्राप्तेः । नन्वविवेकतः
प्रवृत्तिरनर्थाय, ननु विवेकवत्या प्रवृत्तिरनर्थायेति चेत् !, तदा तु समायातमस्म-
न्मतम् । यतस्तत्र मुक्ततायां विवेकत एव स्वार्थी परार्थी वा प्रवृत्तिर्भवति
न सा दुःखायेति, किन्तु सुखायैवेति । न च मुक्तस्याऽविवेकगन्धोऽपि, न वा हेय-
प्रत्यनीकस्य कल्याणगुणाऽऽकरस्य परमेश्वरस्य स्वामिनो दोषशंका, अतः परमा-
त्मपारतन्त्र्यं न दोषाय, अतो न सेवामुक्तौ किमप्यनौचित्यम् । किञ्च—किं नाम
स्वातन्त्र्यम् ! स्वेच्छाऽनुकूलाऽऽचरणमेव स्वातन्त्र्यमिति । एवंच परमेश्वरभक्त्या
परमेश्वरशरणाऽवाप्तिरूपमुक्तिं प्राप्तानां भवति—'परमेश्वरेच्छानुकूलाऽऽचरणात्मकत-
त्सेवामुक्तिर्मे भवत्वितीच्छा, तादृशेच्छावानेव परमेश्वरस्याऽनन्यभक्त इति ख्यायते,
तथा च मुक्तिदशायां परमेश्वरेच्छाऽधीनं यद्यत् कर्तव्यम्, तत्सर्वं स्वाऽभिलाषान्त-
र्गतमेवेतिसिद्धं सर्वथैव स्वातन्त्र्यं, न तु पारतन्त्र्यमिति । अत एव भक्ताः—मुक्ताः
स्वभावनानुकूलं परमेश्वरस्वरूपं स्वात्मरूपं तत्रत्यदिव्यविभूत्यादींश्च पश्यन्ति
प्राप्नुवन्ति चेति सिद्धान्तः संगच्छते । एवंच सति नाऽतिशयरूपो दोषोऽपि । यथेह
हि संसारेऽल्पसमृद्ध्यैश्वर्यादिमान् पुरुषो बहुसमृद्ध्यैश्वर्यादिमतो दर्शनेन—'अहोऽहं
नाऽस्मि तथा समृद्धिमानीश्वरश्चे'ति चेखिद्यते, तदेषाऽतिशयजन्यं दुःखमिति
कथ्यते, एवमेव-तत्रापि यदि स्वेच्छाया अविषयीभूतया परेच्छयैव सालोक्यसा-
र्ष्टि सामीप्य-सारूप्यैकत्वात्मकपञ्चविधमुक्त्यवस्थितानामतएव न्यूनाऽधिकैश्वर्यवत्तां
परस्परं न्यूनाऽधिकतादर्शनेन खेदखिन्नता स्यात्, किन्तु स्वेच्छयैव पूर्वं विषयीकृतां
पञ्चविधमुक्त्यवस्थानां परमेश्वरेच्छया पश्यति न तस्य परमेश्वरमहिममात्रमग्नस्य
तदानीं दुःखलेशतोऽपि,—स्वभावनाऽनुकूलेन विभूतिदर्शनेन स्वस्मै आनन्दला—भस्यैव
प्रत्युतत्वादिति । अत्राऽयं सिद्धान्तः—ये मुक्ताः—सालोक्यभावनया तत्र गतास्तेषां
तद्भावनामात्रेण भगवद्धामनि स्वात्मरूपे परमेश्वरस्वरूपदर्शनमविच्छिन्नमेवाऽनुवर्तते
न त्वन्यत्पश्यति स्वात्मपरमात्मस्वरूपमन्तरेण, अतो न तस्य कथिताऽतिशयलेशो-
ऽपि । सार्ष्टिभावनया मुक्तिंगतास्तेऽपि सार्ष्टिभावनया स्वात्मनि परमात्मस्वरूपमव-
लोकयमाना नान्यत्पश्यन्ति, अतस्तेषामपि नाऽतिशयसंभावना । एवमेव सामीप्य-
मुक्तानां सारूप्यमुक्तानामेकत्वमुक्तानां च स्थितिर्बोध्या । तथा च प्रत्येकमुक्तः स्वस्व-
रूपे परमात्मस्वरूपं पश्यन् स्वस्थितावस्थितो न स्वाऽतिशयं कमप्यन्यं पश्यतीति
तात्पर्यम् । यद्वा—सर्वविधानपि सुखभावनयैव पश्यति राजसभायां गतो द्वारपाल इव
स्वस्य सेवकवृत्तिं मन्यमानो न दुःखं प्राप्नोति प्रत्युत 'अहो मेऽल्पस्याऽपि राजसभा-
प्रवेश-लाभ'इति सुखमेव विन्दते तथैव सालोक्यादिमुक्तिगतानामपि व्यवस्थिति-

रिति ॥ वयन्तु–परमेश्वरसेवया परमेश्वरस्य श्रीस्वामिनारायणस्य शरणप्राप्तिरेवमुक्ति-
रिति ब्रूमः नतु सालोक्यादिभेदांस्तत्र कल्पयामः, अतो नाऽतिशयादिदोषावकाशः,
यद्वा–परमेश्वरोऽपि विविधमुक्तेभ्यः सातिशयादिदोषदर्शनं यथा न स्यात् तथैव
मुक्तव्यवस्थामर्पयति, परमेश्वरस्य सर्वकरणसमर्थत्वात्, अतोऽनिर्वचनीयमेव तस्य
शरणम्, सातिशयत्वादेस्तत्राऽसत्त्वाच्च तत्कल्पनमपि न युक्तमिति । भगवदेकान्ति-
कभक्ता योगिनो न सालोक्यादिमुक्तिमभिलषन्ति किन्तु परमेश्वरशरणसेवामेवेति,
उक्तञ्च भागवते–'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति
विना मत्सेवनं जनाः' । 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाऽभिरता
मदीहाः' 'सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः' 'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न
सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति
मद्विनाऽन्यत्' 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः
कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्' । 'न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम । वाञ्छ-
न्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्' 'मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति किंचन'
'त्वं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया । एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना
बहिः' 'एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः' इति । उद्धव-
श्चाह–'कोऽन्वीश ! ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह । तथापि नाऽहं
प्रवृणोमि भूमन् ! भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥' इति । तस्माद् ब्रह्मात्मना
परमेश्वरसेवैव मुक्तिरिति । ननु 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवती'तिश्रुतेः, अथच 'मर्त्यो यदा
त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे । तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मया-
ऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै'–इति–भगवद्वचनात्, 'विमुञ्चति यदा कामान् मानवो
मनसि स्थितान् । तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष ! भगवत्त्वाय कल्पते'–इति प्रह्लादवाक्याच्च
भगवद्रूपतैव परमा मुक्तिरवगम्यते नतु भगवत्सेवात्मिकेति चेन्न । न ह्येकान्ति-
कभक्तोऽपि भगवानेव भवति किन्तु भगवत्प्रसादात् तत्समानैश्वर्यमेव प्राप्य तत्से-
वानिरतो भवति । आत्मभूयायेत्यस्य–आत्मसमानैश्वर्याय–इत्यर्थः । 'भगवत्त्वाये'-
त्यस्यापि तत्समानैश्वर्यायेत्यर्थः । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'सर्वे आत्मानः
समर्पिता' इत्यादिश्रुतेश्च 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता'इत्यादिस्मृतेश्च
परमात्मसमानैश्वर्यवत्त्वं बुध्यते । साम्यता चाऽत्र–अलौकिकदिव्याऽणिमादिसर्वै-
श्वर्यब्रह्मयाथात्म्यानुभवभोगादिनैवेति, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा
विपश्चिता'इतिश्रुतेः । यद्यप्यपहतपाप्मत्वादिः सत्यसंकल्पत्वपर्यन्तः श्रुतिप्रसिद्धो
गुणगणो मुक्तस्याऽप्याविर्भूतो वर्ण्यते, तथापि मुक्तस्य तथाविधत्वं परमेश्वराऽऽ-
यत्तमिति, तस्माद् भगवत्प्रसादलब्धदिव्यैश्वर्याणां मुक्तानां नित्यनिखिलैश्वर्ययुक्तः
परमेश्वरस्य सेवैव मुक्तिरिति सिद्धान्तः । तत्र केचिदभिमताः–'निराकारनिर्गुण-

मुक्तिर्जडमुक्तिः सुखदुःखाऽभावात्मकमुक्तिरित्यादिवादा निराकरणीया एवेति ॥ २५ ॥

अत्र यदात्यन्तिकदुःखत्रयाऽभावात्मकं हानमुक्तं तदुपायमुच्यते—

## विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

'हानस्य'–आत्यन्तिकदुःखत्रयाऽभावस्य, 'उपायः'–साक्षात्कारणम्, 'विवेकख्यातिः'–सत्त्वपुरुषभेदबुद्धिः, सा–अविप्लवा,–विप्लवो–मिथ्याज्ञानम्, तत्र विद्यते यत्र विरोधितया साऽविप्लवा,–अविद्यादिक्लेशरहिता सत्येव कारणं भवतीति। मिथ्याज्ञानसंस्कारवशान्मिथ्याज्ञानेन अन्तराऽन्तराऽभिभूयते विमलज्ञानधारा, सा तु न विवेकख्यातिः, यदा तु सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारदशायामनागतावस्थं दग्धबीजभावं मिथ्याज्ञानं वन्ध्यप्रसवसामर्थ्यं भवति तदा विधूतक्लेशास्य धूलेर्बुद्धिसत्त्वस्य परस्यां वशीकारसञ्ज्ञायामिच्छाऽप्रतिघातरूपायां भूमौ वर्तमानस्य तस्य विवेकख्यातिप्रवाहो मिथ्याज्ञानाऽकलुषितोऽत एव विशारदोऽनुवर्तते,–साऽविप्लवा विवेकख्यातिः परमसाक्षात्काररूपिणी हानोपाय इति बोध्यम्। विवेकख्यातिरियं यथा साक्षात्कारवती, तथाऽऽगमाऽनुमानाभ्यामपि सुसाध्या भवति, यथा शास्त्रश्रवणजन्येन ज्ञानेन प्रकृतिपुरुषादिविवेकं गृहीत्वाऽनुमानादियुक्तिभिर्व्यवस्थाप्य दीर्घकालाऽऽदरनैरन्तर्यसत्कारसेवितायां भावनायाः परमकाष्ठावधिं प्राप्ता साक्षात्कारवती प्रत्यस्तमितसवासनमिथ्याज्ञाना। संविद् विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इति तात्पर्यम् ॥ २६ ॥

इत्थेवं विवेकख्यातिमतो जीवन्मुक्तस्य—

## तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

निर्धूतनिखिलाऽविद्यामलस्य चित्तस्य राजसतामसप्रत्ययाऽनुत्पादे सति तस्य विवेकख्यातिमतो योगिनः सप्तप्रकारा प्रज्ञा–संविद् भवति, सा च 'प्रान्तभूमिः'–प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्तथोक्ताः, यतः परं नास्ति स्व:–प्रकृष्टः, प्रान्ता भूमयो यस्याः प्रज्ञाया विवेकख्यातेः–सा प्रान्तभूमिः, तथाच सकलसालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते सप्ताऽऽकारा प्रज्ञा भवतीति यावत्। तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुष्प्रकारा, तद्यथा–'ज्ञेयं प्रकृत्यात्मकं सर्वमपि वस्तुजातं परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाद् दुःखमेवेति,–अतस्तद्–हेयमिति परिज्ञानम्, नाऽस्य पुनर्ज्ञातव्यं किञ्चिदवशिष्यते इति ॥ ततश्च 'विवेकख्यात्या क्षीणा मे हेयहेतवोऽविद्यादयः क्लेशाः, न पुनः क्षेतव्यं किञ्चिदवशिष्यते, इति ॥ ततश्च–''अविद्यादिक्षयादुत्पन्नेन निरोधसमाधिना सुसाध्यं हानम्,–दुःखहानरूपो भाविमोक्षो मया सम्प्रज्ञातावस्थायामेव प्रत्यक्षेण निश्चितः–'देहपाताऽनन्तरमेतादृशो मे मोक्षो

भवितेऽति, सजातीयसाक्षात्कारस्य सजातीयाऽन्तरसाक्षात्कारविरोधे प्रयोजकत्वादसम्प्रज्ञातसमाधिदृष्टान्तेन परमकैवल्यमपि दृष्टप्रायमिति भवति, न पुनर्हानविषये किञ्चिन्निश्चेतव्यमवशिष्यत इति ॥ ततश्च—समासादितो विवेकख्यात्यात्मको हानोपायः, न पुनरत्र विवेकख्यातौ किमपि निष्पाद्यतयाऽवशिष्यत इति ॥ सा चैषा चतुष्टयी हेय-हेयसाधन-हान-हानसाधनानां कर्तव्यतासमाप्तिः प्रयत्नसाध्या जीवन्मुक्तिरिति ॥ कार्यविमुक्त्यनन्तरं चित्तविमुक्तिस्त्रयी—त्रित्वाद् विमुक्तिः—परममुक्तिरित्यर्थः । तद्यथा—"समाप्तभोगाऽपवर्गा मे बुद्धिः, इयं चित्तनाशाऽऽरम्भात्मिका प्रथमभूमिका, ततो—गुणा अवसिताऽधिकारा अतएव कार्याऽऽरम्भणाऽसमर्था गिरिशिखरनिपतिता ग्रावाण इव न पुनः स्थितिं यास्यन्ति किन्तु स्वकारणे प्रकृतौ लीयमानाश्चित्तेन सहाऽत्यन्तं लयं गच्छन्तीति,—इयं लिङ्गशरीरस्य विनश्यदवस्थात्मिका द्वितीयभूमिका; ततः—स्वकारणे लीनानां गुणानां पुरुषार्थसमाप्त्या निष्प्रयोजनत्वात् प्ररोहो न स्यादेवेति, अतो मे स्वात्मीभूतोऽसम्प्रज्ञातसमाधिः, तेन च प्रकृतिसम्बन्धरहितः स्वस्य सच्चिदानन्दस्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽहमिति भवति स्वस्वरूपाऽवाप्तिः, इयं त्रिगुणानामात्यन्तिकलयसिद्धिरूपा विदेहकैवल्यस्य चरमा तृतीयभूमिकेति ॥ इत्येवंविधामिमां त्रिधां चित्तभूमिकां भाविनीमेव जीवन्मुक्तिदशायां विशुद्धसत्त्वचित्तो योगी साक्षात्करोतीति । तदेवं सप्तविषयत्वात् सप्तप्रकारा प्रज्ञा व्याख्याता, तादृशप्रज्ञावान् पुरुषः—केवलो मुक्त इत्युच्यते, केवलत्वं चाऽस्य स्वात्मस्वरूपमात्रप्रतिष्ठितत्वादिति बोध्यम्, यदा चाऽस्य परमेश्वरशरण्योपलब्धिः स्यात् तदा स्वयं परमो ब्रह्ममुक्तः स्यादिति ॥ २७ ॥

संयोगाऽभावात्मकस्य हानस्य हेतुभूताया विवेकख्यातेः कारणं प्रदर्शयति—

## योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः २८

योगाङ्गानि—यमनियमादीनि वक्ष्यमाणान्यष्टसंख्याकानि, तेषामनुष्ठानात्—ज्ञानपूर्वकसादराऽविरताऽभ्यासात्, अशुद्धिसंज्ञकस्य जात्यायुर्भोगजनकस्य पञ्चक्लेशात्मकस्याऽविद्याऽभिधविपर्ययस्य क्षयः—तनुभावः—कारणे लयो भवति, यथा यथा साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथाऽशुद्धिस्तनुतां प्राप्नोति, यथा यथा चाऽशुद्धिः क्षीयते तथा तथा ज्ञानस्य दीप्तिः, आविवेकख्यातेः—सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिपर्यन्तं विवर्धते, तथाच योगाङ्गाऽनुष्ठानम्—अविद्याक्षयस्य कारणम्, तत्त्वज्ञानस्य चोत्पत्तिकारणम्, तत्त्वज्ञानद्वारा विवेकख्यातेः प्राप्तिकारणमिति शास्त्रे हि—"उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्ति विकारप्रत्ययाप्तयः। वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतमि"ति ॥ २८ ॥

तानि भवन्ति योगस्य—

## यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

तत्र यमाः–पञ्चाऽभिधास्यमानाः; नियमा अपि पञ्च वक्ष्यमाणाः, आसनानि–चतुरशीतिसंख्याकानि वक्ष्यन्ते, प्राणायामः–त्रिधा वक्ष्यमाणः, प्रत्याहारः–इन्द्रियादिकरणानां या वृत्तयस्तासां विषयेभ्यो व्यावृत्तिः, इन्द्रियेषु तद्वृत्तीनां व्यवस्थापनमिति यावत्; धारणा–धार्यं स्थूलसूक्ष्मादिकमपि विषयस्वरूपं करणवृत्तिषु यत्–सा, ध्यानं ध्यायते स्थूलसूक्ष्मादि यत्किमपि स्वरूपं यत्र वृत्तिषु तत्, समाधिः–सम्यग् आधीयते ध्येयं यत्र वृत्तौ सः, इत्येतान्यष्टाऽङ्गानि योगस्य सन्तीति ॥ २९ ॥

तत्र पञ्च—

## अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

तत्र, अहिंसा नाम सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, अभिद्रोहस्तु भवति त्रिधा,–कायेन वाचा मनसा चेति, तत्र कायेन–स्वपरदुःखोत्पादकमाचरणं हिंसा, वाचा स्वपरदुःखोत्पादकशब्दप्रयोगो हिंसा, मनसा–स्वपरद्रोहगर्भं संकल्पनं हिंसा, तदेतत्त्रिविधहिंसाया विपर्ययोऽहिंसा, साऽपि प्रतियोगिभ्यास्त्रैविध्यात् त्रिधा–कायेन वाचा मनसा चेति, तत्र कायेन–स्वपरदुःखजननाऽऽचरणं स्वपरदुःखजननाऽनाचरणमिति वा–अहिंसा, वाचा–स्वपरदुःखाऽप्रयोजकशब्दोच्चारणं स्वपरदुःखजनकशब्दाऽनुच्चारणमिति वा–अहिंसा, मनसा–स्वपरद्रोहाऽगर्भितसंकल्पः स्वपरद्रोहगर्भितसंकल्पाऽकरणमिति वा–अहिंसा, सा च परमधर्मरूपा कथिता 'अहिंसा परमो धर्म' इति, अतएव पञ्चयमानां मध्ये मुख्याऽहिंसैव, उक्तं हि मोक्षधर्मे–'यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् । सर्वाण्येवाऽपि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे । एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते' इति । श्रुतिश्च 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानी'ति । आह च विज्ञानेश्वरः–'साधारणो धर्मोऽहिंसादि'रिति ॥ उक्तं च गीतायामुद्वेगाऽभावस्यैवाऽहिंसात्वं 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षाऽमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः' । 'अद्वेष्टा सर्वभूतानामिति' च । प्राणिद्रोहफलम्–अन्धकूपाख्यनरकागमनमभिहितं श्रीमद्भागवते 'यस्त्विह वै भूतानामीश्वरकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्राऽन्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हाऽसौ तैस्तैर्जन्तुभिः पशुपक्षिमृगसरीसृपमशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाऽभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहितनिद्रानिर्वृतिरलब्धाऽवस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे

जीव' इति ॥ 'न मत्स्यदण्डबन्धस्य न शूलमथनस्य च। नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः'। 'तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः। आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्' इति च ॥ उक्तं च शिक्षापत्र्यां परमात्मना श्रीस्वामिनारायणेन—'कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्याऽत्र मानवैः। सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्ध्या कदाचन ॥ देवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम्। न कर्तव्यमहिंसैव धर्मः प्रोक्तोऽस्ति यन्महानिति ॥ ननु 'वसेत् स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः। सम्मितानि दुराचारो यो हन्त्यविधिना पशूनि' तिवचनाद् विधितो हिंसाया अप्रतिषेधोऽवगम्यते, अतएव—'या वेदविहिता हिंसा न सा हिंसेति कीर्त्यते' इति वचनेन वेदविहितहिंसायाः कर्तुरप्यहिंसात्मकयमवत्त्वे न किमपि बाधकमिति चेन्न। वेदविहितहिंसाया अप्यनर्थप्रदत्वं भवत्येवेति, यागादौ हिंसाकरणानन्तरं शास्त्रेषु तत्प्रायश्चित्तमप्युक्तं भवति, उक्तं च 'पञ्चशिखाचार्येण—'स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः' इति, उक्तंच वाचस्पतिमिश्रैः—मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकामि' ति, उक्तं च शबरस्वामिना मीमांसाभाष्ये—'उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्चेति, कोऽर्थः? यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः, कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्रः इषुरित्येवमादिः, तत्राऽनर्थो धर्म उक्तो मा भूदित्यर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः?, हिंसा हि, हिंसा च प्रतिषिद्धेति। कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते? उच्यते, नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते, यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्याऽयमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः, श्येनेनाऽभिचरन् यजेतेति हि समामनन्ति,—नाऽभिचरितव्यमि' ति! आह च माधवाचार्यो जैमिनीयन्यायमालायाम्—'यद्यपि श्येनस्य वधः फलं, न तु नरकः, तथापि तस्य वधस्य नरकहेतुत्वाद् वधद्वारा श्येनोऽनर्थः' नचैवमग्नीषोमीयपशुहिंसाया अपि वधत्वेन नरकहेतुत्वं स्यादिति शंकनीयम्। तस्याः क्रत्वङ्गत्वेन क्रतुफलस्वर्गव्यतिरेकेण फलान्तराऽभावादि' ति ॥ किञ्च—'लुब्धैर्वृत्तिपरैर्ब्रह्मन्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्। वेदवादानविज्ञाय सत्याऽऽभासमिवाऽनृतम्' तथा—'अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः। संशयाऽऽत्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता'। तथा—'तस्य तेनाऽनुभावेन मृगहिंसाऽऽत्मनस्तदा। तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्—हिंसा न यज्ञिया' इत्यादिभिर्वाक्यैर्वेदेष्वाभासमाना हिंसा निन्दिताऽस्ति। अहिंसाधर्मस्य सकलशास्त्राऽभिमतत्वं विद्यते यथाह भारते भीष्मः 'सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्। कामकाराद्धि हिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः। तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता। अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मते' ति ॥ 'न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चने' ति च। तस्माद्धिंसा सर्वधर्माणां जननीति सा सर्वैः संरक्षणीया ॥

'सत्यम्—वाङ्मनसोर्याथार्थ्यम् । यथा प्रमीतं तथा वाङ्मनसोः प्रवृत्तिर्न त्वन्यथा, यदि वाचि वञ्चनत्वं भ्रान्तत्वं विपर्यस्तत्वं च भवेत्, सा च प्रयुक्ताऽपि न स्वपरहितवहा, असत्याऽनुषङ्गित्वात् । या च वञ्चन-भ्रान्ति-विपर्ययाऽननुषङ्गिणी समुच्चार्यमाणा भवति सा तु सर्वभूतोपकारिणी सत्यरूपेति । स्ववाच्यपदार्थानां—धर्मलक्षणाऽवस्थाविशेषैर्यथावद्बोधका ये शब्दास्तेषामुच्चारणं—सत्यमिति यथाश्रुते 'स यः सत्यं वदति यथाऽग्निं समिद्धन्तं घृतेनाऽभिषिञ्चेदेवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेयो भवती'ति सत्यं प्रशस्यते, तच्च सत्यं भूताऽनुपघातकमपि बोध्यम्, भूतोपघातकं सत्यन्त्वसत्यमेव, उक्तं च वाचस्पतिना 'एवंलक्षणमपि सत्यं पराऽपकारफलं सत्याभासं न तु सत्यमित्याहे'ति ॥ व्याख्यातं च शंकराचार्यैर्गीतायां 'अहिंसासत्यमक्रोध'—इत्यादिश्लोकभाष्ये—'सत्यम्—अप्रियाऽनृतवर्जितं यथाभूतार्थवचन'मिति ॥ भगवद्रामानुजाचार्यैरपि 'सत्यं—यथादृष्टार्थगोचरभूतहितवाक्य'मिति भाषितम् ॥ तथा लिङ्गपुराणवचनं—'दृष्टं श्रुतं चाऽनुमितं स्वानुभूतं यथार्थतः । कथनं सत्यमित्युक्तं परपीडाविवर्जितमि'ति ॥ एवं 'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं सुदुष्करम् । यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यस्य लक्षणम्' । उक्तं च शिक्षापत्र्यां 'स्वपरद्रोहजननं सत्यं भाष्यं न कर्हिचिदि'ति । अनृतभाषणे दोष उक्तः—'अथ योऽनृतं वदति स यथा अग्निं समिद्धमुदकेनाऽभिषिञ्चेदेवं हैनं स जासयति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान् भवति तस्मात् सत्यमेव वदेदिति' ॥ श्रीभागवते च—'न ह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् । सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नर'मिति ॥ मोक्षधर्मेषु च 'अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः' ॥ तथा—'यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत्तमो यत्तमस्तद्दुःखमिति । उक्तं च दानधर्मेषु—'प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च । गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु चे'ति ॥ मोक्षधर्मेषु च—'सत्यां वाचमहिंसां च वदेदनपवादिनीम् । कल्काऽपेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम्' तथा 'वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसायुक्तां मनस्तुदामि'ति ॥ नारदश्च तत्रैव सत्यलक्षणमाह—'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानन्तु दुष्करम् । यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यस्य लक्षणम्' ॥ यच्च असत्यं तदेव मिथ्यात्वमिति, मिथ्याभाषिणो महाननर्थोऽपि दृश्यते, उक्तञ्चादित्यपुराणे—'यानि मिथ्याऽभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदनात् । तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषां मिथ्याऽभिशंसिनाम् ॥ ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेये गुर्वङ्गनागमे । दृष्टं विशोधनं वृद्धैर्नास्ति मिथ्याऽभिशंसिनामि'ति । 'याज्ञवल्क्यश्चाऽऽह—'मिथ्याऽभिशंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः । मिथ्याऽभिशस्तदोषं च समादत्ते मृषा वदन्नि'ति ॥ अस्यार्थमाह विज्ञानेश्वरः—'यस्तु परोत्कर्षेर्ष्याजनितरोषकलुषितान्तःकरणोऽन्यजनसमक्षं मिथ्यैवाऽभिशापं पातयति ब्रह्महत्यादिकं वा दुष्क-

र्षोऽनेन कृतमित्यारोपयति तस्य तदेव पापं द्विगुणं भवति, यस्तु विद्यमानमेव दोषमलोकविदितं जनसमक्षं प्रकाशयति तस्य तत्पातकिसमदोषभाक्त्वम्, न केवलमेतावदेव किन्तु मृषा वदन् मिथ्याऽभिशस्तस्य यदन्यद् दुष्कृतं जातं तदपि समादत्ते'इति। उक्तंच भारते–'पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः पुरुषस्तथा। अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते'इति॥ अथ यथा न वाङ् सत्यानुपातिनी व्यापारं करोति तथा तदनुगुणं संकल्पयति मनस्तथा च–पदार्थयथार्थसंकल्पनं मनसः सत्यत्वमिति। यदि च मनसि सत्यभावनायामपि वाण्याऽसत्यमुपदिशेत् तदा तत्र स्वपरहिताबहम्, एवमेव मनसि–असद्भावनायां सत्यामपि वाण्या सत्यमुपदिशेत् तदा तदपि न स्वपरहितावहम्, तस्माद् वाङ्मनसो–रुभयोरेवैकवाक्यताऽऽपन्नत्वेन सत्यव्यवहारो भवतीति॥

'अस्तेयम्–परस्वाद्यनाहरणम्, स्तेयं नाम–हठात् प्रत्यक्षं परोक्षं वा परस्वाद्याहरणम्. 'न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः' इति मोक्षधर्मोक्तेः'। 'अपहृत्य परस्यार्थं दानं यस्तु प्रयच्छति। स दाता नरकं याति यस्यार्थस्तस्य तत्फलमि'ति दानखण्डे यमस्मृतेः। तच्च स्तेयं कायवाङ्मनोभिर्वर्ज्यमित्युक्तं लैङ्गे–'अनादानं परस्वानामापद्यपि विचारतः। मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासत' इति। अनाज्ञयाऽप्रदत्तपरकीयपदार्थमात्राऽपहरणस्यैव स्तेयत्वं, 'तत्स्तेयं यदुपादानमनाज्ञयाऽप्रवृत्तयो'रितिस्मृतेः॥ 'कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम्। फलपुष्पेन्धनस्तेयं मलिनीकरणं स्मृतम्'॥ उक्तंच विज्ञानेश्वरेण–'स्तेयं तु तद्विलक्षणम्, निरन्वयं द्रव्यस्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं तदुच्यते, यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति अपजिह्नुते तदपि स्तेयम्, तेनाऽस्तेयमाचाण्डालं साधारणो धर्म इति व्यज्यते, मुमुक्षूणां चेदमत्यन्तमपेक्षितमन्यथा योगाऽसिद्धेः। नारदोऽपि स्तेयस्वरूपमुक्तवान्–'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम्। सुप्तप्रमत्तमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः'। मनुरपि–'निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वाऽपह्नुयते च यदि'ति। तस्मात् परसत्ताबद्धन्यादि यत् किमपि वस्तु विना तत्स्वामिनिदेशं गृह्यते तदिदं स्तेयं, तदभावोऽस्तेयमिति॥

ब्रह्मचर्यं–गुह्येन्द्रियोपस्थस्य संयमपूर्वकोऽष्टधा स्त्रीपरित्यागः, उक्तं च दक्षसंहितायां–'ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेद् अष्टधा लक्षणं पृथक्। स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥ संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाऽष्टलक्षणमि'ति॥ उक्तं च लैङ्गे ब्रह्मचर्यलक्षणम्–'मैथुनस्याऽप्रवृत्तिर्हि मनोवाक्कायकर्मणा। ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। इह वैखानसानां च विधुराणां विशेषतः' इति। तदिदं ब्रह्मचर्यं स्त्रीपुरुषसाधारणमष्टविधं यमाङ्गमिति बोध्यम्। ब्रह्मचर्यफलानि तु विस्तरतः–

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ'इति सूत्रभाष्ये वक्ष्यन्त इति तत एव ब्रह्मचर्यमहि-माऽवगन्तव्यः। अपरिग्रहः—भोगसाधनानामसंग्रहः। संग्रहो नाम—इन्द्रियान्तः-करणानाम् अविद्याऽस्मिता-रागद्वेषाऽभिनिवेशाख्यपञ्चक्लेशोत्पादकपदार्थयोगः, जा-त्यायुर्भोगप्रदपदार्थस्वीकृतिर्वा, तेन च बन्धनाऽऽपात इति, अतो योगिना तु क्लेश-विनाशाय यतता तथाविधपदार्थयोगो न कर्तव्यः, अन्यथा योगक्षतिरापद्येत, तस्मात् सर्वथैवाऽपरिग्रहात्मकं यमाङ्गं सुरक्षणीयमिति ॥ ३० ॥

ते प्रत्येकं पञ्च यमाः—

## 'जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' ॥३१॥

इत्युच्यते इति शेषः। तत्राऽहिंसा 'मत्स्यहिंसकस्य मत्स्येष्वेव हिंसा नाऽ-न्यत्रेति—जात्यवच्छिन्ना, न तीर्थे हनिष्यामीति—देशावच्छिन्ना, न चतुर्दश्यां न वा पुण्येऽहनि हनिष्यामीति—कालावच्छिन्ना, एवं त्रिभिरुपरतस्य—देवब्राह्मणार्थे हनि-ष्यामि नान्यथेति समयावच्छिन्ना, यथा वा—क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नाऽन्यत्रेति। सेयं जात्यवच्छिन्ना देशावच्छिन्ना कालावच्छिन्ना समयावच्छिन्ना वा भवेत् साऽपि योगविघ्नकरी, अतः सर्वथैव हिंसापरित्यागः, स एवाऽहिंसा यमाङ्गभूता बोध्येति॥ अथ सत्यं—तदपि जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नं यमाङ्गम्, यदि जातिदेशकाल-समयावच्छिन्नमपि स्यात् तत्र यमाङ्गम्, तद्यथा—राज्याऽपराधिनः राजदूताना-मग्रेऽसत्यं वक्तव्यं स्वरक्षार्थं नान्यत्रेति—जात्यवच्छिन्नम्, तत्राऽपि न्यायालये नाऽसत्यं वदिष्यामीति—देशावच्छिन्नम्, तत्राऽपि पुण्यतिथौ नाऽसत्यं वदिष्यामीति-कालावच्छिन्नम्, एवं दैवस्य साक्षिकरणे सति नाऽसत्यं वदिष्यामीति—समयावच्छि-न्नम्, तदिदं सत्यं जात्याद्यनवच्छिन्नं सर्वथैवाऽसत्याऽभावरूपं तदेव यमाङ्गमिति। अथाऽस्तेयं—तदपि जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नं यमाङ्गम्। यदि जात्याद्यवच्छिन्नं स्यात् तन्न यमाङ्गम्, तद्यथा—'सुवर्णादिद्रव्यस्यैव स्तेयं कर्तव्यं नान्यस्येति जात्यवच्छिन्नम्, तत्रापि देवमन्दिरादौ स्तेयं न करिष्यामीति—देशावच्छिन्नम्, तत्रापि पुण्यतिथौ स्तेयं न करिष्यामीति—कालावच्छिन्नम्, एवं विना दुर्भिक्षं स्तेयं न करिष्यामीति—समयावच्छिन्नम्, तदिदमस्तेयं जात्याद्यवच्छिन्नं सर्वथैव स्तेय-स्याऽभावरूपं यमाङ्गमिति। अथ ब्रह्मचर्यं 'तदपि जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नं यमाङ्गम्, यदि जात्याद्यवच्छिन्नमपि स्यात् तन्न यमाङ्गम्, तद्यथा—स्वभार्यामेवो-पेयां नान्यामिति जात्यवच्छिन्नम्, तत्राऽपि तीर्थे स्वां तां नोपेयामिति देशावच्छिन्नम्, तत्राऽपि ऋतावेव स्वां तामुपेयामिति कालावच्छिन्नम्, एवं गर्भाधानार्थमेव स्वां

तामुपेयामिति—समयावच्छिन्नम् । तदिदं ब्रह्मचर्यं जात्याद्यनवच्छिन्नं सर्वथैव यमाङ्गमविप्लुतं ब्रह्मचर्यम् ॥ अथाऽपरिग्रहः—सोऽपि जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नः सन्नेव यमाङ्गम्, स च यथा कम्बलवस्त्रादिकमेव ग्रहीष्यामि नाऽन्यदिति जात्यवच्छिन्नः, तत्रापि तीर्थप्रवासार्थमेव कम्बलादिकं रक्षयिष्यामि नाऽन्यत्रेति देशावच्छिन्नः, तत्राऽपि शीते काले शीतहरणार्थमेव तद् ग्रहीष्यामि नान्यदेति कालावच्छिन्नः, तत्राऽपि रुग्णाऽवस्थायामेव स्वरक्षणार्थं कम्बलं रक्षयिष्यामीति—समयावच्छिन्नः, सचाऽयं जात्याद्यनवच्छिन्न एव परिग्रहाऽभावात्मकोऽपरिग्रहो यमाङ्गमिति बोध्यम्, त एते अहिंसादयः सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु किञ्चिन्मात्रमपि व्यभिचारमनापन्ना एव सार्वभौमा इति भवन्ति, अतस्ते सिद्धाः 'सार्वभौममहाव्रत'मित्युच्यते॥३१॥

शौचादिनियमानाचष्टे—

## शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ३२

तत्र शौचं द्विविधं बाह्यमान्तरञ्च, तत्र बाह्यं यथा—मृदादिना शरीराऽवयवसंशुद्धिः, जलस्नानेन शरीरशुद्धिः मृत्तिकामिश्रितगोमयेन स्थलशुद्धिः, मेध्यानां गोमूत्रयावकादीनां प्राशनेन शरीरान्तर्नाडिकादिशुद्धि'-रित्यादि शारीरम्, आन्तरं यथा—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः कामक्रोधलोभमोहमदमानमात्सर्याहंकारेर्ष्यासूयाकापट्यादयश्च दोषाश्चित्तकषाया इत्युच्यन्ते, तेषां चित्तमलानां प्रक्षालनम्—आन्तरं शौचम् , एवम्—इन्द्रियाणामपि यःशब्दादिमायिकविषयानुपातित्वरूपो दोषस्तस्य निरोधोऽपि शौचमान्तरमुच्यते, तथाच स्वान्तःकरणेन्द्रियाणां ये दोषास्तेषां प्रक्षालनमाभ्यन्तरं शौचमिति, एवमात्मनि—या अनादिकालीना अशुभवासना बीजभावापन्ना विद्यन्ते तासां निरोधोऽपि स्वात्मनि विधेयः सोऽयमप्याभ्यन्तरशौचविशेष इति बोध्यम् । सन्तोषो यथा—स्वाऽपेक्षितेभ्यः स्वधर्माऽविरुद्धेभ्योऽत्यावश्यकप्राणनिर्वाहकेभ्यः सन्निहितसाधनेभ्योऽतिरिक्तस्याऽधिकस्याऽनुपादित्सात्मिका तुष्टिः । तपांसि यथा—सान्तपन-कृच्छ्रचान्द्रायणोपोषण-धारणापारणा-पाराककृच्छ्र-षड्रसाऽग्रहणनियम-लवणाऽशनवर्तक्षार-भोजन-फलाहारमात्र-पत्राहारमात्र-जलाहारमात्र-पवनाहारमात्रादिरूपाणि शरीरकृशकराणि । अथ च ग्रीष्मे पञ्चाऽग्नितपनं, वर्षायां जलधारानिवसतिः, शीतकाले जलमध्योपवेशनं निर्वस्त्रस्थितिर्वल्कलधारणं, वने निवासः, ऊर्ध्वावस्थानम् , एकपादावस्थानम् , ऊर्ध्वबाहुवस्थानम्—इत्यादीनीन्द्रियान्तःकरणनिर्मलकराणि बोध्यानि, तानि च भावनापूर्वकं कृतानि योगाङ्गं शौचमिति, अन्यथा तु दग्धबीजवन्निस्तत्त्वानीति । उक्तं गीतायां त्रिविधं तपः—शारीरं वाङ्मयं मानसञ्च । तत्र 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ अनुद्वेगकरं

वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते' इति । अथ स्वाध्यायः—मोक्षशास्त्राणामध्ययनम्, प्रणवादिजपश्च । तपःस्वाध्यायौ द्वितीयाध्यायप्रथमसूत्र–भाष्यादेवाऽवगन्तव्यौ । अथेश्वरप्रणिधानम्—परमेश्वरे सर्वकर्मसमर्पणम्, तदेतदपि द्वितीयपादप्रथमसूत्र–भाष्यादवगन्तव्यम् ॥ एते च यमनियमा विष्णुपुराणेऽपि निरूपिताः—'ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्याऽस्तेयाऽपरिग्रहान् । सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन् ॥' स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् । कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः । एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः । विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां विमुक्तिदाः ॥' श्रीमद्भागवते तु द्वादश यमा द्वादश नियमाश्चोक्ताः, श्रीभगवानुवाच—'अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः । आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् । तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः । 'सामुपासितास्तात ! यथाकामं दुहन्ति हि' इति, अत्र शौचस्य द्वैविध्याद् द्वादशत्वं बोध्यमिति ॥ ३२ ॥

एतेषां यमनियमानाम्—

## वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वक्ष्यमाणैर्हिंसादिभिर्वितर्कैर्यमादीनां बाधने सति वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षाणां भावनं कुर्यात् । तद्यथा—वितर्का दश—हिंसा, असत्यम्, स्तेयम्, अब्रह्मचर्यम्, परिग्रहः, अशौचम्, असन्तोषः, अतपः, अस्वाध्यायः, ईश्वरप्रणिधानाभावः, इति । तदनुकूला वृत्तिर्वितर्क इत्युच्यते । तत्र यदा- अपकारिणं हनिष्यामीति–हिंसावृत्तिर्भवेत् तदा–'अहोऽहं योगधर्ममाश्रितोऽहिंसामेव पालयामि न तु हिंसाम्'–इति प्रतिपक्षं-वितर्कं भावयेत् । एवमेव–अनृतं वक्ष्यामि, स्तेयं करिष्यामि, स्त्रीभोगं करिष्यामि,परपदार्थानां स्वामी भविष्यामि, स्नानादिकं न करिष्यामि, न विषयेभ्यः सन्तोष्टव्यम्, न च तपो विधेयम्, स्वाध्यायोऽपि निष्फलः, ईश्वरप्रणिधानन्तु वृथा रटणमात्रम्, इत्येवंविधा वितर्का यदुत्पद्यन्ते तदा तदा तन्निरोधाय–'न योगमाश्रितेन मयाऽनृतं वक्तव्यम्, न च स्तेयं विधेयम्, न वा स्त्रीप्रसंगो विधेयः, नहि च परपदार्थस्वामित्वं मे युक्तम्,–अस्नानं न श्रेयस्करम्, न चाऽसन्तोषः कार्यो विषयेभ्यः, तपस्तु सर्वथाऽऽचरणीयम्, स्वाध्यायस्तु सफलोऽतोऽनुष्ठेय एव, परमेश्वरप्रणिधानं मुक्तिप्रदं योगिनाम्, इत्येवं प्रतिपक्षाणां भावना कर्तव्या, योगविरोधिवितर्काश्च परिहरणीया इति । एवमग्रेऽपि–'आसनानि केवलक्लेशकराणि तस्मान्न

साधनीयानी'तिवितर्कसत्त्वे तत्प्रतिपक्षस्य–'योगजधर्ममाश्रितस्याऽऽसनानि त्ववश्यं विधेयानि यतस्तो योगसिद्धिकराणीति तर्कस्य-भावना विधेया। एवम्–'प्राणायामो नाऽस्ति योगसाधनम्' इतिवितर्कसत्त्वे तत्प्रतिपक्षस्य–'प्राणायामेनैव नाडीमार्गशुद्ध्यादिद्वारा योगसिद्धिर्भवतीति–प्राणायामस्त्ववश्यंविधेय' इतितर्कस्य–भावना कर्तव्या। एवम्–'प्रत्याहारस्तु प्रयासमात्रफलो नतु तेन योगसिद्धि' रिति-वितर्कसत्वे–तत्प्रतिपक्षस्य–'प्रत्याहारेणैवेन्द्रियाणां वृत्तयस्तावदेकाग्रतामनुभवन्ति तेन च योगसिद्धिर्भवति'–इतितर्कस्य भावना विधेया। एवं–'धारणा न कर्तव्या कठिनप्रयासगम्ये'तिवितर्के सति तत्प्रतिपक्षस्य–'कठिनप्रयाससाध्याऽपि साऽत्यन्तसुखकरी समाधिप्रदा चे' ति–तर्कस्य भावना विधेया। एवं ध्यानं न फलप्रदं-खपुष्पवदिति वितर्केसति तत्प्रतिपक्षस्य–'ध्यानमेवाऽऽम्रपुष्पवत्–समाध्यमृतफल' मिति–तर्कस्य भावना विधेया। एवं 'नहि समाधिः सफलो भवतीतिवितर्कसत्त्वे तत्प्रतिपक्षस्य–'समाधिरेव स्वात्मपरमात्मस्वरूपसाक्षात्कारेण मोक्षप्रद'इति तर्कस्य भावना विधेया। एवमन्यत्राऽपि योगानुकूलसाधनेष्वपि विघ्नकरतर्के जाते सति तत्क्षणे एव तत्तत्साधनेषु श्रद्धधानः सन् तत्साधनसिद्ध्यनुकूलं तर्कं कुर्यात्, यथा 'नेति वस्ति-धोति-कुञ्जरादिक्रिया न योगसाधनरूपा अतो न कार्या' इति वितर्कसत्त्वे तन्निरोधार्थं त्वरितमेव–'नेतिधौत्यादिक्रियाः शुद्धिप्रदाः सामर्थ्यप्रदा योगाङ्गरूपास्तास्तु सर्वथैव कर्तव्याः' इति प्रतिपक्षतर्कस्य भावनां कुर्यादिति ॥ ३३ ॥

किञ्च यदा हिंसादिवितर्का उत्पद्यन्ते तदा तेषां स्वरूपभेदान् यथावदवबुद्ध्य तेषां च दोषकारणत्वं दुःखादिफलकत्वं च विचार्य ते खण्डनीया एव, तद्यथा—

## वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याऽधिमात्रा दुःखाऽज्ञानाऽनन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

ते पूर्वोक्ता हिंसादयो वितर्कास्तावत् कृता वा कारिता वाऽनुमोदिता इतित्रिधा, तत्र कृताः–स्वयं निष्पादिताः, कारिताः कुरु–इत्युक्ताः, अनुमोदिताः–परैः क्रियमाणाः साधु साधु इत्यङ्गीकृताः। ते च त्रिधा अपि पुनः–लोभक्रोधमोहपूर्वकत्वेन प्रत्येकं त्रिधा भवन्ति, तत्र लोभेन–मांसचर्मादिप्रयोजनाय हिंसादिः क्रियते, क्रोधेन–'अपकृतमनेन ममे'ति मत्वा हिंसां करोति, मोहेन–यज्ञे हिंसया धर्मो मे भविष्यतीति मत्वा हिंसां करोतीति। तदेवं हिंसादीनां नवसु भेदेषु जातेष्वपि पुनस्ते–लोभक्रोधमोहाः–मृदुमध्याधिमात्रभेदात् त्रिधा भवन्ति–यथा मृदुलोभो मध्यलोभोऽधिकलोभः, मृदुक्रोधो, मध्यक्रोधोऽधिकक्रोधः, मृदुमोहो मध्यमोहोऽत्यन्तमोहः,

तदेतेषां लोभक्रोधमोहानां त्रिविधत्वात्—हिंसाऽपि मृद्वादिप्रयुक्ततद्भेदाद्भिद्यते, अतः सूत्रे 'मृदुमध्याधिमात्रा' इति हिंसादीनां विशेषणं सङ्गच्छते, तथा च सप्तविंशतिभेदा भवन्ति हिंसायाः, अथ ते मृदुमध्याऽधिमात्राः पुनस्त्रिधा भवन्ति यथा मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रो मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र'इति । योजना तु हिंसा—मृदुमृदुलोभकृता, मृदुमृदुलोभकारिता, मृदुमृदुलोभाऽनुमोदिता, मध्यमृदुलोभकृता, मध्यमृदुलोभकारिता, मध्यमृदुलोभाऽनुमोदिता, तीव्रमृदुलोभकृता, तीव्रमृदुलोभकारिता, तीव्रमृदुलोभाऽनुमोदिता, मृदुमध्यलोभकृता, मृदुमध्यलोभकारिता, मृदुमध्यलोभाऽनुमोदिता, मध्यमध्यलोभकृता, मध्यमध्यलोभकारिता, मध्यमध्यलोभाऽनुमोदिता, तीव्रमध्यलोभकृता, तीव्रमध्यलोभकारिता, तीव्रमध्यलोभाऽनुमोदिता, मृद्वधिमात्रलोभकृता, मृद्वधिमात्रलोभकारिता, मृद्वधिमात्रलोभाऽनुमोदिता, मध्याऽधिमात्रलोभकृता, मध्याऽधिमात्रलोभकारिता, मध्याधिमात्रलोभानुमोदिता, अधिमात्राऽधिमात्रलोभकृता, अधिमात्राऽधिमात्रलोभकारिता, अधिमात्राऽधिमात्रलोभानुमोदिता, इत्येकविंशतिविधा जाता, एवमेव क्रोधमादाय एकविंशतिभेदाः मोहमादाय चैकविंशतिभेदाः, इत्येवमेकाऽशीतिभेदा भवन्ति हिंसादीनां प्रत्येकवितर्काणाम्, ते चैकाशीतिभेदापन्ना अपि पुनः 'नियम-विकल्प-समुच्चय-भेदात् प्रत्येकं त्रिधा भवन्ति, तेन त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशत( २४३ )भेदा भवन्ति, एवमेवाऽसंख्येया भवन्तीति ॥ तत्र 'नियमः—तीर्थे विहायाऽन्यत्राऽपि मत्स्यानेव हनिष्यामी'त्यादिरूपः, 'विकल्पः—एकस्मिन् दिवसे स्थावरस्य जंगमस्य वाऽन्यतरस्यैव हिंसा कार्या न तूभयोरिति, 'समुच्चयः—स्थावरजंगमयोरुभयोरेवाऽव्यवस्थया हिंसारूपः, इति बोध्यम् । हिंसायामिव अनृतादिरूपविकल्पेषु कृतकारितेत्यादयः सर्वेऽपि भेदा अनुसन्धेयाः ॥ ते हिंसादयः—दुःखाऽज्ञानाऽनन्तफला भवन्ति—इत्येतन्मुख्यं प्रतिपक्षभावनम्, दुःखम् अज्ञानम् अनन्तं च फलं येषान्ते तथाभूताः, तद्यथा—हिंसको हि परस्य प्राणिनो वीर्यमाक्षेपति, तेन तस्य हन्तुरपि स्त्रीपुत्रधनसुहृदादिकं क्षीणवीर्यं सत् स्वोपभोगाऽनर्हं भवति, तथा परस्य शस्त्रादिना दुःखोत्पादनात्—हन्ताऽपि नरकादिषु याम्यशस्त्रादिना दुःखमनुभवति, तथा परस्य प्राणवियोजनात्—हिंसकोऽपि प्रतिक्षणं जीविताऽत्ययं रोगादिना मरणावस्थां सम्मोहमयीमापन्नो मृत्युमिच्छन्नपि कथञ्चिदेव जीवति, उक्तं च गीतायां 'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ॥ क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इति, तदेवं दुःखमनुभवन्तो नरकतिर्यक्प्रेतादियोनिषु संसरन्ति, अज्ञानमेव प्राप्नोति पुनरिति, अनन्तं च तदज्ञानस्य दुःखं फलं पुनर्लभते—इति, तथा च श्रुतिः—'कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन्नि'ति एवमनृ-

तादिष्वपि यथासम्भवं योज्यम्, तत्सर्वत्राऽनिष्टमेव विपाकं भावयन् हिंसादिषु मनो न प्रणिदधीतेति ॥ ३४ ॥

यदा योगिनोऽहिंसादयः प्रतिष्ठिता भवन्ति तदा दिव्यैश्वर्याण्याविर्भवन्ति, यथा–

## अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

अहिंसायाः स्थैर्ये सति अहिंसकस्य योगिनः सन्निधिस्थाः शाश्वतिकविरोधा अप्यश्वद्वय-महिषद्वय-मूषकमार्जार-नकुलाऽहिप्रभृतयोऽपि योगिनश्चित्तानुकारिणो निर्वैरा भवन्ति, यतोऽहिंसकस्य पुरुषादेः स्वात्मस्वरूपं सर्वथाऽभिद्रोहरहितमेव भवति, अत एव नित्यदा शान्तमिति सात्त्विकमिति वर्तते, यत्र च सात्त्विकभावस्ताद्दशभावबान्धुरूपो यत्र देशे काले वा निवसति तत्र देशकालादयोऽपि सत्त्वप्रधानाः सत्त्वव्याप्ताः शान्ता भवन्ति, तत्रत्यं वायुमण्डलमपि शान्तमिव सुखदं भवति, तद्वायुमण्डलान्तर्गताः प्राणिनोऽपि रजस्तमोजन्योद्वेगेभ्यो विमुच्य शान्ता अत एव निर्वैरा भवन्तीति ॥ एवं 'न भक्षयति यो मांसं न हिंस्यान्न च घातयेत् । तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीदि'–त्यशाऽप्यहिंसकस्य सर्वभूतानां मित्रत्वमुक्तम्, यश्चाऽहिंसकः स एव दयालुः । दयावानेवाऽहिंसको भवति, उक्तं चाऽहिंसारूमिकाया दयाया भगवत्प्राप्तिरूपं फलं–'तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् । भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः' । 'पुंसः कृपयतो भद्रे ! सर्वात्मा प्रीयते हरिः । प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरम्' । 'दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केनचित् । सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः' इति । एवमन्यदप्यहिंसायाः फलमुक्तं 'वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । अहिंसाऽऽश्रयकर्तुः स्यात् तस्य पुण्यसमं फलमि'ति । एवम्–'अहिंसा परमो धर्म' इत्यनेन परमधर्मरूपस्याऽहिंसाव्रतस्य परमपुरुषार्थफलकत्वमपि समभिव्यज्यत इति विशेषम् ॥ ३५ ॥

सत्यस्य फलं दर्शयति—

## सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम् ॥३६॥

यो हि सत्यं साधयति तस्य वाचि क्रियाः शुभाऽशुभाः,–तत्फलं धर्माऽधर्मात्मकं,–स्वर्गनरकादिरूपं चेति सर्वमाश्रितं भवति, यथा वदति तथा सर्वं भवति, यथा कश्चित् पापिष्ठं वदति–'धार्मिको भूयाः' तदा भवति स धार्मिकः, 'स्वर्गं प्राप्नुही'ति कथिते सति स्वर्गं विन्दते, धार्मिकाय चेत् कथयति–'नरकं प्राप्नुही'ति तदा धार्मिकोऽपि नरकं गच्छति, इत्येवं सर्वत्र तस्य वाणी सत्याऽप्रतिहताऽमोघा भवतीति, उक्तं चाऽन्यदपि फलम् 'स यः सत्यं वदति यथाऽग्निं समिद्धं घृतेनाऽभिषिञ्चेदेवं हि एनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः

श्रेयो भवती'ति सत्यं प्रशस्यते ॥ किञ्च श्रूयते 'नाऽविरतो दुश्चरितान्नाऽशान्तो नाऽसमाहितः । नाऽशान्तमनसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ तेषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं च माया ॥ आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ' इति ॥ 'सत्यं हि भगवद्रूपं सत्यं श्रेयस्तनोति वै । यत्र सत्यं भवेन्नित्यं भगवान् तत्र राजते ॥' ब्रह्मधामाऽपि सत्यं वै यत्र तत्र विराजते । स्वयं सत्यस्वरूपत्वाद्ब्रह्माऽभिन्नो भवेद् ध्रुवम्' इत्यादिना परमेश्वरशरणं भगवद्धामप्राप्त्यात्मकं सत्यस्य फलम् उक्तं बोध्यम् ॥३६॥

अस्तेयस्य फलं दर्शयति—

## अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयस्य सिद्धौ सत्यां तस्य योगिनः सन्निधौ सर्वेषां रत्नानामुपस्थितिर्भवति, यदेवेच्छति तदेव प्राप्नोति, नहि किञ्चिदपि भवत्यलभ्यं तस्येति । रत्नान्यपि सन्ति बहुविधानि यथा 'मणिरत्नं द्रव्यरत्नं भूतरत्नं समुद्रजम् । दिव्यस्त्री देवरत्नं च सिद्धिरत्नं प्रभावजमि'ति । तत्र मणिरत्नेन प्रवाल-हीरक-माणिक्य-मौक्तिक-गारुत्मत-चिन्तामणि-चन्द्रकान्तमणि-सूर्यकान्तमणि-कौस्तुभमणि-प्रभृत्यनेकविधानि ग्राह्याणि, जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । 'द्रव्यरत्नमित्यनेन स्वर्णरजतादिद्रव्यं नवनिधिनिःसृतं सर्वमपि गृह्यते, तत्र निधयो यथा—'महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नवे'ति । भूतरत्नमित्यनेन—पञ्चभूतजन्या यावद्दिव्यविभूतयो भक्ष्यभोजनमन्दिराद्या ग्राह्या भवन्ति ॥ 'समुद्रजमित्यनेन चतुर्दशरत्नानि यथा—'लक्ष्मीः कौस्तुभमणिः, पारिजातकः, सुरा, धन्वन्तरिः, चन्द्रमाः, कामदुघा, ऐरावतगजेन्द्रः, अप्सरा रम्भा, सप्तमुखाश्वः, अमृतम्, हरिधनुः, शंखः, विषमिति, ॥ 'दिव्यस्त्री देवरत्नमित्यनेन दिव्यस्त्रीरूपरत्नानि तथा देवरत्नान्यपि ग्राह्याणि भवन्तीति बोध्यम् ॥ 'सिद्धिरत्नमित्यनेन 'अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वमि'त्यष्टसिद्धयो भवन्ति, तथा—तार-सुतार-तारतार-रम्यक-सदामुदित-प्रमोद-मुदित-मोदमानसंज्ञका अष्टसिद्धयो भवन्ति, तथा—अध्ययन-शब्दोह-सुहृत्प्राप्ति-दानाऽऽध्यात्मिकदुःखनाशाऽऽधिभौतिकदुःखनाशाऽऽधिदैविकदुःखनाशाऽभिधा अष्टसिद्धयो भवन्ति । 'प्रभावजमित्यनेन—स्वात्मप्रभावात्मकं रत्नं ग्राह्यम्, तद्यथा—'यस्य स्तेयं भवति स तु चौरो दरिद्र इति कथ्यते, यस्य पुनरस्तेयं सुप्रतिष्ठितं स तु सर्वेश्वरः श्रेष्ठी धनाढ्य' इति । अत एव सर्वेषां वर्णितानां रत्नानां स्वाम्यपि सतृष्णः प्राकृतमनुजो न तादृशं सुखं भुङ्क्ते यथाऽस्तेयसन्तोषी योगी, योगिनस्त्वस्तेयसंतुष्टस्य सर्वरत्नतोऽप्यधिकमात्रं सुखमिति, तदिदं प्रभावजं रत्नं बोध्यम्, किञ्च स्वर्गमपि फलं

भवति यथा–'अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा । मनसाऽपि न गृह्णन्ति ते नराः स्वर्गगामिन' इति ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यस्य फलमाह—

## ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यस्याऽष्टविधस्याऽविप्लुतस्य सिद्धौ सत्यां वीर्यस्य-शुक्रस्य शक्तिविशेषस्य च लाभो भवति, तल्लाभे च प्रतिघातवर्जितान् गुणान् ज्ञानक्रियाशक्तीःप्राप्नोति योगी, तथा सिद्धः सन् स्वयं ज्ञानी भूत्वा शिष्येषु ज्ञानाऽऽधानसमर्थश्च भवति, ब्रह्मचर्यफलं गीतायां परमेश्वरधामप्राप्तिरप्युक्ता–'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये' इति । एवं ब्रह्मचारी पुरुषस्तु भीष्मपितामह इव कालकर्ममायादीनपि स्ववशतां नयति, यथाऽथर्ववेदे–'ब्रह्मचारी ष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः सम्मनसो भवन्ति । स दाधार पृथिवीं दिवञ्च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति' 'ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे । गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्स देवाँस्तपसा पिपर्त्ति' 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति । तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः' 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोऽन्तरिक्षं समिधा पृणाति ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति' 'ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजं गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुराँस्ततर्ह' 'आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी'–इत्यादिभिस्त्र्यधिकनवतिमन्त्रैर्ब्रह्मचर्यगौरवं प्रदर्शितमिति । श्रूयते च छान्दोग्ये–'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणाऽनुविन्दन्ति । अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दत इति । अथ यदिष्टम् इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते । अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत् आत्मनस्त्राणं विन्दते । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, ब्रह्मचर्येण ह्यात्मानमनुविद्य मनुते । अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदि'ति । तथा 'एतत्त्रयवाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाचे'-त्यादि ॥ मोक्षधर्मेषु चोक्तं 'यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् । परं तत्सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गति'मिति ॥ सनत्सुजातीये च–'नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छसि त्वतिहृष्यसीव । बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या' इति ॥ उक्तं च पाद्मे सृष्टिखण्डे–'ब्रह्मयोनौ प्रसूतस्य ब्राह्मणस्या–

स्मवर्तिनः । ब्रह्मचर्यं सुचरितं ब्रह्मणाऽपि सुरालये ॥ ब्रह्मचर्याद्ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्यत्वं विधीयते । एवमाहुः परे लोके ब्रह्मचर्यविदो जनाः ॥ ब्रह्मचर्ये स्थितो धर्मो ब्रह्मचर्यं स्थितं तपः । ये स्थिता ब्रह्मचर्ये तु ब्राह्मणास्ते दिविस्थिताः ॥ नास्ति योगं विना सिद्धिर्नास्ति सिद्धिं विना यशः । यशस्तपो विना नास्ति ब्रह्मचर्यात्परं न तत् ॥ यो निगृह्येन्द्रियग्रामं भूतग्रामं च पञ्चकम् । ब्रह्मचर्यं समाधत्ते किमतः परमं तपः' इति । श्रूयते च ब्रह्मचर्यस्य निःश्रेयससाधनता–'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया । विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते' 'येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः ॥' 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति ब्रह्मचर्यं प्रशस्यते ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्य फलं दर्शयति—

## अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहस्य–भोगसाधनाऽपरिग्रहात्मकस्य सिद्धौ सत्यां निर्लेपस्याऽस्य योगिन इन्द्रियाणि भवन्ति विषयस्पर्शानुत्सुकानि स्वात्मस्वरूपमात्रपरायणानि सत्त्वमात्रतां प्राप्तानि, तदानीं चायं यत्किमपि जन्मादिजिज्ञासां करोति तदाऽस्य जन्मनः कथन्तायाः सम्बोधो भवति, तत्र निकायविशिष्टैर्देहेन्द्रियादिभिरभिसम्बन्धो जन्म, तस्य कथन्ता किंप्रकारता, तस्याः सम्बोधो नाम साक्षात्कारः–सप्रकाराऽतीन्द्रियशान्तोदिताऽव्यपदेश्यजन्मपरिज्ञानमिति यावत्, तत्र 'जन्मान्तरे कोऽहमासम्,–कीदृशः किंकार्यकारी'ति'जिज्ञासायां व्यतीतं प्राग्भवादि सर्वमेव जानाति, 'वर्तमाने च किमिदं जीवनं कथञ्चेदृशमिति जिज्ञासायां वार्तमानिकं जीवनादिकं जानाति, अनागते तु–'कोऽहं भविष्यामि कीदृशो वे'ति जिज्ञासायां भविष्यज्जन्मादि सर्वं यथावज्जानाति ॥ ३९ ॥

नियमेषु शौचस्य फलं दर्शयति—

## शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचस्य बाह्यस्य सिद्धौ सत्यां शौचे प्रवर्तमानस्य तस्य योगिनः स्वाङ्गेषु जुगुप्साऽशुचित्वदोषदर्शनं जायते, तेन स्वशरीरादिवत् परशरीरादिकमपि सर्वमशुचि जानन् तत्र न सक्तो भवति, तथा च प्रकृतिजन्यं यावद्वस्तुजातमशुच्येवेति जानन् सच्चिदानन्दस्वभावाऽऽत्मतत्त्वं विना नाऽन्यत्र सक्तो भवति तेनाऽऽत्मतत्त्वमेव ध्यायमानो योगी योगफलं परनिर्वाणरूपं लभत इति ॥ ४० ॥

आभ्यन्तरशौचस्य फलं दर्शयति—

## सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शन-योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

अविद्यादिक्लेशानां नाशे सति 'सत्त्वस्य–प्रकाशसुखाद्यात्मकस्य 'शुद्धिः–रजस्तमोभ्यामनभिभवो भवति, प्रवृद्धे च सत्त्वे सति–'सौमनस्यं–क्लेशाऽननुभवात् मनसः प्रसन्नता भवति, एवं च सति 'ऐकाग्र्यं–नियतविषये चित्तादेः स्थैर्यं भवति, तत इन्द्रियाणामपि लीनस्ववृत्तिनामत एव कुण्ठितानां विषयपराङ्मुखानां जयः–स्वात्मरूपेऽवस्थानं भवति, तत एवाऽऽत्मनो दर्शनस्य योग्यता भवति–स्वात्मदर्शनं करोतीति यावत्, स्वात्मदर्शने सति परमात्मदर्शनमपि भवतीति ॥ ४१ ॥

सन्तोषस्य फलं दर्शयति—

## सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोषस्य सिद्धौ सत्यां–'नास्त्युत्तमं सुखं यस्मात् तथाविधसुखस्य लाभो भवति, तृष्णाक्षयो हि सन्तोषः, तृष्णाक्षये सति चित्तस्य सांसिद्धिकसत्त्वाऽधिक्यनिमित्तक–सुखस्वभावता स्वत एवाऽऽविर्भवति, तदिदं सुखं विषयाऽपेक्षा-रहितम्, अतएव विषयाऽनपेक्षं शान्तिदं नित्यानन्दात्मकं स्वात्मसुखमिति चोच्यते, अभिहितं च परमेश्वरस्य सन्तुष्टस्य च सुखसाम्यं 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाऽकामहतस्ये'तिश्रुतौ, तत्रेश्वरस्य पूर्णकामत्वात् अकामहतस्य च सन्तोषित्वात् सदृशमेव सुखमिति, किञ्च 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलामि'ति । पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः । यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः' इतिच । तदिदं योगाभ्यासस्य भावि प्रशिष्यसुखात्मकं फलं तस्य सिद्धिबोधकमिदं सन्तोषात्मकं फलमिति ॥ ४२ ॥

तपसः फलं दर्शयति—

## कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपसः सिद्धौ सत्यां तमोगुणधर्माः–अज्ञानाऽधर्माऽवैराग्याऽनैश्वर्यादयो गुरुत्वाऽऽवरणकत्वविपादनियमनादयश्च समूला निवर्तन्ते कुसंस्काराश्च विलीयन्ते, तेषामैश्वर्यप्रतिबन्धकानामत एवाऽशुद्धिरूपाणां तामसधर्माणां निवृत्तौ सत्यां कायसिद्धिरिन्द्रियसिद्धिश्च प्रादुर्भवति, तत्र कायसिद्धयोऽणिमा महिमा लघिमा

गरिमा प्राप्तिरिति पञ्च भवन्ति, इन्द्रियसिद्धयश्च—प्राकाम्येशित्ववशित्वरूपास्तिस्रः, एवमन्या अपि—'ऊहशब्दाध्ययनसुहृत्प्राप्तिदानत्रिविधदुःखविघाताः, अथ च—तार-सुतार-तारतार-रम्यक-सदाप्रमुदित-प्रमोद-मुदित-मोदमानाख्याश्च भवन्ति, तेन—दिव्याऽदिव्यशब्दादिग्रहणसामर्थ्यमाविर्भवति, मनोबुद्धिचित्ताऽहंकारात्मकान्यन्तः-करणान्यपि—असद्विषयाऽसम्भिन्नान् संकल्पाऽध्यवसायचिन्तनाऽभिमानान् दिव्याऽ-दिव्योभयविषययथार्थपदार्थविषयकान् कुर्वन्ति, अतएव धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि समुत्पद्यन्ते, अनेकाश्च धारणप्रेरणादयः शक्तयोऽपि प्राविर्भवन्तीति, तत्र कायिक-तपसा कायसिद्धयोभवन्ति, वाचिकतपसा वाक्सिद्धयो भवन्ति, मानसिकतपसाऽ-न्तःकरणसिद्धय इन्द्रियसिद्धयश्च भवन्तीति ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायस्य फलं दर्शयति—

## स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायस्य—वेदात्मकस्य स्वेष्टपरमात्मवचनस्तुतस्य सिद्धौ सत्यां विज्ञानं विवर्धते, स्वेष्टदेवनामधेयस्य सिद्धौ सत्यां स्वेष्टदेवस्य दिव्यं दर्शनं भवति, सम्प्र-योगो नाम—साक्षात्प्राप्तिरिति, गायत्रीजपे गायत्रीदेवता प्रसन्ना भवति तेन वाक्-सिद्धिर्लभ्यते, यां देवतां द्रष्टुं वाञ्छति सावैदेवता दृश्या भवति, वस्तुतः स्वेष्टदेवस्य नामकीर्तनभक्त्या प्रसन्नः स्वोपास्यमूर्तिर्भगवान् साक्षात्स्वदर्शनं भक्ताय ददातीति ॥

ईश्वरप्रणिधानस्य फलं दर्शयति—

## समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरे—परमेश्वरे श्रीहरौ, प्रणिधानस्य सर्वक्रियासमर्पणस्याऽऽत्मनिवेदितस्य सिद्धौ सत्यां समाधिसिद्धिर्भवति, प्रथमं सम्प्रज्ञातसमाधेः सिद्धौ सत्यां ततोऽ-सम्प्रज्ञातसमाधिः सुदृढो जायते, तत्र स्वेष्टस्य परमेश्वरस्वरूपस्य दिव्यदर्शन-मुपैति योगिजनः, परमेश्वरेण सहाऽभिन्नतामुपयाति तेन योगी स्वयमपि ब्रह्मा-त्मभूत इति ख्यायते, ईश्वरप्रणिधानस्य दार्ढ्ये यत्प्राप्तव्यं तत्प्राप्तमेव परमेश्वर-स्वरूपं योगिना, नाऽस्य किञ्चित्प्राप्तव्यमवशिष्यते—इति । नचैवं सति—ईश्वरप्रणि-धानेतराणां यमनियमाऽऽसनादीनां व्यर्थत्वमिति वाच्यम् । नहि यमनियमाद्विना परमेश्वरप्रणिधानयोग्यत्वं भवन्ति योगिनः, न चाऽऽसनानि विना स्थैर्यं भवति कार्यस्य, नच प्राणायामं विनेन्द्रियमलाः विदग्धा भवन्ति, नच प्रत्याहारधारणाध्या-नादिकं विना स्वेष्टदेवस्य दिव्यदर्शनं कर्तुं शक्नोति योगी, तस्माद् यमनियमादीनां सार्थक्यमेव तत्तदंशसहायकतया बोध्यमिति, समाधिसिद्धौ च देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरेऽपि च सर्वं स्वेप्सितं सफलमेव जानाति, तेनाऽयं योगीभवत्यन्तर्यामीति ।

त एते यमनियमाः ससिद्धयो वर्णिताः, इदानीं चतुरशीतिसंख्याकमुख्यासनानि वर्णनीयानि, तेषां सामान्यलक्षणं दर्शयति—

## स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

आस्यते—अनेनेत्यासनं, लक्षणन्तु 'स्थिरसुख'मिति, सुखयतीति—सुखं तादृशं सत् स्थिरं सत्, तथा च 'सुखप्रदत्वे सति शरीरवृत्तिस्थिरत्वम्–आसनत्वमि'ति । तानि च त्र्यधिकनवतिसंख्याकानि समुपलभ्यन्तेऽत्र तानि प्रदर्श्यन्ते । १–सिद्धासनम्, २–बद्धपद्मासनम्, ३–दण्डासनम्, ४–वीरासनम्, ५–पवनमुक्तासनम्, ६–वामपादपवनमुक्तासनम्, ७–धीरासनम्, ८–दक्षिणपादपवनमुक्तासनम्, ९–वामदक्षिणश्वासगमनासनम्, १०–पश्चिमतानासनम्, ११–वातायनासनम्, १२–मयूरासनम्, १३–मत्स्येन्द्रासनम्, १४–अर्धपद्मासनम्, १५–कुक्कुटासनम्, १६–गोरक्षासनम्, १७–भद्रासनम्, १८–ऊर्ध्वपद्मासनम्, १९–अर्धपादासनं पूर्णपादासनं च, २०–दक्षिणासनम्, २१–शवासनं मृतासनं वन्दासनं वा, २२–मकरासनम्, २३–वामदक्षिणपादासनम्, २४–धनुरासनम्, २५–दक्षिणपादमस्तकाऽऽसनम्, २६–द्विपादमस्तकासनम्, २७–स्थिरासनं शिरासनं वा, २८–वृक्षासनम्, अर्धवृक्षासनं च, २९–चक्रासनम्, ३०–ताडासनम्, ३१–दक्षिणवामचतुर्थांशपादासनम्, ३२–ऊर्ध्वधनुरासनम्, ३३–वामदक्षिणसिद्धासनम्, ३४–स्वस्तिकासनम्, ३५–स्थितविवेकासनम्, ३६–उत्थितविवेकासनम्, ३७–दक्षिणवामतर्कासनम्, ३८–पूर्वतर्कासनम्, ३९–निःश्वासासनम्, ४०–अर्धकूर्मासनम्, ४१–गरुडासनम्, ४२–सिंहासनं व्याघ्रासनं वा, ४३–त्रिकोणासनम्, ४४–प्रार्थनासनम्, ४५–दक्षिणपादवामपादत्रिकोणासनम्, ४६–पूर्णपादत्रिकोणासनम्, ४७–वामदक्षिणभुजासनम्, ४८–वामदक्षिणहस्तभयंकरासनम्, ४९–अङ्गुष्ठासनम्, ५०–उत्कटासनम्, ५१–यष्टिकाऽऽसनम्, ५२–वामदक्षिणाऽर्धपादासनम्, ५३–हस्तभुजासनम्, ५४–वामदक्षिणचक्रासनम्, ५५–वामदक्षिणजान्वासनम्, ५६–वामदक्षिणशाखासनम्, ५७,त्रिस्तम्भासनम्, ५८–वामदक्षिणपादापानगमनासनम्, ५९–वामहस्तचतुष्कोणासनम्, ६०–कूर्मासनं गोमुखासनं वा, ६१–गर्भासनम्, ६२–एकपादवृक्षासनम्, ६३–मुक्तहस्तवृक्षासनम्, ६४–हस्तवृक्षासनम्, ६५-द्विपादपार्श्वासनम्, ६६–कन्दपीडनासनम्, ६७–ऊर्ध्वकन्दपीडनासनम्, ६८–प्रौढासनम्, ६९–उपधानासनम्, ७०–ऊर्ध्वसंयुक्तपादासनम्, ७१–अर्धशवासनं पर्यङ्कासनं वा, ७२–अपानासनम्, ७३–योन्यासनम्, ७४–मण्डूकासनम्, ७५–पर्वतासनम्, ७६–कोकिलासनम्, ७७–शलभासनम्, ७८–लोलासनम् उत्तमाङ्गासनं वा, ७९–उष्ट्रासनम्, ८०–हंसासनम्, ८१–प्राणासनम्,

८२–कार्मुकाऽऽसनम्, ८३–आनन्दमन्दिरासनम्, ८४–खञ्जनासनम्, ८५–क्षेमासनम्, ८६–ग्रन्थिभेदनासनम्, ८७–सर्वाङ्गासनम्, ८८–समानासनम्, ८९–भुजंगासनम्, ९०–मात्स्यासनम्, ९१–पवनासनम्, ९२–क्रौंचासनम्, ९३–हस्तिनिषदनम्, इत्यासनानि बोध्यानि । तानि स्वरूपतो निरूप्यन्ते—

तत्र सिद्धासनम्–वामपादं पृथिव्यां संस्थाप्य तस्य पार्ष्णिं गुदालिङ्गयोर्मध्यप्रदेशस्पर्शिनम् विधाय चुटिकोपरि लिङ्गं धार्यं, लिङ्गोपरि च दक्षिणपादपार्ष्णिः संस्थाप्यः, ततो हस्तद्वय-पञ्चशाखौ स्वाङ्के निधाय यदुपवेशनं तत् सिद्धासनमिति भवति । तस्य भेदत्रयम्–मुक्तासनं वज्रासनं गुप्तासनञ्चेति, तत्र यदुक्तं तदेव मुक्तासनम्, वज्रासनं तु–गुदालिङ्गयोर्मध्यप्रदेशे दक्षिणपादपार्ष्णिं निधाय वामपादपार्ष्णिं च लिङ्गोपरि संस्थाप्योपवेशनमिति, गुप्तासनन्तु–वामपादपार्ष्णिं गुदालिङ्गमध्यप्रदेशे संस्थाप्य तस्य प्रपदोपरि दक्षिणपादपार्ष्णिधारणपूर्वकं यदुपवेशनं तदिति । ( २ ) पद्मासनं यथा–दक्षिणपादं वामसक्थ्युपरि वामपादं च दक्षिणसक्थ्युपरि संस्थाप्य ततः पृष्ठतः करद्वयं प्रसार्य दक्षिणकरेण दक्षिणपादाङ्गुष्ठग्रहणं वामकरेण वामपादाङ्गुष्ठग्रहणं कृत्वा यदुपवेशनं तदिदं पद्मासनमिति. अस्यैव बद्धपद्मासनमिति प्रकारान्तरं–तदत्र पादकरयोः परावर्तनेन भेद इति ( ३ ) हंसासनं यथा–'वामबाहुं कफोणितो वक्रं कृत्वा कफोणिं पृथिवीसंस्पृष्टं तद्धस्ततल(पञ्चशाखा)धारं शिरः कृत्वा वामपार्श्वेन शयनमिति ॥ ( ४ ) वीरासनं यथा 'वामपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तत्सक्थ्न अधः कृतं तत्प्रपदं गुदाया अधः संस्थाप्य दक्षिणपादस्य प्रपदं पृथिव्यां वामपादप्रपदसन्निधौ कृत्वा दक्षिणजानुं स्वहृदयसन्निधावूर्ध्वं संरक्ष्योपवेशनमिति ॥ ( ५ ) पवनमुक्तासनं यथा–'पादद्वयमपि जानुतो वक्रं कृत्वा पादतलयोः पृथिवीसंसर्गो यथा स्यात्–जान्वोश्च वक्षःसंस्पर्शो यथा स्यात्—तथा सम्यगुपविश्य वामकरपञ्चशाखं दक्षिणजानुदक्षिणबाहुमध्ये प्रस्थाप्य दक्षिणकरपञ्चशाखं च वामजानुवामबाहुमध्ये प्रस्थाप्य यदुपवेशनं तदिति ॥ ( ६ ) वामपादपवनमुक्तासनं यथा यथा–इदमासनं पवनमुक्तासनवदेव भवति, विशेषस्त्वत्र–'यथा दक्षिणपादस्य तलं पृथिवीं स्पृशेत् दक्षिणजानुश्च हृदयं ( वक्षः ) स्पृशेत्–तथा समुपवेशनमिति ॥ ( ७ ) धीरासन यथा 'पादद्वयं जानुतो वक्रं कृत्वा गुदाया अधोभागे संस्थाप्य हस्ताग्रद्वयं च स्ववक्षसि संस्थाप्य यदुपवेशनमिति ॥ ( ८ ) दक्षिणपादपवनमुक्तासनं यथा–वामपादपवनमुक्तासनवदिदमासनं भवति, अत्राऽयं विशेषः–यथा वामपादाऽग्रतलं पृथिवीं स्पृशेत् वामजानुश्च वक्षः स्पृशेत् तथोपवेशनमिति ॥ ( ९ ) वामदक्षिणश्वासगमनासनं यथा–'दक्षिणजानुं दक्षिणकक्षे निधाय तदुपरि शरीरभारं प्रमुच्य वामपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य पार्ष्णितलं दक्षिणपादनलिकया सह स्पृष्टं कृत्वा ततो नितम्बौ यथा

पृथिवीं न स्पृशेतां तथा व्यवस्थानमिति । अथ ततः सर्वाङ्गपरिवर्तनेन तथैव व्यवस्थानं यत् तद् 'दक्षिणश्वासगमनासनमिति–कथ्यते । अस्य फलं तु यदङ्गीयजानौ शरीरभारस्तदङ्गीयनासिकायां श्वासगमनमिति ॥ ( १० ) पश्चिमतानासनं यथा–'पृथिव्यामुपविश्य पादौ प्रसार्य तदङ्गुष्ठौ करद्वयेन गाढौ, तत्र यथा जानुसन्ध्यधोभागौ पृथिवीतो वियुक्तौ न भवेतां तथा प्रयतितव्यमथ च भालं जान्वोर्मध्यप्रदेशे संस्पृष्टं विधेयमिति । अस्य फलं–सुषुम्णायां प्राणगतिः, जठराग्निप्रज्वलनम्, उदरकृशता, नाडीनां साम्यता चेति ॥ ( ११ ) वातायनासनं यथा 'वामपादस्य तलं पार्ष्णिं च दक्षिणसक्थिमूलप्रदेशे संस्थाप्य वामपादस्य जानुं दक्षिणपादगुल्फेन सह संस्पृष्टं कृत्वा दक्षिणपादेन यद् उत्थानम्, तदिति ॥ ( १२ ) मयूरासनं यथा 'करद्वयतले मयूरपादतलवत् कृत्वा कूर्परद्वयं नाभिपार्श्वे संस्थाप्य ततः पादमस्तकादीनां यथा पृथिवीस्पर्शो न भवेत् तथा–मयूरवद् व्यवस्थानमिति, इदमासनमुदररोगाणां नाशकमिति ॥ ( १३ ) मत्स्येन्द्रासनं यथा 'पृथिवीं स्पृशन्तं वामपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य पार्ष्णिं दक्षिणसक्थिमूले संस्थाप्य ततो दक्षिणपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य जानुं दक्षिणकक्ष(बाहुमूल)तो बहिर्भागे व्यवस्थाप्य तस्य तलं च वामजानुतः पूर्वं पृथिवीसंस्पृष्टं कृत्वा तस्याऽङ्गुष्ठं च वामकरेण गृहीत्वा दक्षिणंकरं च पृष्ठभागे प्रसार्य कटिं संवेष्ट्य वामपादपार्ष्णिं गृहीत्वाऽऽ–मुखं च दक्षिणस्कन्धे कृत्वा व्यवस्थानमिति, अस्य फलं नाभिप्रदेशस्थितां नागाऽऽकृतिं 'कुण्डलिनीं' सार्धत्रयचक्रात्मकभ्रमणेन व्यवस्थितामधोमुखीं तामूर्ध्वमुखीं कृत्वा योगी षण्णां चक्राणां भेदं कृत्वा पारं गन्तुं शक्तो भवतीति ॥ (१४) अर्धपद्मासनं यथा 'दक्षिणपादं वामसक्थिमूलोपरि धृत्वा वामपादं च दक्षिणसक्थिमूलोपरि धृत्वा कराग्रद्वयं तु तत्पार्ष्णिद्वयोपरि धृत्वोपवेशनमिति ॥ ( १५ ) कुक्कुटासनं यथा 'दक्षिणपादं वामसक्थ्युपरि वामपादं च दक्षिणसक्थ्युपरि धृत्वा द्वयोः सक्थ्नोरन्तराले हस्तौ प्रसार्य हस्ताभ्यामेव शरीरमूर्ध्वं संतोलनीयम् , तदिदं कुक्कुटवत्—आसनात् कुक्कुटासनमिति ख्यायते, तत्फलं तन्द्राद्यान्यालस्यनाशनाडीमलदूरीकरणत्वाद्यात्मकं बोध्यमिति ॥ (१६) गोरक्षासनं यथा 'दक्षिणपादप्रपदं पश्चिममुखं परावृत्य गुदालिङ्गमध्यगाया वीर्यप्रस्रवनाड्या दक्षिणभागे तस्य पार्ष्णिभागो रक्षणीयः, तस्य प्रपदं तु दक्षिणनितम्बाधोभागे पश्चाद्भागे प्रसारणीयम्, एवं वामपादप्रपदमपि पश्चिममुखं परावृत्य ( कृत्वा ) वीर्यप्रस्रवनाड्या वामभागे तस्य पार्ष्णिभागो रक्षणीयः–तस्य प्रपदं ( पादाग्रं ) तु वामनितम्बाधोभागे पश्चाद्भागे प्रसारणीयम्, हस्तौ तु तदन्यतरपृष्ठ-तलसंयोजनपूर्वकौ स्ववक्षसि संस्थापनीयौ, इति तथोपवेशनम् ॥ (१७) भद्रासनं यथा 'गोरक्षासनं कृत्वा पश्चात् स्वहस्तद्वयं पृष्ठावच्छेदेन कृत्वा पादतलाङ्गुष्ठाङ्गुल्यादीनां परस्परमाश्लेषो नितम्बाधो मध्य-

भागे विधेय इत्युपवेशनं यत् तद्भद्रासनम्, गोरक्षासनभद्रासनयोः फलं सुप्तस्य वीर्यपातो न भवति स्वप्नादिष्विति ॥ (१८) ऊर्ध्वपद्मासनं यथा 'अर्धपद्मासनं कृत्वा पश्चात् मस्तकं भूतलाऽभिसंस्पृष्टं कृत्वा शरीरभारं स्कन्धयोर्निक्षिप्य कटि-र्हस्तयोराधारेणैवोर्ध्वं रक्षणीया, तदिदमधःशिरऊर्ध्वपादात्मकं व्यवस्थानमिति । (१९) अर्धपादासनं यथा 'दक्षिणपादेन तिष्ठन् सन् वामपादस्य पार्ष्णिं दक्षिण-सन्धिप्रदेशे रक्षयेदिति, एवम्—'पूर्णपादासनमपि' भवति,—यथा प्रत्येकपादेन अर्ध-पादासनं विधाय ततो द्वाभ्यामेव पादाभ्यां जान्वनुलम्बिबाहुभ्यां च यद् व्यव-स्थानं तदिति ॥ (२०) दक्षिणासनं यथा 'दक्षिणहस्तं कूर्परतो वक्रं विधाय कूर्परं च पृथिवीसंस्पृष्टं तत्करतलं च शिरःसंस्पृष्टं विधाय दक्षिणपार्श्वेन शयनमिति । (२१) शवासनं मृतासनं दण्डासनं वा यथा 'पादौ लम्बमानौ प्रसार्य हस्तौ च लम्बमानौ कटिपार्श्वस्थौ कृत्वा गगनाभिमुखमाननं कृत्वा पृष्ठावच्छेदेन शयनमिति, यदि च हस्तौ स्वशिरःपार्श्वयोः लम्बमानौ क्रियेते तदा दण्डासनं तद् भवतीति । (२२) मकरासनं यथा 'कटिपार्श्वयोर्हस्तद्वयं लम्बमानं विधायाऽधोमुखेन वक्षउद-रादिना भुवि यद् दण्डवच्छयनं मकरस्योपवेशनमिवेति तत् ॥ (२३) वामदक्षिणपादा-सनं यथा 'वामपादं पूर्वभागे लम्बमानं विधाय दक्षिणेन पादेनैव केवलं यदुत्थानम्, अथवा दक्षिणपादं स्वाग्रभागे लम्बमानं विधाय वामेन पादेनैव यद्—उत्थानम् ऊर्ध्वस्थितिः तदिति । (२४) धनुरासनं यथा—'भूतले उपविश्य दक्षिणकरेण वाम-पादाङ्गुष्ठो वामकरेण च दक्षिणपादाङ्गुष्ठो ग्राह्यस्तत्र एकपादो लम्बो विधेयोऽपरश्च समाकृष्य कर्णपर्यन्तमानेय इति तदिदं धनुरिवाऽऽसनमिति । (२५) दक्षिणपाद-मस्तकासनं यथा—'भूतले समुपविश्य दक्षिणपादः शिरोऽधः स्कन्धभागे स्थाप-नीय इति तद्बोध्यम् ॥ वामपादमपि शिरोऽधः स्कन्धभागे संस्थाप्य संस्थान-मिति तु वामपादमस्तकासनमिति ॥ (२६) द्विपादमस्तकासनं यथा 'उभावपि पादौ शिरोऽधः स्कन्धभागे संस्थापनीयौ करतले च पृथिवीसंस्पृष्टे विधेये—इति, अस्मिन्नासने कृते सति यदि हस्ताभ्यां शरीरं पृथिवीत ऊर्ध्वं करोति चेत् ! सेयं 'वज्रोलीमुद्रा'—इति ख्यायते ॥ (२७) स्थिरासनं यथा—'दक्षिणपादप्रपदं वाम-सक्थ्यधोभागे वामपादप्रपदं च दक्षिणसक्थ्यधोभागे संस्थाप्य यत् स्वस्तिकवद् आसनं तदिति । (२८) वृक्षासनं यथा—'हस्तद्वयस्यापि पञ्चशाखौ मस्तकोप-र्यूर्ध्वं प्रस्थाप्य तत्पञ्चशाखद्वयमपि पृथिव्यां संस्थाप्य तदुपरि मस्तकशिखामणिं विन्यस्य पादौ लम्बावूर्ध्वौ प्रसार्य यत् स्तम्भवद् व्यवस्थानम्—'ऊर्ध्वपादमधः-शिर' इति तत् । एवम्—अर्धवृक्षासनं यथा—'वृक्षासनं कृत्वा स्वपादौ जानुतो पराङ्मुख सम्पदे नितम्बसंस्पृष्टे विधेये—इति तत् ॥ (२९) चक्रासनं यथा 'हस्त-द्वयाङ्गुलीभिः पादद्वयाङ्गुष्ठौ गृहीत्वा सहस्तपादशरीरमचक्रमपि त्रिकोणाकारेणोप-

विश्य ततः शयनं चक्रवदिति ॥ (३०) तालासनं यथा 'हस्तद्वयमप्यूर्ध्वं कृत्वा यत् 'तालवृक्ष'वत् ऊर्ध्वमुत्थानमिति तत् ॥ (३१) दक्षिणवामचतुर्थांशपादासनं यथा–दक्षिणपादजङ्घा यथा वामचरणनलिकयाऽधस्तात्-आपीडिता भवेत् तथो-पवेशनमिति ॥ एवं वामपादजङ्घा यथा दक्षिणचरणनलिकया आपीडिता भवेत् तथोपवेशनमितितत् ॥ (३२) ऊर्ध्वधनुरासनं यथा–'मुखमुदरञ्चाकाशसन्मुखमूर्ध्वं संस्थाप्य हस्तद्वयं पादाग्रद्वयं च पृथिव्यां नितम्बाधोभागे सम्यक् सम्मेलयित्वा स्थितकार्मुकवत्–शरीरं गोलाकारं कृत्वा यद् व्यवस्थानं तदिति ॥ ( ३३ ) वामदक्षिणसिद्धासनं यथा—'वामपादपार्ष्णिं लिङ्गमूलस्थाधो वीर्यनाड्या उपरि संस्थाप्य दक्षिणपादं लम्बं प्रसार्य उपवेशनमिति तद्वामसिद्धासनम् । यदि च दक्षिणपादपार्ष्णिं लिङ्गमूलगवीर्यनाड्युपरि संस्थाप्य–वामपादं लम्बं प्रसार्योपवेशनं तद् दक्षिणसिद्धासनमिति ॥ (३४) स्वस्तिकासनं यथा 'सक्थिद्वय-जङ्घाद्वयमध्ये चरणद्वयस्य प्रपदे संस्थाप्य यदुपवेशनं तत् ॥ (३५) स्थितिविवेकासनं-यथा 'पद्मासनं कृत्वा हस्तद्वयमुदरस्थलावच्छेदेन संयोज्य वामकराग्रं दक्षिणपार्श्व-दक्षिणबाहुमध्ये संस्थाप्य दक्षिणकराग्रं च वामपार्श्ववामबाहुमध्ये संस्थाप्योपवेशन-मिति ॥ (३६) उत्थितविवेकासनं यथा 'तिष्ठन् सन्नेव करद्वयं स्थितिविवेकासनवत् संस्थापयति यत्र तदिति (३७) दक्षिणवामतर्कासनं यथा 'दक्षिणहस्ताग्रं पश्चाद्भागे दक्षिणकर्णस्योपरि मस्तकसंस्पृष्टं कृत्वा तद्धस्तस्य कफोणिस्तस्मिन्नेव दक्षिणजानूपरि-भागे संस्थापनीयः, तदाधारं शरीरसमग्रभारं विधाय पद्मासनेन यदुपवेशनं तदिति । तत्र च यदि वामकराग्रं वामकर्णोपरि शिरसि निधाय तत्कफोणिं वाम-चरणजानौ संस्थाप्य पद्मासनेनोपवेशनं यत् तत् वामतर्कासनमित्युच्यते ॥ (३८) पूर्वतर्कासनं यथा 'हस्तद्वयतले गण्डस्थलयोर्निधाय द्वयोरपि कूर्परौ जङ्घोपरि रक्ष-णीयौ, ततो मस्तकं नम्रं कृत्वा पद्मासनेन यदुपवेशनं तदिति ॥ (३९) निःश्वा-सासनं यथा 'पादद्वयमपि लम्बं प्रसार्य हस्तद्वयमुदरोपरि स्थापयित्वा च यदु-पवेशनं तदिति ॥ (४०) अर्धकूर्मासनं यथा 'प्रत्येककूर्परजान्वोर्मेलनं यथा वक्षः-प्रदेशावच्छेदेन भवेत्, अथैवं पार्ष्णिद्वयस्य नितम्बद्वयेन सह संयोगः, तदङ्गुलीनां प्रपदयोश्च पृथिवीसंयोगः, स्याच्च हस्तद्वयाग्रसंयोगः स्वकपोलद्वयेन सहेति, ततः–अधो भूत्वा कूर्मवदुपवेशनं यत् तदिति ॥ (४१) गरुडासनं यथा 'दक्षिणैकपादेन स्थित्वा वामपादं च दक्षिणपादस्य जानूपरि जङ्घोपरि च कृत्वा वामपादाङ्गुष्ठेन दक्षिणपादघुटिकास्पर्शनं विधेयम्, किञ्च हस्तद्वयमपि कफोणितो वक्रं कृत्वा भुजयो-रेकाऽऽवेष्टनं ( घूर्णनं ) कृत्वा वामकराङ्गुलीभिर्वामनासिकास्पर्शनं दक्षिणकराङ्गु-लीभिश्च दक्षिणनासिकास्पर्शनमिति तद् गरुडवद् व्यवस्थानं गरुडासनम् ॥ (४२) सिंहासनं यथा 'लिङ्गमूलस्य दक्षिणपार्श्वे वामपादपार्ष्णिः संस्थापनीयः तद्वामपार्श्वे च

दक्षिणपादपार्ष्णिः संस्थापनीयः— इत्येवमासनं कृत्वोपविश्य ततो दक्षिणसक्थ्युपरि दक्षिणकरतलं वामसक्थ्युपरि वामकरतलं च स्थापनीयम्, कराङ्गुल्यस्तु विस्तृताः सिंहपञ्चशाखवत् प्रसारणीयाः, अथ मुखं विवृत्य जिह्वा बहिर्निष्कासनीया, शिरःस्थां जटां विस्तृतां कृत्वा स्थिरदृष्ट्या यदुपवेशनं सिंहवदासनं तदिति ॥ व्याघ्रासनं यथा सिंहासनवत् पादस्थितिं कृत्वा ( कराग्रद्वयं ) तु जानुपार्श्वसम्बन्धिनोः पृथिवीभागयोर्निधाय शरीरं नम्रतरं कृत्वा मुखं विवृत्य जिह्वां बहिर्निष्कास्य नेत्रे चाऽतिविस्तृते रक्ते च कृत्वा यदुपवेशनं तदिति ॥ ( ४३ ) त्रिकोणासनं यथा 'ऊर्ध्वमुपविश्य दक्षिणजानौ दक्षिणकूर्परं वामजानौ वामकूर्परं च सन्निधाय करद्वयतले गण्डस्थलद्वये स्थापनीये इति यन्निपदनं तदिति ॥ ( ४४ ) प्रार्थनासनं यथा 'पादाङ्गुष्ठाङ्गुल्यौ ( प्रपदे ) जानुद्वयं च यथा पृथिवीं स्पृशेयुस्तथा स्थिरत्वोर्ध्वं प्राञ्जलिं कृत्वा स्तुतिं कुर्वन् यथा तिष्ठति तथाऽर्धनिपदनं यदिति ॥ ( ४५ ) दक्षिणपादवामपादत्रिकोणासनं यथा 'जानुभ्यामेवोपविश्य ततो वामप्रपदस्य हस्तपरिमाणविप्रकृष्टपृथिव्यां संस्थापनं दक्षिणप्रपदस्य च वामसक्थिमूलेऽवस्थापनं कृत्वा हस्तौ क्रोडोपरि संस्थापनीयौ इति तद् वामपादत्रिकोणासनम् । यच्च दक्षिणपादं दूरं प्रसार्य वामप्रपदस्य दक्षिणसक्थिमूले ( वङ्क्षणे ) व्यवस्थापनं तद् दक्षिणपादत्रिकोणासनमिति ॥ ( ४६ ) पूर्णपादत्रिकोणासनं यथा 'जानुभ्यामर्धमुपविश्य ततो दक्षिणप्रपदं दक्षिणभागे वाम् प्रपदं च वामभागे दूरं प्रसार्य सावधानतया कराग्रद्वयमुदरमध्यप्रदेशे संस्थाप्योपवेशनमिति ॥ (४७) वामदक्षिणभुजासनं यथा 'वामजानुं पृथिव्यां प्रस्थाप्य तदुपरि वामकफोणिं प्रधाय च दक्षिणजानुं दक्षिणकक्षे निधाय ततो यदुपवेशनं तद् वामभुजासनमिति । एवं वामजानुं वामकक्षे निधाय दक्षिणजानुं पृथिव्यां संस्थाप्य तदुपरि वामकफोणिं निधाय समुपवेशनं दक्षिणभुजासनमित्युच्यते ॥ (४८) वामदक्षिणहस्तभयङ्करासनं यथा 'पद्मासनं कृत्वा वामभुजमुर्ध्वंकृत्वोपवेशनं तद् वामहस्तभयंकरासनमिति । यच्च दक्षिणभुजमूर्ध्वं कृत्वोपवेशनं तद् वामहस्तभयंकरासनमिति । यच्च दक्षिणभुजमूर्ध्वं कृत्वोपवेशनं तद् दक्षिणहस्तभयंकरासनमिति । हस्तद्वयमप्यूर्ध्वं कृत्वोपवेशनं हस्तद्वयभयंकरासनमिति । (४९) अङ्गुष्ठासनं यथा 'पृथिव्यां पादद्वयाङ्गुष्ठाङ्गुलीमात्राणां स्पर्शो यथा भवेत् न तु जान्वोरपि तथोपविश्य पादद्वयपार्ष्णिभागे नितम्बौ संस्थाप्य प्राञ्जलिं कृत्वा यदुपवेशनं तदिति ॥ (५०) उत्कटासनं यथा 'जानुसन्धिद्वयं कटिसन्धिद्वयं च वक्रं कृत्वा यदूर्ध्वमुत्थानं (स्थितिः) तदिति ॥ (५१) यष्टिकासनं यथा 'यष्टिकावत् करपादान् लम्बान् कृत्वा ऊर्ध्वमुखं यच्छयनं तदिति ॥ ( ५२ ) वामदक्षिणाऽर्धपादासनं यथा 'वामपादस्य जङ्घा यथा दक्षिणजानूपरि सुस्थिता भवेत् तथा दक्षिणपादमात्रेण यदुपवेशनं तद् दक्षिणपादासनम् । अथ दक्षिणजङ्घा

यथा वामजानूपरि सुस्थिता भवेत् तथा वामपादमात्रेणोपवेशनं यत् तद् वामपादासनम् । (५३) हस्तभुजासनं यथा—'स्वपादद्वयमपि स्कन्धद्वये संस्थाप्य भुजाऽधोभागे प्रपदद्वयं यथा वर्तेत कराभ्यां च ग्रीवां गृहीत्वा यन्नितम्बाधारमात्रमुपवेशनमिति । यदि च प्रत्येकजानुधारणं प्रत्येकस्कन्धे कुर्यात् तदा प्रत्येकभुजासनं भवेदिति ॥ (५४) वामदक्षिणवक्रासनं यथा 'दक्षिणपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य प्रपदं दक्षिणनितम्बाधोभागे रक्षणीयं यथा तस्य पार्ष्णिप्रदेशोपरि नितम्बः स्थिरो भवेत्, तदङ्गुल्यश्च पृथिवीं स्पृशेयुः, तज्जानुरपि पृथिवीं स्पृशेत्, ततस्तस्य सक्थिजङ्घयोर्मध्ये वामपादप्रपदं प्रवेशनीयं, अथ च वामजानुः पृथिव्यां संस्थापनीयः, इत्येवं जानुभ्यामेकप्रपदेन चोपवेशनमिति—दक्षिणवक्रासनम्, अथ तद्विपरीतभावेन वामसक्थिजंघयोर्मध्ये दक्षिणप्रपदं निधायोपवेशनं वामवक्रासनमिति कथ्यते ॥ (५५) वामदक्षिणजान्वासनं यथा—'वामपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य प्रपदं नितम्बयोरधो मध्यभागे संस्थाप्य दक्षिणजानुं च वामजानूपरि कृत्वा यदुपवेशनं तद्वामजान्वासनम् । अथ ततो विपरीततो यदि दक्षिणपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य प्रपदं नितम्बयोरधो मध्यभागे संस्थाप्य वामपादस्य जानुं च दक्षिणजानूपरि कृत्वा यदुपवेशनं तद् दक्षिणजान्वासनमिति ॥ (५६) वामदक्षिणशाखासनं यथा 'वामपार्ष्णिं दक्षिणसक्थिमूले संस्थाप्य तत्प्रपदं च दक्षिणजङ्घोपरि संस्थाप्य यदुपवेशनं तद् वामशाखासनम् । अथ ततो विपरीततो यदि दक्षिणपार्ष्णिं वामसक्थिमूले, तत्प्रपदं च वामजङ्घोपरि संस्थाप्य यदुपवेशनं तद् दक्षिणशाखासनमिति ॥ (५७) विस्तम्भासनं यथा 'जानुद्वयमेव पृथिवीं स्पृशेत् नाऽन्यत् किमपि, प्रपदद्वयं तु नितम्बसंस्पृष्टं भवेत् तथाऽर्धमूर्ध्वमुत्थानं तदिति ॥ (५८) वामदक्षिणपादापानगमनासनं यथा 'वामपादं जानुतो वक्रं विधाय तस्य प्रपदं दक्षिणसक्थिमूले निधाय तस्य पार्ष्णिं च नाभिपार्श्वभागे निधाय यदुपवेशनं तद् वामपादापानगमनासनमिति । अथ ततो विपरीततो यदि दक्षिणपार्ष्णिं नाभिपार्श्वे निधाय तस्य प्रपदं च वामसक्थिमूले निधाय यदुपवेशनं तद्दक्षिणपादापानगमनासनमिति । (५९) वामहस्तचतुष्कोणासनं यथा 'वामपादं जानुतो वक्रं विधाय तस्य प्रपदं वामहस्तस्य कफोणितो वक्रीकृतस्य मध्ये प्रस्थापयेत्, दक्षिणपादमपि जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य प्रपदं नितम्बाधोभागे प्रस्थापयेद् इति तत् ॥ (६०) कूर्मासनं यथा 'पादद्वयपार्ष्णिभ्यां गुदां सन्निरुद्ध्य पादद्वयप्रपदे तु पश्चाद्भागे कूर्मपादवत् प्रसार्य हस्तद्वयमपि तु कटिपार्श्वभागे संस्थाप्य यन्निषदनं तत् कूर्मासनं गोमुखासनं वेति, अस्य फलमपानसहितवीर्यस्योर्ध्वगमनं भवतीति ॥ (६१) 'गर्भासनं यथा 'वामहस्तं कूर्परतो वक्रं कृत्वाऽङ्गुलीभिर्वामकर्णः स्पर्शनीयः, वामजानुतो वक्रीकृतं वामपादं

वामकूर्परमध्ये निधाय वामपार्ष्णिर्दक्षिणसक्थिमूले संस्थापनीयः, एवमेव—दक्षिणहस्तमपि कूर्परतो वक्रं कृत्वा तदङ्गुलीभिर्दक्षिणकर्णः स्पर्शनीयः, दक्षिणजानुतो वक्रीकृतं च दक्षिणपादं दक्षिणकूर्परमध्ये निधाय दक्षिणपार्ष्णिः वामसक्थिमूले संस्थापनीयः, केवलनितम्बाभ्यामेव ततो यदुपवेशनं तद् गर्भासनम्—उत्तानकूर्मासनं चेति ॥ (६२) एकपादवृक्षासनं यथा 'वृक्षासनं कृत्वा तत एकपादं जानुतो वक्रं कृत्वा तस्य प्रपदं तत्सक्थिमूले संस्थाप्य एकपादं च लम्बं प्रसार्य मस्तकं पृथिव्यां निधाय—ऊर्ध्वं पादभागं विधाय यद् व्यवस्थानं तदिति ॥ (६३) मुक्तहस्तवृक्षासनं यथा 'यदि च मस्तकाऽधोभागाद्धस्ततले दूरं निष्कास्य शिखामप्युपरि व्यवस्थानं क्रियते यत् तदिति ॥ (६४) हस्तवृक्षासनं यथा 'मस्तकमपि पृथिवीं न स्पृशेत् किन्तु करतलाभ्यामेव स्थित्वा वृक्षासनं यत् क्रियते तदिति ॥ (६५) द्विपादपार्श्वासनं यथा 'पादद्वयमपि जानुतो वक्रं विधाय ततो जानुभ्यामेव पृथिव्यां समुपविश्य पादद्वयमपि पृष्ठतः परावृत्य ( घूर्णयित्वा ) वामप्रपदाङ्गुल्यो नाभेरधोभागे वामकट्युपरि संस्थापनीयाः दक्षिणप्रपदाङ्गुल्यश्च नाभेरधोभागे दक्षिणकट्युपरि संस्थापनीयाः,—इति यद् व्यवस्थानं तदिति ॥ (६६) कन्दपीडनासनं यथा 'पादद्वयमपि जानुतो वक्रं कृत्वा जानुभ्यामेव पृथिव्यामुपविश्य पादद्वयमप्यग्रत एव नाभ्यधोभागे पादद्वयप्रपदे संस्थापनीये, नाभिमध्ये च पादद्वयाऽङ्गुष्ठौ प्रस्थापनीयौ, ततो वामकरतलं वामजानूपरि दक्षिणकरतलं च दक्षिणजानूपरि संस्थाप्यमिति कृत्वा यदुपवेशनं तदिति ॥ ( ६७ ) ऊर्ध्वकन्दपीडनासनं यथा 'कन्दपीडनासनं कृत्वा जानुद्वयमध्ये विरलमन्तरं यथा न स्यात् तथोपवेशनम्, ( ६८ ) शैढासनं यथा 'दक्षिणपादं जानुतो वक्रं कृत्वा वामसक्थ्युपरि तं संस्थाप्योपवेशनं यत् तद् वामार्धशैढासनम्। एवं वामपादं जानुतो वक्रं कृत्वा दक्षिणसक्थ्युपरि संस्थाप्य यदुपवेशनं तद् दक्षिणार्धशैढासनमिति ॥ ( ६९ ) उपधानासनं यथा 'उत्तानं लम्बं शयनं कृत्वा ततो वामपादं तत्सक्थिमूलत एव परावृत्य तस्य प्रपदं वामस्कन्धोपरि संस्थाप्य तत्प्रपदोपरि मस्तकं निधाय यच्छयनं तद् वामोपधानासनम्। अथ तथा दक्षिणपादप्रपदं दक्षिणस्कन्धे निधाय तत्प्रपदोपरि मस्तकं निधाय शयनं—दक्षिणोपधानासनमिति भवति। अथ तथोभयोरपि पादयोः प्रपदे तदुभयोः स्कन्धयोरुपरि निधाय तदुभयप्रपदोपरि मस्तकं संस्थाप्य शयनं तत्—पूर्णोपधानासनमिति ॥ ( ७० ) ऊर्ध्वसंयुक्तपादासनं यथा ' वृक्षासनं विधाय पादद्वयतलयोः संश्लेषो नितम्बोपरिभागे यथा स्यात् तथा व्यवस्थानं तदिति ॥ ( ७१ ) खर्वशवासनं यथा 'प्रथमं शववत् शयनं कृत्वा पश्चात् जानुतो पादौ परावृत्य तयोः प्रपदे नितम्बाधोभागे संस्थापनीये, हस्तद्वयं च लम्बं प्रसार्य द्विसक्थ्युपरि स्थापनीयमिति यत्। तदेव

पर्यंकासनमिति ॥ (७२) अपानासनं यथा 'स्वस्तिकासनवद् पादद्वयस्थापनं कृत्वा ततः करद्वयतले सक्थिद्वयस्य मूलभागे दृढतया सन्निधायोपवेशनमिति तत् ॥ (७३) योन्यासनं यथा 'उपस्थेन्द्रियं संकुच्य तस्योपरि वामपादपार्ष्णिं सम्यक् संस्थाप्य वामसक्थ्युपरि दक्षिणपादः संस्थापनीयः, पश्चाद् दक्षिणभुजस्याङ्गुष्ठेन तर्जन्या मध्यमाङ्गुल्या च क्रमशो दक्षिणकर्णौ दक्षिणनेत्रं दक्षिणनासापुटश्च निरोद्धव्याः, अथ च तस्य करस्यैवाऽनामिकया कनिष्ठिकया चाङ्गुल्या मुखस्य दक्षिभागो निरोद्धव्यः, एवमेव वामहस्तस्याऽङ्गुष्ठादिभिः क्रमशो वामकर्णादयो निरोद्धव्या इति यदुपवेशनं तद् योन्यासनमिति ॥ (७४) मण्डुकासनं यथा 'पादद्वयमपि जानुतो वक्रं कृत्वा तत्प्रपदयोरूर्ध्वभागौ यथा पृथिवीसंस्पृष्टौ न भवेताम् पादद्वयस्याऽप्यङ्गुष्ठौ गुदायाःसन्निधौ ( सन्मुखौ ) च भवेतां यथा तथोपविश्य स्वकर·पञ्चशाखौ जानुप्रदेशयोः संप्रधार्यौ । तदिदं मण्डुकवत्शिपदनं मण्डुकासनमिति । (७५) पर्वतासनं यथा 'वामसक्थ्युपरि दक्षिणपादं दक्षिणसक्थ्युपरि च वामपादं निधाय करद्वयं च मस्तकोपरि तदूर्ध्वं प्रसार्य तत्संपुटं कृत्वोपवेशनमिति ॥ (७६) कोकिलासनं यथा 'वामसक्थ्युपरि दक्षिणपादप्रपदं संस्थाप्य दक्षिणसक्थ्युपरि वामपादप्रपदं संस्थाप्य च दक्षिणपादाङ्गुष्ठं दक्षिणकरस्याङ्गुष्ठेन तर्जन्या च गृहीत्वा अथ च वामपादाङ्गुष्ठं वामकराङ्गुष्ठेन तर्जन्या च गृहीत्वा यथा संश्लिष्टकूर्परद्वयोपरि शरीरस्य भारो भवेत् तथा कूर्परद्वयं पृथिव्यां निधाय स्थिरमुपवेशनं कोकिलावद् यत् तदिति । (७७) शलभासनं यथा 'प्रथममधोमुखं शयनं कृत्वा करद्वयतले वक्षःस्थलस्याऽधोभागे पृथिव्यां संयोज्य मुखं पृथिवीतो दशाङ्गुलमानमूर्ध्वं नेयम् पादौ वितस्तिमानमूर्ध्वमुत्क्षेप्यौ, तदिदं शलभोपवेशनव्यवस्थानमिति, अनेन वातकोपनाशः फलं भवति ॥ (७८) लोलासनं यथा 'पद्मासनवत् पादौ कृत्वा स्वपार्श्वभागे करद्वयतले पृथिव्युपरि संस्थाप्य शरीरं सर्वमूर्ध्वं नेयं, हस्ताभ्यामेव चोपवेशनमिति तत्। इदमेवोत्तमांगासनमिति, अस्य फलं शरीरशीतलता, कुण्डलिन्याः प्रबोधनं चेति ॥ ( ७९ ) उष्ट्रासनं यथा 'अधोमुखं शयनं कृत्वा जानुतो वक्रं पादद्वयं नितम्बद्वयोपरि निधाय तदङ्गुष्ठौ कराभ्यां आहाविति तदिदमुष्ट्रवद् आसनमिति ॥ (८०) 'हंसासनं यथा 'प्रथमं मयूरासनं कृत्वा पादद्वयप्रपदे पृथिव्यां स्थापनीये तत्–हंसवद् आसनमिति ॥ ( ८१ ) प्राणासनं यथा 'दक्षिणपादाग्रं ( प्रपदं ) वामसक्थिमूले संस्थाप्य दक्षिणकरतलं दक्षिणजानौ रक्षणीयं ततो वामपादं वामस्कन्धे निधाय वामप्रपदं यथा लिङ्गस्य पुरोभागे पृथिव्यां स्पृष्टं भवेत् तथा स्थापनीयं वामहस्तश्च वामजानुजङ्घयोर्मध्यतो निष्कास्य पृथिव्यां प्रस्थापनीय इति तत् । अस्य फलं प्राणस्याऽधोभागे आकर्षणं भवतीति ॥ ( ८२ ) कार्मुकासनं यथा 'वामसक्थ्युपरि दक्षिणपादाग्रं धृत्वा दक्षिणसक्थ्युपरि च वामपादाग्रं धृत्वा ततो वामहस्तेन वाम-

पादाग्रं दक्षिणहस्तेन च दक्षिणपादाग्रं गृहीत्वा यदुपवेशनं तदिति ॥ ( ८३ ) आनन्दमन्दिरासनं यथा 'पादद्वयस्यापि पार्ष्ण्युपरि नितम्बद्वयं धृत्वा पादाग्रयोरुपरि शरीरस्य भारो ( धारणं ) यथा भवेत् तथा स्थिरो भूत्वा जानुद्वयं च पृथिव्यां संस्पृष्टं कृत्वा ततो दक्षिणहस्तेन दक्षिणपादपार्ष्णिं वामहस्तेन च वामपादपार्ष्णिं गृह्णीयादिति यदवस्थानं तदिति ॥ ( ८४ ) खंजनासनं यथा 'जानुतो पादद्वयं परावृत्य प्रपदद्वयमपि नितम्बाधोभागे रक्षणीयम्, ततो हस्तद्वयमपि लम्बं प्रसार्य स्वपार्श्वभागे पृथिव्यां प्रस्थाप्य तदुपरि शरीरस्य भारो (धारणं) किञ्चिन्मात्रो भवेत् तथा यदुपवेशनं तत् खञ्जनासनं खञ्जनवदासनात् ॥ (८५) क्षेमासनं यथा 'पद्मासनं कृत्वा द्वयोः सक्थिमूलयोः कफोणिद्वयं निधाय हृदयसन्निधौ प्राञ्जलिं यच्चोपवेशनमिति तत्॥ (८६) ग्रन्थिभेदनासनं यथा वामसक्थिमूले दक्षिणपादं धृत्वा 'दक्षिणसक्थिमूले च वामपादं धृत्वा जानुद्वयमपि वक्षःसन्निधावूर्ध्वमानेयम्, ततो वामहस्तेन दक्षिणबाहुं दक्षिणहस्तेन वामबाहुं च गृहीत्वा द्वयोर्हस्तयोर्मध्यभागे यथा जानुद्वयं भवेत् तथा कृत्वा जानुद्वयमपि हस्ताधारसुखेनोर्ध्वं वतिष्ठेत् तथोपवेशनमिति ॥ (८७) सर्वाङ्गासनं यथा 'प्रथमं शवासनं कृत्वा ततः कूर्परद्वयं पृष्ठभागे पृथिव्यां निधाय करतलाभ्यां कटिभागत आपादं शरीरमूर्ध्वमुत्थेयम्, स्कन्धद्वयेन कूर्परद्वयेन च यत् पृथिव्यां व्यवस्थानं तदिति ॥ ( ८८ ) समानासनं यथा 'स्वस्तिकासनं कृत्वा ततोऽङ्गुष्ठतर्जनीमध्यभागावच्छिन्नेन करतलद्वयेन कटिभागद्वयमपि प्रसह्याऽऽपीड्य ततस्तर्जन्योरग्रभागाभ्यां नाभिप्रदेशमापीड्य यदुपवेशनं तदिति ॥ ( ८९ ) भुजङ्गासनं यथा 'प्रथममधोमुखं शयनं कृत्वा पादाङ्गुष्ठत आरभ्य नाभिपर्यन्तो भागः पृथिव्यां संस्थापितो भवेद्यथा तथा कृत्वा नाभितो मस्तकान्तो भागस्तु नाभिपार्श्वभागयोर्हस्ततलद्वयं पृथिव्यां धृत्वा सम्यगूर्ध्वं नेयः, इति यदुपवेशनं तदिति ॥ ( ९० ) मत्स्यासनं यथा 'दक्षिणसक्थ्युपरि वामपादं संस्थाप्य वामसक्थ्युपरि दक्षिणपादं च संस्थाप्य तत ऊर्ध्वमुखं शयनं कृत्वा पश्चात् शिरसि प्रथमं वामकूर्परः प्रस्थापनीयः, तदुपरि च दक्षिणकूर्परः प्रस्थापनीयइति ॥ ( ९१ ) पवनासनं यथा 'जानुभ्यामूर्ध्वमर्धस्थितस्य करद्वयतर्जन्यङ्गुल्यौ नाभिप्रदेशे संयुक्ते भवेताम्, तथा कटिमतीवाऽऽपीड्य ( संमर्द्य ) यद् व्यवस्थानं तदिति ॥ ( ९२ ) क्रौंचासनं यथा 'क्रौंचस्य निपदनवद् यदासनं तत् क्रौंचासनमिति ॥ ( ९३ ) हस्तिनिषदनं यथा 'हस्तिन उपवेशनवद् आसनं तदिति ॥ सन्ति ह्यासनानि तु यावन्तो जीवजातयस्तावन्ति, तथाप्युपयुक्तान्यत्र कथितानीति संक्षेपः । आसनानां फलन्तु 'ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः' इत्यनेन दर्शयिष्यत इति ॥ ४६ ॥

आसनानि तु भवन्ति दृढानि—

## प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नस्य—बहुविधव्यापारस्य प्रयासस्य, शैथिल्याद् उपरमात्, आसनानि दृढानि भवन्ति, बहुव्यापारानन्तरं चेदासनं क्रियते तदाऽङ्गकम्पनादासनस्थैर्यं न भवतीति, प्रयत्नोपरमे सति त्वङ्गमेजयो न भवतीति। अथ चाऽनन्ते पृथिवीधारिणि स्थिरतरे शेषनागे समापत्तिः–तद्धारणया तत्र चित्तस्य तदात्मताऽऽपन्नत्वं यदा भवति तदा शेषनारायणसमापन्नेन चित्तेन सताऽऽसनानि दृढीभवन्तीति, तथा च आसनदृढतां प्रति प्रयत्नविरामस्य शेषनारायणे संयमस्य च प्रयोजकत्वमिति बोध्यम्। शेषनारायणसंयमेन प्रसन्नो भगवान् योगिने सम्यगासनसिद्धिरूपं फलं प्रयच्छतीति ॥ ४७ ॥

आसनानां सामान्यं फलं दर्शयति—

## ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः ॥ ४८ ॥

ततः—आसनजयात्, द्वन्द्वैः–शीतोष्णादिकामक्रोधादिभिर्नाऽभिभूयत इति, तदा च प्राणायामकरणसामर्थ्यमप्याविर्भवति, विनाऽऽसनसामर्थ्यं प्राणायामादिर्न स्थितिपदं लभते, एवमेव वातपित्तश्लेष्मादिवैषम्यजनितज्वरादिभिः परकृतदुःखादिभिश्च नाऽभिभूयते, प्राणादिवैपरीत्यकृतरोगादिभिरपि नाऽभिभूयते, इन्द्रियाऽन्तःकरणवैकल्यजविभ्रमैरपि नाऽभिभूयते, प्रमादालस्यादिभिरपि नाऽभिभूयते, कामिनीकाञ्चनादिभिरपि नाऽभिभूयते, सत्त्वरजस्तमोवेगैरपि प्रकाशप्रवृत्तिनियमनैर्नाऽभिभूयते निद्रादिघोरवृत्तिविशेषैर्मूढवृत्तिरूपैश्च नाऽभिभूयते, प्रत्युत शरीरेन्द्रियान्तःकरणानि सबलानि संयमयोग्यानि स्वस्थानि सुप्रसन्नानि सतेजस्कानि लघून्यमलान्यगुरूणि स्थिराणि द्वन्द्वरहितानि भवन्तीति तदिदमासनानां फलं बोध्यम् ॥

भवन्ति चाऽन्या अपि क्रिया आसनसदृश्यः शरीरादिशुद्ध्यर्थं यथा—'धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥ कर्मषट्कमिदं गोप्यं देहशोधनकारकम्। विचित्रगुणसन्धायि पूज्यते योगिपुङ्गवैः ॥ तत्र धौतिर्यथा 'चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशाऽऽयतम्। गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तद्'इति, तस्य फलं यथा 'कासश्वासप्लीहकुष्ठाः कफरोगाश्च विंशतिः। धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशय' इति ॥ अथ बस्तिकर्म यथा 'नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः। आधाराऽऽकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं बस्तिकर्म तद्'इति। तस्य फलं 'गुल्मप्लीहोदरं चाऽपि वातपित्तकफोद्भवाः। बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलाऽऽमयाः ॥ 'धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्। अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्य-

मानं जलबस्तिकर्म' इति ॥ अथ नेतिकर्म यथा 'सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते' इति, तस्य फलं यथा 'कपाल-शोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी । जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च' इति ॥ अथ त्राटकं यथा 'निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मं लक्ष्यं समाहितः । अश्रुसम्पातपर्यन्त-माचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्'–इति, तस्य फलं यथा 'मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् । यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकमि'ति ॥ अथ नौलिकर्म यथा 'अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्याऽपसव्यतः । नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते' इति ॥ तस्य फलं यथा 'मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादिसन्धापिकाऽऽनन्दकरी सदैव । अशेषदोषाऽऽमयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं हि नौलिः' इति ॥ अथ कपाल-भातिकर्म यथा 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ । कपालभातिर्विख्याता कफ-दोषविशोषणी'ति ॥ ता एताः षट्क्रिया अवश्यं योगिभिः साधनीया इति ॥ केचित्तु 'प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति । आचार्याणान्तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न सम्मतमि'ति–वदन्तीति ॥४८॥

इदानीं प्राणायामभेदा निरूपणीयाः, तत्र संसिद्धसमग्राऽऽसनस्य षट्कर्मभिर्नि-रस्तसमस्तकफदोषमलादिकस्य योगिनः प्राणायामस्तदभ्यासेन सिद्ध्यतीति कथयति–

## तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः

'तस्मिन्–आसनजये सति धौत्यादिषट्कर्मजये च सति, प्राणायामः सिद्ध्यति, प्राणायामलक्षणन्तु—'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद' इति, तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोराचमनम्, प्रश्वासो नाम कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणम्, तयोर्या गतिः–प्रचलनम्, तस्य विच्छेदः–प्रतिबन्ध इति । भवति च यत्र बाह्यो वायुराचम्याऽन्तर्धार्यते पूरके, तत्र श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति, यत्र च कौष्ठ्यो वायुर्विरेच्य बहिर्धार्यते रेचके, तत्रापि श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति, कुम्भकेऽपि तथा गतिविच्छेद इति ४९

तस्य त्रैविध्यं दर्शयति—

## बाह्याऽऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

स तु प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिः स्तम्भवृत्तिरिति त्रिविधः, तत्र बाह्यवृत्ति-र्नामरेचकः,–प्रश्वासपूर्वको गत्यभाव इति । आभ्यन्तरवृत्तिर्नाम–पूरकः,–श्वासपूर्वको-गत्यभाव इति । स्तम्भवृत्तिर्नाम–कुम्भकः,–यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोरभावो विधारक-प्रयत्नमात्रादेव भवति न तु तत्र रेचकपूरकप्रयत्नावपेक्ष्येते, यथा तप्ते लोष्टे निहितं

जलं परिशुष्यत् सर्वतः संकोचमेवाऽऽपद्यते, तथाऽयमपि बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीरेऽवतिष्ठत इति । विष्णुपुराणे यथा 'परस्परेणाऽभिभवं प्राणाऽपानौ यदाऽनिलौ । कुरुतः स द्विधा तेन तृतीयः संयमात्तयो'रिति । सचायं त्रिविधोऽपि-देशकालसंख्याभिः परिदृष्टः—विभक्तः सन्ननेकधा भवति । तत्र नासिकाग्रात् प्रादेश-द्वादशाङ्गुल-हस्तादिपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य विषयः,—ईषीका-तूलादिक्रिययाऽनुमितो ग्राह्य इति । पूरकस्य चाऽऽपादतलमस्तकमाभ्यन्तरो देशो विषयः-स च पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेन निश्चेयः । कुम्भकस्य रेचकपूरकयोर्बाह्याऽऽभ्यन्तरदेशौ समुचितावेव विषयः,—उभयत्रैव प्राणस्य विलयात्, स च तूलस्य क्रियायाः पिपीलिकास्पर्शसमस्पर्शस्य चाऽनुपलम्भे सति निश्चेयइति ॥ अथ चक्षुर्निमेषावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थभागः क्षणः, एतावत्क्षणावधिककर्तव्यतया यो नियमः स एव कालः प्राणायामविषय इति, अथवा शङ्खध्वन्यादिना कालनियमः क्रियते । यत्र च मात्रा-संख्याभिः प्राणायामनियमः क्रियते— स संख्यापरिदृष्टः । उक्तं तन्मार्कण्डेयेन 'निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा । प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रकः ॥ इति । उक्तश्च मात्रायाः संख्याभेदो वशिष्ठसंहितायाम्—'एवं ज्ञात्वा विधाने च प्रणवेन समाहितः । प्राणायामत्रयं कुर्यात् पूरकुम्भकरेचकैः ॥ आकृष्य श्वसनं बाह्यात् पूरयेदिडयोदरम् । शनैः षोडशमात्राभिरकारं तत्र संस्मरन् ॥ मकारं मूर्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत् । धारयेत् पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥ यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम् । पूरितं रेचयेत्पश्चात् प्रणवं त्वनिलान्वितम् । शनैः पिङ्गलया पुत्र ! द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः । ध्यायन्मात्राक्षरं तत्र प्रणवस्य समाहितः' इति । एवम्—एतावद्भिर्मात्राप्रमाणैस्तु प्राणायामः एतावद्भिश्च मध्यमः सः, एतावद्भिश्च तीव्रः स, इति संख्यादर्शनीयो भवति । उक्तं च तत्कौर्मे—'मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मध्यमः, प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रकोऽन्तिमः' इति एवमेव देशाद्यन्यतमनियमेन ह्यभ्यस्यमानः प्राणायामः क्रमेण कालवृद्ध्या दिवसपक्षमासादिकालव्यापित्वेन दीर्घो भवति वायुसंचारस्याऽतिसूक्ष्मतया च सूक्ष्म इति भवति—तच्च 'दीर्घसूक्ष्म' इति ख्याप्यते । 'विधिवत्प्राणसंयमैर्नाडीचक्रे विशोधिते । सुषुम्णावदनं भित्त्वा सुखाद् विशति मारुतः ॥ मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते । यो मनःसुस्थिरीभावः सैवाऽवस्था मनोन्मनी' । तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान् कुर्वन्ति कुम्भकान् । विचित्रकुम्भकाऽभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयु'रिति ॥ अथ कुम्भकभेदाः'सूर्यभेदेन मुज्जायी,-सीत्कारी,-शीतली, तथा । भस्त्रिका,-भ्रामरी, मूर्च्छा,-प्लाविनी,त्यष्टकुम्भकाः' । 'पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराऽभिधः । कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ अधस्तात् कुञ्चनेनाऽऽशु कण्ठसंकोचने कृते । मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ अपानमूर्ध्वमुत्था-

ध्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् । योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेदि'ति । अथ सूर्यभेदनं यथा 'आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवाऽऽसनं ततः । दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ आकेशादानखाग्राच्च निरोधाऽवधि कुम्भयेत् । ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं शनैः'रिति ॥ तत्फलं च 'कपालशोधनं वात-दोषघ्नं कृमिदोषहृत् । पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तममि'ति । अथ-उज्जायी यथा—'मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः । यथा लगति कण्ठात्तु हृदया-वधि सस्वनम् ॥ पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः । श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥ नाडीजलोदरधातुगतदोषविनाशकम् । गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ अथ सीत्कारी यथा—'सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणे-नैव विजृम्भिकाम् । एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ योगिनीचक्रसामान्य-सृष्टिसंहारकारकः । न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवाऽऽलस्यं प्रजायते ॥ भवेत् सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः । अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥ अथ शीतली यथा—जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् । शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत् पवनं सुधीः । गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् । विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति ही'ति ॥ अथ भस्त्रिका यथा—'ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे । पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ सम्यक् पद्मा-सनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः । मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् । वेगेन पूरयेच्चाऽपि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः । यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं धिया । यदा श्रमो भवेद् देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ यथोदरं भवेत् पूर्णमनिलेन तथा लघु । धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ विधिवत् कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् । वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् । ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् । विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ अथ भ्रामरी यथा—'वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् । योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥ अथ मूर्च्छा यथा 'पूरकान्ते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः । रेचयेन्मूर्च्छनाऽऽख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ अथ प्लाविनी यथा ''अन्तः-प्रवर्तितोदारमारुता पूरितोदरः । पयस्यगाधेऽपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवदि'ति ॥ तत्र त्रिविधप्राणायामस्य साधारणस्वरूपाणि यथा—'निष्क्रम्य नासाविवराद्शेषं प्राणं बहिः शून्यमिवाऽनिलेन । निरुद्ध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानि-रोधः ॥ बाह्यस्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात् । नाडीश्च

सर्वाः परिपूरयेद् यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥ न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ आरेच्याऽऽपूर्य वा कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः ॥ यावत्केवलसिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत् । रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः । कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते । शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ राजयोगपदं चाऽपि लभते नात्र संशयः । कुम्भकात् कुण्डलीबोधः कुण्डली बोधतो भवेत् ॥ अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते । हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः ॥ न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले । अरोगिता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिः स हि योगलक्षणमि'ति ॥ ५० ॥

इदानीं केवलकुम्भकरूपं प्राणायामस्य चतुर्थं भेदं दर्शयति—

## बाह्याऽऽभ्यन्तरविषयाऽऽक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

पूर्वसूत्रोक्तो बाह्यविषयको यो रेचकः, आभ्यन्तरविषयको यः पूरकः, तयोराक्षेपो अतिक्रामी, तावतिक्रम्य त्यक्त्वा स्वयमेव केवलो वर्तते इति यावत् । एवंभूतः प्राणायामः स चतुर्थः—'केवलकुंभक'संज्ञको भवति । अयं केवलकुम्भको न रेचकदेशेन पूरकदेशेन वा परिच्छिन्नः, व्यापकत्वात् । नाऽपि कालसंख्याभ्यां परिच्छिन्नः, स्वेच्छया माससंवत्सरादिकालस्थायित्वात् । स चायं विष्णुपुराणे ध्रुवस्य श्रूयते—'तस्य हि तपसि प्राणनिरोधेन सर्वेषां प्राणनिरोधोऽभवदि'ति ॥ उक्तश्च प्राणायामो वशिष्ठसंहितायां सोपायः—'प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः । मध्यमः कम्पनात् प्रोक्त उत्थानं चोत्तमे भवेत् ॥ पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः । निःश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणावुभौ ॥ तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि । तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्तुं केवलकुंभकम् ॥ रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥ सहितं केवलं चाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् । यावत् केवलसिद्धिः स्यात् तावत् सहितमभ्यसेत् ॥ केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते । न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते'इति ॥ ५१ ॥

प्राणायामस्य फलं दर्शयति—

## ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

'ततः—प्राणायामात्, प्रकाशावरणम्—विवेकज्ञानाऽऽवरणकमधर्मादिकम्,

क्षीयते—क्षीयते—इति, उक्तं हि मनुना—'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहादि'ति। "प्राणायामैर्दहेद् दोषानि"ति च। उक्तं चाऽऽगमिभिः—'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये'ति॥ ५२॥

किञ्च—

## धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

प्राणायामाऽभ्यासात् मनसोऽन्तःकरणस्य धारणासु योग्यता भवतीति, प्राणायामो हि मनः स्थिरीकुर्वन् धारणासु योग्यतां मनसो नयति। इदमत्र विशेषतोऽवधेयम्—प्राणायामस्थैर्ये सति ततः सच्चिदानन्दब्रह्मप्राप्त्युपायात्मिकायाः सुषुम्णाया अग्रभागे सुषुम्णाद्वारमावृत्य सुप्ता या 'ईश्वरी'नामकुण्डली तामुन्निद्रां विधापयितुं महामुद्रादीनामभ्यासः कर्तव्यः। उक्तं च—"सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः। सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली॥ "सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली। तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥ "सुषुम्णा, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्रं, महापथः। श्मशानं, शाम्भवी, मध्यमार्ग—श्चेत्येकवाचकाः॥ "तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्। ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ "महामुद्रा, महाबन्धो, महावेधश्च, खेचरी। उड्डानं, मूलबन्धश्च, बन्धो जालन्धराऽभिधः॥ "करणी विपरीताख्या, वज्रोली, शक्तिचालनम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकमि'ति॥

( १ ) अथ 'महामुद्रा' यथा—'पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्। प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम्॥ कण्ठबन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः। यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते॥ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्। तदा सा मरणाऽवस्था जायते द्विपुटाश्रया॥ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः। महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः॥ "इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता। महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः॥ "महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः"॥ "चन्द्राङ्गे हि समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्। यावत्तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति॥ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देयाऽपात्रसायुजे॥ ( २ ) अथ महाबन्धः 'पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।

निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः । सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् । राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ अयन्तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः । अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः । त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना । महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ’-विति ॥ ( ३ ) अथ महावेधमुद्रा—‘महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः । वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः । पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चाऽमृताय वै । मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः । वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशकम् । वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने । पुण्यसंभारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ॥ सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनमि’ति ॥ ( ४ ) अथ ‘खेचरी’मुद्रा—‘कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् । सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ॥ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् । समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् । पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् । षण्मासाद् रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् । सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ रसनां मूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति । विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा । न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ चित्तं चरति खे यस्माज् जिह्वा चरति खे गता । तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः । न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥ चालितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् । व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः । मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः । तक्षकेणाऽपि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः । तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु । चंद्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ चुम्बन्ती यदि-लम्बिकाग्रमनिशं,-जिह्वारसस्यन्दिनी । साक्षारा

कटुकाम्लदुग्धसदृशी, मध्वाज्यतुल्या तथा ॥ व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्रागमोदीरणं । तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठात् । ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ॥ उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् । निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥ चन्द्रात् सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् । तिष्ठति खेचरीमुद्रा तस्मिञ्छून्ये निरञ्जने ॥ एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी । एको देवो निरालम्बो ह्येकावस्था मनोन्मनी ॥ (५) अथोड्डीयानबन्धमुद्रा—'बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः । तस्मादुड्डीयनाऽऽख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः । उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते । उदरं पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् । उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा । अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ नाभेरूर्ध्वमधश्चाऽपि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः । षण्मासमभ्यसेत् मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः । उड्डीयाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेदिति ॥ (६) अथ मूलबन्धमुद्रा—'पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् । अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ अधोगतिमपानं वा ह्यूर्ध्वगं कुरुते बलात् । आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् । वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ प्राणाऽपानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नाऽत्र संशयः ॥ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः । युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् । तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बुनदप्रभम् । त्रिकोणन्तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥ ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणश्चोष्णस्वरूपकः । तेनाऽत्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलते देहजस्तथा ॥ तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते । दण्डाहता भुजंगीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदे'ति ॥ (७) अथ जालन्धरमुद्रा—'कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् । बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् । ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ जाल-

न्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् । मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाऽऽधारबन्धनम् ॥ अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः । हृद्ग्रीवाकण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुङ्गवैः ॥ मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् । इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥ अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनाल्लयम् । ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् । सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ (८) अथ विपरीतकरणीमुद्रा–'यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः । तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तत्र कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥ तत्राऽस्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् । गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी । करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धिनी । आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् । अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने । वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥ याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ (९) अथ वज्रोली मुद्रा–'स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना । वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् । क्षीरं चैकं द्वितीयन्तु नारी च वशवर्तिनी ॥ मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाऽऽकुंचनमभ्यसेत् । पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे । शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् । चलितं न स्वस्य बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् । मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् । यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावत् कालभयं कुतः ॥ चित्ताऽऽयत्तं नृणां शुक्रं शुक्राऽऽयत्तं च जीवितम् । तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् । मेढ्रेणाऽऽकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ सहजोली चामरोली वज्रोल्या भेद एकतः । जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् । आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ सहजोलीरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा । अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ अथाऽमरोली–'पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाऽम्बुधारां विहाय

निःसारतयाऽन्यधारा । निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली'ति॥ (१०) अथ शक्तिचालनी मुद्रा—'कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्तिरीश्वरी । कुण्डल्यरुन्धती, चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् । कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । मुखेनाऽऽच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् । बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ कुण्डली कुण्डलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नाऽत्र संशयः ॥ गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् । बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी । इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली ॥ पुच्छे प्रगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां । निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रं । प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रन्तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् । मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् । गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् । कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः । मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ । ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णायां मुखं ध्रुवम् । जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् । तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् । किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने । कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ इति मुद्रा दश प्रोक्ता योगीश्वरेण शम्भुना । एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी । तदेवं प्रसङ्गतः प्राणायामसंसाध्या मुद्राः शरीरशुद्धिप्रदा अनेकैश्वर्यप्रदाश्च संवर्णिता इति ॥ ५३ ॥

अथ प्रत्याहारं निरूपयति—

## स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

मोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः स्वस्वविषयैर्न संप्रयुज्यते चित्तं यदा तदेन्द्रियान्तःकरणान्यपि न संप्रयुज्यन्ते विषयैः, अतएव चित्तं स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते, तदानीमिन्द्रियाण्यपि चित्तेऽभिनिविशन्तेऽतश्चित्तस्वरूपाकारत्वमिन्द्रियाणां भवति, स चायं

प्रत्याहार इति, प्रत्याह्रियन्ते विषयेभ्य इन्द्रियाणि यत्र कर्मणि स तथा इति, उक्तं च विष्णुपुराणे–'शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः' इति ॥ चित्तं स्वात्मनि नियुक्तं सत् स्वात्मस्वरूपाकारं भवति तदेन्द्रियाण्यपि तथा भवन्तीति सिद्धान्तः, योगियाज्ञवल्क्येनोक्तं हि–'इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः। बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते' इति ॥५४॥

प्रत्याहारस्य फलं दर्शयति—

## ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः–प्रत्याहारात्,–इन्द्रियाणां परमो विजय इति, इन्द्रियजयिनो विवेकज्ञानं प्रतिष्ठितं भवति, उक्तं गीतायाम् 'यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिते'ति॥ इन्द्रियजयो नाम–योगमार्गोऽविच्छिन्नक्रमात्रविषयविषयकवृत्तिमत्त्वमिन्द्रियाणामिति, तदेव स्वाधीनत्वमिन्द्रियाणामिति, स्वात्मसत्तातिरिक्तसत्ताकवृत्तिमत्त्वाभाव इन्द्रियाणां भवति यदा सैव परमावश्यतेति, तथा च यथा जलतरङ्गा न जलात्मकाऽऽधारादन्यत्र भवन्ति लीयन्ते च, तथा–इन्द्रियाणि वृत्त्यात्मकास्तरङ्गा न चेतनात्मकविषयातिरिक्तविषयेषु, किन्तु–विषयतासम्बन्धेन चेतनात्मकाधिकरणे एवोपसंक्रान्ता भवन्ति वियुज्यन्ते चेति ॥५५॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे श्रीमद्दार्शनिकपंचानन–षड्दर्शनाचार्य–
नव्यन्यायाचार्य–सांख्ययोग–वेदान्त–मीमांसातीर्थ–पण्डित–
'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्य'–स्वामिनारायणविरचिते
भाष्ये द्वितीयः समाधिपादः ॥

# अथ तृतीयो विभूतिपादः ।

प्रथमपादे समाधिर्द्वितीयपादे तत्साधनानि चोक्तानि, अथ तृतीयपादे तत्प्रवृत्त्यनुगुणाः श्रद्धोत्पादनकारणीभूता विभूतयः प्रदर्शनीयाः, ताश्च विभूतयः संयमसाध्याः, संयमो नाम—धारणाध्यानसमाधिसमुदाय इति, स च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारात्मकपञ्चाङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्यो भवत्यन्तरङ्गमिति, अतोऽत्र पादे त्रयाणां पृथक्कृत्या संग्रहः, तत्राऽपि प्रथमं धारणा समाधिकारणध्यानकारणीभूता निरूप्यते—

## देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाऽऽधारदेशविषये चित्तस्य यो बन्धः सैव धारणा, स्थूलसूक्ष्मादि किमपि विषयस्वरूपं करणवृत्तिषु धार्यं यत् सा धारणा—इत्युच्यते । तत्र ( १ ) योनिपीठे मूलाधारनामकं चतुर्दलकमलं चक्रं विद्यते तत्र गणेशदेवस्वरूपे धारणां विदध्यात् ( २ ) एवं लिङ्गमूले 'स्वाधिष्ठान'—नामकं षड्दलकमलं विद्यते तत्र महादेवे धारणां कुर्यात् । ( ३ ) एवं नाभिप्रदेशे 'मणिपूरक'नामकं दशदलयुतं कमलं विद्यते तत्र विष्णुधारणां सम्पादयेत् । ( ४ ) एवं हृदयप्रदेशे 'अनाहत'नामकं द्वादशदलयुतं कमलं विद्यते तत्र रुद्रे धारणां निर्वर्तयेत् । एवं ( ५ ) कण्ठप्रदेशे 'विशुद्ध' नामकं षोडशदलयुतं कमलं विद्यते तत्र सदाशिवस्वरूपे धारणां समासादयेत् । ( ६ ) एवं भ्रूमध्यप्रदेशे 'आज्ञाचक्र'-नामकं द्विदलं कमलं विद्यते तत्र विद्याशक्तिसहितपरमहंसगुरुदेवतायां धारणां कुर्यात् । ( ७ ) एवं ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशे 'सच्चिदानन्द'नामकं सहस्रारं कमलं विद्यते तत्र परब्रह्मस्वरूपं धारयेत् । अथायं षट्चक्रस्थितिप्रकार उक्तः 'षट्चक्रनिरूपण'-ग्रन्थे, तदनुसारेण संक्षेप इत्थम्—शरीरे पृष्ठभागे मूलाधाराऽवधिको ग्रीवान्तः पृष्ठाऽस्थिविशेषो मेरुरिति ख्यातः, तस्य सव्यभागे—'इडा'नाडी दक्षभागे च 'पिङ्गला' वर्तते, मेरोर्मध्ये तु 'सुषुम्णा'नाम्नी नाडी वर्तते, सा च मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रगा, कन्दमूलादारभ्य शिरःस्थिताऽधोमुखसहस्रदलकमलकर्णिकावर्तिद्वादशदलपङ्कजाऽधःपर्यन्तस्थितेत्यर्थः ।, सहस्रदलकमलं सुषुम्णारहिते शून्यप्रदेशे ब्रह्मरन्ध्रसमवहितं विद्यते इति, इडापिङ्गले च मूलाधारादारभ्याऽऽज्ञाचक्रान्तं प्राप्य त्रिग्रन्थनवेणीबन्धक्रमेण सर्वचक्राणि संवेष्ट्य भ्रूमध्याद्वेणीबन्धरूपेण नासारन्ध्रमिलिते इति । "गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं ( मूलाधारं ) खगाण्डवत् ॥ नाड्यस्तस्मात् समुत्पन्ना सहस्राणां द्विसप्तति"रिति ॥

मेरुमध्यवर्तिसुषुम्णाया अन्तःस्थिता 'वज्रा'नाम्नी नाडी विद्यते, सा च मेढ्रदेशात् शिरसि परिणताऽस्ति सुषुम्णायाः किञ्चिद् ह्रस्वाऽस्ति, अथ 'वज्राया'मध्ये 'चित्रिणी'नाम्नी नाडी वर्तते सा लूतातन्तूपमेया सकलमूलाधारादीन् सुषुम्णावज्रासंलग्नान् चक्रविशेषान् भित्त्वा चक्राणां ग्रन्थनरचनया देदीप्यते, अथ च चित्रिण्या मध्यवर्तिनी 'ब्रह्म'नाडी वर्तते, सा च कन्दमूलाऽऽज्ञाचक्रयोर्मध्यदेशे स्थिता विद्युत्प्रकाशाऽतिसूक्ष्मा परब्रह्मद्वारभूताऽस्तीति, ब्रह्मनाड्या मुखमेव सुषुम्णाया ग्रन्थिस्थानमिति नाडीव्यवस्था ॥ अथ पद्मानां व्यवस्था—

१ मूलाधारपद्मं योनिपीठे स्थितं सुषुम्णाया आस्ये संलग्नं कन्दमूलसुषुम्णयोः सन्धिस्थानसंलग्नपद्मं लिङ्गमूलादधोऽवधिसन्निवेशम् अपानस्थानाऽऽरूढं रक्तवर्णं चतुर्दलमधोमुखं व-श-ष-स-इतिवेदवर्णैर्युक्तं विद्यते, एतत्पद्मस्य कर्णिकायां चतुष्कोणरूपं पृथिवीमण्डलं पीतवर्णमष्टदिग्व्यापिप्रकाशवदष्टसूक्ष्मशिखरैर्युक्तं वर्तते तद्धरामण्डलस्य मध्ये धरायाः स्वबीजं सानुस्वारलकारः—( लं ) इति समास्ते, एतद्बीजमपि पीतवर्णं द्विबाहु वज्रहस्तं गजेन्द्राधिरूढं वर्तते, तद्धराबीजस्याऽङ्के गणाधिपतिः विराजते, तत्र च कर्णिकायां—शुद्धबुद्धिप्रदा रक्तवर्णा देवी सिद्धयात्मिका रक्तपद्मोपरि विराजते ॥ अथ सुषुम्णाया मुखाद् व्यङ्गुलोर्ध्वं लिङ्गमूलादधो वज्राया मुखमस्ति, तच्च मूलाधारकमलकर्णिकामध्यस्थगह्वरान्तर्वर्तते, तत्र मुखे विद्युत्प्रकाशं मदनस्याऽधिष्ठानं कन्दर्पनामवायोर्निवासस्थानं रक्तवर्णं कोटिसूर्यप्रकाशं 'त्रिकोणं' विद्यते, तत्त्रिकोणमध्ये 'स्वयम्भू'नामकशिवलिङ्गं विद्यते, तच्च तप्तकाञ्चनाऽवयवकोमलम् अधोमुखं सरिदावर्तरूपाऽऽकृति वर्तते, तच्च ज्ञानेन निर्गुणरूपप्रकाशं ध्यानेन सगुणरूपप्रकाशमनुभूयते—इति ॥ तत्स्वयंभूशिवादूर्ध्वं बिसतन्तुसदृशी सूक्ष्मा जगन्मोहिनी स्वमुखेन ब्रह्मद्वारमुखं छादयन्ती स्वयमेवाऽमृतं पिबन्ती शङ्खस्य वेष्टनाऽऽकारतुल्या नवीनविद्युद्रेखासमप्रकाशा सुप्तसर्पवत्कुण्डलिताऽऽकारा स्वयम्भूशिवस्योपरि—सार्धत्रिवृत्ताऽऽकृतिर्मधुरं शब्दं कुर्वती 'कुण्डलिनी' वर्तते, एतत्कुण्डलिनीजन्यः शब्दः कण्ठताल्वाद्यभिघातेन वैखरीरूपो प्रसरतीति ॥ कुण्डलिन्या ऊर्ध्वं परमा शक्तिरास्ते, पर आत्मा मीयतेऽनया—इति परमा, तस्या मध्ये परापश्यन्तीमध्यमावैखरीबीजरूपा आनन्दपरम्पराः वर्तन्ते, परमायाः शक्तेर्मायया ब्रह्माण्डस्याऽऽविक्याद्यपर्यन्तं सकलं भासते, सा च नित्यज्ञानप्रदा भवतीति । कन्दमूलादारभ्यैतत्परमाशक्तिपर्यन्तं सर्वं मूलाधारचक्रसत्ताकमस्ति, तत्सर्वं ध्यात्वा योगी वाचामीशो नराणामिन्द्रः सर्वविद्याविनोदी नित्यमहानन्दविशिष्टात्मा च भवतीति ।

( २ ) 'स्वाधिष्ठान'चक्रं लिङ्गमूलप्रदेशस्थं सिन्दूरवर्णं सुषुम्णागतब्रह्मनाड्याविमध्यगतं ब-भ-म-य-र-ल—इतिषड्वर्णयुक्तषड्दलयुतं विद्युत्प्रभं पद्ममस्ति, तस्य मध्ये शुक्लवर्णमर्धचन्द्रयुक्तं मकराधिरूढम् अम्भसि जातं 'वरुणस्य मण्डलं'मास्ते, तत्र

सानुस्वारवकारस्य ( वं ) इत्यस्य बीजमस्ति, तद्बीजस्य मध्ये प्रभातसूर्यसमकान्तिः सृष्टिकारी चतुर्बाहुश्चतुर्मुखो दण्डकमण्डलुवक्षसूत्राऽभयहस्तो ब्रह्मा, रक्तवर्णसावित्रीसहितो विराजत इति ॥ अत्र चक्रे ध्यानफलमुक्तं षट्चक्रनिरूपणे—"स्वाधिष्ठानाख्यमेतत् सरसिजममलं चिन्तयेद् यो मनुष्यस्तस्याऽहङ्कारदोषादिकसकलरिपुः क्षीयते तत्क्षणेन ॥ योगीशः सोऽपि मोहाद्भुततिमिरचये भानुतुल्यप्रकाशो गद्यैः पद्यैः प्रबन्धैर्विरचयति सुधावाक्यसन्दोहलक्ष्मीः' श्लोक १८ ॥ ( ३ ) मणिपूरकं चक्रं स्वाधिष्ठानादूर्ध्वं नाभिमूले वर्तते, तत्र अर्धचन्द्रकृष्ण वर्णबिन्दुसहित-ड-ढ-ण-त-थ-द-ध न-प-फ—इतिदशवर्णयुक्तदशदललसितमस्ति, तस्य कर्णिकायां त्रिकोणाकारं त्रिकोणावच्छिन्नस्वस्तिकायुक्तं रक्तवर्णं वह्निमण्डलं वर्तते, तन्मध्ये (रं) इति सानुस्वाररकारो वह्निबीजं रक्तवर्णं मेषाधिरूढं चतुर्भुजं वज्रशक्तिवराऽभयधरं विद्यते, तत्र बीजक्रोडे विष्णुर्गरुडवाहनः शंखचक्रगदापद्मधारी नीलप्रकाशमनोज्ञकान्तिः पीतवस्त्रः प्रथमयौवनगर्वहारी वनमालाश्रीवत्सचिन्ह कौस्तुभधरश्चतुर्हस्तो दिव्याम्बराऽऽभरणविभूषितमत्तचित्तया लक्ष्म्या सहितो विराजत इति ॥ ( ४ ) अनाहतचक्रं हृदि बन्धूककान्त्युज्ज्वलं सिन्दूराभसबिन्दु—क-ख-ग घ ङ-च-छ-ज झ ञ-ट-ठ—इतिद्वादशवर्णयुक्तद्वादशदलं कल्पवृक्षतुल्यवाञ्छितप्रदं वर्तते, तत्कर्णिकायां धूमाभं षट्कोणाकारवायुमण्डलं वर्तते, तदुपरि सूर्यमण्डलमस्ति, तन्मध्ये विद्युत्कोटिनिभं त्रिकोणं वर्तते, तन्मध्ये ( यं ) इति वायुबीजं कृष्णसाराधिरूढं धूम्रधूम्राभं चतुर्भुजम् अङ्कुशहस्तं वर्तते, अत्र कर्णिकायां रुद्रो वृषारूढो रक्तवर्णो द्विभुजो वराभयधारी भस्मशुक्लत्रिनेत्रः सृष्टिसंहर्ता विराजते, तत्र च नीलवर्णा त्रिवक्त्रा त्रिनेत्रा चतुर्भुजा रुद्राणी शक्तिर्विराजते, एतत्कर्णिकाया अधो रक्तवर्णोर्ध्वमुखाष्टदलपद्ममस्ति तत्र कल्पवृक्षरत्नवेदीचन्द्रातपपताकाद्यलंकृतं मानसपूजास्थानमस्तीति, अनाहतचक्रं ध्यात्वा योगीशो ज्ञानीशो जितेन्द्रियः काव्याम्बुधारावहश्चेत्यादिर्भवतीति ॥ ( ५ ) विशुद्धनामकं चक्रं कण्ठमूले षोडशदलं धूम्रधूम्ररूपम् आरक्तकेशरं रक्तवर्णसबिन्दुकषोडशस्वरयुक्तं वर्तते, तत्कर्णिकायां नभोमण्डलं वृत्तरूपं शुक्लवर्णं वर्तते, तन्मध्ये त्रिकोणमस्ति, तत्र चन्द्रमण्डलं राजते, तदुपरि (हं) इति नभोबीजं शुक्लवर्णं शुक्लाम्बरपरिधानं शुक्लगजारूढं चतुर्भुजं पाशाङ्कुशवराऽभयधरं वर्तते, तन्मध्ये वृषभोपरि स्थितमहासिंहासने सदाशिवोऽर्धनारीश्वरत्वादर्धाङ्गसुवर्णाभोऽर्धाङ्गशुक्लाभः पञ्चवक्त्रस्त्रिनेत्रो दशभुजः शूल-टंक-खड्ग-वज्र-दहन-नागेन्द्र-घण्टाङ्कुशपाशाऽभययुक्तदशहस्तो व्याघ्रचर्माम्बरो भस्मलिप्तसर्वाङ्गो नागहारशोभितः सुधास्राव्यधोमुखार्धचन्द्रशेखरो विराजते। एतत्कर्णिकायां चन्द्रमण्डलमध्ये सिंहोपरिस्थिता 'पार्वतीशक्तिः' सात्त्विकी देवी शुक्लवर्णा चतुर्भुजा पाशांकुशधनुःशरधरा पीताम्बरा पञ्चवक्त्रा त्रिनेत्रेति विराजते, तदेतत्कमलं

निर्वाणमुक्तिद्वारमिति गीयते योगिभिः, अत्र च 'बुद्धिशक्तिः' चतुर्भुजा श्वेतवर्णा वेदहस्ता विराजते, तत्र च तदधः स्थिरदीपज्योत्याकारहंसरूपी जीवात्मा विराजते, अत्र चित्तधारणात् त्रिकालदर्शी चिरञ्जीव्यादिर्भवति ॥ ( ५ ) आज्ञाचक्रं भ्रुकुटिप्रदेशे शुभ्रं कर्पूरवर्णं-ह-क्षे-त्यक्षरद्वययुक्तद्विपत्रं वर्तते, तत्कर्णिकायां चक्राधिष्ठात्री चित्याशक्तिः शुक्लवर्णा श्वेतपद्मस्था त्रिनेत्रा षड्भुजा वराऽभयाऽक्षमालावेदाङ्गविद्यापुस्तकधरा शुक्लपद्मोपरिस्थिताऽस्ति । एतत्पद्मस्य त्रिकोणे प्रणवाऽऽकृतिरन्तरात्मा प्रदीपाऽऽभज्योतिर्वर्तते, तस्य चतुर्दिक्ष्वन्तरीक्षे ज्योतिःस्फुलिङ्गबिम्बैर्वेष्टितो ज्वलद्दीपसदृशेन स्वतेजसा मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रकाशकोऽस्ति, तदूर्ध्वं चन्द्रमण्डले हंसक्रोडे परमहंससद्गुरुदेवताख्यं गुणातीतानन्दं मूलाक्षरं ब्रह्म सशक्तिकं राजते ॥ अत्राज्ञाचक्रे ध्याताऽष्टसिद्धिमान् जन्मस्थितिलयकर्तेत्यादिर्भवतीति । एतच्चन्द्रमण्डले चन्द्रार्धस्तदुपरि मकारस्तदुपरि प्रणवस्तदुपरि नाद इति । इह मण्डले चित्तेऽलीने सति परमगुरुसेवालब्ध्या निरालम्बां मुद्रां बध्वा योगी प्राणवायुबुद्धीनां कलाः पश्यतीति, उक्तं च षट्चक्रनिरूपणे—

ज्वलद्दीपाकारं तदनु च नवीनार्कबहुल-प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यमिलितम् । इह स्थाने साक्षाद्भवति भगवान् पूर्णविभवोऽव्ययः साक्षी वह्नेः शशिमिहिरयोर्मण्डल इव ॥ २७ ॥ "इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे समारोप्य प्राणं प्रमुदितमनाः प्राणनिधने । परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगतां पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम् ॥ २८ । इति । ( ७ ) अथ सहस्रदलकमलं— उक्तमहानादादूर्ध्वं महाशंखिन्याश्च शिखरसमदेशे शून्यनिरालम्बे विसर्ग ( : ) स्याऽधः प्रकाशरूपं पूर्णचन्द्रशुभ्रमधोमुखं केवलानन्दरूपम् अकारादिपञ्चाशद्वर्णैः विंशतिप्रकारेण परिलसितदलं तत् समास्ते, उक्तं च "इन्दुर्ललाटदेशे च तदूर्ध्वे बोधिनी स्वयं । तदूर्ध्वे भाति नादोऽसावर्धचन्द्राकृतिः परः ॥ तदूर्ध्वे च महानादो लाङ्गलाकृतिरुज्वलः । तदूर्ध्वे च कला प्रोक्ता 'आञ्जी'ति योगिवल्लभा ॥ उन्मनी तु तदूर्ध्वे च यद्गत्वा न निवर्तते ॥" इति । पद्ममूर्ध्वपदं आज्ञाचक्रोर्ध्वबोधकमिति । सहस्रदलकमलमध्ये शशरहितः सम्पूर्णश्चन्द्रः स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः समास्ते । चन्द्रमध्ये विद्युत्प्रभं त्रिकोणंविराजते त्रिकोणमध्ये सकलसुरगणैः सेवितं गुह्यं 'शून्याकारं' वर्तते । तद्ब्रह्मात्मकशून्याकाशात् परममृतं क्षरति, तदिह स्थाने परं ब्रह्म निवसति, स भगवान् निर्मलमतये योगिने स्वात्मज्ञानं दिशति, च स परमात्मा बहुनाम्ना प्रसिद्धः, केश्चिद् गुरुरिति मन्यते, उक्तं 'पुरश्चरणरसोल्लासे पादुकापंचकग्रन्थटीकायाम्— "'श्रीमहादेव उवाच—'सहस्रारे ततो नित्ये पङ्कजे परमाद्भुते । पद्मस्य बीजकोषे तु भावयेत् स्वगुरुं सदा' । श्रीपार्वत्युवाच—'सहस्रारे महापद्मे सदा चाऽधोमुखे प्रभो ! । गुरुस्थितिः कथं देव ! सततं वद निश्चयम्' ॥ श्रीमहादेव उवाच—'शृणु

प्रिये ! प्रवक्ष्यामि यदेतत्स्थानमुत्तमम् । सहस्रारं महापद्मं सहस्रदलसंयुतम् ॥ सदा 'ब्रह्म'पुरं तत्तु 'नित्यानन्द'मयं सदा । नानागन्धयुतं पद्मं 'सहजानन्द'मन्दिरम् ॥ सदा चाऽधोमुखं पद्मं बीजमूर्ध्वमुखं सदा । त्रिकोणाकाररूपेण कुण्डलीसंयुतेन च"–त्यादि ॥ इदं ब्रह्मरन्ध्रस्थं सहस्रदलकमलं केचित् "शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणा वदन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे । पदं देव्या देवीचरणयुगलाम्भोजरसिका मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम्' ॥ इति मन्यन्ते, (षट्चक्रनिरूपणश्लोक–४५) ॥ अत्र सहस्रदलचक्रे 'चन्द्रस्य प्रसिद्धा 'अमा'नाम्नी षोडशी कला विद्यते, सा च शुद्धाऽतिसूक्ष्मा क्षयोदयरहिताऽधोमुखी विद्युत्प्रकाशा पीयूषधाराधराऽस्तीति, तस्या मध्यभागे 'निर्वाण'नाम्नी कला सूक्ष्मतरा भूतानामधिदेवतारूपा नित्यबोधोदया द्वादशादित्यप्रभा चन्द्रलेखेव भङ्गुरा समास्ते । निर्वाणकलाया मध्ये 'निर्वाण'नाम्नी शक्तिरास्ते सा च परब्रह्मशक्तिरूपा कोटिसूर्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी सूक्ष्मतमा प्रेममयी मुनिमनःसु तत्त्वज्ञानं वहन्ती विद्यते, तस्या मध्ये परब्रह्मपदं नित्यानन्दं शाश्वतं सकलसुखमयमास्ते । केचित् तच्छिवपदमिति, अन्ये विष्णुपदमिति, अपरे मोक्षपदं हंसपदमित्यादि वदन्ति ॥ तदयं क्रमः–'योगी विहितासने समुपविश्य स्वाङ्के उत्तानौ करौ कृत्वा खेचरीमुद्रया स्थिरचित्तः सन् देहान्तर्वायुमापूर्य्य कुम्भकं कृत्वा हृदयमाकुञ्चयेत् तेन ऊर्ध्वोच्छ्वासोत्सरणनिवृत्तिः, ततो देहान्तरस्थवायोरुदरकण्ठादिव्यापकतया नाडीच्छिद्रप्रस्फोटनेनाऽधोगमनमनुभूय गुदमाकुञ्च्याऽपानं संरुध्य वायुमुत्थाप्य मूलाधारकमलकर्णिकान्तस्त्रिकोणस्थं कामदेवं वाममावर्त्तयेत्, तेनोद्दीप्तेन तत्र स्थितेन कामाग्निनोत्तप्तां कुण्डलिनीं हुंकारबीजेन पवनवेगेन वह्नस्योर्ध्वगमनद्वारा चेतयित्वा ऊर्ध्वगतिमतीं कृत्वा परब्रह्माभिलाषिणीं तां स्वयम्भूलिङ्गमुखं स्फोटयित्वा तच्छिद्रेण नाडीमुखमध्यं प्रापयेत् , ततः सा सकलचक्राणि भित्त्वा ब्रह्मरन्ध्रे देदीप्यते, तां योगी जीवात्मना सार्धं लीनां कृत्वा परब्रह्मणः स्थाने नीत्वा ध्यायेत् , ततः सा परब्रह्मणः परमामृतं पीत्वा पुनस्तेनैव मार्गेण मूलाधारचक्रस्थले समागच्छतीति, तदेतावत्पर्यन्तं क्रियासिद्धिमान् योगी योगफलं प्राप्त एव नास्त्याधिक्यं वेदितव्यमवशिष्यते ॥ परमात्मनः स्थाने प्राणारोपणप्रकारश्चेत्थम्–स्वप्राणवियोग(निधन)–कालं ज्ञात्वा 'परे ब्रह्मणि लीनो भवामी'त्यानन्दितात्मा योगासनमासीनः सन् कुम्भकेन वायुं संरुध्य हृदिस्थं जीवात्मानं मूलाधारमानीय गुदमाकुञ्च्य यथोक्तविधानेन कुंडलिनीमुत्थाप्य मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तं तडिदाकारमानन्दं कुण्डलिनीमयं सूक्ष्मरूपं नादं ध्यात्वा प्राणरूपश्वासप्रश्वासात्मकं हंसं तन्नादे विलाप्य जीवेन सह चक्रभेदक्रमेणाऽऽज्ञाचक्रमानीय तत्र स्थितायां कुण्डलिन्यां स्थूलसूक्ष्मक्रमात् पृथिव्यादिप्रपञ्चसमुदायं विलाप्य तां पुनर्जीवात्मना सह तत्र स्थितचि-

याताकिमपि बिन्दुनैक्यभावमापाद्य तिष्ठेत्, ततो ब्रह्मरन्ध्रभेदेन देहं त्यक्त्वा ब्रह्मणि लीनो भवेदिति ॥ तदेतद्दशचक्रेषु तद्देवतासु कर्णिकासु त्रिकोणाधिदेवेषु शक्तिषु वा यत्र क्वापि ध्यानं कुर्यात् । एवं नासिकाऽग्रे गन्धसंविदं धारयेत्, जिह्वाग्रे रससंविदं धारयेत्, तालव्ग्रे रूपसंविदं धारयेत् । जिह्वामध्ये स्पर्शसंविदं धारयेत्, जिह्वामूले शब्दसंविदं धारयेत्, इत्येवं शरीरान्तःप्रदेशे यत्र कुत्राऽपि धारणां विदध्यादिति, उक्तं च विष्णुपुराणे—'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्यात् चित्तस्थानं शुभाश्रये' इति ॥ गारुडे च—'प्राक्नाभ्यां हृदये चाऽथ तृतीये च तथोरसि । कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु ॥ किञ्चित् तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिते'ति ॥ एवं—'प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत् । स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्' इति च ॥ उक्तं चेश्वरगीतायां 'हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके । एवमादिप्रदेशेषु धारणा—चित्तबन्धनम् ॥ अथ बाह्यप्रदेशेऽपि धारणा कर्तव्या भवति—उक्तं हि विष्णुपुराणे 'मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम् । एषैव धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥ तच्च मूर्तं हरेः रूपं यद्विचिन्त्यं नराधिप ! तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ॥ प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् । सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥ समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम् । कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ॥ वलीत्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण च । प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवाऽपि चतुर्भुजम् ॥ समस्थितोरुजङ्घं च सुस्थिताङ्घ्रिवराम्बुजम् । चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् ॥ किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम् । शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशङ्खाऽक्षवलयान्वितम् ॥ चिन्तयेत् तन्मयो योगी समाधायात्मसाधनम् । तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप ! धारणा ॥ एतद्वातिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः । नाऽपयाति यदा चित्तं सिद्धां मन्येत तां तदे'ति । एवमेवाऽऽभ्यन्तरे बाह्ये वा विषये धारणां विधापयेदिति ॥ १ ॥

धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति—

## तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र—यत्र यत्र धारणा कृता भवेत् तत्र तत्र देशे, प्रत्ययस्य—चित्तवृत्तेः, एकतानता—एकाग्रता, तद्ध्यानं, ध्यायते स्थूलसूक्ष्मादि यत्किमपि स्वरूपं यत्र वृत्तिभिरिति । उक्तं च वायुपुराणे—'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यं संततिश्चाऽन्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप !' इति ॥ उक्तं चेश्वरगीतायां—'देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः । वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदु'रिति । तदिदं ध्यानमाभ्यन्तरं बाह्यं चोभयविधमपि भवति ॥ २ ॥

ध्यानसाध्यसमाधिं लक्षयति—

## तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

तदेव—ध्यानं प्रत्ययात्मकं यदा अर्थमात्रनिर्भासं—ध्येयविषयाकारेणैव साक्षिणि निर्भासते न तु प्रत्ययाकारेण, तदा 'अहमिदं चिन्तयामी'त्येवंरूपस्य वृत्त्यन्तरस्योदयो न भवति, अत एव वृत्त्यन्तररहितं स्वस्य स्वरूपशून्यमिव भवति—ध्येयस्वरूपाकारमात्रं भवतीति, तदा ध्यानमेवेदृश्यवस्थायां समाधिरित्युच्यते, 'सम्यग् आधीयते ध्येयं यत्र वृत्तिविशेषे सः समाधिरिति, तथा च ध्यातृध्येयध्यानानीतिस्वरूपत्रयनिर्भासकं ध्यानम्, ध्यातृध्येयध्यानानीतिस्वरूपत्रयरहितः समाधिरिति—ध्यानसमाध्योर्विशेषः। उक्तं च गरुडपुराणे—'ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्। तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते' इति। उक्तं च विष्णुपुराणे—'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते'। इति ॥ ३ ॥

धारणाध्यानसमाधीनां पारिभाषिकीं संज्ञां दर्शयति—

## त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

धारणाध्यानसमाधय इति त्रयमपि 'एकत्र—एकविषयकं सत् 'संयम' इत्युच्यते, तेषां समुदायस्य 'संयम' इति संज्ञा भवति, प्रत्याहारान्तानां प्रवृत्तिविशेषसहभूतत्वात् न संयमसंज्ञा, धारणादिषु तु निवृत्तिसहभूतत्वात् 'संयम' इति व्यवहारः, अग्रे सर्वत्र संयमपदेन धारणाध्यानसमाधिसमुदायो बोध्य इति ॥ ४ ॥

संयमविजयस्य फलं दर्शयति—

## तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

तस्य—संयमस्य, जयात्—दृढीकरणात्, प्रज्ञायाः—विवेकख्यातेः, आलोकः—वैशारद्यं भवति, यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा विवेकख्यातिः—विशारदा स्वच्छप्रवाहा भवतीति ॥ ५ ॥

संयमस्योपयोगं दर्शयति—

## तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य-संयमस्य,—भूमिषु—स्थूलसूक्ष्मावलम्बभेदेन व्यवस्थितासु चित्तवृत्तिषु, विनियोगः कर्तव्यः, अधरामधरां चित्तभूमिं जित्वा तां तां च ज्ञात्वा उत्तरस्यां भूमौ संयमो विधेयः, न ह्यनात्मीकृताऽधरभूमिरुत्तरस्यां भूमौ संयमं कुर्वाणः समाधिफलभाग् भवतीति, उक्तं च गारुडे—'स्थित्यर्थं मनसः पूर्वं स्थूलरूपं विचिन्तयेत्।

तत्र तस्मिन्वशीभूते सूक्ष्मेऽपि स्थिरतां भजेदि'ति । तथा च स्थूलविषये सवितर्के समाधौ वशीकृते सति संयमस्याऽविजीते निर्वितर्के विनियोगः कार्यः, निर्वितर्के च वशीकृते सति सविचारे विनियोगः कार्यः, ततो निर्विचारे कर्तव्य इतिक्रमेण प्रान्तभूमिषु संयमं लभते योगी, विष्णुपुराणे–'स्थूलविषये संयमसिद्धौ सत्यां तत्तच्छङ्खाऽऽभूषणाद्यपनयनेन सूक्ष्मविषयः समाधिरवतारितः, यथाहि–'ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितो बुधः । चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम् ॥ यदा च धारणा तस्मिन्नवस्थानवती ततः । किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत् ॥ तदेकावयवं देवं 'सोऽहं'–चेति पुनर्बुधः । कुर्यात् ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेदि'ति ॥ ६ ॥

तदिदं धारणाध्यानसमाध्यात्मकं—

## त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यो-यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पञ्चभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्योऽत एव बहिरङ्गेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गमित्युच्यते साक्षात् समाधिस्वरूपसम्पादकत्वादिति ॥ ७ ॥

तस्य संयमस्य समाध्यन्तराऽपेक्षया बहिरङ्गत्वं दर्शयति—

## तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

निर्बीजस्य–निरालम्बनस्याऽसम्प्रज्ञातस्य समाधेः, तदपि–धारणाध्यानसमाधित्रयं बहिरङ्गं भवति, यतः संयमो यथा सम्प्रज्ञातयोगस्य साक्षात् सम्पादकस्तथा नाऽसम्प्रज्ञातयोगस्य, किन्तु सम्प्रज्ञातयोगद्वारैवेति, बहिरङ्गत्वं परम्परया सम्पादकत्वे सत्यङ्गत्वमिति । अन्तरङ्गत्वं साक्षात् सम्पादकत्वे सत्यङ्गत्वमिति ॥ ८ ॥

इदानीं योगसिद्धीर्व्याख्यातुकामः संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्तुं क्रमशो धर्मलक्षणाऽवस्थात्मकपरिणामत्रयं निरूपयन् प्रथमं धर्मपरिणामं दर्शयति—

## व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानं–क्षिप्तमूढविक्षिप्तमिति चित्तभूमिकात्रयम्, तथा सम्प्रज्ञातयोगस्यैकाग्रभूमिकाऽपि व्युत्थानं, तस्या असम्प्रज्ञातयोगाऽपेक्षया व्युत्थानत्वादिति । निरोधो नाम पञ्चमी चित्तभूमिका, प्रकृष्टसत्त्वस्याऽसङ्गितया चेतसः परिणाम इति यावत् । ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां जनितौ यौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रमम् अभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतः, तदा निरोधक्षणे चित्तस्याऽन्वयो भवति स निरोधपरि-

णाम इत्युच्यते ॥ अभिभवो नाम तनुभावतया कार्यकरणाऽसामर्थ्येनाऽवस्थानम् । प्रादुर्भावो नाम वर्तमानावस्थायामभिव्यक्तिरूपतयाऽऽविर्भावः । अयं भावः—यदा व्युत्थानसंस्कारात्मकः परिणामस्तिरोभवति निरोधसंस्कारात्मकः परिणाम आविर्भवति तदा स निरोधपरिणामपदेन व्यवह्रियते इति । यावत्कालं निरोधावस्था तावच्चित्तस्थैर्यं नियमतो भवतीति ॥ ९ ॥

निरोधपरिणामस्य फलं दर्शयति—

## तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

तस्य-निरोधावस्थचित्तस्य निरोधाख्यात् संस्काराद् दृढतरात् प्रशान्तवाहिता-सदृशप्रवाहपरिणामिता भवति, स्थिरं शान्तं विशारदं चित्तं भवतीति यावत् ॥ १० ॥

अथ लक्षणपरिणामो दर्शनीयः, तत्र सामान्यतश्चित्तमस्ति द्विविधम्—असमाधिकं ससमाधिकञ्चेति, तत्र क्षिप्तमूढविक्षिप्तात्मकभूमिकापन्नं यावत् तावद् असमाधिकमुच्यते, तत्र सर्वार्थविषयकप्रवृत्तिसत्ताया विद्यमानत्वात्, यदा च—

## सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थतायाः-क्षिप्तमूढविक्षिप्तात्मकतायाः क्षयो भवति, अथच-एकाग्रताया-श्चतुर्थभूमिकाया उदयो भवति तदा चित्तस्य समाधिपरिणामो भवति, चित्तं ससमाधिकं जायते, सोऽयमेकाग्रतावस्थात्मकश्चेतसः सम्प्रज्ञातसमाधिपरिणाम इत्युच्यते, निरोधपरिणामो नाम संस्कारात्मकधर्मपरिणामः, समाधिपरिणामो नाम लक्षणपरिणाम इति निरोधपरिणामसमाधिपरिणामयोर्विशेषः ॥ ११ ॥

अवस्थापरिणामं दर्शयति—

## शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः १२

समाहितस्य चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः-शान्तः—तिरोभूतः, अपरश्च वृत्तिविशेष उदितः—प्रादुर्भूतः, तत्र तिरोभूते वृत्तिविशेषे यादृशं चित्तं स्वस्थं समाहितं सदृशप्रवाहं विशारदं भवति वर्तते तथा प्रादुर्भूतेऽपि वृत्तिविशेषे स्वस्थं समाहितं सदृशप्रवाहं वर्तेत, एवं यथा प्रादुर्भूते वृत्तिविशेषे तथा तिरोभूते वृत्तिविशेषे स्वस्थं समाहितं सदृशप्रवाहं विशारदं वर्तेत, उभयत्र वृत्तिविशेषे—स्वस्थमेव चित्तमेकाग्रं वर्तते यत् तच्चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥

'ऋते चितिशक्तेर्भवन्ति प्रतिक्षणपरिणामिनः सर्वं एव भावाः, अतः सर्वेषामनन्ताः परिणामा भवन्तीति, तत्रापि प्रत्येकं वस्तु धर्मेण लक्षणेनाऽवस्थया

चावच्छिन्नं विद्यते, अतो धर्मपरिणामेन लक्षणपरिणामेनाऽवस्थापरिणामेन च वस्तु परिणतमिति व्यवह्रियते, अतस्त्रिविधपरिणामः सर्वत्र समुपपन्नः, तथा च—

## एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

एतेन—पूर्वोक्तेन धर्मलक्षणाऽवस्थारूपेण चित्तपरिणामेन, स्थूलभूतेष्विन्द्रियेषु चेतनातिरिक्तेषु यावत्पदार्थेष्वपि धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः, तत्र धर्मपरिणामो नाम—'अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मतिरोभावे सति धर्मान्तरस्य प्रादुर्भावः, यथा मृद्धर्मी पिण्डः स्वधर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकारइति, तत्र पिण्डस्य धर्मस्य तिरोभावे सति घटत्वधर्मस्याऽऽविर्भाव इति, एवमेव यावत्प्रकृतितत्त्वं तत्तद्धर्मेण परिणमते पूर्वधर्मं विहाय धर्मान्तरमुपसम्पद्यते इति सर्वत्र बोध्यम्। लक्षणपरिणामो नाम—अवस्थितस्य धर्मस्याऽनागतादिलक्षणत्यागे वर्तमानादिलक्षणप्राप्तिः, स चाऽऽविर्भावतिरोभावशब्दवेद्यः, यथा योगिनां सत्ख्यातिसिद्धान्ते यावतां पदार्थानां सत्स्वरूपतया यावद्वस्तुजातं त्रिकालावच्छिन्नं सदेव भवति तथाऽतीतवर्तमानाऽनागतात्मककाललक्षणत्रयोपेतम् भवत्येव, तत्र यदा कारणात्मको घटः पिण्डेऽनागतस्वभावः स्वयमनागतस्वभावं विहायैवाऽऽविर्भवति तदा वर्तमानस्वभावो भवति, क्षणान्तरे च स एव वर्तमानस्वभावमपि विहायातीतस्वभावः सन् तिरोभवतीति, स चायं भूतकाललक्षितो वर्तमानकाललक्षितो भविष्यत्काललक्षितश्चेति कालपरिणामः, स एव लक्षणपरिणामः,—लक्ष्यतेऽनेन कालेनेति व्युत्पत्त्या लक्षणं कालः, तत्प्रयुक्तपरिणाम इति यावत्, तथा च प्रकृतितत्त्वं यावत् तिरोभावप्राविर्भावस्वभावतया कालत्रयावच्छिन्नं सत् परिणतं बोध्यमिति। अवस्थापरिणामो नाम—नवपुराणताविपरिणामः, घट उत्पद्यमानः सन् क्षणमात्रं नवः, क्षणान्तरे पुराणः, एवं तत्तत्क्षणविशिष्टतया तु उत्तरोत्तरक्षणे नवः तदपेक्षया पूर्वपूर्वक्षणे पुराण इति भवति। वस्तुतस्तु धर्मिणः पदार्थस्यैक एव परिणामः, स च कदाचिद्धर्मद्वारकः, कदाचिल्लक्षणद्वारकः, कदाचिदवस्थाद्वारकइति बोध्यम्, यथा दुःखमेकमेव निमित्तभेदाद् भिद्यते तथाऽत्रापि बोध्यमिति ॥ १३ ॥

ननु कोऽयं धर्मी? इत्याकांक्षायां तस्य लक्षणं दर्शयति—

## शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्तधर्मावच्छिन्नः, उदितधर्मावच्छिन्नः, अव्यपदेश्यधर्मावच्छिन्नश्च धर्मी। धर्मो नाम-कार्यजननसामर्थ्यं कारणगता शक्तिरिति यावत्, सा च तिरोभावप्रादुर्भा-

वस्वभावा, यदाऽऽविर्भूय कार्यं सम्पाद्य च पुनस्तिरोभवति तदा कार्यमपि ध्वस्तमिति तिरोहितमिति सम्पद्यते, तदा तिरोभूता सा शक्तिः—'शान्ता'—इति कथ्यते, यदा चाऽऽविर्भवति शक्तिस्तदा कार्यमपि प्रागेव कारणे समुत्पद्यते। तदानीं सा प्राविर्भावस्वभावा—'उदिता' इत्युच्यते, यावत्कालं सा नाऽऽविर्भवति तावन्न कार्यमपि जायते, अतः सा तिरोभावस्वभावा—'अव्यपदेश्या'—इत्युच्यते, तथा च तादृशकारणगतशक्त्यनुपतनशीलं तादृशशक्त्यधीनं कार्यमेव धर्मीतिबोध्यम्, तत्र यदा शक्तिः शान्ता तदा कार्यमपि शक्त्यधीनं सत्—शान्तं भवति, यदा शक्तिरुदिता तदा कार्यमपि शक्त्यधीनं सद्—उदितं भवति, यदा च शक्तिरव्यपदेश्या-अनागतप्रादुर्भावा तदा कार्यमपि तच्छक्त्यधीनमव्यपदेश्यमनागतप्रादुर्भावं भवतीति। अत्र 'धर्मी' तिपदेन—आविर्भावतिरोभावस्वभावो धर्मी अभिप्रेतः, तत्रैव सूत्रोक्तलक्षणसंगमात्, परिणामप्रकरणान्तराले वर्णितत्वाच्च। आत्मा तु धर्मी अपि नेदृशो धर्मी, स तु तिरोभावप्राविर्भावाविरहितोऽतो नात्र लक्ष्य इति। यदा तु परिणाम्यपरिणामिधर्मिसाधारणं लक्षणं विधेयं तदा तु—'यत्किञ्चिद्धर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपिता या विशेष्यताख्यविषयता तदाश्रयत्वं धर्मित्वमिति परिष्करणीयम्, भवति हि घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपिता या घटनिष्ठा विशेष्यताख्यविषयता तदाश्रयो घटो धर्मी—इति॥ सूत्राऽभिप्रायानुकूलं धर्मिलक्षणन्तु—'तिरोभावप्रादुर्भावस्वभावधर्मविशिष्टत्वं धर्मित्वम्, वैशिष्ट्यं च स्वाऽधिकरणत्वसम्बन्धेन, अधिकरणत्वं च स्वावच्छेदकसंसर्गेण, स्वं धर्मः॥ इति॥ १४॥

नन्वेकस्य धर्मिणः कथमनेके परिणामा? इति चेद्? यतः—

## क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥ १५॥

क्रमान्यत्वं—क्रमभेदः, परिणामान्यत्वे—परिणामभेदे, हेतुः—प्रयोजकः। तद्यथा—मृच्चूर्णान्मृत्पिण्डः, ततः कपाले, ताभ्यां घट इति क्रमभेदः, इत्थमेव सर्वत्र प्रकृतितत्त्वे कारणकार्यक्रमो नियत एव, अतः सरूपपरिणामो विरूपपरिणामो वाऽवश्यंभावी तत्र। सर्वेषां चित्तादीनां परिणममानानां केचिद्धर्माः सुखादयः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते, केचिच्च धर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयस्तु—अनुमानेन गम्या भवन्ति, तत्र सर्वविधधर्मेषु चित्तमेकमेवाऽपि भवत्यन्वितं भिन्नरूपतया, अतश्चित्तं परिणामीति सिद्धम्, तथा सर्वत्र बोध्यं क्रमान्यत्वात् परिणामान्यत्वमिति॥ तत्र धर्मपरिणामान्यत्वे धर्मक्रमान्यत्वं हेतुः, यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य धर्मस्य क्रमः, पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायते—इति धर्मपरिणामक्रमः। एवं लक्षणपरिणामान्यत्वे लक्षणक्रमान्यत्वं हेतुः, यथा—अतीतकालः,—वर्तमानकाल इति लक्षणक्रमः, अतीतस्वभावो घटस्तिरोहितः, वर्तमानस्वभावो घटः प्रादुर्भूत इति लक्ष-

णपरिणामक्रमः। एवम्-अवस्थापरिणामान्यत्वेऽवस्थाक्रमान्यत्वं हेतुः, यथा-उत्पत्तिप्रतियोगी घटः स्थितिप्रतियोगी घट इत्यवस्थाक्रमः, तेन नूतनो घटः पुराणो घट–इत्यवस्थापरिणामक्रमः, तथा सर्वत्र पदार्थेषु बोध्यमिति ॥ १५ ॥

तदेवं परिणामत्रयं निरूप्य तत्संयमजां विभूतिं दर्शयति—

## परिणामत्रयसंयमादतीताऽनागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

धर्मलक्षणाऽवस्थाख्येषु त्रिविधपरिणामेषु संयमाद् अतीताऽनागतवस्तुविषयकं ज्ञानं योगिनो भवतीत्यर्थः। अयमाशयः–योगी यदा वर्तमाने यत्र कुत्रापि वस्तुनि धारणाध्यानसमाध्यात्मकं संयमं करोति तदा तद्वस्तुनः–अतीतधर्मलक्षणाऽवस्थाविषयकं भविष्यद्धर्मलक्षणावस्थाविषयकं च ज्ञानमुत्पद्यते, भूतकाले कीदृशं तदासीद् भविष्यत्काले च कीदृशं भावीति सर्वमपि जानाति, यत्र यत्र वस्त्वादौ संयमं करोति तस्य तस्य त्रिकालस्थितिविषयकं ज्ञानं भवतीति, तेन योगी त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ–इति च कथ्यते, यतो ह्यस्य योगिनो यावतां पदार्थानां जन्मस्थितिभङ्गज्ञानं सम्पद्यते परिणामत्रयसंयमबलादिति ॥ १६ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराऽध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

'शब्दः–श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नो–गौरितिशब्दः, अर्थः–पदजन्यप्रतिपत्तिविषयः सास्नामत्त्वादिरूपो गौरित्यर्थः, प्रत्ययः–विषयाकारा बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानं–गौरितिप्रत्ययः, त एते वस्तुतो भिन्नाः, तत्र शब्दः–गुणपदार्थो वाचकः, अर्थः–द्रव्यपदार्थो वाच्यविषयविशेषः, प्रत्ययः–गुणपदार्थो विषयी, तेषां परस्परं तादात्म्याऽसम्भवेन भिन्नत्वम्, तेषां शब्दार्थज्ञानानां व्यवहारे त्वितरेतराध्यासात् परस्परसङ्कीर्णत्वं भवति, यथाहि–केनचिद् 'गामानय'-त्युक्ते सति श्रोता कश्चिद् गोलक्षणमर्थं गोत्वावच्छिन्नं सास्नादिमत्पिण्डं,–शब्दं च तद्वाचकं,–ज्ञानं च तद्ग्राहकं,–अभेदेनैव विनिश्चिनोति, ननु गोशब्दो वाचकः, गोरूपोऽर्थो वाच्यः, तद्ग्राहकं च ज्ञानं विषयीति,–भेदेनाऽध्यवस्यति, तेषामितरेतराऽध्यासप्रयुक्तपुरुषस्य भेदेन ग्रहाऽसंभवादिति ॥ इतरेतराऽध्यासो यथा–'केनचित्–कोऽयमर्थः,–कोऽयं शब्दः,–किमिदं ज्ञानम् ? इतिपृष्टः सर्वत्र सङ्कीर्णमेवोत्तरं ददाति–गौरित्यर्थः, गौरितिशब्दः, गौरिति ज्ञानमिति। इतरेतराध्यासेन तद्भेदान् ज्ञातुमशक्तः पुरुषः सङ्कीर्णमेकरूपमेवोत्तरं प्रयच्छति, अतस्तत्र त्रयाणामेकतत्त्वतयाऽध्यवसायः संकर इति। तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागो विवेकः–इदं

शब्दतत्त्वं यद्वाचकम्, इदमर्थतत्त्वं यद्वाच्यम्, इदं प्रत्ययतत्त्वं यद् ग्राहकमिति । तत्र प्रत्येकस्वरूपे संयमकर्तुर्योगिनः सर्वभूतप्राणिमात्राणां यानि रुतानि वाणीविशेषाणि तज्ज्ञानं भवति 'अनेन प्राणिना—एतदभिप्रायेणाऽयं शब्द उच्चारित' इति, योगजधर्मस्याऽचिन्त्यशक्तिकत्वाद् धर्माणां स्वसदृशफलसम्पादकत्वस्य स्वाभाविकत्वाच्च । अस्मदादीनां यद्यपि शब्दार्थप्रत्ययभेदसाक्षात्कारो भवति तथापि तस्य संयमाऽजन्यत्वान्न सर्वभूतरुतज्ञानं भवति, अस्य संयमसिद्धत्वादिति ॥ १७॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

संस्कारास्त्रिविधाः—अनुभवजन्याः संस्काराः स्मरणहेतवः, अविद्याजन्याः संस्काराः पञ्चक्लेशानां हेतवः, शुभाऽशुभकर्मजन्या धर्माऽधर्माख्याः संस्कारा जात्यायुर्भोगहेतव इति, तत्र देशकालनिमित्तानुभवैः प्राग्भवीयेषु संस्कारेषु संयमं कृत्वा योगी—'कोऽहमासं कीदृशश्चासमिति सर्वं प्राग्भवीयं स्ववृत्तान्तं जानाति, परेषाञ्च प्राग्भवीयत्रिविधसंस्कारेषु संयमकरणात् परेषां 'कोऽयमासीत् क चाऽऽसीत् कीदृशश्चासी'दिति सर्वं वृत्तान्तं जानाति । एवं वर्तमानकालिकेषु स्वपरसंस्कारेषु संयमकरणाद् वर्तमानकालीनं स्वपरवृत्तान्तं जानाति—''कोऽहमस्मि ? कथमेतच्छरीरलाभः ? सुखी दुःखी वेति' । कोऽयमस्ति ? कथमस्यैतच्छरीरस्थितिः ? धार्मिकोऽधार्मिको वाऽयम्''इति । एवं भविष्यत्काले ''कोऽहं भवितास्मि क कीदृशश्च, कोऽयं भविता क कीदृशश्चे''ति स्वपरवृत्तान्तं जानाति ॥ स्मर्यते चात्र पूर्वयोगिनामाख्यानम्—''भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्, अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति ? । भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—'दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति । भगवान् जैगीषव्य उवाच—विषयसुखाऽपेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्, कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव, बुद्धिसत्त्वस्याऽयं धर्मस्त्रिगुणस्त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति, दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः, तृष्णादुःखसन्तापाऽपगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति''॥ योगिनाऽस्मिकेनाऽपि भाविरामावतारवृत्तान्तः सर्वः पूर्वमेव निरूपितो रामायणे, वसिष्ठेन मुनिना च

दिलीपनृपतेर्वृत्तान्तः सर्वएव संयमेन दृष्टः सन्तानप्रतिबन्धकः कामधेनुशापात्मक इति । अतएव त्रिकालदर्शी योगवर्यमिति ख्यायते ॥ १८ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य—परचित्तस्य, संयमेन साक्षात्करणात्, योगी विविधविषयकं परचित्तं जानातीति, परमनोरथान् विजानात्यतो योगी अन्तर्यामीति ख्यायते ॥१९॥

ननु परस्य चित्तं यत्र यत्र विषये संलग्नं सोऽयं विषय आलम्बनं भवति, आलम्बनसहितं चित्तं सालम्बनमिति, एवं च यथा संस्कारसाक्षात्कारः—तदनुबन्धपूर्वजन्मसाक्षात्कारमाक्षिपति, एवमेव परचित्तसाक्षात्कारोऽपि सालम्बनसाक्षात्कारमाक्षिपति,—अत आलम्बनविशिष्टस्यैव परचित्तस्य संयमेन आलम्बनविशिष्टमेव परचित्तं साक्षात्कर्तुमुचितमिति चेत् !

## न तत्सालम्बनं तस्याऽविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

तस्य—परस्य यच्चित्तं, तत् सालम्बनं—स्वकीयेनाऽऽलम्बनेन सहितं न शक्यते योगिना ज्ञातुम्, परचित्ताऽऽलम्बनस्य योगिचित्ताऽविषयीभूतत्वाद् योगिचित्तेन परचित्तालम्बनस्याऽगृहीतत्वात्, योगिचित्तेन तु परस्य चित्तमात्रमवगम्यते न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमस्य चित्तमिति वा, यत्र न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम्, तस्मात्परस्य चित्तं निरालम्बनमेव गृह्यते योगिचित्तेन, किन्तु किमनेनाऽऽलम्बितमिति प्रणिधानं करोति यदा तदा योगी परचित्तस्याऽऽलम्बनीभूते विषयेऽपि संयमं कृत्वा तज्ज्ञानं प्राप्नोति, न तु पृथक् संयमं विनेति, परचित्तधर्मास्तु परचित्तमात्रसंयमादेव ज्ञायन्ते ॥ संस्कारसंयमस्तु सानुबन्धसंस्कारविषयः, अयन्तु परचित्तमात्रविषयइति न तद्दृष्टान्तं युक्तमिति ॥२०॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशाऽसंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

कायः—शरीरं,—तच्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकम्, तच्च रूपवत्तया चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयं भवति, अतो रूपे काचिद् ग्राह्यशक्तिर्विद्यते, योगी यदा स्वकायस्य रूपे संयमं करोति तदा रूपनिष्ठा या ग्राह्यशक्तिः सा स्तम्भ्यते, तेन योगिशरीरस्य रूपं तिरोभूतमिवाऽऽवृतं भवति, अतः परेषां चक्षुष्प्रकाशस्य—

नेत्रयुक्तः योगो न भवति स्वशरीरे, स्वशरीररूपं परस्य चक्षुर्विषयं न भवतीति यावत्, तेन भवति योगी–अदृश्य इति, तदन्तर्धानमुच्यते ॥२१॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति–

## सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

पूर्वकृतं यदायुर्विपाकं–तत्कर्म, तच्च द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं चेति । उपक्रमो नाम—व्यापारः, तेन सहितं सोपक्रमं–तीव्रवेगेन फलदमिति, यथा कलिकालीनप्रजासु बाल्ययौवनवार्धक्याद्यवस्थानां शीघ्रत्वेनाऽऽरम्भकमायुष्करं कर्मेति । तीव्रव्यापाररहितं च निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलप्रदम्, यथा सत्ययुगादिकालीनप्रजासु बाल्ययौवनवार्धक्याद्यवस्थानां विलम्बेनाऽऽरम्भकमायुष्करं कर्मेति । तथा च सोपक्रमकर्मणः संयमेन साक्षात्करणात्–शीघ्रमरणस्य ज्ञानं स्वस्य भवति, निरुपक्रमकर्मणः संयमेन साक्षात्करणाच्च विलम्बेन मरणस्य ज्ञानं भवतीति विवेकः । अपरान्तः प्रायणम्,–शरीरेण सहाऽऽत्मनो वियोग इति यावत्, तद्विषयकं ज्ञानं–'अमुष्मिन् कालेऽमुष्मिन् देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति, अरिवत् त्रासयन्तीत्यरिष्टानि मरणचिह्नानि, तानि च–आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकानि, तत्राऽऽध्यात्मिकानि–स्वशरीरान्तर्भावीनि,–यथा पिहितकर्णः कोष्ठस्य वायोर्घोषं न शृणोति, अङ्गुल्यादिना चक्षुषि आमिते सत्यपि वह्निकणतुल्यं ज्योतिर्न पश्यति–इत्येवमादीनि । आधिभौतिकानि यथा–अकस्माद् यमपुरुषान् पश्यति, अकस्माद् विकृतं कालपुरुषं पश्यति, अकस्माद् अतीतान् पितॄन् पश्यति, इत्येवमादीनि । आधिदैविकानि यथा–'दिवा तारागणं स्वर्गं पश्यति, सिद्धान्वा पश्यति, माहेन्द्रजालादि विनाऽपि पार्थिवं ग्रामनगरादि स्वर्गमभिमन्यते मनुष्यलोकमेव देवलोकमित्येवमादीनि ।

उक्तानि च चिह्नानि यथा–''चिह्नैर्जाग्रति च स्वप्ने जायमानैस्तु योगिना । मृतेः स्यात्सन्नमृत्युत्वं निश्चेतव्यमिहाऽऽदितः ॥ देवकर्म ध्रुवं शुक्रं तथा गुरुमरुन्धतीम् । आसन्नमृत्युः पुरुषच्छायां स्वस्य च नेक्षते ॥ सूर्यमग्निं शशाङ्कं च पश्येच्छिद्रतेजसं स च । द्वैरूप्यमपि चन्द्रादेर्वीक्षते ज्योतिषोऽम्बरे ॥ वान्तिमूत्रपुरीषाणि स्वर्णरूप्यनिभानि च । वृक्षानपि स्वर्णवर्णान्—आसन्नमृतिरीक्षते ॥ कर्दमे वालुकायां वा पदाकाऽर्धानि चात्मनः । छायां सच्छिद्रां पश्येच्च प्रतिबिम्बं स चाऽशिरः ॥ कृशः स्थूलो भवेद्यस्य देहः स्थूलोऽथवा कृशः । सदा तदपि विज्ञेयं मासमृत्युलक्षणम् ॥ देहकोष्ठदुर्गन्धो भवेद्यस्य च देहिनः । दहच्छवसगन्धो वा तस्यापि निकटे मृतिः ॥ यस्य च स्नातमात्रस्य हृदयं चरणावपि । शुष्कतां

प्राप्नुयात्तौ च स म्रियेताऽचिरेण वै ॥ यस्याशितं च पीतं च न किञ्चिदपि जीर्यते । करोति न गुणं किञ्चिदौषधं सोऽपि तादृशः ॥ स्यात्कालुष्यहृद्दाहो नासाश्रवणवक्रता । सर्वाङ्गसन्धिशूलानि भवेयुर्लक्ष्म तन्मृतेः ॥ भुक्त्वा तृप्तस्यापि भवेद् यस्य सद्यः क्षुदुद्भवः । दीपादिगन्धज्ञानं च न स्यात् सोऽप्यन्तिकान्तकः ॥ योऽन्यनेत्रे न पश्येत्स्वं पिधाय श्रवसी तथा । प्राणघोषं न शृणुयान्मृत्युस्तस्याऽविदूरतः ॥ इन्द्रियैर्गृह्यमाणानां विषयाणां पृथक् पृथक् । सदसत्त्वेन विज्ञानं न स्यात्तन्मृत्युलक्षणम् ॥ मेढ्रश्चर्मनाभिकार्ष्ण्यं दन्तानां चापि कृष्णता । प्रकृतेश्च विपर्यास आसन्नमृतिलक्षणम् ॥ पूज्यानामपमानश्च वार्तायाद्यग्रहणेषणा । इत्यादीन्यनगम्यानि मृत्युचिह्नानि जाग्रति ॥ तथा स्वप्ने च आरुह्य मर्कटवानरवाहनम् । खरं चोष्ट्रं व्रजेद्याम्यां दिशं तस्यान्तिके मृतिः ॥ गर्ते वा पतितः स्वप्ने प्रविशेद्वा हुताशनम् । विषमस्थाद् कर्दमे वा लग्नः स्यात्सोऽन्तिकान्तकः ॥ तैलाभ्यक्तः रक्तवासा जपाकुसुममाल्यधृक् । दक्षिणां यो दिशं गच्छेत्स्वप्ने तस्यान्तिके मृतिः ॥ इति लक्षणानि भवन्ति, तानि जानातीति ॥ यद्यप्ययोगिनामरिष्टेभ्यो मरणज्ञानं क्वचिद्भवति, तथापि संशयरूपम्, योगिनां तु नियतदेशकालं प्रत्यक्षवद् अव्यभिचारिज्ञानं भवतीति विशेषः ॥२२॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

आनन्दितेषु भूतेषु मैत्रीविषयकसंयमं कुर्वन् योगी सुखिषु सर्वत्र मित्रतां लभते, दुःखितेषु भूतेषु करुणाविषयकसंयमं कुर्वन् योगी दुःखितभूतेषु करुणाबलं लभते, पुण्यशीलेषु च मुदिताविषयकसंयमं कुर्वन् योगी पुण्यवत्सु मुदिताबलं लभते । या च पापशीलेषु–उपेक्षा कार्या, सा च मैत्र्याद्यभावरूपा, अतोऽभावरूपिण्यां तस्यां प्रतियोगित्वं विहाय संयमो नोपयुक्तः, प्रतियोगितया मैत्र्यादौ संयमे कृते तु तस्यामुपेक्षायां न संयमोऽपेक्ष्यते अत उपेक्षाविषयकसंयमो नाऽत्र निरूपित इति । केचित्तु–पापवत्सु–उपेक्षाविषयकसंयमं कुर्वन् योगी सकलाऽनर्हपदार्थेषु–सम्यगुपेक्षाबलं लभते' इत्यपि वर्णयन्ति ॥ २३ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्तिबले संयमं कुर्वन् योगी हस्तिबलो भवति, वैनतेयबले संयमं कुर्वन् वैनतेयबलो भवति, वायुबले संयमं कुर्वन् वायुबलो भवति, यमबले संयमं कुर्वन् यमबलो भवति, विराजपुरुषबले संयमं कुर्वन् विराजबलो भवति, परमेश्वरे

संयमं कुर्वन् परमेश्वरबलो भवति, एवमेव सामान्यप्रकृतिकार्यान्तर्गतबलेषु संयमं कुर्वन् तत्तद्बलवान् योगी भवतीति ॥ २४ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२५॥

प्रवृत्तिरुक्ता द्विविधा विषयवती ज्योतिष्मती चेति, तत्र विषयाः–शब्दादयस्तत्रैव प्रथमपादे–( ३५–३६ ) सूत्रयोरुक्ताः, तेषु संयमात्–शब्दादयो विप्रकृष्टाः सूक्ष्माः स्थूला अपि योगिना ज्ञायन्ते, एवं ज्योतिष्मती नाम्नी द्वितीया मनसः प्रवृत्तिः तस्याः सत्त्वप्रकाशात्मके आलोके संयमेन योगी मनोग्राह्याणां सूक्ष्माणां व्यवहितानां विप्रकृष्टानां च पदार्थानां ज्ञानं सम्पादयतीति ॥ २५ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्ये देवे संयमेन यत्र यत्र सूर्यकरा व्याप्नुवन्ति तत्तद्भुवनस्थानां यावतां पदार्थविशेषाणां ज्ञानं भवति, भूर्भुवःस्वर्गश्चेति लोकत्रयं सूर्यकिरणव्याप्तं भवति। एवमत्र–'महर्लोकज्ञानं प्रजापतिसंयमात्' 'जनतपःसत्यलोकज्ञानं ब्रह्मणि संयमात्' 'अतललोकज्ञानं बले संयमात्' 'वितललोकज्ञानं भवे ( हरे ) संयमात्' 'सुतललोकज्ञानं बलिसंयमात्' 'तलातलज्ञानं मये संयमात्' महातलरसातलपातालज्ञानं शेषे संयमादि'तिबोध्यम् ॥ अथ ब्रह्माण्डस्य वर्णनम् ॥ ब्रह्माण्डमिदं चतुर्दशभुवनान्युदरीकृत्य व्यवस्थितमण्डाकारं स्थिरञ्च, तत्र–( १ ) सर्वभुवनानां शिरोभूतः श्रेयःप्रचुरो ब्रह्माण्डस्योपरिभूमिरूपः–'सत्यलोको' विद्यते यत्र देवानां चातुर्विध्यं भवति १–अच्युतदेवाः। २–शुद्धनिवासदेवाः। ३–सत्याभदेवाः। ४–संज्ञासंज्ञिनो देवाः। ते सर्वेऽपि सर्गपर्यन्तमायुष्मन्तः सन्तः सत्यलोकस्थान् सर्वान् दिव्यविभूतिसुखभोगविलासाननुभवन्ति, स्वयं दिव्या विभूतयश्च दिव्या इति, सर्गो नाम–ब्रह्मणःशतवर्षसमयः॥ ( २ ) सत्यलोकाऽधोभागे 'तपोलोको' विद्यते, यत्र–आभास्वराः,–महाभास्वराः,–सत्यमहाभास्वराः–इति त्रिविधा देवा वसन्ति, तत्र सत्यमहाभास्वराणां सर्गपर्यन्तमायुः, तदर्धं महाभास्वराणाम्, तस्याप्यर्धमाभास्वराणाम्, ते च सर्वेऽप्यूर्ध्वरेतसो दिव्यविभूतिभोगभोगिनश्चेति ॥ ( ३ ) तपोलोकाऽधोभागे 'जनलोको' विद्यते, यत्र–ब्रह्मपुरोहिताः, ब्रह्मकायिकाः, ब्रह्ममहाकायिकाः,–अमराः,–इत्येवं चतुर्विधो देवनिकायोऽस्ति, तत्र–अमराणां सर्गपर्यन्तमायुः, तदर्धं ब्रह्ममहाकायिकानाम्, तदर्धञ्च ब्रह्मकायिकानाम्, तदर्धञ्च ब्रह्मपुरोहितानामिति, तत्र विभूतिभोगाः स्वसंकल्पानुसारभाविनो दिव्याः सन्तीति, एतेषु त्रिषु लोकेषु ब्रह्मणो मानसिकी सृष्टिः, तत्र च स्वयंप्रकाशोविद्यते,

पुण्यपुञ्जेन तेजस्विनइति ॥ ( ४ ) तदधोभागे 'महर्लोको' विद्यते, अस्मिन् प्राजापत्ये लोके—कुमुदाः, ऋभवः,–प्रतर्दनाः,–अञ्जनाभाः,–प्रचिताभाः,–इति पञ्चविधो देवनिकायोऽस्ति, एते सर्वे सहस्रकल्पाऽऽयुषः–ब्रह्मणः सहस्रदिवसायुष इत्यर्थः, तत्र लोके स्वर्गमित्यं स्त्रीविभूत्यादिकं सर्वमपि दिव्यं विद्यते, तत्र च स्वयं प्रकाशो विद्यते, न एते सूर्यप्रकाशाऽनपेक्षमाणाः सन्तीति । ( ५ ) तदधस्तात्—'स्वर्गलोको विद्यते, यत्रेन्द्रो देवराजः, तत्र षट् देवनिकायाः–यथा—त्रिदशाः–अग्निष्वात्ताः, —याम्याः,—तुषिताः,–अपरिनिर्मित-वशवर्त्तिनः,—परिनिर्मितवशवर्त्तिनः,— इति च, सर्वेऽपि संकल्पसिद्धा अणिमा-द्यैश्वर्यसम्पन्नाः कल्पायुषः दिव्योत्तमाऽनुकूलाभिरप्सरोभिः कृतविहारा दिव्याः सन्ति, पुण्यवन्तोऽपि सूर्यप्रकाशाऽधीनप्रकाशवन्त इति विद्यन्ते ॥ ( ६ ) तद-धोभागे 'भुवर्लोको' विद्यते, यत्र ग्रहनक्षत्रतारका ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्ष्यप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा दिवि विद्योतन्ते, यावत्पुण्यं ताव-दायुष्मन्तो यौवनमात्राऽवस्था दिव्यविभूतिस्त्रीसामग्र्यादिभोक्तारो सुखानयो-गिनस्ते सन्ति, सूर्यतेजसा तेजस्विनश्चेति । ( ७ ) तदधोभागे 'भूलोको' विद्यते यस्य–'सप्तद्वीपा वसुन्धरा'–इति ख्यातिः । यस्य मध्ये प्रदेशे 'सुमेरुः' काञ्चनपर्वत-राजो विद्यते, तस्य—राजत–वैदूर्य—स्फटिक–हेममणिमयानि शृङ्गाणि सन्ति, तत्र वैदूर्यप्रभानुरागात् नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः; पूर्वः श्वेतः, पश्चिमः स्वच्छः, उत्तरः कुरण्टकाभ इति । तस्य उदीचीना—नील–श्वेत–शृङ्ग-वन्त इतित्रयः पर्वता मर्यादाकरा द्विसाहस्रायामाः सन्ति, तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि—'रमणकं हिरण्मयं उत्तराः कुरवः—इति संज्ञकानि सन्ति ॥ ( ८ ) मेरोर्दक्षिणभागे निषध–हेमकूट–हिमालया इति त्रयः पर्वता मर्यादाकरा द्विसाहस्रायामाः सन्ति, तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि—नवनवयोजन-साहस्राणि–'हरिवर्षं किंपुरुषं भारतञ्चेति संज्ञकानि सन्ति । मेरोः पूर्वदिशायां 'माल्यवन्नामा सीमा–शैलो द्विसाहस्रायामो विद्यते, तदन्तरे 'भद्राश्व'नामखण्डः संस्थितोऽस्ति, मेरोः पश्चिमभागे'गन्धमादन'नामसीमापर्वतो द्विसाहस्रायामो-विद्यते, तदन्तरे 'केतुमाल'नामखण्डः संस्थितोऽस्ति, अथ च मेरुपर्वतं परिवेष्ट्य तत्समन्तात्—'इलावृत'नामखण्डः अष्टखण्डानां मध्यप्रदेशात्मक इति विद्यते, सोऽयं नवखण्डात्मको 'जम्बुद्वीपः' शतसाहस्रायामोऽस्ति, स च जम्बुद्वीपः समपरिमाणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, अयं लवणोदधिश्च स्वापेक्षया द्विगुणेन द्विलक्षयोजनायामेन 'प्लक्ष' द्वीपेन वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, स चाऽयं 'प्लक्ष'द्वीपः—द्विलक्षयोजनाऽऽया-मेन 'इक्षुरसोदधि'ना वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, 'इक्षुरसोदधि'श्च स्वाऽपेक्षया

द्विगुणेन चतुर्लक्षयोजनायामेन 'शाल्मलि'द्वीपेन वेष्टितोऽस्ति । शाल्मलिद्वीपश्च चतुर्लक्षयोजनायामेन 'सुरोदधि'ना वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, सुरोदधिश्च स्वापेक्षया द्विगुणेन अष्टलक्षयोजनायामेन 'कुश'द्वीपेन वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, कुशद्वीपश्च अष्टलक्षयोजनायामेन 'घृतोदधि'ना वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, घृतोदधिश्च स्वापेक्षया द्विगुणेन षोडशलक्षयोजनायामेन 'क्रौंच'द्वीपेन वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, क्रौंचद्वीपश्च षोडशलक्षयोजनायामेन 'क्षीरोदधि'ना वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, क्षीरोदधिश्च स्वापेक्षया द्विगुणेन द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामेन 'शाक'द्वीपेन वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, शाकद्वीपश्च द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामेन 'दधिमण्डोदधि'ना वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, दधिमण्डोदधिश्च चतुःषष्टिलक्षणयोजनायामेन 'पुष्कर'-द्वीपेन वलयाकृतिना वेष्टितोऽस्ति, वर्षद्वयविभाजकवलयाकारमानसोत्तरपर्वतसहितस्य पुष्करद्वीपस्य समन्तात् चतुःषष्टिलक्षयोजनायामः 'सुधोदक'समुद्रः, एवं द्वीपानामुत्तरोत्तरं द्वैगुण्यमनुसन्धेयम् प्लक्षद्वीपादयः पञ्च सप्तसप्तवर्षात्मकाः, वर्षद्वयविभाजकवलयाकारमानसोत्तरपर्वतसहितः सप्तद्वीपात्मकोऽयं पुष्करद्वीपः द्विगुणीकृतया एककोट्यष्टाविंशतिलक्षयोजनायामया काञ्चनभूम्या समावृतः, सा भूमिस्तु लोकालोकपर्वतेन, पर्वतस्त्वन्धतमसा, तदन्धतमः गर्तोदकेन, तद्–अण्डकटाहेन, विस्तरस्तु विष्णुपुराणादवसेयः ॥ ( ८ ) अथ भुवोऽधोभागे 'अतल-लोको' विद्यते, यत्र मयराक्षसपुत्रो बलराजाऽस्ति, स्वैरिणी-कामिनी-पुँश्चलीरूपा माया व्याप्ताऽस्ति, मणीनां प्रकाशो विद्यते ( ९ ) तदधोभागे–'वितललोको' विद्यते, यत्र 'भवः' हरः राजा विद्यते, तत्र भूतगणानां निवासाः सन्ति, मणीनां प्रकाशश्च ॥ ( १० ) तदधोभागे–'सुतललोको' विद्यते यत्र 'बलिनामा' राजाऽस्ति, यक्षराक्षसादिनिवासाः सन्ति, मणीनां प्रकाशश्च ( ११ ) तदधोभागे 'तलातल'-लोको विद्यते, यत्र 'मय'नामा दानवेन्द्रो राजाऽस्ति, निशाचराणां तत्र निवासाः सन्ति, मणीनां प्रकाशश्चेति । ( १२ ) तदधोभागे 'महातललोको' विद्यते, यत्र कुहक–तक्षक–कालीय–सुषेणादिभुजंगानां निवासाः सन्ति, मणीनां प्रकाशश्च ॥ ( १३ ) तदधोभागे 'रसातललोको' विद्यते, तत्र दैतेयदानवानां निवासाः सन्ति, मणीनां प्रकाशश्च ॥ ( १४ ) तदधोभागे 'पाताललोको' विद्यते, यत्र वासुकि–शङ्ख-कुलिकादिमहाशेषाणां निवासाः सन्ति, मणीनां प्रकाशश्चेति ॥ तदेतत् सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डं विराट्पुरुषस्याऽणुरवयवो यथाऽऽकाशे खद्योत इति, तदेतद् ब्रह्माण्डं चतुर्दशभुवनात्मकं पञ्चाशत्कोटियोजनायामं[1] गीयते शास्त्रैरिति, ब्रह्माण्डा-न्तर्गता जीवा इत्युच्यन्ते ॥❀॥ ब्रह्माण्डं चाऽष्टावरणवेष्टितं भवति, अतः—

१ अत्र पञ्चाशत्कोटिपदेन पञ्चाशदर्बुदानि ज्ञेयानि, अर्बुदस्य दशकोटिवाचकत्वात्, उक्तं च–'एकं दश शतं चैवे'त्यादि' संख्यागणने । अतः पञ्चाशदर्बुदानां पञ्चवृन्दानि, पञ्चाशद्वृन्दानां पञ्चखर्वाः,

## ❀ आवरणज्ञानं तत्र तत्र संयमात् ❀

तद्यथा–प्रथमं पृथिव्या आवरणं तु पञ्चाऽर्बुदपरिमितब्रह्माण्डस्योपरि ततो दश-गुणं पञ्चखर्वयोजनायामं विद्यते, तच्च शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-गुणयुतं भवति। तदुपरि द्वितीयं 'जलावरण'मस्ति, तत् पृथिव्यावरणतो दशगुणं पञ्चखर्वयोज-नायामं वलयाकृतिना संस्थितमस्ति, तच्च शब्दस्पर्शरूपरसगुणयुतं भवति। तदु-परि तृतीयं 'तेज आवरणं' वर्तते, तच्च जलतो दशगुणं पञ्चनिखर्वयोजनायामं वलयाकृति विद्यते, तच्च शब्दस्पर्शरूपगुणयुतं भवति। तदुपरि चतुर्थं 'वाय्वावरण-मस्ति, तेजसावरणाऽपेक्षया दशगुणं पञ्चशंखयोजनायामं भवति वलयाकृति, तच्च शब्दस्पर्शगुणयुतं भवति। तदुपरि पञ्चमं 'महदाकाशावरणं' भवति, तच्च वायुतो दशगुणं पञ्चपद्मयोजनायामं संस्थितं वलयाकृति, तच्च शब्दगुणयुतं भवति। तदुपरि 'अहंकारावरणं' विद्यते, यद् आकाशतो दशगुणं पञ्चसागरयोजना-यामं वलयाकृति च भवति, तच्च 'अभिमानगुणयुतं च भवति। तदुपरि 'महत्त-त्त्वावरणं' विद्यते, बुद्ध्यावरणं तदेव कथ्यते, तच्चाहंकारतो दशगुणं पञ्चान्त्ययो-जनायामम् अध्यवसायगुणयुतं च भवति। तदुपरि त्रिगुणात्मिकाया मायाया आवरणं विद्यते। तदिदमष्टमं गाढतम इत्यभिधानकं भवति, यस्य रूपं भृङ्गवर्णं, तच्च महत्तत्त्वापेक्षया दशगुणं पञ्चमध्ययोजनायामं भवति। तानि च सर्वाणि स्व-न्यूनदेशावस्थितान्यावरणान्युदरीकृत्य व्यापकत्वेन नारिकेलफलत्वग्वदवस्थिता-नीति, अष्टमावरणं चेदं प्रकृतिलोक इति गीयते, तच्च सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकम्, एतेष्वष्टावरणेषु प्रकृतिलयास्तिष्ठन्ति। विदेहाख्याऽपि तिष्ठन्तीति केचित्। प्रकृतिलयानां जीवान्तर्गतत्वमिति केषाञ्चिन्मतम्, केषाञ्चिदीश्वरान्तर्गतत्वमिति मतम् ॥ ❀ ॥

## ❀ ईश्वरलोकज्ञानं तत्र तत्र संयमात् ❀

अथेश्वरस्थानानि वर्ण्यन्ते।

अष्टावरणात्मकः प्रकृतिलोकः–मायायाः स्थानरूपः, स एव प्रथमं मायिकं स्थानमिति तच्चाऽनित्यम् ॥ तत्र ये ये पृथिवीजलतेजोवायुगगनात्मकमिदं शरी-रमेवाऽऽत्मानमभिमन्यमानाः चार्वाका नास्तिकाः, अथच–शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा-त्मकपञ्चतन्मात्राण्यात्मत्वेनाऽभिमन्यमाना अधमनास्तिकाः;–अथच–प्राणापानस-मानव्यानोदानादिवायूनात्मत्वेनाऽभिमन्यमानास्तदुपासका हिरण्यगर्भोपासका महा-

---

पञ्चाशत्खर्वाणां पञ्चनिखर्वाः, पञ्चाशन्निखर्वाणां पञ्च शंखाः पञ्चाशच्छंखानां पञ्च पद्माः, पञ्चाशत्पद्मानां पञ्च सागराः, पञ्चाशत्सागराणां पञ्चान्त्यानि, पञ्चाशदन्त्यानां पञ्च मध्यानि, पञ्चाशन्मध्यानां पञ्च परार्धानि, इति बोध्यम् ॥

नास्तिकाः,–अथ–च श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थात्मकानीन्द्रिया- ण्यात्मत्वेनाऽभिमन्यमाना घोरनास्तिकाः,–अथ च–मन एवात्मेतिमन्तारो विद्वन्- नास्तिकाः,–तथा–अहंकारमेवात्मानं मन्यमानाः स्वप्ननास्तिकाः–तथा बुद्धिं क्षणि- कविज्ञानात्मिकामेवाऽऽत्मानमभिमन्यमानाः क्षणिकविज्ञानोपासका बौद्धना- स्तिकाः–वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकाः,–तथाऽन्येऽप्यर्धनास्तिकाः–ते ते सर्वे तत्र तत्रैव प्रकृतिलयात्मिकां सान्तां मुक्तिं लभन्ते । प्रकृतिलयाश्च पूर्वम् वर्णिता एव । तत्प्रकृतिलयेषु संयमं कुर्वन् योगी तत्तल्लोकस्थितिं जानातीति । सैषा मायालोके प्रकृतिलयात्मिका मुक्त्याभासरूपा मुक्तिरिति ख्यायते ॥❀॥

## ❀ आलोकाकाशज्ञानं विराट्संयमात् ❀

दशकमष्टावरणात्मकमण्डं परिवेष्टयित्वा चिदाकाशस्तिष्ठति, स एवाऽऽलोकाकाशः, स एव विराट्पुरुषस्य लोकः, अत एव विराट्स्वरूपमालोकाकाशश्चेत्यभिन्नं तत्त्वम् । तत्र च विराड्रूपं मूर्तिमत् पुरुषाकृत्यपि विराजते, 'ततो विराडजायत' इत्यादि- वेदमन्त्रैर्महाविष्णुतो विराट्स्वरूपस्योत्पत्तिवर्णनात्, अत एव च–यथा लोके स्थूल- सूक्ष्मकारणमहाकारणानीति–शरीरचतुष्टयं विद्यते, तथा महाविष्णोरपि–विराट्सूत्रा- त्माऽव्याकृतमहाकारणानीति चत्वारि शरीराणि विद्यन्ते, तन्मध्यतो विराट्पुरुषः स्थूलशरीरमिति बोध्यम्, स एव विराट्पुरुषः 'अतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' इत्यादिमन्त्रैः इदं दशाङ्गुलपरिमितं ब्रह्माण्डमावृत्य स्थितोऽस्तीति वर्ण्यते, तेन–विराट्पुरुषस्य– आलोकाकाशो नाम लोकः 'अष्टमावरणतो दशगुणो विस्तृतः–पञ्चपरार्धयोजनायामो विवक्षितः, अष्टमावरणस्योपरि दशसु दिक्षु व्याप्त इति, तत्रत्यदेवस्य–विराड्–नारा- यण–स्वर्णवर्णपुरुष–हिरण्यपुरुष–वैराजनारायण–महाभूम्यनन्तभगवदक्षयपुरुषा,ऽ- नामयपुरुषस्वरूप–वेदनारायणा,ऽर्धन्द्वेवे–त्यादीन्यभिधानानि सन्ति, तत्तच्छास्त्रा तदुपासकानां विराट्स्वरूपप्राप्तिः, तेषामालोकाकाशो नाम लोको मोक्षस्थानमिति, इयं चैश्वरीयसृष्टिरिति ॥❀॥

## ❀ कैलासज्ञानं शिवलिङ्गज्योतिःसंयमात् ❀

अथ विराड्लोकमावेष्ट्य–तदुपरि मुक्तिस्थानं 'कैलासाऽभिधानं–निराकार- चिन्मयाकाशाऽपराभिधानं व्यवस्थितमस्ति, तच्च विराड्लोकाद् दशगुणमधिकं– पञ्चपरार्धयोजनायाममस्तीति, तन्महाविष्णोः सूक्ष्मं शरीरं–सूत्रात्मा, इदं च महाविष्णुतो जायमानाऽहंकारात्मकनादरूपध्वनिना गर्जायमानमस्ति, तत्र च दिव्यं शिवलिङ्गाकारं ज्योतिरस्ति, तत्समीपे च पञ्चमुख्या स्त्रिया सहितोऽहंकार- पुरुषो मूर्तिमान् विराजते, स चाऽणिमैश्वर्यदात्र्यादिभिः संसेवितोऽस्ति, तत्र च

दिव्या साकृतिर्गायत्री देवी दिव्यसाकृतयश्चत्वारो वेदाश्च शिवलिङ्गज्योतिषो वन्दनां कुर्वन्ति, शिवलिङ्गज्योतिषः–शब्दब्रह्म–प्रणवब्रह्मों–कारब्रह्म–मृत्युञ्जयशिव–महाशिवब्रह्मशिव-सदाशिव–महादेवो–मापति–शम्भु–पिनाकीशानेश्वर–त्रिलोचनशिवविरूपाक्ष-धूर्जटि-गिरीशाऽनन्तशिवैकरुद्र-महारुद्रादीन्यनेकानि नामानि सन्ति, तत्तन्नाम्ना तदुपासकानां तदेव मुक्तिस्थानमिति, सोऽयं शिवः प्रतिब्रह्माण्डं नन्दीश्वरमहादेवनाम्ना प्रख्यात इति, एवं–व्यापकब्रह्म–पशुपति–नकुलीशमहेश्वर–सिद्धेश्वर–सोमनाथ–विश्वनाथ–त्र्यम्बकेश्वर – त्रिशूलपति–भैरवेश्वर–रत्नेश्वरचिन्मयपुरुष–मनब्रह्म–महानाद–निरञ्जन–निर्गुणब्रह्म–निराकारब्रह्म–शून्यमयब्रह्म-जङ्गमशिव–लिङ्गायतनशिवनारायण–मल्लिकार्जुनशिवादिविशेषनामभिः ख्यातः–इतितत्तदाख्यया तदुपासकानांतदेव मुक्तिस्थानं कैलासमिति, तत्र तेषां शिवलिङ्गज्योतिःस्वरूपस्यप्राप्तिरिति भवति ॥ अस्य च निराकारचिन्मयाकाशस्य चतुर्थांशप्रदेशो धर्मराजद्वीप इति प्रोक्तः, तत्र च या पञ्चमुखी स्त्री कालपुरुषश्च तयोः प्रभावेणाऽऽच्छादितं चैतन्यम्, तत्र कालपुरुषो धर्मराजः–प्राणिनां पुण्याऽपुण्यफलविवेक्ता भवति । अथ शिवलिङ्गं ध्यायमाना पञ्चमुखी स्त्री दिव्यरूपा नवलकिशोरी स्वयं शान्ता सत्त्वगुणस्वभावप्रकाशस्वरूपा तमोमयं तच्छिवलिङ्गं बिभ्रती संस्थिताऽस्तीति, सा चाऽपरिमितदिव्यशक्तिभिः संसेविता विद्यते, ताश्च शक्तयः-महाकाली-भैरवी-चण्डी-दुर्गाऽन्नपूर्णा-योगिनी-ब्रह्मचारिणी–सरस्वती–भद्रेश्वरी–शाक्तेश्वरी–धीरेश्वरी–योगीश्वरी–गौर्युमाऽम्बा-विन्ध्येश्वरी-हिंगलाज–भूतेश्वरी–योगिनीत्यादिरूपाः पार्वतीशक्तयः प्रसिद्धाः सन्ति, ताश्च तमोगुणप्रभावाः भवन्ति, तत्तन्नामभिर्देव्युपासकानां तत्र कैलासे मुक्तिलब्धिरिति, तत्तद्देवीस्वरूपमिष्टत्वेनाऽऽप्नुवन्तीति ॥ अथ च कैलासे यः कालपुरुषः स शिवगणैभैरवादिभिर्वीरैश्च सेवितः, तेषामुपासकानां तत्रैव कालपुरुषाधीनो वास इति ॥ अस्मिन्निराकारचिन्मयाकाशे कैलासप्रदेशे महादेवगणानां स्वतन्त्रस्थानानि विद्यन्ते, गणपतिस्थानानि भैरवादिस्थानानि च विद्यन्ते, तेषां तेषामुपासकानां तत्तस्थानप्राप्तिः, तत्तद्देवप्राप्तिश्चेति ॥

अथ पञ्चमुखी स्त्री कालपुरुषश्चेत्युभौ–जडचेतनग्रन्थिरिति ख्यायते, अथ तत्र ज्ञानशक्तिगायत्री च–अप्रमेयश्वेतशीतलप्रकाशपरिपूर्णा चतुर्विंशतिसहस्रशक्तिभिः सेविता ब्रह्मविद्याभिः परिपूर्णा दशमहाविद्यानां क्षेत्रीभूता वेदचतुष्टयं पोषयन्ती मूर्तिमती स्फटिकप्रभःवज्रासमाने दिव्यमन्दिरान्तःसिंहासने विराजते ॥ अथ पञ्चमुख्याः स्त्रियाश्चतुर्भिर्मुखैः क्रमशो–ब्रह्मविद्याकर्मविद्याऽज्ञानविद्याघोरनिद्राः समुत्पद्यन्ते, याः संसारे क्रमश उपनिषद्-व्यवहारा-ऽविद्या-सुषुप्तिनिद्रारूपा विख्याताः सन्ति, अथ च पञ्चमेन मुखेन तु केवलं शिवस्वरूपवन्दनमेव करोति सेति, तत्र तत्र संयमात् तत्तज्ज्ञानं जायत इति ॥७॥

## ❀ सत्त्वस्वभावाकाशज्ञानं विष्णुसंयमात् ❀

तदेतत्कैलासं निराकारचिन्मयाकाशाख्यं वलयाकृतिना परिवेष्ट्य संस्थितः 'सत्त्वस्वभावाकाशो नाम 'विष्णुलोकः'—महाविष्णोः कारणशरीरात्मकोऽव्याकृताऽभिधान इति, स च निराकारचिन्मयाकाशतो दशगुणोऽधिकः पञ्चशतपरार्धयोजनायामो विद्यते, अत्र लोके विष्णोर्दिव्यं किशोरस्वरूपं लक्ष्मीयुतं भाति, सोऽयं विष्णुः—अव्याकृतपुरुषाऽऽनन्दकाल—प्रत्यभिमानि—निजनारायण—विष्णुब्रह्म—अनीह-ब्रह्म-भूमापुरुषादिसंज्ञाभिः ख्यायते ॥ अस्मिन् विष्णुलोके सप्तसरोवराणि चैतन्यमयानि प्रत्येकं लक्षतिपरार्धयोजनायामानि सन्ति, प्रत्येके तत्र—आनन्दमयाऽनन्तरूपविरूपशीतलतेजस्तरङ्गाः प्रादुर्भवन्ति, मधुरस्वरतरङ्गतरणयो रागरागिण्यश्च समुद्भवन्तीति, तत्र च विष्णोः सेवायां लक्ष्मीः, सुमङ्गला, वास्तविनी, अनिर्वचनीया, तुष्टिः, शिवकल्याणी, उन्मुनी, इति सप्त महाप्रबलाः शक्तयः सन्ति, एकैकया सह विष्णुः सप्तचैतन्येषु सप्तरूपैर्विराजते, तत्र प्रथमचैतन्ये चतुर्भुजमूर्तिः शङ्ख-चक्र-गदा-पद्माऽऽयुधो मुकुटकौस्तुभादिसहितो लक्ष्मीशक्तिसंसेवितः सन् लक्ष्मीपतिर्विष्णु'रिति ख्यातो विराजते, तत्सेवायामनेकैश्वर्याणि शक्तयश्चानेकाः सन्ति ॥ द्वितीये चैतन्ये 'सुमङ्गला' शक्तिसहितो विष्णुः—'प्रधानपुरुष' इति ख्यायते, तत्र भोगविलासाश्चैतन्यमया दिव्या इति ॥ तृतीये चैतन्यप्रदेशे 'वास्तविनी'-शक्तिसहितो विष्णुः 'भूमापुरुष' इति ख्यायते, यदिदं तृतीयं चैतन्यं विष्णोर्विहारभूमिरिति तत्रोद्यानमण्डपादयो दिव्याः सन्तीति ॥ चतुर्थे चैतन्ये 'अनिर्वचनीया' शक्तिसहितो विष्णुः—'अष्टभुज-चतुर्मुखाऽष्टपादाकृतिर्विराजते, स्वस्वामिनं महाविष्णुमुपासते, तदिदं 'चैतन्यं चैतन्यप्रभा'नामकं भवतीति ॥ पञ्चमे चैतन्ये 'तुष्टि'शक्तिसहितो विष्णुर्निराकारस्वभावस्तुष्टिशक्त्या संतोषी न भोगमावृत्ते, तत्र निराकृतिः प्रज्वलायमानशीतलप्रकाश एवाऽस्ति न तत्र स्वरूपं भासते, अतो 'निराकारमुक्ति'रिति ख्यातं तत्स्थानं विद्यते, तत्तदुपासकानां तद्धाम इति ॥ षष्ठे चैतन्ये—'शिवकल्याणी' शक्तिसेवितो विष्णुः साकारदिव्याकृतिर्दिव्यभोगविलासान्वितो विराजते, यस्य तत्र 'ईशानदेव' इति संज्ञाऽस्ति, कुमारिकाणां च मुक्तिस्थानमिदम्, तदेव च 'दयालुदेश' इति ख्यातम्, तत्र च विष्णु'राधास्वामी'तिख्यातो भवति ॥ अथ सप्तमे चैतन्ये 'उन्मुनी'-शक्तिसहितो विष्णुः—'अल्लारूपेण' विख्यातः पेगम्बरैः संसेवितोऽस्ति, उन्मुनीशक्तिरपराभिरनेकदिव्यशक्तिभिः सर्वदा परिवृताऽस्ति, तदिदं सप्तचैतन्यपरिबृंहितं विष्णुलोकप्रस्थानमिति बोध्यम्, तत्र तत्र संयमात् तत्तज्ज्ञानं भवति ॥❀॥

## ❀ अवतारधामज्ञानं महाविष्णुसंयमात् ❀

स चायं विष्णुलोकं सत्त्वस्वभावाकाशं वलयाकृतिना परिवेष्ट्य दशदिक्षु व्याप्तस्ततो दशगुणोऽधिकः—पञ्चसहस्रपरार्धयोजनायामो महाविष्णोश्चतुर्थमहाकारणशरीरात्मकः 'अमृतमयाकाशोऽमृतलोक' इति प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽयमपि मुक्तिस्थानरूप इति, अत्र महाविष्णुः स्वयं मूर्तिमान् महालक्ष्मीसेवितो विराजते, इयं च लक्ष्मीः—'महाकारणमाया' इति ख्यायते, सा चाऽनन्तदिव्यैश्वर्यशक्तिभिः संसेविताऽस्ति, महाविष्णुश्चाऽनया महालक्ष्म्या सह संसारे अवताररूपैः प्राविर्भवति, सोऽयं विष्णुः षोडशकलाभिः पूर्ण इति, अमृतमयोऽयं प्रदेशो—'यथा यावत्तारागणाः सूर्याः स्युः पृथिवी च सहस्रकाचमयी स्वर्णमणिमयी च स्यात् तेषां प्रकाशादप्यतिक्रमणशीलप्रकाशवान् तेजःपुञ्जमय इति विद्यते, दिव्यमणिमौक्तिकादिजडितदिव्यसिंहासनादिमन्दिरादिविभूतयः सन्ति, तत्रत्यमुक्तपुरुषा दिव्यचैतन्यमयविग्रहाः सन्तीति ॥ तदेतस्मिन् सत्यस्वरूपे ऽमृतमयलोके पञ्चविंशतिद्वीपाः प्रत्येकं द्विशतपरार्धयोजनायामा विभक्ता व्यवस्थिताः सन्तीति ॥ तत्र प्रथमे चैतन्यद्वीपे 'कृष्णरूपो' महाविष्णुः स्वयम् आदिपुरुष आदिनारायणः प्रकृतिपुरुषश्चेतिख्यातः सन्ननेकदिव्यशक्तिसहितो राजते, तत्प्रथमद्वीपस्याऽभिधानम् 'आदिगोलोक' इति ॥ अथ द्वितीये द्वीपे महाविष्णोः सीतारामस्वरूपं हनुमत्कपीश्वरादिसंसेवितं विद्यते तत्राऽनन्तैश्वर्यानन्तशक्तयो विद्यन्ते, अस्याऽभिधानं 'वैकुण्ठलोक' इति । अथ तृतीये द्वीपे श्वेतस्वरूपो नारायणः शेषशरीरे विराजते, सहस्रभोगोऽयं शेषः पर्यंकरूपस्तत्र महाविष्णुः विराजितः सन् 'शेषनारायण' इति संज्ञां लभते, तत्र च निरन्नमुक्ता निवसन्ति ते च 'तापसेश्वरा' इत्युच्यन्ते, अस्य तृतीयद्वीपस्याऽभिधानं 'श्वेतद्वीपधाम' इति । अथ चतुर्थे द्वीपे दिव्यबदरीतरुवरमाश्रित्य नरनारायणरूपो महाविष्णुर्दिव्यविभूतिसहितोऽपि तापसेश्वररूपतपस्विभिः सेवितो विराजते, तदिदं बदरिकाश्रमधामेति अथ पञ्चमे द्वीपे—'कपिलरूपो' महाविष्णुर्ब्रह्मविद्याशक्तिसहित आसुरिपञ्चशिखेश्वरकृष्णादिभक्तवृन्दैः सेवितो विराजते, तदिदं कपिलाश्रमधामे'ति ॥ अथ षष्ठे द्वीपे पृथुराजरूपो—महाविष्णुः पृथ्वीभक्तसेवितोऽनन्तशक्तियुतः सन् विराजते, तदिदं 'पृथुराजधाम' बोध्यमिति । अथ सप्तमे द्वीपे 'दत्तात्रेय' रूपो महाविष्णुर्नवनाथसेवितोऽनन्तमुक्तमण्डलसेवितो विराजते, तदिदं 'दत्तात्रेयभगवद्धामे'ति । अथाऽष्टमे द्वीपे—'ऋषभदेवरूपो—महाविष्णुर्जडभरतादिभक्तवृन्दसंसेवितो विराजते, तदिदं 'ऋषभदेवभगवद्धामे'ति । अथ नवमे द्वीपे—'वामनभगवत्स्वरूपो' महाविष्णुर्बलिराजादिमुख्यभक्तराजैः संसेवितो विराजते, तदिदं 'वामन-

भगवद्धामे'ति । अथ दशमे द्वीपे-'परशुरामभगवत्स्वरूपो महाविष्णुर्दिव्यपरशुपाणिः सन् विराजते, तदिदं 'परशुरामभगवद्धामे'ति । अथैकादशे द्वीपे 'सनत्कुमारभगवत्स्वरूपो' महाविष्णुः स्वाऽनन्तभक्तैः सेवितो विराजते, तदिदं 'सनत्कुमारभगवद्धामे'ति । अथ द्वादशे द्वीपे 'वेदव्यासभगवत्स्वरूपो'महाविष्णुर्विराजते, तदिदं वेदव्यासभगवद्धामे'ति । अथ त्रयोदशे द्वीपे 'बुद्धभगवत्स्वरूपो' महाविष्णुः स्वाऽगणितभक्तैर्जुष्टः सन् विराजते, तदिदं 'बुद्धभगवद्धामे'ति । अथ चतुर्दशे द्वीपे 'कल्किभगवद्रूपो' महाविष्णुः-हरिदश्वसत्ययुगादिभक्तैः संसेवितो विराजते, तदिदं 'कल्किभगवद्धामे'ति । अथ पञ्चदशे द्वीपे 'मोहिनी'स्वरूपं धृतवान् महाविष्णुर्विराजते, तदिदं 'मोहिनीभगवद्धामे'ति । अथ षोडशे द्वीपे 'यज्ञमूर्ति'स्वरूपो महाविष्णुः साकारदिव्ययज्ञाहुतिभिर्जुष्टः सन् विराजते, तदिदं यज्ञावतारभगवद्धामे'ति । अथ सप्तदशे द्वीपे 'धन्वन्तरिभगवत्स्वरूपः' स महाविष्णुर्मूर्तिमदौषधिभिर्दिव्यैः संसेवितो विराजते तदिदं 'धन्वन्तरिभगवद्धामे'ति । अथाऽष्टादशे द्वीपे 'नरसिंह'रूपो महाविष्णुः प्रह्लादादिभक्तसंसेवितो विराजते, तदिदं 'नरसिंहभगवद्धामे'ति । अथैकोनविंशे द्वीपे 'हयग्रीवभगवद्रूपो' महाविष्णुः स्वभक्तैः सेवितो विद्यते, तदिदं 'हयग्रीवभगवद्धामे'ति । अथ विंशतितमे द्वीपे 'हंसावतार'रूपो महाविष्णुः स्वभक्तैर्जुष्टो विराजते तदिदं 'हंसावताररूपभगवद्धामे'ति । अथैकविंशतितमे द्वीपे 'मत्स्यावताररूपो' महाविष्णुः स्वभक्तवृन्दजुष्टो विराजते, तदिदं 'मत्स्यावतारधामे'ति । अथ द्वाविंशतितमे द्वीपे 'कूर्मावताररूपो' महाविष्णुः स्वभक्तसंघसेवितो विराजते, तदिदं 'कूर्मावतारधामे'ति । अथ त्रयोविंशतितमे द्वीपे 'वाराहावताररूपो' महाविष्णुः स्वभक्तसेवितो विराजते, तदिदं 'वाराहावतारधामे'ति अथ चतुर्विंशतितमे द्वीपे 'नारदावताररूपो भगवान् 'महाविष्णुः विराजते, तदिदं 'नारदभगवद्धामे'ति । अथ पञ्चविंशतितमे 'निराकारस्वरूपो' महाविष्णुर्व्यापकस्तेजोमयरूपो विराजते, तदिदं 'सत्स्वरूप'धामेति, केषांचिन्निराकारवादिनामिदं मुक्तिस्थानमिति, तत्र तत्र धामनि तत्र तत्र भगवद्रूपे संयमात् तत्तद्धामतत्तद्भगवत्स्वरूपज्ञानं भवतीति, एतेषु कथितेष्ववतारेषु येषां यस्य यस्योपासना ते ते तत्र तत्र मुक्तिपदं लभन्ते, अत्र लोके भगवद्रूपतया महाविष्णुरवतरति, सर्वेऽप्यवतारस्वरूपा ईश्वरात्मका महाविष्णोरेवेति, अवतारिपरमेश्वरस्तु तत्सर्वेषां नियामकः, सोऽयं चतुर्भिः शरीरैः सहितः समष्टिरूपो महाविष्णुःस्वमायाया उदरे परिवेष्टितः सन् संस्थितोऽस्ति, तद्वेष्टितो महाविष्णुः-'हिरण्यमयकोश' संज्ञको भवति हिरण्यमयकोशान्तर्गता ब्रह्माण्डबहिर्गताश्चेश्वरा इति कथ्यन्ते ॥४॥

## ❁ हिरण्यमयकोशस्य ज्ञानं तत्र संयमात् ❁

मूलमाया नित्याऽजा एका चेति हिरण्यमयकोशस्योपरि तद्वेष्टयित्वा स्थिते नित्यगोलोकधामनि एकप्रदेशे साकृतिर्विराजमानाऽस्ति, सृष्ट्युत्पत्तिसमये 'स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय' सः परब्रह्म परमात्मा–अक्षरब्रह्मसमीपेऽवलोकितवान्, तदा तत्रस्थ एकः कश्चिन्मुक्तपुरुषः परमेश्वरेच्छां विज्ञाय तदाज्ञां पालयितुं मायया सह संयुक्तः, मायया च भगवतः परमेश्वरस्य सृष्टिचिकीर्षां विज्ञाय स्वविग्रहतो महत्तमोरूपं पञ्चसहस्रपरार्धयोजनायामं गोलकाकारमण्डमुत्पादितम्, यस्याऽभिधानानि महामोहाण्डं महच्छून्याण्डं घोरनिद्रामण्डलं अज्ञरूपमायामण्डलं चेति व्याख्यायन्ते, उक्तम् ऋग्वेदे 'तम आसीत् सगूढमग्रे'–इति, तस्मिन् तमोमयाण्डमध्ये महाविष्णुं गर्भरूपेण धृतवती माया यदा भवति, तदा 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदि'ति तस्य हिरण्यगर्भ इति संज्ञा भवति, हिरण्यगर्भरूपेण स्थितेन महाविष्णुना गर्भितं तमोमयाण्डं 'हिरण्यमयकोश' इति संज्ञया प्रसिद्धं भवति, एवमनेके हिरण्यमयकोशाः प्रादुर्भवन्ति लीयन्ते चेति सोऽयं संसारप्रवाह इति बोध्यम्, अथायं हिरण्यमयकोश आत्यन्तिकप्रलये नाशं याति तिरोभवति तदा पञ्चमुक्तिस्थाननिवासिनो यावन्त ईश्वरा ब्रह्मविराट्शंकर–विष्णु–महाविष्णुप्रभृतयः शुद्धा मुक्ता भूत्वा नित्यगोलोकैकदेशेऽवस्थिता भवन्तीति, तदेतस्माद् हिरण्यमयकोशात्परं मायाकार्यं नास्ति, हिरण्यमयकोशपर्यन्तमेव मायाया अवधिः, तत्परन्तु ब्रह्मलोकाः विद्यन्ते–'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'त्याद्युक्तः ॥७॥

स चायं हिरण्यमयकोशस्योपरि स्थितो ब्रह्मलोकः केषाञ्चिन्मते एक एव, केषाञ्चिन्मते तु तत्राऽपि विविधस्वरूपाणि सन्ति तान्यत्राऽस्माभिरपि विज्ञानाय निरूप्यन्ते—

## ❁ नित्यगोलोकज्ञानमनादिश्रीकृष्णसंयमात् ❁

तदिदं हिरण्यमयाण्डं परिवेष्ट्य दशसु दिक्षु व्याप्याऽवस्थितं चैतन्यमयमक्षरमविनाशि सच्चिदानन्दात्मकाकाशत्रयान्वितं 'नित्यगोलोका'ऽभिधानं 'निरञ्जनमक्षर'मित्यपराऽभिधानं ब्रह्मधाम विद्यते, यद्धि परमात्मनो वासुदेवश्रीकृष्णस्य 'रङ्गभूमिरि'ति ख्यातम्, तच्च हिरण्यमयकोशतो दशगुणमधिकं पञ्चाशत्सहस्रपरार्धयोजनाऽऽयामं संस्थितमिति, यत्राऽनेकदिव्यविभूत्यैश्वर्यशक्तिसामग्र्यो विद्यन्ते शीतलप्रकाशश्चाप्रमेयोऽस्ति, यत्र कालगतिर्नास्ति, तदिदं नित्यगोलोकम् अक्षरब्रह्मणः स्थूलविग्रहरूपं 'ब्रह्म'संज्ञकं धामे'ति ख्यायते, तत्र चैतन्यस्य सच्चिदानन्दात्मकान्यष्टवनानि विद्यन्ते, तानि प्रत्येकं षट्सहस्रपरार्धयोजनायामानि सन्ति, तद्यथा–( १ )

प्रथमं 'वृन्दावनं' तत्र 'राधिका'–'सत्यो'भयपटराज्ञीसहितः 'श्रीकृष्णो'–विराजते, तत्र च 'ब्रह्माणी'नाम्नी महाप्रबला शक्तिश्चतुर्विंशतिसहस्रशक्तिभिरुपसेविता सती विराजते, तत्र च ॐकारः प्रणवो नित्यस्वरूपः सन् परमात्मानं स्तौति, 'ब्रह्माणी' शक्तिश्च निराकारव्यापकस्वरूपा सती सीमाप्रदेशं संनिरुद्ध्य व्यवस्थिताऽस्ति यामुल्लंघ्य तद्धामवासिनो नाऽन्यद्ब्रह्मलोकं गन्तुं क्षमा भवन्तीति, तत्र च ज्ञानशक्तिरूपा 'विष्णुगायत्री' कारणात्मिका मूर्तिमती भगवत्स्वरूपनिकटे संस्थिताऽस्ति, तत्र च नित्याः कारणात्मकाश्चत्वारो वेदा नेति नेति श्रीकृष्णं वर्णयन्ति, तत्र च गोप-गोपिकोद्धव-वसुदेवदेवक्यादयोऽनन्तकोटिमुक्ताः पुरुषा अनादिश्रीकृष्णपरमात्मानं भजन्त इति ॥ अथ ( २ ) द्वितीयं–'कुसुमवनं' यत्र मध्यस्थ एककोटियोजनायामः रत्नमण्डपोऽस्ति, तन्मध्ये च दिव्यमणिमुक्तारत्नप्रवालादिजटितं सिंहासनं शुभ्रवर्णं विद्यते, तस्मिन् स्थितोऽनादिश्रीकृष्णः श्रीरुक्मिणी-नाग्नजितीनामपटराज्ञीभ्यां चामरादिना सेवितो विराजते, तत्र चाऽस्य लक्ष्मीनारायण-वासुदेवनारायण-केशवपुष्कराक्ष- पद्मनाभ-माधव-मधुसूदन–पुण्डरीकाक्ष-विश्वकारणेत्यादीन्यनेकान्यभिधानानि सन्ति, एतन्नामभिरुपासकानां भक्तानां तन्मुक्तिस्थानमिति, तत्र च–'अमृतस्रोतस्विनी'नाम्नी मुख्या शक्तिरस्ति साऽमृततरङ्गान् वर्षयति स्रावयति, अतस्तत्र मुक्ता अमृतमया इति विद्यन्ते ते श्रीकृष्णपरमात्मानं भजन्त इति ॥ अथ ( ३ ) तृतीयम् 'अशोकवनम्' तन्मध्ये–एककोटियोजनायामः–रत्नमण्डपोऽस्ति, तन्मध्ये च दिव्यं सिंहासनं विद्यते यत्र सत्यभामा–मित्रवृन्दाभ्यां सेवितोऽनादिश्रीकृष्णः स्वभक्तसम्बन्धितयशाः सन् विराजते, तत्र 'चिद्विभासिनी' नाम्नी मुख्या शक्तिरस्ति सा च चैतन्यांशतरङ्गकिरणानि वर्षयतीति, तत्र च दिव्या वनदेवता दिव्यफलपुष्पादीन्याहृत्याऽर्पयन्ति श्रीकृष्णायेति, तत्रापि गोपगोपिकादिभक्ता मुक्तस्वरूपाः स्थिताः सन्तीति । अथ ( ४ ) चतुर्थं 'कल्पलतावनं' विद्यते, यन्मध्यस्थएककोटियोजनविस्तृतः रत्नमण्डपोऽस्ति, तत्र च दिव्यसिंहासनं दिव्यमुक्तामणिरत्नादिजटितं विद्यते, यस्मिन् जाम्बवतीपटराज्ञीसहितोऽनादिश्रीकृष्णो विराजते, तत्र च 'आनन्दचक्रवर्तिनी' नाम्नी मुख्या शक्तिरस्ति, तत्सेवायामन्याश्चानेकाः शक्तयो विद्यन्ते इति तत्रत्या दिव्या विभूतयो दिव्याः समृद्धयश्चेति । अथ ( ५ ) पञ्चमं 'चिन्तामणिवनं' विद्यते, यत्र महान्तश्चिन्तामणिमयाः शैलराजाः सन्ति, तत्र नदीतरुगुल्मादयश्च दिव्या नित्याश्च सन्ति, तत्र चिन्तामणिभिर्निर्मिते एककोटियोजनविशाले रत्नमण्डपे 'कालिन्दी' सहितः श्रीकृष्णो विराजते, तत्र च 'शंभास्वरी' नाम्नी मुख्या शक्तिरस्ति, सर्वमपि समृद्धिकं दिव्यं तत्र विद्यते । अथ ( ६ ) षष्ठं 'पारिजातकवनं' विद्यते यत्रैककोटियोजनविस्तारे रत्नमण्डपे दिव्याः पारिजातकतरवः सन्ति तच्छा-

खासु दोला सन्नद्धाऽस्ति तत्र 'मित्रविन्दा' नाम्न्या पट्टराज्ञ्या सह श्रीकृष्णो विराजते तेन शिरसि मुकुटो धृतः, कर्णयोः कुण्डले धृते, पीताम्बरं धृतमस्ति, सुदर्शनं चक्रं च करे गृहीतमस्ति यस्य शीतलं तेजः प्रसरति, यत्र च 'ब्रह्मवर्चसी'नाम्नी महाप्रबला शक्तिर्विद्यते, अत्र चाऽनेकभक्तमण्डलानि सन्तीति। अथ (७) सप्तमम् 'मधुवनं' विद्यते, यत्रैककोटियोजनायामो दिव्यरत्नमण्डपोऽस्ति तन्मध्यवर्तिदिव्य-वेद्यां तिष्ठन् सोऽनादिश्रीकृष्णो मधुरस्वरां वीणां निनादयन् गोपगोपिकानां चित्तानामाकर्षणं करोति, तत्र च 'भद्रा' नाम्नी मुख्या पट्टराज्ञी वर्तते, तत्र 'निरञ्जना'नाम्नी प्रबला शक्तिर्दिव्याऽगणितशक्तिभिर्युता विद्यते, तत्रत्याः सर्वा विभूतयो दिव्या इति। अथ (८) अष्टमं 'चन्दनवनं' विद्यते, यत्र चन्दनादीनां दिव्यमण्डप एककोटियोजनविस्तारोऽस्ति, तत्र चन्दनसिंहासने 'लक्ष्मणा' नाम्न्यापट्टराज्ञ्या सहितः स श्रीकृष्णो विराजते, तत्र 'शोधिनी'नाम्नी महाप्रबला शक्तिरस्ति, यत्राऽनेकदिव्यशक्तयो विद्यन्ते, यत्रानेकमुक्तपुरुषास्तद्भक्ताः सन्ति, दिव्यविभूतयोऽपि वर्णितुमशक्या विद्यन्ते, तदेवं व्यवस्थिते तत्र तत्र वने तत्र तत्राऽनादिश्रीकृष्णस्वरूपे संयमात् तत्तज्ज्ञानं भवतीति ॥ ३ ॥

## ❀ शबलब्रह्मणो ज्ञानं तत्र संयमात् ❀

निरञ्जनब्रह्मलोकं संवेष्ट्य वलयाकृति स्थितमक्षरब्रह्मणः सूक्ष्मं शरीरं विद्यते, यस्याऽभिधानं-'शबलब्रह्मलोक' इत्यस्ति, अत्र शबलब्रह्मपुरुषो भगवानस्ति, नित्यगोलोकाऽपेक्षया दशगुणमधिकं पञ्चलक्ष-परार्धयोजनायामं तद् विद्यते, तत्र च द्वौ द्वीपौ विभक्तौ, प्रत्येकं सार्धद्वयलक्षपरार्धयोजनायामौ विद्येते, एकस्मिन् द्वीपे तत्र-'महाभास्करा, ब्रह्मस्वरूपिणी, शब्दभास्वती, आनन्दकान्ता, धारालंकारिणी' चेत्येताः पञ्चशक्तयः प्रबलाः सन्ति, तन्मध्यतश्चतस्रः शक्तयो भवन्ति पादरूपाः पञ्चमी शक्तिः खट्वायाः रज्जुरूपा भवति, अथ च पञ्चशिवास्तत्र विद्यन्ते,-नन्दन-शिवः, सदाशिवः, सद्ब्रह्मशिवः, प्रणवशिवः, सुदर्शनशिवश्चेति, तन्मध्यतश्चतुर्णां शिवानां चत्वार उपलकाष्ठदण्डाः भवन्ति, इत्येवं मिलित्वा-एकः पर्यङ्कः (खट्वा) विद्यते, तत्र 'सुधास्राविणी' नाम्नी शक्तिः-शय्यास्तरणरूपा भवति, तत्र शबलब्रह्म-साकारमूर्तिं विराजते, अथ सुदर्शनशिवस्तस्य द्वारपालत्वं मुख्यतां करोति, तदिदं शबलब्रह्म-सत्स्वरूपब्रह्म-चिन्मयपरमपुरुषाऽद्वैतसाकारब्रह्मे-त्यादिनामभिः-वेद-ऋचः—वर्णयन्ति, अत्र धामनि च मध्यभागे-दशाऽर्बुदयोजनविस्तारश्चैतन्य-मयो दिव्यरत्नमण्डपोऽस्ति, तन्मध्यस्थे तादृशे पञ्चशिवपर्यङ्के विराजन् सन् शबल-ब्रह्मपुरुषः स्वदक्षिणचरणाङ्गुष्ठाग्रभागात् अमृतसमशीतलतेजोमयधारामुत्स्रवयति, तत्तेजसा तेजोमयमिदं शबलब्रह्मचैतन्यधामेति, स एव शबलब्रह्मपुरुषश्चत्वारिंशद्-

र्बुदसंख्याकैर्मुक्तात्मकहंसैः सेवितोऽस्ति, तस्य निरञ्जनपुरुषः—अकालपुरुषः,—सच्चश्री-अकालहरिः,—सत्यनामपुरुषः—इत्यादिनामानि सन्ति, तत्तन्नामभिरुपासकानां तदेतत् मोक्षस्थानमस्तीति, तत्र सर्वा विविधा विभूतयो दिव्याः, ऐश्वर्यशक्तय-श्चाऽपि दिव्या विद्यन्त इति ॥ अथ द्वितीये द्वीपे—तदेव शबलब्रह्म निराकारस्वरूपं व्यापकं तेजोरूपमवस्थितं विद्यते, यत्राऽमृततरङ्गकिरणानि व्याप्तानि सन्ति, नाऽस्ति तत्राऽऽकारः कश्चिदपि, इदं स्थानमनिर्वचनीयनिराकारब्रह्मोपासकानां मुक्तिपदं, तेजोभिः सहाऽभिन्नत्वं तेजोरूपत्वं भवति तेषामिति । निराकारशबलब्रह्मसंयमात् तज्ज्ञानं भवतीति । तदत्र द्वीपद्वयेऽपि व्यापिनी—'ब्रह्मतरङ्गभञ्जिनी'-नाम्नी प्रबला शक्तिर्विद्यते, सा च शबलब्रह्मात्मकसूक्ष्मशरीरसीमारूपा तत्प्रदेशं सन्निरुध्याऽवस्थिता विद्यत इति ॥ ॐ ॥

## ॥ केवलब्रह्मलोकस्य ज्ञानं तत्र संयमात् ॥

शबलब्रह्मलोकं परिवेष्ट्य वलयाकृति संस्थितं व्यापकमक्षरब्रह्मणः कारणशरीरात्मकं धाम विद्यते, यस्याऽभिधानं 'केवलब्रह्मलोक'इति, तदिदं शबलब्रह्मतो दशगुणमधिकं पञ्चाशल्लक्ष-परार्धयोजनविस्तारं व्यवस्थितं भवति, तत्र सच्चिदानन्दात्मकाश्चैतन्यसमुद्रा विद्यन्ते, तत्र च धाम्नि केवलब्रह्मपुरुषो भगवानस्ति, तस्य निवासरूपः—पञ्चाशदर्बुदयोजनायामो दिव्यमणिमौक्तिकमुक्ताप्रवालविरचितो दिव्यरत्नमण्डपो विद्यते, तस्य नवद्वाररूपचत्वराः सन्ति, तत्र नवनिधयो मूर्तिमन्तः, तथा नव ब्रह्मसुदर्शनचक्राणि मूर्तिमन्ति संस्थितानि सन्ति, तेषां तेजोभिः प्रकाशितोऽयं केवलब्रह्मलोकः, तादृशमण्डपमध्यभागे—एकलक्षयोजनविस्तारं मणिमयावर्तशिखरं नवशतद्वारवन्दनतोरणिकापरिक्लृप्तम्, ते च नवशतखण्डा भवन्ति, तन्मध्यप्रदेशे चैतन्यस्य दशभूमिकाः सन्ति, तत्र प्रथमभूमिकायाममृतस्य सिन्धुः परिपूर्णोऽस्ति, तन्मध्यप्रदेशे ब्रह्मद्वीपोऽस्ति, तत्र नवशतस्तम्भानां पंक्तिर्द्विराघृता विराजते, तन्मध्ये चतुःषष्टिस्तम्भानामुपरि वेदिकाऽ(चन्द्रशाला)स्ति, तत्र दिव्यसिंहासने केवलब्रह्मपुरुषः साकारो दिव्यो विराजते, तेन सह आनन्दयोगमायानाम्नी महाशक्तिः साकारा विराजते, यस्या द्वितीयं नाम' प्रतिबिम्बश्यामा' विद्यते, तस्याः सहचर्यो द्वादशसहस्रसंख्याकाः सख्यस्तत्र सन्ति, अनेकाश्च वनदेवताः सन्ति, तत्र—कमलवन—नवरंगवन-कदम्बवन-नन्दनवन-मधुरवन-सुरभिवन-कनककुञ्जवनानि दिव्यानि सप्तसंख्याकानि सन्ति, तेभ्यो दिव्यवस्तून्याहृत्य ताः सर्वाः पूजयन्ति स्वस्वामिनं केवलब्रह्मपुरुषम्, तदिदं—केवलब्रह्मोपासकानां मोक्षस्थानं विद्यते, तत्रानन्ताः मुक्तपुरुषाः सामीप्यसायुज्यमापन्नास्तिष्ठन्ति, तत्र चाऽऽनन्दयोगमाया व्यापिका सीमारक्षणकर्त्री अन्याऽन्यालोकवासिनां गमनाऽऽगमने प्रतिबन्धिकेति ॥ ॐ ॥

## ❀ अक्षरब्रह्मज्ञानमक्षरब्रह्मसंयमात् ❀

सच्चिदानन्दात्मकांशैर्विशिष्टेऽक्षरधामनि तत्रैकवृन्दयोजनायामो महाप्रासादो विद्यते, यस्याऽष्टगोपुररूपचतुष्काः विद्यन्ते, तत्र दिव्या अष्टसिद्धयो मूर्तिमत्यो निवसन्ति, तन्मण्डपमध्ये मुक्तमण्डलानि संस्थितानि सन्ति, तन्मध्यप्रदेशे 'महाच्छत्रं' दिव्यं वर्तते, तदधोभागे दिव्यमणिमौक्तिकरत्नप्रवालादिखचितं सिंहासनं विद्यते, तत्र मूलाक्षरं ब्रह्म गुणातीतानन्दात्मकं मूर्तिमत् संराजते, तस्य चरणाङ्गुष्ठतः शीतलतेजस्तरङ्गधाराः प्रभवन्ति, तत्तेजोभिस्तेजोमयमिदं धाम विद्यते, महाप्रासादस्य गोपुररूपचत्वराणां सन्निधावष्टौ मणिमयाः शैलाः सन्ति, तत्र च वलयाकारा गोमतीनाम्नी सरिद् दिव्यजला राजते, तस्य तटप्रदेशे मुक्तरूपा वनस्पतयो विद्यन्ते, तत्रत्य यावत्यो दिव्यविभूतयो दिव्यसमृद्धयश्च सन्ति, अनन्तकोटिमुक्तमण्डलानि गुणातीताऽऽनन्दाक्षरब्रह्मणः सेवादिकं विदधति, अक्षरब्रह्मणो गुणातीतानन्दस्योपासनया तदुपासकानां तत्रैव मुक्तिस्थानमिति, एतल्लोकस्य–सीमापरिमाणं नास्ति, अपरिमितमिदं महाकारणविग्रहात्मकमक्षरधामेति ॥ ❀ ॥

## ❀ निराकाराऽक्षरब्रह्मज्ञानं तत्र संयमात् ❀

तदेव–महाकारणात्मकमक्षरं ब्रह्म निराकाररूपेण व्यापकं तेजोमयं सच्चिदानन्दं चिद्घनमिति–'अक्षरं परमं धाम' इत्युच्यते, तस्मिन् व्यापके तेजोमये दिव्ये धामनि साकारो दिव्यविग्रहोऽक्षरातीतः परब्रह्म पुरुषोत्तमः परमात्मा श्री'स्वामिनारायणः'–अनन्तकोटिमहामुक्तानां मण्डलैरावेष्टितः संसेवितोऽस्ति, तेषामाधारभूतमेकरसचैतन्यात्मकमक्षरं ब्रह्म, तदत्र धामनि यावन्तो दिव्यवैभवा दिव्यविभूतयो दिव्यसमृद्धयश्च सन्ति, ताश्च ईदृश्य इदृश्यश्चेति वर्णनाऽविषयीभूता अनिर्वचनीयाः सन्ति, किन्तु परब्रह्मभक्ता यथा यथा तं परमेश्वरं सेवितुं वाञ्छन्ति, तथा तथा–केचित् सिंहासनरूपाः केचित्–फलरूपाः पुष्पादिरूपा वा भूत्वा भूत्वा स्वेष्टदेवं तं परं भगवन्तं सेवया प्रसन्नं कुर्वन्तीति ॥ तस्य–परब्रह्मणः सहजानन्दमनोहरदिव्यसाकारस्वरूपस्य समन्तात् चन्द्रं परिवेष्ट्य तारागणा इव महामुक्तमण्डलानि संस्थितानि सन्ति, ते च मुक्ताः किशोरावस्थाश्चैतन्यमयकरचरणाद्याकृतयः भगवतः परमेश्वरस्य दर्शनामृतपानैर्नित्यतृप्ताः सन्ति, स्त्रीपुरुषादिभावना नास्ति तत्र, किन्तु महामुक्त–परमेश्वरादिभावना भवति, सेवक–सेव्यभावनया सेवाभक्तिं कुर्वाणाः परब्रह्मानन्दात्मकसहजानन्दस्वरूपमाप्नुवन्तीति, तस्याऽक्षरातीतपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मण उपासकानामिदं परममोक्षस्थानमिति, तत्र ते–परमेश्वरस्य सालोक्य–सार्ष्टि–सामीप्य–सारूप्यैकत्वात्मकमुक्तिविशेषान् स्वभावनाऽनुरूपान्–

समनुभवन्तीति । अत्र परमेश्वरे प्रमाणरूपेण श्रुतिवाक्यमपि 'नेति नेति' कृत्वा तत्स्वरूपस्वभावादीनामनाद्यनन्तादि प्रतिपादयति, स च गीतायामुक्तः—'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' क्षरं—मायिकं हिरण्मयकोशम्—अतीतः, अक्षरब्रह्मतोऽप्युत्तमः, अतः पुरुषोत्तमोऽहमिति, 'अक्षरात् परतः परः' इति च ॥ स च परमेश्वरः—सर्वाऽविर्भावस्वामी सर्वदिव्यविभूतिस्वामी सर्वपरः सर्वसुखमयः सर्वानन्दमयः सर्वज्ञः स्वतःपूर्णः सर्वनियन्ता सर्वाधारः सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी व्यापकः सर्वोपास्यमूर्तिः सर्वरसमयाऽखण्डमूर्तिः सर्वैश्वर्यशक्तिविभूतिभाजनरूपः सर्वसुन्दरतालावण्यताभाजनरूपः करुणाभिभिरनवधिकातिशयकल्याणगुणभाजनरूपः ब्रह्मविद्याविभिरपि यस्य वर्णनमगोचरमेवेति, तस्य परमात्मनः स्थानमक्षरं ब्रह्मेदं सर्वत्र जीवलोकेश्वरलोकमायाब्रह्मलोकेषु व्याप्तमिति तस्यैव सर्वलोकेषु तेजस्तस्यैव सर्वलोकेषु विभूतयः शक्तय ऐश्वर्याणि चेत्यादिवस्तुजातम्, 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—तद्यथा-महत्तमस्य श्वेतकाचगोलकस्य मध्ये कपीशकाचगोलकस्तदन्तरे पीतकाचगोलकस्तदन्तरे रक्तकाचगोलकस्तदन्तरे हरितकाचगोलकस्तदन्तरे नीलकाचगोलक इति, तस्य च सूर्याऽऽतपे प्रस्थापने सति सूर्यातपः श्वेतकाचं प्रविष्टः सन् श्वेतो भवति, तदन्तः कपीशकाचं प्रविष्टः कपीशो भवति, तदन्तः पीतकाचं प्रविष्टः सन् पीतो भवति, तदन्तःस्थं रक्तकाचं प्रविष्टः सन् रक्तो भवति, तदन्तःस्थं हरितकाचं प्रविष्टः सन् हरितो भवति, तदन्तःस्थं नीलकाचं प्रविष्टः सन् नीलो भवति, यथा यथाऽन्तःप्रविशति तथा तथा विविधकाचरूपैः स्वरूपं शुद्धं पराभूतिं प्राप्तं सद् अविद्यमानमिव भवति न तु तस्य प्रकाशधर्मांशत्वमपि नश्यति, तथा—परब्रह्मणोऽक्षरधाम सर्वत्र व्यापकं तत्प्रकाशश्च यस्तत्राक्षरधामनि विद्यते स एव केवलब्रह्मण्यागतः सन् केवलब्रह्मशक्तिविशिष्टो भवति, स एव शबलब्रह्मण्यागतः शबलब्रह्मशक्तिविशिष्टो भवति, स एव च निरञ्जनब्रह्मण्यागतो निरञ्जनब्रह्मशक्तिविशिष्टो भवति, स एव च महामायाया हिरण्मयकोशाण्डं प्रविश्य मायाविशिष्टः प्रकाशो महाविष्णुलोके, स एव च विष्णुलोकं प्रविश्य विष्णुशक्तियुक्तो भवति, स एव च कैलासात्मकशिवलोकं प्रविष्टो शिवशक्तियुक्तो भवति, स एव च विराजलोकं प्रविष्टः विराजशक्तियुक्तो भवति, एव चाऽष्टावरणानि प्रविष्टः सन्नष्टावरणशक्तिसहितो भवति, स एव च ब्रह्माण्डं प्रविष्टः सन् चतुर्दशभुवनेषु व्याप्तः तत्तत्स्वरूपापन्नः तत्तद्देशीयमायायोगात् निस्तेज इवाऽभास्वर इव जडात्मक इवाऽवलोक्यते, सूर्यचन्द्रादीनां यः प्रकाशः सः—अक्षरब्रह्मप्रकाशस्तथापि मायायोगात् लौकिको मायिक इति प्रतीयते, तस्मादक्षरब्रह्मधाम सर्वत्राऽस्ति व्यापकं, मायाया आवरणं यस्य यत्र नष्टतां गतं तस्य तत्रैवाऽक्षरधाम विद्यत इति न तु दूरमिति,

सर्वेषु लोकेषु यानि कानिचिदैश्वर्यविभूतिशक्तिगुणस्वभावविज्ञानसुखस्वरूपादीनि विद्यन्ते तान्यक्षरब्रह्मण एव तत्रागतानि सन्तीति अक्षरब्रह्मणि च परब्रह्मपरमेश्वरस्यैश्वर्यविभूतिशक्तिगुणस्वाभावविज्ञानसुखस्वरूपादीनि समवस्थितानीति सन्ति, परमेशसत्ताऽतिरिक्तस्वतन्त्रसत्ताकान्यैश्वर्यादीनि परमेश्वरातिरिक्ते कुत्राऽपि न सन्तीति सिद्धान्तः, तदेवं योगिनः परब्रह्मसंयमात् सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वान्तर्यामित्वं सर्वात्मकत्वञ्चेत्यादीनि भवन्ति, परमेश्वरस्य सर्वेषां स्वामिनो नारायणस्य स्वरूपे धारणां ध्यानं समाधिञ्च विन्दतो योगिनः परमेश्वरस्वरूपसाक्षात्कारादि भवतीति ॥ २६ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## ॥ चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

भवति हि किरणैश्चन्द्रमास्तारापतिः, तथा च चन्द्रे संयमं कुर्वतो योगिनस्ताराणां स्वरूपस्वभावादिविभूतिमत्त्वादिज्ञानं जायते, प्रत्येकतारके संयमं कृत्वा प्रत्येकमपि जानातीति ॥ २७ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## ॥ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने ताराविशेषे संयमं कुर्वन् योगी समग्रताराणां गतिं जानीयात्—इयं ताराऽयं ग्रह इयता कालेनाऽमुं राशिमिदं नक्षत्रं च यास्यतीति, एवमेव सूर्यादिरथेषु कृतसंयमः सन् तद्गत्यादिकं जानीयात् स्थिरध्रुवाऽधीनमेव सूर्यचन्द्रादितारादिचक्रं भ्राम्यति, अतो ध्रुवे संयमात् सर्वतारादीनां ज्ञानं भवेदिति ॥ २८ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## ॥ नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

षोडशारे नाभिचक्रे सर्वासां नाडीनां मूलग्रन्थिरस्ति, तत्र संयमं कुर्वन् योगी कायस्य व्यूहम्—सन्निवेशम्, वातपित्तश्लेष्मात्मकधातुत्रयम्, तथा—त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्रात्मकधातुसप्तकं च विजानीयादिति ॥ २९ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## ॥ कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

जिह्वाया अधस्तात् तन्तुः, तन्तोरधस्तात् कम्बुसमानः कण्ठः, कण्ठादधस्तात् कूपः—गर्त इति, तत्र गर्ते प्राणस्य संयोगे स्पर्शे वा सत्येव क्षुत्पिपासे संभवतः,

अतस्तत्र कूपे संयमं कृत्वा योगी तत्र प्राणस्य संयोगं स्पर्शं वा निरुन्ध्यात्, तेन क्षुत्पिपासयोर्निवृत्तिर्भवति, यावत्कालं संयमेन तत्र तयोर्निरोधस्तावत् क्षुत्पिपासाविरह इति ॥ ३० ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कण्ठकूपादधोभागे हृदये कुण्डलितसर्पवत् संस्थितं कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रं विद्यते तत्र संयमेन योगी स्थैर्यं—चित्ताद्यन्तःकरणस्थिरतां लभते, कायस्यापि स्थैर्यं भवतीति ॥ ३१ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्ध्नि—शिरःकपाले,—ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं तत्र यो भास्वरः प्रकाशः स ज्योतिः, तत्र ज्योतिषि कृतसंयमस्य योगिनो ये द्यावापृथिव्यन्तरालवर्तिनः सिद्धा दिव्यपुरुषास्तेषां दर्शनं भवतीति, ब्रह्मरन्ध्रे यः प्रकाशस्तस्य ब्रह्मलोकप्रकाशेन सहैक्यात् तेन प्रकाशेन सर्वान् सिद्धपुरुषान् पश्यतीति ॥ ३२ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

प्रातिभं—स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकम् मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानम्, तच्च संसारतरणोपायत्वात् 'तारक'मित्युच्यते, तच्च सार्वज्ञ्यस्य पूर्वलिङ्गम्, यथा सूर्योदयस्य पूर्वं लिङ्गं प्रभा, तथा च प्रतिभायां संयमं कुर्वतो योगिनः प्रातिभं तारकं ज्ञानमुत्पद्यते, तस्माज्ज्ञानात् सर्वं जानाति सर्वज्ञो बहुज्ञ भवतीति ॥३३॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयपुण्डरीकं यज्जीवात्मनो वेश्म, तत्रान्तःकरणं चित्तसत्त्वम् आत्मनः सिंहासनकल्पम् भवति, तत्र चित्तसत्त्वे संयमेन स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते, स्वचित्तगताः सर्वा वासनाः परचित्तगतांश्च रागादीन् सम्यग् जानातीति ॥ २४ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ताऽसङ्कीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ।३५।

सत्त्वं नाम—प्रकाशसुखलाघवात्मकः प्रकृतेः परिणामो शुद्धबुद्धिरिति यावत्,

पुरुषो नाम भोक्ताऽधिष्ठाता चेतन इति यावत्, तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः—भोग्यभोक्तृरूपत्वाज्जडचेतनत्वाच्चाऽत्यन्तभिन्नयोर्यः प्रत्ययाऽविशेषः,—प्रत्ययो नाम सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानं भेदज्ञानमिति यावत्, तस्याऽविशेषात्—असत्त्वात् अभावादिति यावत्, द्वयोरभेदेन ज्ञानादिति भावः, भोगः—अन्योन्यधर्मयोरन्योन्यसंक्रमणेन बुद्धिगतकर्तृत्वसुखदुःखादिधर्माणां साक्षात्कारः, स च भोगः—बुद्धेः स्वार्थाऽभावात् पुरुषार्थमात्रत्वात्परार्थः, बुद्धिसत्त्वस्य परार्थत्वाद् भोगस्यापि परार्थत्वमिति, तथा च तादृशाद्बुद्धिसत्त्वात्मकपरार्थाद् अन्यो यः स्वार्थः—स्वतन्त्रसत्तामात्रोऽपराधीन प्रकाशः पुरुषः स्वम्, तत्र स्वयंप्रकाशे स्वस्वरूपे संयमाद् योगिनः स्वात्मस्वरूपज्ञानं भवतीति ॥ अथाऽत्र यदि पुरुषविषया चेद् प्रज्ञा, तदा पुरुषस्य प्रज्ञायाः प्रज्ञेयत्वमापद्येत, तस्मात् पुरुषस्वरूपं स्वयं प्रकाशते पुरुष एव च स्वयं स्वात्मावलम्बनं तद् बुद्धिसत्त्वं प्रकाशयति पश्यति चेति तात्पर्यम् ॥३५॥

किञ्च—

## ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ततः—पुरुषसाक्षात्कारात्, मनआदीनां प्रातिभादिसंज्ञकाः सिद्धयः सामर्थ्यविशेषरूपा जायन्ते, तत्र प्रातिभं नाम—अनौपदेशिकं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्रागुदयमानं ज्ञानम्, तच्च तारकसंज्ञकम्, तद् आविर्भवति, तस्मिन् सति च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽतीताऽनागतपदार्थानामलौकिकप्रत्यक्षज्ञानं भवतीति, एवम्—पुरुषस्य साक्षात्कारात्—श्रावणं—श्रोत्रेन्द्रियजन्यं ज्ञानमुत्पद्यते, तेन सूक्ष्मव्यवहितविकृष्टाऽतीताऽनागतादीन् सर्वान् दिव्याऽदिव्यान् शब्दान् जानाति, एवं वेदना-वेद्यतेऽनया सा वेदना—स्पर्शेन्द्रियजन्यं ज्ञानं समुत्पद्यते, तेन सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽतीताऽनागतादीन् सर्वान् दिव्याऽदिव्यस्पर्शान् जानाति, एवम् आदर्शः—आसमन्ताद् दृश्यते रूपमनेनेतिः आदर्शः, चक्षुरिन्द्रियजन्यं ज्ञानमुत्पद्यते, तेन सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽतीताऽनागतादीनि सर्वाणि दिव्याऽदिव्यानि रूपाणि जानाति, एवम्—आस्वाद्यतेऽनेनेति—आस्वादः—रसनेन्द्रियजन्यं ज्ञानमुत्पद्यते, तेन सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽतीताऽनागतादीन् सर्वान् दिव्याऽदिव्यान् रसान् जानाति, एवं वर्तते गन्धविषयो यत्रेति वार्ता गन्धसंविद्—उत्पद्यते, तया च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीताऽनागतादीन् सर्वान् दिव्यादिव्यान् गन्धान् जानातीति, पुरुषः स्वात्मप्रकाशबलादेव यावतो दिव्याऽदिव्यविषयान् जानातीति ॥ ३६ ॥

एतेषां प्रातिभादीनां कदाचिद्विघ्नत्वं कदाचिच्च विभूतित्वं दर्शयति—

## ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३७॥

ते-प्रातिभादयः, असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्पत्तौ-उपसर्गाः-विघ्नरूपा अन्तराया भवन्ति, यतो हि प्रातिभादिषु हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिलो भवेत्, तथा च समाधिसिद्धिं प्रति विघ्नरूपत्वाद् अनुपादेयाः समाधिसमारूढेन योगिना, अथ च त एव प्रातिभादयः-व्युत्थाने-क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रावस्थासु यदा चित्तं वर्तते तदा विशिष्टफलदायकत्वात् सिद्धय-उच्यन्ते तथा च व्युत्थानकाले तु प्रातिभादय उपादेया एव इति ज्ञानात्मिका विभूतयः ॥ ३७ ॥

अथ क्रियात्मिका विभूतयः, तत्र—

## बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३८॥

शरीरे समवस्थितयोर्व्यापकयोरात्मचित्तयोर्धर्माधर्माऽख्यनियतकर्मवशाद् भोक्तृभोग्यभावेन यत् संवेदनं तदेव शरीरावच्छेदेनाऽऽत्मना सह चित्तस्य बन्धः, बन्धस्य कारणं यत्-धर्माऽधर्माख्यं तत्र संयमेन यदा शैथिल्यं तनुत्वं जायते, तदनन्तरं चित्तं हि निर्बन्धं स्वतन्त्रतया सर्वत्र गमनाऽऽगमनसमर्थं भवति तथा च सति चित्तस्य हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाऽभिमुखः प्रचारो भवति, अथ च तादृशप्रचारविषयकं यत्-"इयं चित्तवहानाम्नी नाडी, अनया चैवंप्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति निर्गच्छति च, इयं चाऽन्याभ्यः प्राणरसवहादिभ्यो नाडीभ्योऽन्या स्वतन्त्रा सती चित्तं वहति"-इत्याद्याकारकं संवेदनं विज्ञानं समुद्भवति तदा स्वस्यचित्तसंचारे संयमेन योगी परशरीरे स्वचित्तसंचारद्वारा परकीयं मृतं शरीरं जीवच्छरीरं वा प्रविशति, योगिचित्तानुसारीणि तत्तदिन्द्रियाण्यपि परशरीरे चित्तमनुप्रविशन्ति, तदा परशरीरेण स्वशरीरवद् व्यवहरति सर्वभोगान् भुङ्क्ते तत्रेति, इयं परशरीरप्रवेशात्मिका विभूतिरिति ॥३८॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## ॥ उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥

'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इतिसिद्धान्तात्-सर्वेषामिन्द्रियाणां जीवनवृत्तिः प्राणः, स च क्रियाभेदात् प्राणापानसमानव्यानोदानादिसंज्ञाभिर्व्यपदिश्यते, तत्र मुखनासिकाभ्यां प्रणयनात्-प्राणः, अस्य च मुखनासिकाभ्यामारभ्य हृदयपर्यन्ता वृत्तिः, नाडीष्वशितपीताहारपरिणामरूपाणां रसानां तत्र तत्र

स्थाने सम्यक् नयनात् समानः, अस्य तु हृदयादारभ्य नाभिपर्यन्ता वृत्तिः, मूत्रपुरीषगर्भादीनामपसरणहेतुरपानः,—अस्य नाभेरारभ्य पादतलपर्यन्ता वृत्तिः, ऊर्ध्वंगतिमत्त्वाद् रसादूर्ध्वनयनाच्च उदानः, अस्य मुखनासिकाभ्यामारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्ता वृत्तिः, सर्वदेहव्यापिवृत्तिको बलकरकर्महेतुर्व्यानः ॥ अन्येऽपि नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः—पञ्चप्राणवायवः सन्ति, तत्र 'उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः । कृकलः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे । न जहाति मृतं चाऽपि सर्वव्यापी धनञ्जय' इति ॥ तेषां प्रधानः प्राणः, प्राणस्योत्क्रमणे सर्वप्राणानामुत्क्रमणात्, तत्रोदानस्य संयमेन जयात्—जलपङ्ककण्टकादीनामुपरि सञ्चरतोऽप्यस्य तेष्वसङ्गो भवति—तैः सह विकारप्रयोजकः संसर्गो न भवतीति, तथा च महानद्यादौ जले विपुले वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु च प्रविश्यमानोऽपि न सज्जतेऽतिलघुत्वात्, तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽपि पुनरुद्गच्छति, तथा प्रयाणकालेऽर्चिरादिमार्गे गमनाय स्वाभिलाषया स्वोत्क्रान्तिं करोति, अतएवाऽयं योगी—गगनगामी भवतीति ॥ ३९ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥

वह्निमावेष्ट्य संस्थितस्य समानाभिधानस्य वायोः संयमेन जयात्—आवरणरहितो वह्निरार्चिर्भवति तेन तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति, अथवा—यथेष्टं वह्नेरुत्तेजनं कृत्वा सतीवत् स्वशरीरं दहतीति ॥ ४० ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

अहंकारादुत्पन्नो हि शब्दतन्मात्रः श्रोत्रेन्द्रियं च, शब्दतन्मात्राच्चाऽऽकाशं शब्दगुणकं समुद्भवति, तदिदमाकाशं कर्णशष्कुलीविवरं कर्णेन्द्रियगोलकं सम्पद्यते, तस्मिन् कर्णेन्द्रियं सुप्रतिष्ठितं सत् अयःप्रतिममयस्कान्तमणिकल्पेन वक्तृवक्त्रसमुत्पन्नेन वक्त्रस्थेन शब्देनाऽऽकृष्टं स्ववृत्तिपरम्परया वक्तृवक्त्रमागतं शब्दमालोचयति, आहंकारिकस्यापि श्रोत्रस्य भूताधिष्ठानस्यैव भूतगुणाऽऽलोचकत्वात्, तथा च श्रोत्रशब्दयोराश्रय आकाश इति, तत्र श्रोत्राकाशयोराश्रयात्मके संयोगसंसर्गे संयमाद्योगिनः श्रोत्रं दिव्यं भवति, दिव्यत्वं नाम—तन्मात्रादिसूक्ष्मगोचरसंयमनैरपेक्ष्येण स्वभावादेव तन्मात्रादिरूपसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽनागतशब्दादिग्राहकत्वमिति, सम्बन्धसत्त्वे सम्बन्धिसत्त्वमिति नियमेन—आश्रयाख्यसम्बन्धो येन योगिना संयमद्वारा साक्षात्कृतस्तस्य योगिनः शब्दतत्त्वात्मकसम्बन्धी आकाशतत्त्वात्मकसम्बन्धी श्रोत्रतत्त्वात्मकसम्बन्धी च सुतरां साक्षात्कृतो भवति, तत्र च आकाश-

स्यैकत्वात् तस्य शब्दत्वेन साक्षात्कृतस्य सम्बन्धिनो यावन्तः शब्दाः सूक्ष्मा व्यवहिता विप्रकृष्टा अनागताश्च प्रत्यक्षा भवन्ति ॥ एवम्–अहंकारादुत्पन्नं त्वगिन्द्रियं स्पर्शश्चेत्युभयम्, स्पर्शाच्च वायुः शब्दस्पर्शगुणकः समुद्भवति, स च वायुस्त्वक्स्पर्शयोराश्रयभूत इति, तत्राऽऽश्रयाख्ये संसर्गे संयमाद्योगिनो दिव्यं त्वगिन्द्रियं भवति, तच्च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽनागतान् स्पर्शान् आलोचयतीति ॥ एवम्–अहंकारादुत्पन्नं चक्षुरिन्द्रियं रूपं चेत्युभयम्, रूपाच्च तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणकं समुद्भवति, तच्च तेजश्चक्षूरूपयोराश्रयभूतमिति, तत्राऽऽश्रयाख्ये संसर्गे संयमाद् योगिनो दिव्यं चक्षुः सम्पद्यते, तच्च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽनागतरूपाण्यालोचयतीति ॥ एवम्–अहंकारादुत्पन्नं रसनेन्द्रियं रसश्चेत्युभयम्, रसाच्च जलं शब्दस्पर्शरूपरसगुणकं समुद्भवति, तच्च जलं रसनारसयोराश्रयभूतमिति, तत्राऽऽश्रयाख्ये सम्बन्धे संयमाद्योगिनो दिव्यं रसनेन्द्रियं सम्पद्यते, तच्च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽनागतरसान् आलोचयति ॥ एवम्–अहंकारादुत्पन्नं घ्राणेन्द्रियं गन्धश्चेत्युभयम्, गन्धाच्च पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा समुद्भवति, सा च घ्राणगन्धयोराश्रयभूता, तत्राऽऽश्रयाख्ये संसर्गे संयमाद्योगिनो दिव्यं घ्राणं सम्पद्यते, तच्च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाऽनागतगन्धान् आलोचयतीति ॥ ४१ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

कायः–पाञ्चभौतिकं शरीरम्, तस्य–आकाशेन सह व्याप्यव्यापकभावः सम्बन्धो भवति, यतो हि यत्र स्थले शरीरं तिष्ठति तत्र सर्वत्र देशकालाद्यवच्छेदेन शरीरं व्याप्याऽऽकाशं विद्यत एव, अवकाशदात् गगनं विना शरीरस्य स्थितेरसम्भवात्, तत्र व्याप्यव्यापकभावे संसर्गे संयमं कृत्वा योगी तस्य संसर्गस्य साक्षात्कारं विधाय आकाशं स्वाधीनं करोति ततो गुरुत्वे संयमं कृत्वा गुरुत्वस्य साक्षात्कारं विधाय स्वशरीरस्थं गुरुत्वं संकोचयति, ततो लघ्वर्कतूलादौ संयमं विधाय योगी स्वशरीरं लघुतां नयति, एवं च सति यथारुचि प्रथमं परमाणुसमलघुशरीरः पृथिव्यामिव जले संचरन् क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन संचरन् सूर्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशेन गच्छतीति ॥ ४२ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।

शरीरान्तःस्थमेव मनो बहिर्देशस्थं विषयं सङ्कल्पयति, तत्र या सङ्कल्पात्मि–

का वृत्तिः सा बहिर्देशवर्त्तिविषयं प्राप्य विषयाकारतामापद्यमाना भवति, असौ मनः शरीरान्तःस्थम्, तद्वृत्तिश्च बहिर्विषयस्था—इति, तदत्र शरीरान्तःस्थस्यापि मनसो या संकल्पात्मिका वृत्तिर्देहं विहायाऽन्यत्र विषये संक्रान्ता सा वृत्तिः 'विदेहा' नाम्नी धारणा उच्यते, सा एव च 'कल्पिता' इत्युच्यते, तदनन्तरं यदा योगी स्वयोगबलेन स्वमनः शरीराद्बहिर्निष्कास्य बहिर्विषयेऽवस्थापयति, तदा बहिर्देशस्थं मनो बाह्यविषयं बाह्यवृत्त्या सङ्कल्पयति, सेयं सङ्कल्पात्मिका वृत्तिः—'महाविदेहा' इत्युच्यते, सैव च विषयदेशं गत्वा मनसः साक्षात्प्राप्तत्वात् 'अकल्पिता'-इत्युच्यते, तदनया महाविदेहाख्यया वृत्त्या परशरीरप्रवेशं कुर्वन्ति योगिनः,—तस्यां महाविदेहाख्यवृत्तौ संयमं कृत्वा योगी रजस्तमोमूलकान् क्लेशकर्मजात्यायुर्भोगान् प्रकाशात्मकबुद्धिसत्त्वस्याऽऽवरणरूपान् क्षपयति, क्लेशादीनां क्षयाच्च निरावरणं योगिचित्तं यथेष्टं परशरीरादौ विहरति तत्रत्यवृत्तान्तं च जानातीति ॥४३॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥४४॥

स्थूलं च,—स्वरूपञ्च,—सूक्ष्मं च,—अन्वयश्च,—अर्थवत्त्वं चेति धर्माश्चेतनभिन्ने प्रत्येकपदार्थे व्यवस्थिताः सन्ति, तेषु संयमेन तत्तद्धर्माणां स्ववशवर्तिता जायते, तेन तदाश्रयपृथिव्यादिपञ्चभूतानां स्ववशवर्तित्वं सम्पद्यत इति, तत्र प्रथमं रूपं स्थूलं, यथा पार्थिवा जलीयास्तैजसा वायवीया आकाशीयाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्थूला यथासंभवं विशेषाः, ते च षड्जगान्धारनिषादर्षभमध्यमधैवतपञ्चमाः शीतोष्णाऽनुष्णाशीताः शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रा मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्ताः सुरभ्यसुरभ्यात्मका भवन्ति, एतेषां पञ्च पृथिव्यां, गन्धवर्जं चत्वारोऽप्सु, गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि, गन्धरसरूपवर्जं द्वौ नभस्वति, शब्द एवाकाशे, त एव विशेषा आकारा( स्वरूपा )दिधर्मैः सहकृताः 'स्थूला' इत्युच्यन्ते, यथा तत्र पार्थिवा धर्माः 'आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च। वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यते'ति। अपां धर्माः 'स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्। शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः'इति ॥ तैजसो धर्माः—'ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्। प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणमि'ति ॥ वायवीया धर्माः 'तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्। चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधा'इति ॥ आकाशीया धर्माः 'सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः। आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणा'इति ॥ त एते सर्वे पञ्चभूतानां कार्यरूपा धर्माः स्थूला—इत्युच्यन्ते, तत्र तत्र संयमाद् योगिनो स्थूलधर्माणां जयो भवतीति ॥ अथ द्वितीयं रूपं—स्वरूपमिति, स्वस्य

रूपं धर्म इति यावत्, तच्च पृथिव्यां पृथिवीत्वं रूपं जले जलत्वं रूपं तेजसि तेजस्त्वं रूपं वायौ वायुत्वं रूपमाकाशे आकाशत्वं रूपमिति, तेषु रूपेषु संयमात् तत्तद्रूपावच्छिन्नं तत्तत्तत्त्वं स्ववशं भवति, पृथिवीत्वे रूपे संयमात् पृथिवीतत्त्वं स्ववशं भवति, तथा जलादीनि बोध्यम् ॥ अथ तृतीयं रूपं सूक्ष्मं, यथा 'पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्माणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि स्थूलभूतकारणीभूतानि सन्ति तेषु संयमात् सूक्ष्माणां तेषां जयः—स्ववशवर्तिता जायत इति ॥ अथ चतुर्थं रूपम् अन्वयः, यथा 'अन्वयिनो गुणास्त्रयः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः सत्त्वरजस्तमःसंज्ञकाः कार्यस्वभावानुगमनशीला भूतेष्वन्वयित्वेनोपलभ्यमानाः सन्ति, तेषु—अन्वयपदवाच्येषु संयमात् त्रिगुणानां जयो भवति तेन प्रकृतिः स्ववशीभूता भवति ॥ अथ—पञ्चमं रूपम् अर्थवत्त्वं, यथा 'तेषु गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः सा—अर्थपदबोध्या, अर्थवत्त्वं नाम शक्तिमत्त्वम्, तत्र शक्तिविशेषे संयमाद् योगिनस्तस्याः शक्तेर्जयो भवतीति ॥ तत्र प्रथमं स्थूले रूपे संयमं विधाय, तदनु स्वरूपे तदनु सूक्ष्मे, तदनु अन्वये, तदनु—अर्थवत्त्वे चेति क्रमेण कृतसंयमस्य योगिनस्त पञ्चविधा अपि स्वभावा जिता भवन्ति, न पुनरस्य तैः कृतं बन्धनं भवेत्, प्रत्युत प्रादुर्भवेदस्य भूतादिजननस्थितिभङ्गविधानसामर्थ्यम्, तेन यथेच्छति तथा भवन्ति भूतादीनीति ॥ ४७ ॥

तेषां भूतादीनां जये सति यत् फलं जायते तद्दर्शयति—

## ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्माऽनभिघातश्च

ततः—पञ्चविधसंयमेन भूतविजयानन्तरम्, तत्र स्थूलसंयमजयादणिमादिसिद्धयश्चतस्रो भवन्ति, 'अणिमा—महानप्यणुर्भवति, लघिमा—गुर्वपि लघुर्भूत्वेषीकातूल इवाऽऽकाशे विहरति, महिमा—अल्पोऽपि नागनगगगनपरिमाणो भवति, प्राप्तिः—सर्वे भावाः सन्निहिता भवन्ति भूमिस्थ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसमिति, एवं स्वरूपसंयमजयात्प्राकाम्यनाम्नी सिद्धिर्भवति, प्राकाम्यं नाम—इच्छाऽनभिघातः, यथा भूमावुन्मज्जति निमज्जति च यथोदके, तेन नायं योगी कदाचिदपि पञ्चभूतमूर्तिभिरभिहन्यत इति, एवं सूक्ष्मविषयसंयमजयाद्वशित्वनाम्नी सिद्धिर्भवति, वशित्वं नाम सर्वेषां स्थूलसूक्ष्मभूतानां स्वाधीनकत्वम्, भूतानि पृथिव्यादीनि,—भौतिकानि—गोघटादीनि,—भूतकारणानि तन्मात्राणि,—तेषु वशी स्वतन्त्रो भवति, तेन यानि यथाऽवस्थापयति तानि तथा व्यवतिष्ठन्तीति, एवम्—अन्वयविषयसंयमजयादीशित्वनाम्नी सिद्धिर्भवति, ईशित्वं नाम—ईशनशीलत्वं, विजितत्रिगुणात्मकप्रकृतिः सन् योगी त्रिगुणान् तत्कार्याणि च यथाऽभिलाषं व्यवस्थापयितुं समर्थो भवति, यद्देवेच्छति तदुत्पत्तिस्थितिलयादिकं तदेव करोतीति,

एवम् —अर्थवत्त्वसंयमजयात्—कामावसायित्वनाम्नी सिद्धिर्भवति, सा च—सत्य-संकल्पता, विजितगुणशक्तिर्योगी यद् यदर्थकतया संकल्पयति तद् तस्मै प्रयोजनाय कल्पते' विषमप्यमृतकार्ये संकल्प्य भोजयन् जीवयति, इत्येवंविधाः सिद्धयोऽस्य प्रादुर्भवन्तीति । ननु तर्हि परमेश्वर इवाऽयमपि यावत्पदार्थविपर्यासं कुर्यात् , तेन चन्द्रमसं सूर्यं कुर्यात् , अन्धकारं च प्रकाशमिति चेन्न । योगिनः परमेश्वरस्याऽऽ-ज्ञोल्लंघनेऽशक्तत्वात् , किन्तु एतस्मिन् शक्तिविशेषाः समुत्पद्यन्ते तादृशा इति, तथाऽऽप्तत्वमायात् । एवं वक्ष्यमाणा कायसम्पच्चाऽपि जायते, एवं तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामनभिघातो भवति, न कुतश्चिदपि नाशो भवति, पृथिवी स्वमूर्त्या न निरोधं करोति योगिनः पृथिवीशिलान्तःप्रवेशात्मकशरीरविक्रियायाः, न च जलं क्लेदयत्येनम्, न च वह्निर्दहत्येनम्, न च वायुः शोषयति वहति चैनम्, धृतिरहितोऽप्याकाशेऽयं सुस्थिरो भवति, भवति चाकाशमध्येऽनावरणकेऽदृश्यः—अप्युत्तकाय इति ॥ ४५ ॥

कायसम्पदं दर्शयति—

॥ रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।४६।

रूपं—दर्शनीयत्वं रमणीयत्वं गौराङ्गत्वं च शरीरस्य, लावण्यं—वाचि मुख-नेत्रादावन्येषां मनोहरणशक्तिः शान्तिगम्भीरतादिसमन्विता, बलं-तेजः—ओजः—वीर्यं सामर्थ्यमिति, वज्रसंहननत्वं—वज्रवत् कठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीति ४६

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥

ग्रहणञ्च स्वरूपञ्चाऽस्मिता चाऽन्वयश्चाऽर्थवत्त्वं चेति, तेषु संयमात् इन्द्रियजयः तद्यथा तत्र प्रथमं-ग्रहणं नाम श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोऽ-भिधानानामेकादशेन्द्रियाणां याः स्वस्वग्राह्येषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनाऽऽदान-विहरणोत्सर्गाऽऽनन्दसङ्कल्पाख्येषु क्रमशो वृत्तयः विषयाकारा बुद्धिपरिणतयः, तत्र संयमाद्वृत्तीनां जयो भवति । अथ द्वितीयं स्वरूपम्, स्वस्य रूपं धर्म इति यावत्, यथा श्रोत्रे श्रोत्रत्वम्, त्वचि त्वक्त्वम् , चक्षुषि चक्षुष्ट्वम्, रसनायां रसनात्वम्, घ्राणे घ्राणत्वम्, वाचि वाक्त्वम्, पाणौ पाणित्वम्, पादे पादत्वम्, पायौ पायुत्वम्, उपस्थे उपस्थत्वम्, मनसि मनस्त्वम्, इति तेषु रूपेषु संयमात् तत्तद्रूपावच्छिन्नं तत्तच्छ्रोत्रादितत्त्वं स्ववशं भवति—यथा श्रोत्रत्वे धर्मे संयमाच्छ्रोत्रतत्त्वं स्ववशं भवति, एवं त्वक्त्वे चक्षुष्ट्वे रसनात्वे घ्राणत्वे वाक्त्वे पाणित्वे पादत्वे पायुत्वे-उपस्थत्वे मनस्त्वे च धर्मे संयमात् क्रमशः श्रोत्रतत्त्वं त्वक्तत्त्वं चक्षुस्तत्त्वं रसनातत्त्वं घ्राणतत्त्वं वाक्तत्त्वं पाणितत्त्वं पादतत्त्वं पायुतत्त्वमुपस्थतत्त्वं मनस्तत्त्वं चेति स्ववशं

भवति । अथ तृतीयम्–अस्मिता, अहंकारः–अस्मेर्भावः, स चेन्द्रियाणां कारणभूतः सूक्ष्मः, तत्र संयमात्–अहंकारस्य जयः–स्ववशवर्तिता भवतीति । अथ चतुर्थः–अन्वयः,–अन्वयिनो गुणास्त्रयः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः सत्त्वरजस्तमःसंज्ञकाः कार्यस्वभावानुगमनशीला इन्द्रियेषूपलभमाना भवन्ति, येषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामः, तेषु त्रिगुणेषु संयमात् त्रिगुणजयो भवतीति । अथ पंचममर्थवत्त्वम्, तेषु गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिरर्थशब्दबोध्या, तत्र शक्तौ कृतसंयमस्य योगिनस्तस्याः शक्तेर्जयो भवति, तदत्र–प्रथमं ग्रहणे ततः स्वरूपे ततोऽस्मितायां ततोऽन्वये ततोऽर्थवत्त्वे चेति संयमेन ते पञ्चस्वभावा जिता भवन्ति, तेनेन्द्रियजयी भवतीति ॥ ४७ ॥

इन्द्रियजये सति याः फलसिद्धयस्ताः दर्शयति—

## ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

ततः–पञ्चविधसंयमेनेन्द्रियजयानन्तरम्, मनोजवित्वम्–मनोवच्छीघ्रतरो वेगलाभो गतिविशेषो वा शरीरस्य जायते, विकरणभावः–इन्द्रियाणां विकीर्णतास्वभावो–व्यापिता–इति यावत्, शरीरनिरपेक्षाणामत एव बहिर्देशस्थानां तेषां यत्र देशकालाद्यवच्छिन्ने बहिर्विषये वृत्तिलाभ इष्यते तत्र वृत्तिलाभो भवतीति, प्रधानजयः, सर्वप्रकृतिविकाराणां स्ववशित्वम्, ता एतास्तिस्रः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्तीति ॥ ४८ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाऽधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

शुद्धे प्रकाशात्मके सात्त्विके बुद्धितत्त्वे कृतसंयमस्य योगिनः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरुत्पद्यते, अथ च प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकज्ञानरूपे सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रे कृतसंयमस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च भवति, सर्वेषां त्रिगुणपरिणामानां भावानाम् अधिष्ठातृत्वं स्वामिवद्भवतीति, सर्वे भावात्मका गुणपरिणामाः स्वामिनं पुरुषं प्रति स्वाधीनत्वेनाऽशेषभोग्यत्वेनोपतिष्ठन्ते, यावत्प्रकृतिकार्यनियन्ताऽयं योगी जायत–इति यावत्, स योगी यद्यद्विषयकसङ्कल्पवान् भवति तत्सर्वमस्य समुपतिष्ठतइति । एवं सर्वेषां शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मत्वेनाऽवस्थितानां त्रिगुणपरिणामानां तथा सर्वेषां बद्धमुक्तेश्वरपुरुषाणां चैकदैव विवेकजं ज्ञानं जायते, तदिदं सर्वज्ञत्वं यथार्थसाक्षात्कार इत्युच्यते, इयं हि–परया वशीकारसंज्ञया वैराग्यभूम्या सुलभ्याया "विशोकानाम्नी ज्योतिष्मती" सिद्धिरिति ॥ ४९ ॥

सर्वसिद्धिमूर्धन्यं मोक्षात्मकं सिद्धिविशेषं दर्शयति——

## तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

यदा बुद्धिसत्त्वे कृतसंयमस्याऽस्य योगिनो विवेकख्यातिः–'बुद्धिः परिणामिनी जडाऽन्या,–पुरुषश्चाऽपरिणामी शुद्धस्तदन्य' इत्येवंरूपा जायते, तदानीं वशीकार-संज्ञकवैराग्येण सहकारिणा–बुद्धिसत्त्वं हेयपक्षे व्यवस्थापनीयम्, अथ चाऽखिलवासनात्मकानि क्लेशबीजानि भर्जितधान्यकल्पानि प्रसवाऽसमर्थानि चित्तेन सह लयं गतानि भवन्ति, तदा पुरुषस्य 'आत्यन्तिको गुणवियोगो'–कैवल्यमिति भवति, उक्तं च साङ्ख्यकारिकायां–"प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति' इति तदाऽस्य स्वरूपेऽवस्थानं भवति तादात्म्येन चेतन एव पुरुष इति, तथा च कैवल्यम्—'आत्यन्तिकदुःखत्रयात्यन्ताभावत्वे सति स्वस्वरूपमात्रावस्थानत्वम्' तत्र परमेश्वरमात्राऽवलम्बनत्वमपि विशेषणं देयमिति ॥ ५० ॥

चत्वारः खल्वमी योगिनो भवन्ति, तत्र अभ्यासवान् प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः, मधुभूमिकः–ऋतम्भराप्रज्ञो द्वितीयः, प्रज्ञाज्योतिर्भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, अतिक्रान्तभावनीयः परवैराग्यवान् प्राप्तसप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञश्चतुर्थः, तत्र प्रथमयोगिने निमन्त्रणार्थं महेन्द्रादयः समुपस्थिता न भवन्ति, तृतीयायाऽपि भूतेन्द्रियवशिने न ते निमन्त्रणदातारो भवन्ति, चतुर्थाय च परमवैराग्यसम्पत्तिमतेऽपि न ते उपनिमन्त्रणार्थमागच्छन्ति, किन्तु द्वितीय एव ऋतम्भराप्रज्ञस्तदुपनिमन्त्रणविषयो भवति, अतो द्वितीयां मधुमतीभूमिकां साक्षात्कुर्वत —

## स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाऽकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिपतयो महेन्द्रादयो देवाः, ते स्वर्गादिलोके नयनाय उपनिमन्त्रयन्ते 'भोः ! अस्मल्लोकनिवासेष्वागत्याऽऽस्यतां रम्यतां च, कमनीया अस्मद्भोग्या अङ्गीक्रियन्ताम्, कमनीया च स्वर्गीयकन्या स्वीक्रियताम्, जरामृत्युनिवारकं रसायनमिदं सेव्यताम्, गगनगामीदं यानमधिष्ठीयताम्, इमे कल्पवृक्षाः पवित्रा च गङ्गाऽप्सरसश्च भवतामेव भोग्याः, दिव्यं शरीरम्, उत्तमाः सिद्धा महर्षयश्चाऽनुकूलाः दिव्यानीन्द्रियाणि भोगतदुपकरणानि च दिव्यानि भवदर्थानि, अविनाशि सदाऽभिनवं स्वर्गसिंहासनं चाऽलंक्रियताम्'' इति । एवं प्रलोभितो योगी तत्तत्पदार्थेषु संगं विस्मयं च न कुर्यात्, किन्तु तत्तत्सङ्गदोषान् भावयेत्–
''भयंकरे संसारवह्नौ पच्यमानेन जन्ममृत्युतिमिरे विपरिवर्तमानेन च मया क्लेश-

तिमिरध्वंसको योगदीपः कथञ्चित्समासादितः, तद्विरोधिनो विषयवासनापवनाः प्रतिपक्षाः, कथमहं स्वश्रेयोमार्गमविष्टः पुनस्ता वासनाः स्वीकुर्याम्, तेषां सर्वपदार्थानां जन्ममरण-प्रदातृत्वमत एव न तत्सङ्गो विधेय" इति ॥ एवं सङ्गमकृत्वा विस्मयमपि न भावयेत्—"अहोऽहं देवानामपि प्रार्थनीय" इति विस्मितो न भवेत्, विस्मयेन स्वस्य सर्वेश्वरत्वं मन्यमानोऽपुष प्रमादी सन् कदाचित्पुनर्योगस्य पराकाष्ठां प्राप्तुं न शक्नोत चेत् ! तदा मधुमतीभूमिकासंतृप्त एव कालेन शरीराद्वियुक्तः पुनर्जन्माधिकारी भवेदिति, अथवा तु जीवत्येव तस्मिन् कदाचित्कर्मबीजवासनाः क्लेशाङ्कुराण्युत्पादयेयुः, ततः पुनरनिष्टस्य स्वस्थितिपतनस्य प्रसङ्गो भवेदिति, तस्मान्निमन्त्रयितृप्रदर्शितविषयेषु सङ्गस्मयावकुर्वता योगिना स्वनिःश्रेयसपदप्रः प्रकर्षेण सम्यगापरमेश्वरप्राप्त्युराऽवधिकः समुन्नेयः, तेनाऽस्मिन्नेवाऽवतारे संसिद्धः सः प्रेत्य न पुनर्भवाय कल्पत इति ॥ ५१ ॥

विभूत्यन्तरं दर्शयति—

## क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

यथा घटाद्यवयविनामवयवधारायाः पृथिवीतत्त्वे तु परमाणुरूपे विश्रामो, न ततः परं पृथिवीतत्त्वं लभ्यते, तथा कालस्य समयविशेषस्य सम्वत्सरमासादिधारायाः कालतत्त्वे तु क्षणरूपे विश्रामः, स च क्षणः—उपाधिव्यवहार्यः, उपाधयश्च स्व(क्रिया)जन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा, इति तेषां क्षणानां यः क्रमः-तत्प्रवाहाऽविच्छेदः, तत्र क्षणेषु तत्क्रमेषु च संयमे कृते सति सर्ववस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोरपि विवेकात् सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययाज्जायमानं सर्वज्ञातृत्वं विवेकख्यात्यात्मकं ज्ञानं पूर्वोक्तं जायत इति ॥ ५२ ॥

किञ्च क्षणतत्क्रमयोः संयमे कृते सति—

## जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

पदार्थानां परस्परभेदप्रयोजकाः—जाति-लक्षण-देशाः भवन्ति, क्वचिज्जात्या भेदो व्यज्यते यथा मनुष्यत्वपशुत्वाभ्यां मनुष्यपश्वोः, क्वचिच्च जात्या तुल्ययोरपि लक्षणेन भेदो व्यज्यते गोत्वजात्या तुल्ययोरपि श्वेतनीलगवोः शुक्लनीललक्षणाभ्यां भेदः, क्वचिज्जात्या लक्षणेन च तुल्ययोरपि पदार्थयोर्देशेन भेदः-यथा तुल्यजातिलक्षणयोर्जलयोर्भिन्नदेशस्थत्वेन भेदः, येषां पुनर्जातिलक्षणदेशैः-अन्यतायाः-भेदस्याऽनवच्छेदात् अवधारणं न भवति यथा एकदेशस्थयोः श्वेतयोः

पार्थिवपरमाण्वोर्जातिलक्षणदेशैरपि भेदो न स्पष्टयते, तादृशेषु पदार्थेषु संयमे कृते सति भेदेन ज्ञानस्य प्रतिपत्तिर्भवति योगिनः, सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन विज्ञायन्त इति ॥ येन केनाऽप्युपायेन ययोर्भेदो नावधारयितुं शक्यते तयोः क्षणतत्क्रमयोः कृतसंयमस्य योगिनो यथार्थभेदज्ञानमुत्पद्यत इति तात्पर्यम् ॥ ५३ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमात्प्राप्तस्य विवेकजन्यज्ञानस्य संज्ञाविषयस्वभावाः प्रदर्श्यन्ते–

## तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

विवेकजं ज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः, शेषं लक्षणम्, तस्य संज्ञा 'तारक'मिति, संसारसागरात्तारयतीति तारकं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमिति, तच्च ज्ञानं सर्वविषयं–नाऽस्य किमपि किञ्चिदपि अविषयीभूतमवशिष्यते, स्वभावेन चेदं सर्वथाविषयम् भूतभविष्यत्कालीनविषयविषयकमपि तद्बोध्यम्, किञ्च–अक्रमम्–निःशेषनानावस्थापरिणामत्रयविशिष्टपदार्थग्रहेण नाऽस्य क्रमो विद्यते, एकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः, तदेवंविधे तारके समुत्पद्यमाने सति योगी सर्वं करतलामलकवत् पश्यतीति ॥ ५४ ॥

तदेवंविधस्य तारकज्ञानस्य सर्वोत्तमकाष्ठं फलं दर्शयति––

## सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

सत्त्वं बुद्धितत्त्वम्, पुरुषः–तत्संयोगी चेतनः, तयोः शुद्धिसाम्ये सति कैवल्यं भवति, तत्र निरस्तरजस्तमोमलं विवेकख्यातिमात्राऽधिकारं दग्धाऽनागतक्लेशरूपविपाकाख्यसंस्कारबीजं विशदसत्त्वमात्रोपारूढं यदा बुद्धिसत्त्वं भवति, सेयं तस्य विशुद्धिः, तदा च बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्वरूपमिव स्वच्छं भवति, अत एव भोगाऽसम्पादकं, एवं च सति पुरुषोऽपि निवृत्तप्रकृतिभोग अत एवोपचरितप्रकृतिभोगाभावो विवेकेन प्रकृतिं पश्यन् प्रकृत्याऽसम्भिन्नस्वरूपमात्रेणावस्थितो भवति, सेयं पुरुषस्य शुद्धता, तदेवं द्वयोः शुद्धिसाम्यावस्थायां सत्याम् प्रारब्धकर्मात्मकप्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरं पुरुषस्य कैवल्यं भवति। वस्तुतस्तु-विवेकजतारकज्ञानेनाऽदर्शनं–बुद्धिः विलुप्यते, तस्मिन्विलुप्ते सति न सन्ति क्लेशाः, तेषामभावे कर्मविपाकविरहः, तदानीं चरिताऽधिकारगुणा न पुनः पुरुषस्य दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते, तदा स्वरूपमात्रज्योतिरमलो भवति पुरुषः, प्रारब्धक्षये च सति "प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति

पुरुषः" इति, अत्र कैवल्यं प्रति तारकज्ञानस्य प्रयोजकत्वं प्रदर्शितम्, तत्राऽपि स्वधर्मवैराग्यभगवद्भक्तीनां सहकारित्वमनुसन्धेयमिति ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे-'श्रीमहार्शनिकपञ्चानन-षड्दर्शनाचार्य्य-
नव्यन्यायाचार्य्य-सांख्ययोग-वेदान्त-मीमांसातीर्थ-पण्डित-
''श्रीकृष्णवल्लभाचार्य्य''-स्वामिनारायणविरचिते
भाष्ये तृतीयः विभूतिपादः ॥

# अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

अथ समाधितत्साधनादिहेतुकस्य कैवल्यस्य कैवल्ययोग्यस्य चित्तस्य च व्युत्पादनार्थं चतुर्थपादारंभः, भवति च चित्तं महासिद्धिसहितं कैवल्यभागीयम्, सिद्धयश्च पूर्वं बह्व्यः प्रतिपादिताः, तासां सामान्यतः पञ्चविधत्वं दर्शयति—

## जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

तत्र स्वर्गोपभोगभागीयात् कर्मणो मनुष्यजातीयाऽऽचरितात् कुतश्चिन्निमित्ताल्लब्धपरिपाकात् क्वचिदेव देवनिकाये जातमात्रस्यैव भवन्ती सम्यगणिमादिसिद्धिर्जन्मजा, मनुष्यो हि कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनमुपसंप्राप्तः कमनीयाभिरसुरकन्याभिरुपनीतं रसायनमुपयुज्याऽजरामरणतामन्याश्च सिद्धीरासादयति, इहैव वा रसायनोपयोगेन यथा 'माण्डव्यो' मुनी रसोपयोगाद्विन्ध्यवासी जात इति सेयमौषधिजा सिद्धिरिति, याश्च विविधमन्त्रप्रयोगेणाऽऽकाशगमनजलप्रवेशादिसिद्धयस्ताः—मन्त्रजाः, या च स्वसङ्कल्पसिद्धिः-यदेव कामयतेऽणिमादि तच्छीघ्रमस्य भवति, यत्र कामयते द्रष्टुं श्रोतुं मन्तुं वा तत्र तत्रैव पश्यति शृणोति मनुते वेत्यादयस्तपोजन्याः सिद्धयः, समाधिजास्तु व्याख्याताः पूर्वपाद इति ॥ १ ॥

यदा सिद्धयो भवन्ति तदा शरीरेन्द्रियाण्यपि परिणतानि समुपलभ्यन्ते सिद्धानाम्, तथा च प्रागन्यजातीयपरिणतानां शरीरेन्द्रियाणां पश्चादन्यजातीयपरिणामः कस्माज्जायत इत्याकांक्षायामुत्तरयति—

## जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

प्रकृतिरत्र-कारणम्, आपूरो नाम-अनुप्रवेशः, तथा च मनुष्यजातीयपरिणतानां शरीरेन्द्रियाणां यो देवतिर्यग्जातिपरिणामः स खलु कारणानुप्रवेशात्, शरीरस्य प्रकृतिः—कारणं पृथिव्यादिभूतानि, इन्द्रियाणां प्रकृतिरहंकारः, यदा पञ्चभूतानां कारणरूपाणां परिणामो भवति तदा तज्जन्यशरीरस्यापि परिणामो जायते एवमेवाऽहंकारस्य परिणतौ सत्यां तज्जन्येन्द्रियाणामपि परिणामो भवति, योगिनां पञ्चभूतानि शरीरजनकानि योगप्रभावेण परिणतानि भवन्ति, यदि योगिनः शरीरान्तर्गता पृथिवी स्वस्या गुरुत्वं विहाय वर्तते जलं च रूपरसादिरहितं सम्पद्यते, तदा शरीरपरिणामो जायते, कायव्यूहपरिणामे श्रुतिः—"स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा शतं दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति"रित्यादि, अत एव याम-

नायवतारादीनां क्षणादेव त्रिभुवनव्यापिस्वविश्वरूपत्वादिकं मार्कण्डेयादिभ्यो विष्णुना मायाप्रदर्शनं च प्रकृत्यापूरेण तडिन्मालायामिव क्षणभङ्गुरेणेति व्याख्यातम्, अगस्त्यादीनां समुद्रपानादिकं च तोयादिप्रकृत्यपसारणेनेति ज्ञेयम्, एवमेव विश्वं परमेश्वरस्य माया-इति गीयते, ऐन्द्रजालिकवत् क्षणेनैव प्रकृत्यापूरापसरणादिभिर्जगदन्यथयितुमुत्पादयितुं विलोपयितुं च परमेश्वरः सङ्कल्पमात्रेण शक्नोति, सूक्ष्मदृष्ट्या तु प्रतिक्षणं तथा करोत्येवेति पश्यन्तु योगिनो भगवत्तुल्यमिति, ताश्च प्रकृतयः-धर्मादिनिमित्तमपेक्ष्य स्वं स्वं विकारमनुप्रवेशेनाऽनुगृह्णन्तीति ॥ २ ॥

ननु धर्मादिनिमित्तैः प्रकृतय आकृष्यन्ते चेत् तदा प्रकृतिस्वातन्त्र्यसिद्धान्तहानिः स्यादिति चेत्-

## निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

प्रकृतीनां-कारणानाम्, प्रयोजकम्-प्रेरकम्, निमित्तं-धर्मादिकं, न भवति, धर्मादेः प्रकृतिकार्यत्वात्, न च कार्यं धर्मादिकं स्वकारणं प्रयोजयति, कार्यस्य कारणाधीनोत्पत्तिकतया कारणपरतन्त्रत्वात्, भवति हि स्वतन्त्रस्यैव प्रयोजकत्वम्, नहि कुलालमन्तरेण मृद्दण्डचक्रसलिलादय उत्पत्स्यमानेनोत्पन्नेन वा कार्येण घटेन प्रयुज्यन्ते, किन्तु स्वतन्त्रेण कुलालेनैव, एवमेव कार्यात्मका धर्मादयो न स्वतन्त्रा अत एव न प्रयोजकाः किन्तु स्वतन्त्रा मूलप्रकृतिरेव प्रयोजिका तथा च न प्रकृतिस्वातन्त्र्यहानिरिति । ननु प्रकृतिश्चेत् स्वतन्त्रा तर्हि धर्मेश्वरयोगिसंकल्पादीनां प्रकृतिपरिणामनिमित्तत्वं कथमुपपद्येत ? इति चेत्-'वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदि'ति, ततः-तस्मादनुष्ठीयमानाद्धर्मात्, वरणम्-आवरकमधर्मादि, भिद्यते, तस्मिन् प्रतिबन्धके क्षीणे सति प्रकृतयः स्वयं स्वाभिमतकार्याय प्रभवन्ति, तत्र दृष्टान्तयति-क्षेत्रिकवदिति, यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात्केदारान्तरं प्रति जलं निनीषुर्जलप्रतिबन्धकाऽऽवरणभेदमात्रं करोति, तस्मिन् भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरणरूपं परिणामं गृह्णाति, न तु जलप्रसरणे क्षेत्रिकस्य कश्चित्प्रयत्नः, एवमेव धर्मादीनां-तदावरणभेदकत्वमेव-निमित्तत्वं बोध्यमिति, किञ्च-यथा संस्कार एव स्मृतिहेतुः समानाकाराऽदृष्टचिन्तादयस्तु-अनुगततया संस्कारस्योद्बोधका एव, उद्बोधश्च निद्रादिदोषरूपाऽऽवरणभङ्गः, तथैव प्रकृतिरेव स्वतन्त्रा जगत्कारणम्, धर्मेश्वरयोगिसंकल्पादयस्तु प्रकृतेः कार्यजननशक्त्युद्बोधकाः, तत्र धर्मः-स्वविरुद्धाऽधर्मरूपावरणभङ्गेन-उद्बोधकः, परमेश्वरस्तु-साम्यपरिणामात्मकाऽखिलावरणभङ्गेन-उद्बोधकः, योगिसंकल्पस्तु-स्वसमानकालीनपदार्थस्य तत्कालीनपरिणतेर्भङ्गेन

तद्बोधकः, एवम् 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणमि'त्यत्रापि पुरुषार्थो गुणानां साम्यपरिणामभेदक इति बोध्यम् ॥ ३ ॥

यदा साक्षात्कृततत्त्वस्वरूपो योगी युगपत्कर्मफलभोगायाऽऽत्मीयनिरतिशयविभूत्यनुभवाद्युगपदनेकशरीराणि निर्मिमीते तदा किम्! एकमनस्को भवति उत! अनेकमनस्क इति चेत्—

## निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

योगिना स्वयं निर्मितेषु कायेषु स्वसंकल्पेन निर्मितान्यनेकचित्तानि निर्माणदेहसमसंख्याकानि भवन्ति, तत्र संकल्पमात्रेण मनसो निमित्तमात्रत्वं बोध्यम्, निर्माणचित्तेषु प्रयोजकन्तु—अस्मितामात्रम्, अस्मिता-नाम-अहंकारः, स एव मनसः कारणम्, एवं यावदिन्द्रियान्तःकरणान्यपि प्रतिशरीरं भिन्नान्येव निर्मितानि भवन्ति, तेषां कारणमहंकारः तस्मादहंकारादेवोपादानकारणात् निमित्तेन योगिसंकल्पेन—इन्द्रियान्तःकरणानि प्रतिनिर्माणशरीरं भिन्नानि भवन्तीति। ननु निर्मातृचित्तस्यैकस्यैव प्रदीपवत् कायव्यूहेषु प्रकाशवृत्तिसंभवे किमर्थं देहभेदेनाऽन्तःकरणभेदोऽभ्युपगम्यत इति चेन्न। समाधिभोगयोर्ज्ञानाऽज्ञानयोश्चैकदैकस्मिञ्चित्ते विरोधेन चित्तभेदः सिद्ध्यति, तदेतच्छरीरभेदेन नानाचित्तैर्विहरन्नानाकार्यकारित्वं योगिनां स्मर्यते वायुपुराणे—''एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः। भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः॥ तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि॥ एकधा तु द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः। योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिवे'ति ॥ ४ ॥

ननु यदि चित्तानि विभिन्नानि भवन्त्येकस्यैव योगिनः स्वनिर्मितेष्वनेकशरीरेषु, तदा बहूनां चित्तानां भिन्नाऽभिप्रायकत्वादेककार्यकर्तृत्वं कथमुपपद्येतेत्याशङ्कायामुत्तरयति—

## प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकषाम् ॥ ५ ॥

तेषामनेकेषां प्रवृत्तिभेदे—व्यापारनानात्वे, एकमेव योगिनश्चित्तं प्रयोजकं—प्रेरकम् अधिष्ठातृत्वेन भवति, यथा स्वशरीरस्थानि श्रोत्रत्वक्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि यथेच्छं प्रेरयत्यधिष्ठातृत्वेन मनः, तथा कायान्तरेष्वपि तेषां बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताऽभिप्रायानुसारिणी प्रवृत्तिः स्यादित्याशयेन योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं निर्मिमीते,—नियामकं करोति, ततस्तु मूलचित्ताऽभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिः समुपपद्यते, अत एकैककार्यकारित्वमपि सूपपद्यत इति ॥ ५ ॥

चित्तमुक्तं पञ्चविधं १-जन्मजसिद्धियुक्तम्, २-औषधिजसिद्धियुक्तम्, ३-मन्त्रजसिद्धियुक्तम्, ४-तपोजन्यसिद्धियुक्तम्, ५-समाधिजन्यसिद्धियुक्तं चेति, तत्राऽपवर्गयोग्यं चित्तमवधारयति—

## तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तत्र-विविधसिद्धियुक्तचित्तेषु ध्यानजं-समाधिजसिद्धियुक्तं चित्तम्, अनाशयम्-आशेरते इत्याशयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च, त एते न विद्यन्ते यस्मिन् तदनाशयं चित्तम्, तदेवाऽपवर्गभागीयं भवति, यतो रागादिनिबन्धना प्रवृत्तिस्तत्र नास्त्यतो नास्ति पुण्यपापादिसम्बन्धः, तस्य दग्धक्लेशकर्मवासनावत्त्वात्, इतरेषां तु चतुर्णां चित्तानां विद्यते क्लेशकर्मविपाकाशयः, यावच्च क्लेशकर्मविपाकाशयस्तावन्न मोक्षः, ध्यानजे चित्तसमाधौ सति तु प्राणेशाऽपुनर्जन्मरूपो मोक्ष इति ॥ ६ ॥

यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा योगिनां कर्माऽपि विलक्षणं प्रदर्शयति—

## कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

कर्मसामान्यं चतुर्विधं-कृष्णम्, शुक्लकृष्णम्, शुक्लम्, अशुक्लाकृष्णं चेति, तत्रेतरेषाम्-अयोगिनां त्रिविधं कर्म, तत्र कृष्णं कर्म ब्रह्महत्यादि तमोवर्धकत्वाद्दुःखफलदं नारकिणाम्, कृष्णशुक्लं कर्म रजोवर्धकत्वात् सुखदुःखोभयफलदं मनुष्याणाम्, शुक्लं कर्म सत्त्ववर्धकत्वात् सुखमात्रफलदं यागादि विचक्षणानां दानतपःस्वाध्यायादिमतां जनानाम्, ज्ञानिनां निष्कामानां सन्न्यासवतां योगिनां तु तत्त्रिविधकर्मविपरीतम् अशुक्लाऽकृष्णं विहितम्, यत् फलत्यागानुसन्धानेनैवाऽनुष्ठानान्न किञ्चित्फलमारभते, तथा च स्मर्यते 'त्यक्त्वा कर्मफलाऽसंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' इति । यतः स निर्गुणं कर्म करोत्यत एव क्लेशकर्मविपाकाशयरहितः सन् परमेश्वरचरणं विन्दते, परमेश्वरे सर्वक्रियासमर्पणं तदेवाऽशुक्लाऽकृष्णं कर्मेति बोध्यम् ॥ ७ ॥

तत्र यत्त्रिविधं कर्म तस्य फलं दर्शयति—

## ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम् ८

ततः-त्रिविधात् कर्मणः, तद्विपाकानुगुणानां वासनानामभिव्यक्तिर्भवतीति, अयमर्थः' शुक्लेन कर्मणा देवताशरीरप्राप्त्यनुगुणा वासना भवन्ति, ताभिश्च जात्यायुर्भोगा देवतादिशरीरे जायन्ते, एवं कृष्णेन कर्मणा नारकिशरीरप्राप्त्यनु-

गुणा वासना जायन्ते, ताभिश्च तदनुरूपा जात्यायुर्भोगा नारकिशरीरे जायन्ते, एवं शुक्लकृष्णेन कर्मणा मनुष्यशरीरप्राप्त्यनुगुणा वासना जायन्ते, ताभिश्च जात्यायुर्भोगा मनुष्यशरीरे तदनुरूपा जायन्ते, येन कर्मणा यादृशं शरीरं भविष्यत्काले प्राप्तव्यं तद्विषयकस्मरणादि ताभिर्वासनाभिर्भवन्ति, स्मरणानुगुणानां जात्यायुर्भोगानां साधनभूतशरीरस्य योगश्च भवति। अथ संस्कारा यावन्न फलमुद्भवति ताव-ज्जन्मान्तरव्यवधानेऽपि तिष्ठन्त्येव, यथा मनुष्यजन्मानन्तरं मार्जारशरीरव्यव-धानेऽपि मनुष्यजन्मनि सम्पादिताभिः पुनर्मनुष्यजन्मयोगप्रदवासनाभिर्मार्जारश-रीरभोगानन्तरमेव मनुष्यशरीरं सम्पाद्यते, यावत्पुनर्मनुष्यशरीरप्राप्तिस्तावत् तदनु-गुणा वासना मध्यपातिमार्जारशरीरयोगे सति कारणरूपतया बीजमात्रतयाऽऽत्मनि तिष्ठन्त्येव, अतो येन कर्मणा पूर्वं मनुष्यादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्याऽऽरम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभ-वन्ति ताभिश्च तदनुगुणशरीराऽभिसम्बन्धो भवतीति ॥ ८ ॥

ननु पूर्वमनुष्यजन्मकृतकर्मानुरूपवासनाभिर्मध्ये पश्वादिजन्मान्तरव्यवधाने सत्यपि पुनर्मनुष्यजन्मान्तरे स्मृतयः समुत्पद्यन्ताम्—इत्ययुक्तम्, यतो हि अव्यव-हितोत्तरजन्मनि जायमानस्मरणं प्रति तदव्यवहितप्राग्जन्मसंस्काराणामेव कारण-त्वौचित्यात्, तथा च पश्वादिशरीरावच्छेदेन जायमानवासनानां तदुत्तरमनुष्यशरी-रानुगुणस्मरणं प्रति कारणत्वमापद्येतेति, तन्निवारयति—

## जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामपि वासनानाम्, आनन्तर्यम्—अव्यवहितवत् कार्य-कारित्वं भवति, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्—एकाकारत्वात्। तद्विषयकतज्जातीय-स्मरणं प्रति तदात्मसमवेततद्विषयकतज्जातीयानुभवजन्यसंस्कारस्य कारणत्वात् ये मनुष्यजन्मनि कृतकर्मानुरूपाः संस्कारास्त एव पशुजन्मव्यवहिते मनुष्यजन्मान्तरे जायमानस्मृतिं प्रति कारणीभूता न तु मनुष्यजन्माननुगुणाः पश्वादिजन्मानु-गुणाः, पश्वादिजन्माऽनुगुणास्तु संस्काराः पश्वादिजन्मानुगुणस्मृतिं प्रति कारणी-भूताः, पूर्वमनुष्यजन्मन्यनुष्ठीयमानात्कर्मणोऽनुभवे सति वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते, स चाङ्कुररूपः, तस्मात् स्मृतिः, स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगः, तदनुभ-वाच्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः, एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नविषयका-स्तत्र समानविषयकत्वाभावाद् दुर्लभः कार्यकारणभावः, तथा च न पश्वादिज-न्मानुगुणसंस्काराणां मनुष्यजन्मानुगुणस्मरणं प्रति कारणत्वम्, यत्र च समानवि-षयकत्वं तत्र स्मृतिसंस्कारयोरानन्तर्यं कार्यकारणभावश्च घटते, अतो जातिदेश-

कालव्यवहितेभ्योऽपि संस्कारेभ्यः स्वसमानाकारा स्मृतयो जायन्ते, एवमेव व्यवहितानामपि कार्यकारणभावाऽनुच्छेदाद् आनन्तर्यमपि युक्तं भवतीति ॥ ९ ॥

ननु भवतु नाम जन्मान्तरीयस्मृतिं प्रति तदनुगुणप्राग्भवीयवासनानां कारणत्वं किन्तु ता वासनाः पुनः किम् आदिमत्य उताऽनादिन्य ! इत्याकांक्षायामुत्तरयति--

## तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

तासां वासनानामनादित्वं, न विद्यते आदिर्यस्यास्तस्या भावस्तत्त्वम्, तासामादिर्नास्ति यतो हि--आशिषो महामोहरूपायाः 'सदा सुखसाधनानि मे भूयासुर्मा कदाचन सुखसाधनैर्मे वियोगो भूदि'ति संकल्पस्य वासनाप्रयोजकीभूतस्य अनादित्वात् तत्प्रयोज्यसंस्काराणामप्यनादित्वं बोध्यमिति,-प्रयोजकस्य सन्निहितत्वेऽनुभवसंस्कारादीनां प्रयोज्यानां प्रवृत्तिप्रक्रिया केन निवार्यते, अनुभवसंस्काराद्यनुविद्धं चित्तं प्रकाशात्मकमनादि, तदेव तत्तदभिव्यञ्जकविपाकलाभात् तत्तत्फलरूपतया परिणमते, अतो मूलकारणीभूतचित्तस्याऽनादित्वात् तद्धर्मात्मिकानामाशिषामपि नित्यत्वम्, तादृशाऽऽशिःप्रयोज्यवासनानामपि नित्यत्वमतएवाऽनादित्वम्, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति ॥ १० ॥

नन्वेवं कार्यकारणतादात्म्याद् वासनानामनादित्वप्राप्तौ तासां कदापि हानं न स्यात्, तथा चाऽऽत्मनोऽप्यनिर्मोक्षापत्तिः स्यादिति चेन्न—

## हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥

अनादेरपि समुच्छेदो दृष्टः, यथा प्रागभावस्य, तथा च व्यभिचारान्न ह्यनादित्वमुच्छेदकप्रतिबन्धकमिति । किञ्च—वासनाः संगृह्यन्ते हेतुफलाऽऽश्रयाऽऽलम्बनैः, हेतुफलाऽऽश्रयालम्बनानां नाशे वासनानामपि नाशः युक्त एवेति, इदं हि संसारचक्रं षडरं प्रवृत्तं भवति, धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति षडराः, तत्र धर्मात् सुखम्, अधर्माद् दुःखम्, सुखाद् रागः दुःखाद् द्वेषः, रागात्तद्विषयग्रहणानुकूलप्रयत्नवान् धर्मं करोति, द्वेषाच्च तद्विषयपरित्यागानुकूलप्रयत्नवान् द्वेषप्रेरितः सन्—धर्मं करोति, पुनः सुखदुःखे पुना रागद्वेषौ, इत्येवमेवाऽनिशमिदं संसारचक्रं प्रवर्तते, षडराणां मूलहेतुरविद्या आत्मिका, वासनानां साक्षात्परम्परया वा कारणीभूता सैवाऽविद्या यावत्तिष्ठति तावद्भवन्ति वासनाः, एवं फलं धर्माऽधर्मादिकं प्रवर्तकं यावत्तिष्ठति तावद्भवन्ति वासनाः, एवम्—आश्रयं चित्तं यावद् वर्तते तावद् भवन्ति वासनाः, एवम्—आलम्बनं सुखादिप्रदविषयेषु तृष्णा यावद्वर्तते तावद्भवन्ति वासनाः, तदेतेषां वासनाजीवनमूलानां मध्ये याऽविद्या तस्यास्तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धबीजभावत्वे विहिते सति कारणनाशे फलानां धर्माऽधर्मादीनामपि लयो भवति,

चित्तमपि विवेकख्यातिमतः पुरुषस्य स्वकारणे प्रकृत्यात्मके लयं याति तथा सति विषयतृष्णा तु सुतरां लयं प्राप्ता भवति, एवं च हेतुफलाश्रयालम्बनानां विनाशे तत्संश्रयाणां वासनानां सुतरामभावो विनाशः क्षयः सम्पद्यत इति ॥११॥

ननु योगानां सत्ख्यातिसिद्धान्ते सर्वमेव सत्कार्यं स्थूलसूक्ष्माऽन्यतरावस्थं सर्वदा सत्तावदेव भवति न हि कदापि तस्याऽसत्ता स्वीक्रियते, तथा च नास्ति सतो विनाशः, न चाऽसतः संभवः, अतो द्रव्यस्वरूपेण सद्रूपाणां वासनानां कथं लयो युक्त इति चेन्न । लयो नाम-अतीतावस्थत्वम्, एकमेव सत् सर्वदा स्थाय्यपि वस्तु—

# अतीताऽनागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥१२॥

यत् स्वरूपेण लब्धसत्ताकं तत् कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते, अतस्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सर्वदैकरूपतयाऽवतिष्ठते, धर्मास्तु अधिकत्वेन त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः स्वस्मिन् स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति, वर्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिता धर्मा वस्तुनः स्थूलावस्थां सम्पादयन्तः केवलां भोग्यतां भजन्ते, यदा चाऽतीताध्वनि व्यवस्थिता भवन्ति तदा सूक्ष्मावस्थां लयाऽपराभिधानां सम्पादयन्तोऽभोग्यतां यान्ति, यदा च अनागतावस्थास्ते धर्मास्तदा भोग्यताऽभिमुखताव्यञ्जकाः सन्तस्तिष्ठन्ति तदानीमपि सूक्ष्मा एवेति ख्यायन्ते, इत्येवं धर्माणाम् अध्वनः-स्थितिमार्गस्य, भेदात्-भिन्नत्वात्, स्वरूपतः सदपि वस्तु अतीतमनागतमित्यादिव्यवहार्यं भवति, तथा च यदतीतं-भोगानन्तरं सूक्ष्मावस्थां गतं, न पुनर्भोगाय सत्तावत्, तल्लयं गतमित्युच्यते, यद्धि भविष्यत्काले कदापि भोगाय नाऽर्हं, तत्तत्स्वरूपमपि लयं गतं क्षीणमेव विनष्टमेवेति बोध्यम्, अतोऽविद्यायाः स्वकारणे चित्ते विलयात्-चित्तस्य प्रकृतौ लयात् प्रकृतेश्च वियोगादात्मा शुद्धो मुक्तो भवतीति, तथा च सुसम्मतः सद्वस्तूनामपि पुनर्भोगविघटकः सूक्ष्मावस्थात्मको लय इति ॥ १२ ॥

तदेवं ये गुणा धर्मात्मकाः, ये च तत्कारणीभूताः सत्त्वरजस्तमांसि, तेषां तादात्म्यसम्बन्धः साक्षात्परम्परया वा भवति, सत्त्वरजस्तमसां नित्यत्वात्, तत्तादात्म्यतया धर्मा अपि नित्या एवेति, किन्तु—

# ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

ते धर्माः, व्यक्तसूक्ष्माः-कदाचित् स्थूलावस्थां भजमानाः सन्तो व्यक्ताः-भोगविषया भवन्ति, स्वकारणात् तदा प्रकटीभूताः स्वकारणाद्भिन्ना इति व्यपदिश्यन्ते, यदा च ते धर्माः सूक्ष्माः-कदाचित् स्थूलावस्थां विहाय सूक्ष्मतां भज-

माना: सन्तो भोगाऽविषया भवन्ति तदा स्वकारणे तिरोभूताः कारणादभिन्ना व्यपदिश्यन्ते, अतो ये ये परिणामरूपा धर्मास्ते सर्व एव गुणात्मानः स्वकारणीभूता ये सत्त्वरजस्तमोगुणाः, तदात्मकाः—तदभिन्ना बोध्याः ॥ १३ ॥

अथ यदिदं सत्त्वरजस्तमसामित्थं परिणामवैचित्र्यं समुपपन्नं भवति, नहि तद्युक्तम्, यतोहि दृश्यते लोके एकस्यैव वस्तुन एकपरिणामः, सत्स्वयातिनये परिणतकार्यस्यैकस्मिन्नेव कारणे तिरोभावप्राविर्भावयोः सुसम्पाद्यत्वात्, नहि कार्यं कारणद्वये कारणत्रये वा तिरोभवितुं योग्यम्, तथा सति नियतकार्यकारणभावाऽनियम्यत्वापत्तेः, तथा च यथैका पृथिवी परिणामरूपा—एकस्मादेव गन्धतन्मात्राद्भवति, एवं रसतन्मात्राज्जलं भवति, एवमेवैकस्मादेकमेव कार्यं परिणतं युक्तम्, प्रकृतेस्तु गुणास्त्रयः, तेभ्यो महत्तत्त्वं परिणतं भवति, तदयं सत्त्वस्य परिणामो वा किं रजसः किम्वा तमसः, नहि कस्यचिदेकस्य परिणामः, सुखदुःखमोहात्मकधर्मत्रयविशिष्टत्वात्, न च गुणत्रयादेव परिणामः स्वीकार्यः, यावत्परिणतपदार्थानामेकस्मिन्नेव तिरोभावप्राविर्भावस्य नियमेन सुसम्पाद्यत्वात् सर्वव्यवहारस्य, तथा च कथं स्यात् त्रिगुणानामेकपरिणामो महत्तत्त्वस्वरूपः तस्माच्चाहंकारस्य इत्येवं कार्यनिर्वाहः ! इत्याकांक्षायामुत्तरयति—

## परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

यद्यपि त्रय एव गुणाः कारणीभूतास्तथापि तेषामङ्गाङ्गिभावनिर्वाहस्वरूपो यः परिणामस्तस्यैकत्वात्—एकस्मिन् प्रधानत्वात्, वस्तुनः—कार्यस्याप्येकत्वम्—एकजन्यत्वमेकत्वं च संभवति, तद्यथा—क्वचित् सत्त्वं प्रधानं तदितरे तु गौणे, तदा सत्त्वम्—अङ्गि, तदितरे त्वङ्गभूते, एवं स्थितौ यत्कार्यं समुत्पद्यते तत्सत्त्वपरिणामरूपं सात्त्विकं कार्यमिति व्यवह्रियते, यदा तु—रजः—प्रधानं—तदितरे गौणे, तदा—प्रादुर्भवत्कार्यं राजसमिति कथ्यते, तमःप्रधाने च तामसमिति ख्यायते, भवति हि बुद्धितत्त्वं सात्त्विकं प्रकृतिकार्यं सात्त्विकपरिणामरूपमिति, कार्ये च बुद्धितत्त्वे रजस्तमसोर्भागो गौणतयाऽऽविर्भवति, बुद्धिसत्त्वाच्च सात्त्विकमहंकारात्मकं कार्यं भवति, स चाऽयमहंकारः सत्त्वप्रधानकार्यरूपोऽस्ति यद्यपि, तथापि त्रिगुणात्मकत्वं तत्र संभवत्येव रजस्तमसोराविर्भावात्, एवं सत्त्वप्रधानाहंकारात् सात्त्विकं कार्यम्, तामसाहंकारात् तामसम्, इति तत्र तत्र तत्तद्गुणप्रधानतया चैककार्यभावः सुसम्पाद्यइति ॥ १४ ॥

ननु सर्वमपि कार्यजातं विज्ञानमेव, तच्च वासनावशात् कार्यकारणभावेनाऽवस्थितं तथा तथाऽवलोक्यते, न तु विज्ञानाऽतिरिक्तं किमपि तत्त्वान्तरमनुभूयते, यदि हि भूतभौतिकानि विज्ञानमात्राद्भिन्नानि भवेयुस्ततस्तदुत्पत्तिकारण-

मीदृशं प्रधानं कल्प्यते, न तु तानि विज्ञानाऽतिरिक्तानि सन्ति परमार्थतः, तत्कथं प्रधानकल्पनं कथं च ग्रहणानामिन्द्रियाणामहंकारविकाराणां कल्पना ! विज्ञाना-सम्बद्धस्य पदार्थस्य व्यवहारायोग्यत्वात् जडस्याऽस्वयंप्रकाशत्वाच्च, अस्ति तु ज्ञानं स्वयंप्रकाशत्वेन व्यवहारविषयमिति, तथा च प्रयोगः 'यद् वेद्यते येन वेद-नेन तद् ततो न भिद्यते, यथा ज्ञानस्याऽऽत्मा, वेद्यन्ते च भूतभौतिकानीति विरु-द्धव्याप्तोपलब्धिः निषेध्यभेदस्य विरुद्धेनाऽभेदेन व्याप्तं वेद्यत्वं दृश्यमानं स्वव्या-पकमभेदमुपस्थापयत् तद्विरुद्धं भेदं प्रतिक्षिपतीति । तथा—यद् येन नियत-सहोपलम्भं तत्ततो न भिद्यते, यथैकस्माच्चन्द्राद् द्वितीयश्चन्द्रः, नियतसहोपलम्भ-श्चाऽर्थो ज्ञानेने'ति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः, निषेध्यभेदव्यापकानियमविरुद्धो नियमो-ऽनियमं निवर्तयंस्तद्व्याप्तं भेदं प्रतिक्षिपतीति, यथाऽऽहुर्वैनाशिकाः—'सहोपलम्भ-नियमादभेदो नीलतद्धियोः । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये' इति चेन्न । विज्ञानवेद्यत्वस्य तद्विज्ञानाऽभिन्नत्वोपपत्त्यर्थं विज्ञानवेद्यत्वाऽभ्युपगमाऽऽवश्यंभावेन तथापि पुनरित्येवमनवस्थाप्रसङ्गात्, तदनभ्युपगमे तु हेतोः स्वरूपाऽसिद्धत्वात् । किञ्च—विज्ञानस्य बाह्यस्थूलघटाद्यभिन्नत्वे ज्ञानाकारघटगतबाह्यत्वस्थूलत्वादिधर्मा-त्मकत्वं विज्ञानस्य भवेत्, तच्च न सम्भवति, नानादेशव्यापितात्मकस्थौल्यस्य विच्छिन्नदेशात्मकबाह्यत्वस्य च तद्देशत्वाऽतद्देशत्वात्मकविरुद्धधर्मतया तत्तादा-त्म्यसंसर्गस्यैकत्र 'एतत्स्थूलघट' इति विज्ञानेऽसंभवात् विज्ञानाऽभिन्नत्वाऽभाववति स्थौल्यादौ विज्ञानवेद्यत्वस्याऽनैकान्तिकत्वात् । किञ्च—सर्ववस्तूनां विज्ञानाकारत्वे स्वरूपतो विज्ञानस्यैक्यात् सर्वव्यवहारसांकर्यमापद्येत, विज्ञानभेदे वा किञ्चिद्वि-निगमकमास्थातव्यम्, तद्विनिगमकस्य विज्ञानात्मकत्वे तदर्थं पुनर्विनिगमकमि-त्येवमनवस्थाऽऽपातः स्यात्, तस्माद्विषयस्य विज्ञानभिन्नस्य विनिगमकत्वं युक्तम्, तथा च वेद्यत्वस्याऽभेदव्याप्यत्वाऽभावात् कुतो भेदप्रतिपक्षत्वमिति, एवं सहोपल-म्भनियमस्यापि विज्ञानस्थौल्यादेः स्वाकारप्रयोज्यनिरूपणीयत्वाद्यात्मकस्वभावात् निर्वाहेऽभेदव्याप्यत्वस्याऽप्यनिर्णयात् । किञ्च—

## वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

तयोः—ज्ञानार्थयोः, विभक्तः पन्थाः—विविक्तमार्ग इति, कथम् ? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्, समाने वस्तुनि स्त्रीधनाद्युपलभ्यमाने नानाप्रमातॄणां चित्तस्य भेदः सुखदुःखमोहरूपतया समुपलभ्यते, तथाहि एकस्यां रूपलावण्यादिमत्यां योषिति समुपलभ्यमानायां सरागस्य स्वामिनः सुखमुत्पद्यते, सपत्न्यास्तु द्वेषः परिव्राजकस्य च घृणा, इत्येकस्मिन् वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात् कथं चित्तकार्य-त्वम्, वस्तुन एकचित्तकार्यत्वे सर्वत्रैकरूपतयैवाऽवभासेत, किञ्च—चित्तकार्यत्वे वस्तुनो

यद्येकस्य चित्तस्य तद्वस्तु कार्यं तस्मिन्नर्थान्तरव्यासक्तेऽतद्वस्तु न किंचित् स्यात्। ननु भवत्वतद्वस्तु—इति चेन्न। तदेवान्यैर्बहुभिरुपलभ्यते, तस्मान्न चित्तकार्यम्; योऽर्थो युगपद् बहुभिः क्रियते, तदा बहुभिर्निर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिताद्वैलक्षण्यं स्यात्, यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते तदा कारणभेदे सति कार्यभेदस्याऽभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत् स्यात् तस्माद् विज्ञानव्यतिरिक्तोऽस्ति बाह्योऽर्थः, तदेवं न विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यं, विरोधाच्च न कार्यकारणभावः। किञ्च—यन्नानात्वे यस्यैकत्वं तत् ततोऽत्यन्तं भिद्यते—यथा चैत्रस्य ज्ञानमेकं भिन्नेभ्यो देवदत्तविष्णुमित्रमैत्रप्रत्ययेभ्यो भिद्यते, ज्ञाननानात्वेऽपि चाऽर्थो न भिद्यते—इति भवति विज्ञानेभ्योऽन्यः, अभेदश्चार्थस्य ज्ञानभेदेपि प्रमातॄणां परस्परप्रतिसन्धानादवसीयते, अस्ति हि रक्तद्विष्टविमूढमध्यस्थानामेकस्यां योषिति प्रतीयमानायां प्रतिसन्धानं—'या त्वया दृश्यते सैव मयाऽपी'ति तस्माद् वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्—ज्ञानभेदात् तयोरर्थज्ञानयोर्विभक्तः पन्थाः स्वरूपभेदोपाय इति सर्वं चतुरस्रम्॥ १५॥

ननु माभूज् ज्ञानार्थयोरैक्यं, किन्तु द्वयोः समानकालीनत्वं तु स्यादेव, यत्कालावच्छेदेन ज्ञानं सत्तावत् तत्कालावच्छेदेनाऽर्थस्यापि सत्तावत्त्वम्, यत्कालावच्छेदेन च यद्विषयकज्ञानस्य सत्त्वं नास्ति तदा तद्विषयस्यापि सत्त्वं भवितुं नाऽर्हति, तस्माद् ग्राह्यग्रहणयोः सहभूतत्वमिति चेन्न, यतो हि—

## न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६॥

एकचित्ततन्त्रम्—एकचित्तनियतम्, वस्तु—पदार्थः, न भवितुमर्हति, यतो हि तत्—एकचित्तनियतवस्तु स्याच्चेत्! तदा—तच्चित्ते विषयान्तरसंचारिणि निरुद्धे वा सति तद्वस्त्वस्वरूपमेव, अतस्तदानीमप्रमाणकम्—केनचिदगृहीतस्वभावकम्, तत् किंस्वरूपं स्यात्! ग्राहकस्याऽस्वरूपत्वे ग्राह्यस्याऽलीकत्वाऽऽपत्तिरिति भावः। यद्धि घटग्राहि चित्तं तद् यदा पटग्रहणव्यग्रतया न घटे वर्तते, यद्वा विवेकविषयमासीत् तदेव च निरोधं समापद्यते तदा घटज्ञानस्य वा विवेकज्ञानस्य वाऽभावाद्—विवेको वा घटो वा ज्ञानभेदमात्रजीवनस्तन्नाशे सति नष्ट एव स्यादिति, न च तथाऽनुभूयते किन्तु नियतकारणाऽन्वयव्यतिरेकविधायिभावानि हि कार्याणि न स्वकारणमतिक्रम्य कारणान्तराद्भवितुमीशते, तस्मादुपादानकारणनियतमेव कार्यं भवति न तु चित्तनियतमिति ॥ १६ ॥

स च चित्ताऽतिरिक्तः स्वतन्त्रो जडस्वभावोऽर्थो न स्वयं प्रकाशते, प्रकाशनस्य जडत्वेन सह विरोधात्, जडोऽप्यर्थो यदि प्रकाशेत तर्हि तस्य जडत्वमपगतमिति भावत्वमप्यपगच्छेत्, नहि भावत्वमपहाय भावो भवितुमर्हति, अतो जडं वस्तु

ज्ञानेन प्रकाश्यते–यद्विषयकं ज्ञानं तद्वस्तु ज्ञानवृत्त्या तत्र चेतसि भासते, यदा च तद्वस्तुविषयकं न भवति ज्ञानं तदा न भासते तद्वस्तु, अतः—

## तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ॥ १७ ॥

तस्य–अर्थस्य य उपरागस्तस्याऽऽकारसमर्पणस्याऽपेक्षितत्वाच्चित्ते बाह्यं वस्तु कदाचिज्ज्ञातं कदाचिच्चाऽज्ञातं भवति, अयं भावः–सर्वः पदार्थो जडस्वभावोऽपीन्द्रियप्रणालिकया चित्तमुपरञ्जयति, चित्तवृत्त्यात्मकं घटादिज्ञानमुपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया समागतमर्थोपरागं सहकारिकारणत्वेनाऽपेक्षते, व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाऽभावेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अतो बहिर्विषयाकारं ज्ञानं विषयमादाय विषयोपरक्तं सत् स्वकारणे चेतसि तादात्म्यतामापन्नं भवति, तदानीं चित्तमपि विषयोपरक्तं भवति, तदेवंभूतं चित्तदर्पणमुपसंक्रान्तप्रतिबिम्बा चितिशक्तिश्चित्तं विषयोपरक्तं चेतयमाना सती अर्थमनुभवति, अतो येन विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञात इति भवति,—यश्च विषयश्चेतसि नोपसंक्रान्तः स त्वज्ञात इति, परिणामो हि ज्ञानात्मिका वृत्तिश्चित्तस्य, अत एव परिणामि चित्तमिति सिद्धम् १७

तदेवं परिणामधर्मका अर्थाश्चित्तवृत्तयश्चेति,–तद्भिन्नोऽपरिणामी चेतनः, तस्य तु चित्तं विषयः, अतस्तस्य—

## सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रतावस्थं चित्तम्—आनिरोधात् सर्वदा पुरुषेणाऽनुभूयते वृत्तिमत्, तत्कस्य हेतोः ? यतः पुरुषोऽपरिणामी, परिणामित्वे तु पुरुषश्चित्तवत्–ज्ञाताऽज्ञातविषयो भवेत्, न चैवं भवति, पुरुषस्य ज्ञातविषयत्वात्, अतोऽपरिणामीति, तथा च परिणामिभ्योऽतिरिच्यते, एवं च—तत्प्रभोः–तस्य चित्तस्य प्रभोर्ग्रहीतुः पुरुषस्य प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृत्यात्मिकाश्चित्तवृत्तयः सर्वदा सर्वकालावच्छेदेन ज्ञाताः—ज्ञेया भवन्तीति, अतः सवृत्तिकं चित्तं सदा ज्ञातम्, तच्च प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वमनुमापयति, तस्मादपरिणामिनस्तस्य पुरुषस्य परिणामिनश्चित्ताद्भेदमेव इति ॥ १८ ॥

ननु स्यात् पुरुषोऽपरिणामी यदि चित्तमात्मनो विषयं स्यात्, न त्वेवं भवति, अपि तु स्वप्रकाशमेतद्विषयाभासं पूर्वचित्तं प्रतीत्य समुत्पन्नं तत् कुतः पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं, कुतस्तरां वाऽपरिणामितया परिणामिनश्चित्ताद्भेद इति, तथा च वह्निवत्–चित्तमेव विषयाभासं स्वाभासं च भविष्यतीति चेन्न,—

## न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

तत्–चित्तम्, न स्वाभासम्–न स्वप्रकाश्यं भवति, दृश्यत्वात्,–इन्द्रियशब्दादिवत् । चित्तं हि परिणामितया घटादिवदनुभवव्याप्यं, यच्चानुभवव्याप्यं न तत्स्वाभासं भवितुमर्हति, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, न हि तदेव–क्रिया च कर्म च कारकं च भवितुमर्हति, नहि पाकः पच्यते, छिदा वा छिद्यते, अपरिणामी पुरुषस्तु नाऽनुभवकर्म–इति भवति पुरुषे स्वयं प्रकाशता, अपराधीनप्रकाशतैवास्य स्वयंप्रकाशता न त्वनुभवकर्मता, तस्माद्दृश्यत्वाद्दर्शनकर्मचित्तं न स्वाभासम् ॥ १९ ॥

किञ्च—

## एकसमये चोभयाऽनवधारणम् ॥ २० ॥

क्षणिकचित्तात्मवादिमते चित्तमेव प्रकाश्यम्, चित्तमेव च प्रकाशकमिति भवति, तथा सति तत्र व्यापारद्वयं सङ्गच्छते तथाहि–'अहमिदं वेद्मि'त्यत्र प्रकाशकं यद् ग्राहकस्थानापन्नं चित्तमहमित्येवाऽऽकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतामापादयति, अथ च प्रकाश्यं यद् ग्राह्यस्थानापन्नं चित्तं–'इद'मित्येवमाकारेण सुखदुःखसाधनतया व्यवहारयोग्यतामापादयति, तथा चात्र प्रकाशकचित्तस्योत्पत्तिरेव ग्राहकस्य व्यापारः, प्रकाश्यचित्तस्योत्पत्तिरेव ग्राह्यस्य व्यापारः, एकस्याऽऽभासकत्वमेकस्याऽऽभास्यत्वं चेति व्यापारद्वयं नैकस्मिन्नेव क्षणिके चित्ते भवितुमर्हति, प्रकाशकस्य पूर्वभावित्वात् प्रकाश्यस्याऽनन्तरक्षणभावित्वादिति, न चैकस्योत्पत्तिद्वयसंभवः, नहि विभिन्नकालीनयोर्व्यापारयोर्युगपत् संभवोऽस्ति, अत एकस्मिन् काले उभयस्य प्रकाशकस्य प्रकाश्यस्य चाऽवधारणं कर्तुमशक्यत्वात् तद्व्यापारद्वयस्यापि–एकस्मिन्नवधारयितुमशक्यत्वम्, तथा च न चित्तं स्वप्रकाशमिति ॥ २० ॥

ननु मा भूद् दृश्यत्वेन चित्तस्य स्वस्य ग्रहणम्, चित्तान्तरेण तु ग्रहणं भविष्यति स्वसन्तानवर्तिना चरमचित्तेन स्वधारानिरुद्धस्वजनकचित्तग्रहणात्, तथा च नाऽऽत्मा पृथक्तया सिध्यतीति चेन्न,—

## चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च २१

बुद्धिः–चित्तम्, पूर्वं पूर्वं चित्तं चेदुत्तरेणोत्तरेण चित्तान्तरेण गृह्येत, तर्हि चरमं चित्तं केन गृह्येत, तदप्यन्येन तदप्यन्येनेत्यनवस्थाप्रसंगः स्यात् । ननु सर्वमेव चित्तं गृहीतव्यमिति नियमाऽभावान्नानवस्थादोष इति चेन्न, तथापि ज्ञानगोचराऽनन्तज्ञानवृत्तिकल्पनागौरवस्त्वपरिहार्यमेव, अस्माकन्तु सकलवृत्तिगोचरैकविभुचित्त-

स्वीकाराच्च दोषः, किञ्च–स्मृतिसंकरोऽपि भवेत्, रूपरसादिविषयानुभवकाले तद्विषयिण्योऽनन्तज्ञानधारा जायन्ते, इति विषयस्मृतिकालेऽपि ज्ञानजनितैः संस्कारैर्बह्वीनां स्मृतीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वाद् घटो मया पुरा ज्ञात इत्यस्य तज्ज्ञानस्यैव वा स्मृतिरियमिति निर्धारणं न स्यात्, किंक्षणावच्छिन्नज्ञानजन्येयं स्मृतिः, पूर्वक्षणावच्छिन्नज्ञानजन्या वा तदुत्तरक्षणावच्छिन्नज्ञानजन्येति निश्चयाऽभावात् स्मृतिसंकरः स्यादिति, तथानियतस्मृतेरनवधारणमापद्येतेति ॥ २१ ॥

यदि चित्तं न स्वाभासं न च चित्तान्तरग्राह्यं किन्तु स्वात्मना ग्राह्यमिति यदुच्यते । तन्न युक्तम् । यतो हि नहि स्वयंप्रकाशस्याऽऽत्मनः काचित् परिणामक्रिया वृत्त्यात्मिकाऽस्ति, न च वृत्तिमन्तरेण विषयप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षाऽभावे च सति पुरुषस्य ज्ञातृत्वं ग्राहकत्वं भोक्तृत्वं च नोपपद्येत, तथा च सन्निकर्षात्मकवृत्त्यभावात् कथं चित्तग्राहकत्वमपरिणामिनः पुरुषस्य भवेदिति चेत् ! इत्थम्—

## चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।

अप्रतिसंक्रमायाः, संक्रमणं नाम वृत्तिपरिणामः, तद्रहिताया अपि चितेः-चेतनस्य पुरुषस्य, तदाकारापत्तौ–तस्यां स्वसंयुक्तबुद्धौ, आकारस्य प्रतिबिम्बस्य, आपत्तौ सत्याम्, स्वबुद्धिसम्वेदनं भवतीति । अयं भावः-यथा शशांकस्य क्रियां विनाऽपि सलिलसंक्रान्तशशांकप्रतिबिम्बं चलमिव सलिलं कर्तृ समवभासयति, तथा विनाऽपि चितिक्रियामुपसंक्रान्तचितिप्रतिबिम्बं चित्तं स्वयं स्वगतया क्रियया क्रियावतीम् असङ्गतामपि सङ्गतां चेतनाशक्तिमवभासयद् भोग्यभावमासादयद् भोक्तृभावमापादयति तस्यै, इति । बुद्धिगता वृत्तयः स्वकारणप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन चेतने वर्तन्ते, ता एव वृत्तय आत्माऽधीनाः सत्यः स्वकारणं बुद्धितत्त्वं गृह्णन्ति, आत्मनश्च भोक्तृत्वं सम्पादयन्तीति, अतो भवत्यपरिणामिनो वृत्तिरहितस्यापि पुरुषस्य स्वायत्तीकृताभिर्बुद्धिवृत्तिभिर्बुद्धिग्राहकत्वमिति, बुद्धिसंक्रान्ता चितिशक्तिर्बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया यदा सम्वेद्यते तदा बुद्धेः स्वस्याऽऽत्मनो वेदनं भवतीति ॥ २२ ॥

एतस्यामेव दशायां सर्वार्थग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहारनिर्वाहक्षमं भवति—

## द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा—पुरुषः, तेनोपरक्तं तत्प्रतिबिम्बयुक्तं द्रष्टृच्छायापत्त्या तदनुरक्तं चित्तं द्रष्टारमपि प्रत्यक्षेणाऽवस्थापयति, दृश्यो विषयः, तत्संक्रान्तम्-नीलाद्यनुरक्तं चित्तं नीलाद्यर्थं प्रत्यक्षेणाऽवस्थापयति, भवति च द्व्याकारं चित्तं

'नीलमहं प्रत्येमी'ति, अतः सर्वे ग्रहीतृग्रहणग्राह्याः पुरुषस्यार्था भोग्याः सन्त्यस्मिन्निति सर्वार्थम्, चित्तं हि चिन्तनीयेनाऽर्थेनोपरक्तं ततः स्वयमपि विषयत्वात् स्वीयचैतन्यलक्षणवृत्तिविशिष्टेन विषयिणा चेतनेनाऽभिसम्बद्धम्, तदेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं शब्दादिविषयरूपेण विषयिपुरुषरूपेण च निर्भासते, अतो विषयात्मकमपि–अविषयात्मकमिव,–अचेतनमपि चेतनमिव भवति, यथैक एव स्फटिकमणिः पार्श्वद्वयस्थयोर्मरकतेन्द्रनीलयोः प्रतिबिम्बनात् स्वस्वरूपेण सह त्रिरूपो भवति एवं चित्तमपि विषयचेतनयोः प्रतिबिम्बनाद् ग्रहीतृग्रहणग्राह्यात्मकरूपत्रयवदिव भवति, अतः सर्वार्थमिति ॥२३॥

तच्च चित्तं सर्वार्थमपि न स्वार्थं किन्तु—

## तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।

तत्–चित्तम्, असंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि–नानारूपमपि, परार्थम्—परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयतीति । तत्र हेतुमाह—'संहत्यकारित्वादिति । संहत्य–मिलित्वा,–अर्थक्रियाकारित्वात्, यच्च सम्भूयाऽर्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टम्, यथा शयनासनादि, शयनासनादिकं हि परस्य पुरुषस्यार्थाय दृश्यते, एवं चित्तमपि सुखदुःखमोहात्मकं परार्थमेव, नहि सुखचित्तं सुखार्थम्, न वा दुःखचित्तं दुःखार्थम्, न च मोहचित्तं मोहार्थं, न च भोगचित्तं भोगार्थम्, स्वात्मनि स्वस्य वृत्तिविरोधात्, अतो नित्योदासीनः पुरुष एव भोगेनाऽपवर्गेण चार्थेनार्थवानिति ॥ २४ ॥

इदानीं शास्त्रफलं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

## विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वे साधिते मातृमानमेयात्मकस्याऽखिलप्रपंचस्य तप्ताऽयःपिण्डवदैकीभावापन्नस्य यथोक्तप्रकारैरन्योन्यं विशेषदर्शिनः–जडचेतनयोर्भेदं पश्यतः पुरुषस्य चित्ते या–आत्मभावभावना–'कोऽहमासं कथमहमासं किं स्विदिदं कथं स्विदिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम' इत्याकारिका भयशोकप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रमुखानर्थहेतुभूता सा निवर्तते इति ॥ २५ ॥

यदा च तादृशी पूर्वोक्तभावना निवर्तते—

## तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

यदस्य संसारदशायां विषयाऽभिमुखमज्ञानमार्गसंचारि चित्तमासीत् तत्–तदा–विशेषदर्शनदशायां, विवेकनिम्नम्–विवेकमार्गसंचारि, कैवल्यप्राग्भारम्–कैवल्याभिमुख्यं च भवतीति ॥ २६ ॥

न चोत्पन्नमात्रेण विशेषदर्शनेनैव कृतकृत्यता भवति, यतो हि—

## तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य पूर्वपूर्वव्युत्थानजसंस्कारवशात्, तच्छिद्रेषु–अन्तरालेषु, प्रत्ययान्तराणि–'अस्मीति वा,–ममेति वा,–जानामीति वा,–न जानामीति वा,–' प्रभवन्ति, तेषामात्यन्तिकहानानन्तरमेव योगिनः कृतकृत्यता जायतेऽतस्तेषां हानं कर्तव्यमिति ॥ २७ ॥

किं तत्त्वज्ञानसाधनमेतेषां व्युत्थानसंस्काराणां यतस्तादृशप्रत्ययान्तराणि न पुनः प्रसुवीरन्निति चेत्—

## हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

एषाम्–व्युत्थानसंस्काराणां हानम्–स्वकार्याऽसामर्थ्यम्,–क्लेशानामिवोक्तं बोध्यम्। 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः'–इतिसूत्राभ्यां स्थूलसूक्ष्मक्लेशानां तत्त्वज्ञानचित्तलयाभ्यां दाहनाशौ निगदितौ यथा तथा व्युत्थानसंस्काराणामपीति। सम्प्रज्ञातयोगिनो व्युत्थानदशायां पूर्वसंस्कारजाः क्लेशाः–अविद्यादिवृत्तयश्च दग्धबीजतुल्या न संस्कारं जनयन्ति यथा तथैव पूर्वसंस्कारा अपि सम्प्रज्ञातपरम्पराजनितेन तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धबीजतुल्याः सन्तः प्रत्ययं न प्रसुवते। तत्त्वज्ञानाग्निना व्युत्थानसंस्काराणां हानमिति भावः। तत्त्वज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताऽधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति ॥ २८ ॥

तदेवं व्युत्थानसंस्कारनिरोधोपायं तत्त्वज्ञानमुक्त्वा तत्त्वज्ञाननिरोधोपायभूतां विवेकख्यातिं प्रदर्शयन् समाधिफलं दर्शयति—

## प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसङ्ख्यानम्–यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपविभावनात्मकतत्त्वज्ञानम्, तस्मिन् सति–'अकुसीदस्य,–तत्र तत्त्वज्ञाने सर्वभावाऽधिष्ठातृत्वादिरूपां सिद्धिं न प्रार्थयते यः प्रत्युत तत्राऽपि क्लिश्नाति–परिणामित्वदोषदर्शनेन विरक्तो भवति,–तस्य, सर्वथा विवेकख्यातिरेव दृढभूमिर्भवति, विवेकख्यातिकारणीभूतं तत्त्वज्ञानं च निरुद्ध्यते, विवेकख्यातिमतस्तस्य संस्काररूपस्य बीजस्याऽऽत्यन्तिकक्षयाद्धेतोरविद्यान्तराणि न जायन्ते तदा धर्ममेघसमाधिरस्य भवति, क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं विवेकख्यात्यात्मकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघ इति ॥ २९ ॥

धर्ममेघसमाधिफलं दर्शयति—

## ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

ततः—धर्ममेघलाभानन्तरं क्लेशानां—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशानां समूलानां नाशो भवति, तन्नाशे च सति तन्मूलकानां शुक्लकृष्णाऽशुक्लकृष्णभेदेन त्रिविधानां कर्मणां घातो भवति, क्लेशकर्मनिवृत्तौ च जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवतीति। ननु दुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव मोक्षः, जीवतश्चाऽवश्यं दुःखम्—'न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति'—इतिश्रुतेः, तत्कथं जीवन्मुक्तिरिति चेत्! उच्यते। दुःखात्यन्तनिवृत्तिस्तु परममुक्तिरूपा, जीवन्मुक्तिस्तु दुःखनिदानात्यन्तोच्छेदात्मिका गौणीभूतेति, जीवन्मुक्तिरियं परममुक्तिद्वारभूतेति ॥ ३० ॥

जीवन्मुक्तस्य तस्य—

## तदा सर्वावरणमलाऽपेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्या-ज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तदा—जीवन्मुक्तिदशायाम्. आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि—क्लेशाः,—त एव मलाः, सर्वेभ्यस्तेभ्योऽपेतस्य—तद्विरहितस्य ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्याऽऽनन्त्यं भवति, चित्तं यदा तमसाऽऽवरकेणाऽभिभूतं विद्यते तदा न सत्त्वप्रकाशो यावत्तया समुद्भासते, यथा यथाऽऽवरणं तमः प्रविलीयते तथा तथा सत्त्वप्रकाशोऽधिकतरतया समुद्भासते, एवमेव सर्वथैवाऽऽवरणलये सति सत्त्वप्रकाशोऽसीमतया समुद्भासते, यत्र यावन्तः पदार्था जडचेतनात्मकाः स्फुरणविषयतयाऽधिकृता भवन्ति, एवंविधे सत्त्वप्रकाशे सति यदयं योगी समष्टं व्यष्टं वा यद् यद् विज्ञातुं समभिलषति तद् तत् सर्वमपि—एकक्षणावच्छेदेन हस्तामलकवत् पश्यति, किन्तु पुनश्चित्तस्य विषयलग्नताभयात्र तथाऽभिलषणीयं योगिना, इयमेव सत्त्वप्रकाशस्य पराकाष्ठेति कथ्यते, तदानीं विषयास्तु ज्ञेयाः सर्वेऽल्पा व्याप्या भवन्ति,—गणनास्पदा एव भवन्ति,—तथाविधेनानन्तेन सत्त्वप्रकाशेन सर्वं ज्ञेयमक्लेशेनैव जानातीति॥ ३१॥

किञ्च—धर्ममेघस्योदये सति—

## ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

ततः—तदनन्तरम्, कृतः—निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषाम् परिणामक्रमस्य समाप्तिर्भवति, शीलमिदं गुणानां यदमी यं प्रति कृतार्थास्तं प्रति न प्रवर्तन्ते भोगौपयिकं परिणामं नासादयन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

क्रमपदार्थं निरूपयति—

## क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षणो नामोपाधिविशिष्टः समयः, उपाधिस्तु—स्वजन्यविभागप्रागभावाव-च्छिन्ना क्रिया, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रा-गभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्ना क्रिया वा, तादृशं क्षणं क्षणं प्रति युज्यत—इति क्षणप्रतियोगी—प्रतिक्षणनियत इत्यर्थः, क्षणविलक्षणत्वे सति क्षणप्रचयाऽऽश्रय इति यावत्। अथच परिणामाऽपरान्तनिर्ग्राह्यः—परिणामस्य रूपान्तरप्राप्तेः, अपरान्तेन—पर्यवसानेन, निर्ग्राह्यः—विज्ञातुं शक्य इति। परिणामस्य क्रमो नाम—परिणामस्या-विच्छिन्ननवीनधारा। यथा प्रदीपज्योतेरविच्छिन्ना परिणामधाराऽनुवर्तते, नित्ये-ष्वपि पदार्थेष्वियं क्रमधारा व्याप्ता भवति, पदार्थानां नित्यता द्विधा—कुत्रचित् कूटस्थनित्यता, कुत्रचिच्च परिणामिनित्यता, तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामि-नित्यता तु गुणानाम्, यस्य धर्मलक्षणाऽवस्थानामुदयव्ययधर्मत्वे सत्यपि स धर्मो स्वयं तत्त्वान्न च्यवते तन्नित्यम्, पुरुषस्य गुणानां च तत्त्वाऽनभिघातान्नित्यत्वम्, महत्तत्त्वादि-विकारेषु परिणामक्रमो लब्धपर्यवसानो गृह्यते, तेषां तिरोभावप्राप्तिर्नान्त्यस्वभावत्वात्, साम्यावस्थात्मकपरिणामशालिनां गुणानान्तु प्राविर्भावादिस्वभावविरहात्—अल-ब्धपर्यवसान एव क्रमो गृह्यते, एवं कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठितेषु चेतनेषु स्वरूपाऽस्तिता क्रमेणैवाऽनुभूयते, अतस्तत्राप्यलब्धपर्यवसानः क्रमो गृह्यते, इदानीं स्थित्वा पश्चात् स्थास्यतीति व्यवहारात् तत्र क्रमग्रह इति। अत्राऽ-यं विभागः—प्राविर्भावतिरोभावस्वभावानां पदार्थानान्तु परिणामधारात्मकः क्रमो बोध्यः, तद्भिन्नानां त्रिगुणानां चेतनानां च—अस्तित्वधारात्मकः क्रमः शब्दमात्र-कल्पितो बोध्य इति ॥ ३३॥

फलभूतस्य कैवल्यस्याऽसाधारणं स्वरूपं दर्शयति—

## पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

कृतकरणीयतया समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः—प्रतिप्रसवः—परिणामस्य समाप्तौ विकाराऽनुद्भवः—सर्वविकाराणां स्वस्वकारणे लय इति यावत्, कार्यकारणात्मकानां गुणानां व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारा मनसि लीयन्ते मनोऽ-स्मितायामस्मिता महत्तत्त्वे महत्तत्त्वं च प्रकृतौ लीयत—इति योऽयं गुणानां कार्य-कारणात्मकानां प्रतिसर्गः तत्कैवल्यम्। चितिशक्तिश्च बुद्धिसत्त्वाऽनभिसम्बन्धाद् वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ सत्यां स्वरूपमात्रप्रतिष्ठा भवति—स एव मोक्षः। अत्रेदम-

थिकमनुसन्धेयम्—त्रिगुणानां साम्यावस्थात्मकप्रकृतिवियोगे सति चितिशक्तेः साकारस्वरूपमात्रेणाऽवस्थानत्वे सत्याक्षरब्रह्मधामनि परमेश्वरपरब्रह्मश्रीस्वामिनारायणचरणसेवनं मुक्तिरिति, तदिदं परमसुखरूपात्मकं परमं योगफलं बोध्यमिति ॥३४॥

भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसङ्गते ।
'रैवताऽद्रि'समाधारे 'कच्छ'सौराष्ट्रविश्रुते ॥ १ ॥

धीरविद्वद्गणाऽऽपूर्ण-'जीर्णदुर्ग'निवासिभिः ।
'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्यैः' स्वामिनारायणाऽऽश्रितैः ॥ २ ॥

मनांसि कुमुदानीव बोधयद्विदुषां सदा ।
'स्वामिनारायणं'भाष्यं योगचन्द्रकरप्रभम् ॥ ३ ॥

काश्यां मार्गे वैक्रमेऽब्दे सप्ताऽष्टनिधिभूमिते ।
विरचय्याऽर्पितं यत्र भगवान् स प्रसीदतु ॥ ४ ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे-'श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन-षड्दर्शनाचार्य्य-
नव्यन्यायाचार्य्य-सांख्ययोग-वेदान्त-मीमांसातीर्थ-पण्डित-
''श्रीकृष्णवल्लभाचार्य्य''-स्वामिनारायणविरचिते
भाष्ये चतुर्थः कैवल्यपादः ॥

श्रीभोजदेवकृतवृत्तिसमेतानि

# पातञ्जलयोगसूत्राणि ।

(तत्र प्रथमः समाधिपादः)

देहार्धयोगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु वः । दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते ॥ १ ॥
त्रिविधान्यपि दुःखानि यदनुस्मरणान्नृणाम् । प्रयान्ति सद्यो विलयं तं स्तुमः शिवमव्ययम् ॥ २ ॥
पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काऽप्यपूर्वा जयत्यसौ । पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया ॥ ३ ॥
जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तरस्फुरत्तमःस्तोमनिशाकरत्विषः ।
विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदाऽऽनन्दमयानि कुर्वते ॥ ४ ॥
शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके ।

---

"श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्यः स्वामिनारायणाऽऽश्रितः ।
तनुते भोजवृत्तेर्वै किरणं विषमोक्तिषु" ॥१॥
'राजमार्तण्ड'गूढानां योगार्थानां प्रकाशकम् ।
'किरणं' मे समालम्ब्य विशन्तु विषमस्थले ॥२॥

पार्वत्याः शिवाङ्के स्थितिमनुसन्धायाह—देहार्धयोग इति । शिवयोः—पार्वतीशंकरयोः, देहार्धयोः—हृदयपार्श्वार्धात्मकभागयोः, योगः—स्पर्शः । वस्तुतस्तु—शिवयोः—पार्वतीशंकरयोर्देहयोः परस्परमर्धाङ्गत्वेनैक्यात् तयैकीभूते सत्त्वे कृतो योगः—समाधिः, सः—योगशास्त्रप्रतिपाद्योऽनुष्ठितश्च सन्, वः—मनुष्याणां युष्माकं, श्रेयांसि—त्रिविधदुःखाभावानुकूलानि कल्याणानि विविधविभूतिसिद्ध्यादीनि च प्राविर्भावयतु, धर्मधर्मिणोरैक्यात् शिवात्मकसमाधिमभिप्रेत्याह—यत्स्मृत्येति—शिवात्मकस्य योगस्याऽविरतस्मरणेन जनः—योगारूढः, अन्येन दुष्प्रापमपि शिवैक्यात्मकं दुःखत्रयात्यन्ताभावात्मकं वा कैवल्यम् अनुभवतीत्यर्थः—१॥ त्रिविधान्यपि—आध्यात्मिकाऽऽधिभौतिकाऽऽधिदैविकानि दुःखानि, यस्य शिवस्यानुस्मरणात् । अव्ययम्—परिणामशून्यम्–२ ॥ पुरुषप्रकृत्योर्वियोगः—भेदज्ञानं—विवेकख्यातिः,—कैवल्यं वा, योगः—समाधिसाधनं समाधिफलं वा क्रमश उदित इत्यर्थः–३ ॥ आन्तरेऽन्तःकरणे स्फुरतां विपर्ययविकल्पात्मकाऽज्ञानतमसां स्तोमे समूहे, चन्द्रकरप्रभावतः, फणिभर्तुः—शेषावतारपतञ्जलिमुनेः, सूत्रात्मका वाचः, विभाव्यमानाः—अधीतिबोधाचरणप्रचारणैरभ्यस्ताः सत्यः–४ ॥ व्याकरणे शब्दानुशासनं कुर्वता, पातञ्जलसूत्रेषु वृत्तिनिर्माणं कुर्वता, राजमृगाङ्कं वैद्यकग्रन्थं कुर्वता, येन भोजदेवनृपतिना मया, फणिभृतां भर्त्रैव—पतञ्जलिना

वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥५॥
दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः स्पष्टार्थेष्वपि विस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः ।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः ॥६॥

उत्सृज्य विस्तरमुदस्य विकल्पजालं फल्गुप्रकाशमवधार्य च सम्यगर्थान् ।
सन्तः पतञ्जलिमते विवृतिर्मयेयमातन्यते बुधजनप्रतिबोधहेतुः ॥ ७ ॥

'अथ योगानुशासनम्'-१ ॥ अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य संबन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते, अथशब्दोऽधिकारद्योतको मङ्गलार्थकश्च, योगो युक्तिः समाधानम्, 'युज समाधौ' अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम्, योगस्यानुशासनं योगानुशासनम्, तदा शास्त्रपरिसमाप्तेरधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः, तद्व्युत्पादनं च फलम्, व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं फलम्, शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः संबन्धः, अभिधेयस्य योगस्य तत्फलस्य च कैवल्यस्य साध्यसाधनभावः । एतदुक्तं भवति—व्युत्पाद्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रदर्श्यन्ते, तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यं फलमुत्पादयति—१ ॥ तत्र को योग इत्यत आह—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः-२ ॥ चित्तस्य

---

इव, मनुष्याणां क्रमशो यथान्वयेन वाचां चित्तानां वपुषां च, मलः—वाग्दोषः—शब्दाशुद्धिः, चेतोदोषः—अज्ञानादिः, वपुषां दोषो ज्वरादिः, उद्धृतः—अदृश्यं तन्निराकरणोपाया अपि दर्शिताः, तस्य—तादृशग्रन्थनिर्मातुः श्रीरणरङ्गमल्लापराभिधानस्य—रणात्मकरङ्गे मल्लवन्नृपतेर्वा मम भोजदेवस्य, उज्ज्वलाः—निर्दोषा वाचः—शब्दानुशासनादिग्रन्थात्मिका वाण्यः, जयन्ति—सर्वमान्यतया वर्तन्त इत्यर्थः—५ ॥ अन्ये अपूर्णपण्डिताः सर्वेऽपि टीकाकृतः स्वकृतटीकायां स्वस्यापि यदतीव दुर्बोधं तज् जहति—व्याख्यां न कुर्वन्ति, किन्तु 'स्पष्टार्थम्' इति लिखित्वाऽग्रे धावन्ति, अथ च स्पष्टार्थेषु स्थलेषु व्यर्थप्रपूरितपदैः टीकां विस्तारयन्ति, अस्थाने—विचारणीयस्थलं विनापि तत्र बहुभिर्जल्पैः—तर्कपरिष्कारवाग्विस्तारादिभिरनुपयोगिभिः श्रोतॄणां बुद्धौ भ्रमं—शास्त्रशक्तिलयं—संशयादिकं वा, तन्वते, ते वस्तुविप्लवकृतः—वस्तुनः—ग्रन्थप्रतिपादितार्थस्य विप्लवम्—अनर्थं विरुद्धार्थं वा कुर्वन्ति, मया नैवं क्रियत इति भावः—६ ॥ हे सन्तः—सज्जनाः ! शब्दविस्तरम् उत्सृज्य, फल्गु निष्फलं प्रकाशः—प्रकाशनं यस्य तादृशं विकल्पानां जालम् उदस्य—परित्यज्य, सम्यग् अर्थांश्चाऽवधार्य मया—भोजदेवेन पतञ्जलिमते, इयं विवृतिः, बुधानां जनानां प्रतिबोधस्य हेतुः कारणम् एतादृशी, आतन्यत इत्यर्थः—७ ॥ समाधानमित्यस्य—यमनियमादिसाधनैः नेतिप्रभृतिक्रियाभिः सिद्धिभिर्विभूतिभिः सद्भूततत्त्वज्ञानद्वारा विवेकख्यात्युत्तरं नाश्यमानः समाधिर्मोक्षश्चेत्यर्थः । लक्षणम्—अन्यूनाऽनतिरिक्तो धर्मः, यथा प्रकृतेस्त्रिगुणसाम्यावस्थात्वं तत्त्वान्तरोपादानत्वं वा, पुरुषस्य निर्गुणत्वं चेतनत्वमित्यादिः । भेदः—चित्तवृत्तीनां प्रमाणविपर्ययादीनां सम्प्रज्ञाताऽसम्प्रज्ञातसमाधिप्रभृतिपदार्थानां वैलक्षण्यम् । उपायः—चित्तस्थैर्यस्य समाधेर्मोक्षादेश्च साधनानि । फलं—यथायोग्यं चित्तस्थैर्यादिकं गौणं मोक्षश्च मुख्यं फलम् । योगः—समाधिः—अष्टाङ्गात्मको यमादिसाधनसहितः मोक्षात्मकफलसहितश्च, अभिधेयः—सन्दर्भप्रतिपाद्यविषयः पदार्थोऽत्र शास्त्रे, वस्तुतस्तु चतुर्विंशतितत्त्वानि पुरुषः परमेश्वरश्चेति पदार्था योगलक्ष्यतया विषया इति बोध्यम् । तद्व्युत्पादनं—योगस्य ज्ञानपूर्वकमाचरणं तत्सिद्धिरिति यावत्, एतादृशफलस्य योगात्मकत्वात् फलत्वानुपपत्तिशङ्कयाऽऽह—व्युत्पादितस्येति, कैवल्यम्—ऐकान्तिकाऽऽत्यन्तिकदुःखत्रयनिवृत्तिः,

निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखपरिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते, स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित्कस्यांचिद्भूमावाविर्भवति, ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः, चित्तस्याऽवस्थाविशेषाः, तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु संनिहितेषु वा रजसा प्रेरितम्, तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्, मूढं तमस उद्रेकात्कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम्, तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्, विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकाद्वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तम्, तच्च सदैव देवानाम्, एतदुक्तं भवति-रजसा प्रवृत्तिरूपं तमसा परापकारनिरतं, सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति, एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः, एकाग्रनिरुद्धरूपे द्वे च सत्त्वोत्कर्षाद्यथोत्तरमवस्थितत्वात्समाधावुपयोगं भजेते, सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे त्वयमभिप्रायः–द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयत्वेऽप्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानं, यावद् प्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्, सत्त्वस्य त्वेतदर्थं पश्चात्प्रदर्शनं यत्तस्योत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति, अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति, एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः, निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य संभवः–२ ॥ इदानीं सूत्रकारश्चित्तवृत्तिनिरोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं चित्तपदं व्याचष्टे–'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**–३ ॥ द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन्काले स्वरूपे चिन्मात्ररूपतायामवस्थानं स्थितिर्भवति, अयमर्थः–उत्पन्नविवेकख्यातेश्चित्तसंक्रमाभावात्कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ भोग्यमुक्तपरिणामायां बुद्धावात्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति–३ ॥ व्युत्थानदशायां तु तस्य किं रूपमित्यत आह–'**वृत्तिसारूप्यमितरत्र**–४ ॥ इतरत्र योगादन्यस्मिन्काले वृत्तयो या वक्ष्यमाणलक्षणास्ताभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम्, अयमर्थः–यादृश्यो वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः प्रादुर्भवन्ति तादृग्रूप एव संवेद्यते व्यवहर्तृभिः पुरुषः, तदेवं यस्मिन्नेकाग्रतया परिणते चित्ते स्वस्मिन्रूपे प्रतिष्ठितो भवति, यस्मिंश्चेन्द्रियवृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणते पुरुषस्तदाकार इव परिभाव्यते, यथा जलतरङ्गेषु चलत्सु चन्द्रश्चलन्निव प्रतिभासते तच्चित्तम्–४ ॥ वृत्तिपदं व्याख्यातुमाह–**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः**–५ ॥ वृत्तयश्चित्तस्य परिणामविशेषाः, वृत्तिसमुदायलक्षणस्यावयविनो या अवयवरूपा वृत्तयस्तदपेक्षया तयप्प्रत्ययः, एतदुक्तं भवति–पञ्च वृत्तयः, कीदृश्यः, क्लिष्टा अक्लिष्टाः, क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः, तद्विपरीता अक्लिष्टाः–५ ॥ ता एव पञ्च वृत्तयः संक्षिप्योद्दिश्यन्ते–**प्रमाणविपर्ययविकल्प-**

---

तत्सहकृत–परमेश्वरशरणाऽऽत्मनिर्मा मोक्ष इत्यर्थः–१॥ **सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे त्विति**–क्षिप्तमूढादिचित्तभूमिकापरिगणने प्रथमं राजसक्षिप्तभूमिकायास्ततो मूढात्मकतामसभूमिकायाः कीर्तने इत्यर्थः। ननु तथापि मूढक्षिप्तविक्षिप्तेतिक्रमो निवृत्तिप्रवृत्तिकिञ्चित्प्रवृत्तिक्रमनियमात् कथं नोक्त इत्याकाङ्क्षायामाह–**यावद्वेति** । **द्वयोः**–मूढक्षिप्तयोः, **व्यत्ययेन**–निवृत्त्यादिक्रमस्थितिवैपरीत्येन क्षिप्तमूढमित्यादिरीत्येत्यर्थः–२॥ **तस्मिन् काले**–दर्शितसाधनैश्चित्तवृत्तेर्निरोधस्य सिद्धिकाल इत्यर्थः–३॥ **क्लेशैः**–अविद्याऽस्मिता–राग–द्वेषाऽभिनिवेशात्मकैः पञ्चभिः–५ ॥ **पृथगिति**, प्रमाकरणम् अविसंवादिज्ञानं वा प्रमाणमित्यादि सूत्रं न रचितमित्यर्थः । **अविसंवादीति**–अविफलं सफलमितियावत्, भवति विषयस्थिथा–बाह्यो घटो वृत्तिप्राक्काकारः, वृत्ताकारवस्तस्याकारो वृत्तिभाव्याकारः, ततो भोगाद् भोग्याकार इति, यः कश्चित्पदार्थो–यादृशः सविषयः स्वरूपस्वभावादिना

निद्रास्मृतयः—६ ॥ आसां क्रमेण लक्षणमाह—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि—७ ॥
अत्रातिप्रसिद्धत्वात्प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदनिरूपणेनैव गतत्वाल्लक्षणस्य न पृथग्लक्षणं कृतम्,
प्रमाणलक्षणं तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति, इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तूपरागाच्चित्तस्य तद्विषयसामा-
न्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्, गृहीतसम्बन्धाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि सामा-
न्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम्, आप्तवचनमागमः—७ ॥ एवं प्रमाणरूपां वृत्तिं व्याख्याय विपर्य-
यरूपामाह—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्—८ ॥ अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं
विपर्ययः, यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम्, अतद्रूपप्रतिष्ठमिति, तस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन्रूपे न प्रतिति-
ष्ठति तस्यार्थस्य यत्पारमार्थिकं रूपं न तत्प्रतिभासयतीति यावत्, संशयोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्या-

---

यथाऽव्यवस्थितो भवेत्, तादृशस्य च ग्राह्याकारस्य स्वरूपस्वभावाविमतः सत एव धार्याकारतया
यत्र वृत्तिष्वारोहणं भवेत्, धार्याकारस्य सतश्च भोग्याकारतयाऽऽत्मनि समर्पणं भवेत्,
सोऽयं भोग्याकारः फलं, कार्यकारणयोरभेदाद् भोग्याकारात्मको यो धार्याकारस्तेन सहितं
ज्ञानं चित्तवृत्तिः सफलाऽसंवादिनीत्युच्यत इति भावः। वस्तुतस्तु—भोगकाले पुरुषस्य प्रतिबिम्बे
बुद्धिवर्तिनि जायमानो बोधः प्रमा तत्करणत्वं प्रमाणत्वमिति लक्षणं, प्रमा चाऽसन्दिग्धाऽविपरी-
ताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः पुरुषप्रतिबिम्बस्थो बोध इति बोध्यम् ॥ प्रत्यक्षप्रमाणलक्षण-
माह—इन्द्रियद्वारेणेति। चित्तस्येन्द्रियद्वारा घटादिबाह्यवस्तुषु उपरागात्—जायमानवृत्तिसम्ब-
न्धात् चित्तवृत्तिविषयस्य सर्वघटसाधारणघटत्वादिधर्मेण सह विलक्षणाऽवयवसंयोगतद्व्यक्तित्वादि-
विशेषधर्मेण च सह तादात्म्यापन्नस्य अर्थस्य—घटादेः सामान्यधर्मांशमुपसर्जनीकृत्य विशेषधर्माव-
च्छिन्नस्यैव यदवधारणं—भानं तस्य प्रधानता मुख्यता यस्याम्—एतादृशी चित्तवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाण-
मित्यर्थः, यदा पुरुषप्रतिबिम्बस्थो बोधः प्रमा तदैतादृशी वृत्तिस्तत्करणतया प्रमाणम्, यदा चैतादृशी
वृत्तिः प्रमाऽभिमता तदा तत्करणतयेन्द्रियाणि प्रमाणमिति व्यवस्था। अनुमानलक्षणमाह—
गृहीतेति—सम्बन्धो व्याप्तिः—साध्याभाववदवृत्तित्वं साध्यसामानाधिकरण्यं वा, स च महानसीय-
वह्निधूमयोः प्रथमं गृहीतः, ततो धूमत्वात्मकसामान्यधर्मस्य महानसीयपर्वतीयोभयधूमे सत्त्वाद्
धूमत्वधूमयोश्चैतन्मते ऐक्याद् व्याप्तिः सामान्यधर्मधूमत्वाऽभिन्नपर्वतीयधूमेऽपि गृहीता ज्ञाता
भवतीति—अवगतव्याप्तिकाल्लिङ्गात् पर्वतीयधूमात्, लिङ्गिनि—लिङ्गयति ज्ञापयति ज्ञानमर्थं
बोधयतीति लिङ्गं धूमस्तदस्ति ज्ञाप्यत्वेन अस्येति लिङ्गी वह्निस्तस्मिन् सामान्यात्मना—सर्ववह्नि-
साधारणधर्मवह्नित्वतादात्म्यतया वह्नेरध्यवसायः—निश्चयात्मिका चित्तवृत्तिः अनुमानं प्रमाण
मित्यर्थः। अत्रापि पुरुषप्रतिबिम्बस्थो बोधो यदा प्रमा तदा चित्तवृत्तिः प्रमाणं यदि च चित्तवृत्तिः
प्रमाऽभिप्रेता तदा व्याप्तिरेव प्रमाणम्। एतच्छास्त्रमते पर्वतधूमोभयप्रत्यक्षोत्तरं व्याप्त्या
जायमानस्य 'वह्निमान्'—इतिमानज्ञानस्यैवाऽनुमानत्वं तज्जन्य'वह्निमानि'ति ज्ञानस्य समाना-
कारस्यैवानुमितित्वमित्यत्र न किञ्चिद्बाधकमित्यपि बोध्यम्, वस्तुतस्तु—पक्षमनुद्दिश्य तत्सापेक्ष-
साध्यस्य विधेयत्वानुपपत्त्या पक्षमन्तर्भाव्यैव 'पर्वतो वह्निमानि'त्यनुमितिर्युक्ता, अनुमानमपि
व्याप्यव्यापकभाव( व्याप्ति )विशिष्टं धूमं वह्निं पर्वतं चान्तर्भाव्यैव परामर्शात्मकं युक्तमिति॥
शब्दप्रमाणलक्षणमाह—आप्तेति। आप्तस्य यथार्थवक्तुर्यद्वाक्यं तच्छ्रवणजन्या या चित्तवृत्तिः सा
आगमः—शब्दप्रमाणमित्यर्थः, अत्रापि यदा पुरुषप्रतिबिम्बस्थो बोधः प्रमा तदा शब्दजन्या चित्त-
वृत्तिः प्रमाणं यदा च शब्दजन्या चित्तवृत्तिः प्रमाऽभिमता तदा शब्द एव प्रमाणमिति व्यवस्था—७॥
रजतानात्मकेऽर्थे शुक्तौ 'रजतमि'ति ज्ञानं विपर्ययः, मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम्,—कीदृशं-

ज्ञानम्, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति—८ ॥ विकल्पवृत्तिं व्याख्यातुमाह—**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः—९ ॥** शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं, तदनु पतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती, वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते, यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति, अत्र देवदत्तस्य कम्बल इति शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्याध्यवसायः । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः—९ ॥ निद्रां व्याख्यातुमाह—**अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा—१० ॥** अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्या वृत्तेः सा तथोक्ता, एतदुक्तं भवति—या संततमुद्रिक्तत्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्तते वृत्तिः सा निद्रा, अस्याश्च सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात्स्मृतेश्चानुभवमन्तरेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम्—१० ॥ स्मृतिं व्याख्यातुमाह—**अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः—११ ॥** प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसंप्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावुपारोहः सा स्मृतिः, तत्र प्रमाणविपर्ययविकल्पा जाग्रदवस्था, त एव तदनुभवबलात्प्रत्यक्षायमाणाः स्वप्नः, निद्रा तु असंवेद्यमानविषया, स्मृतिश्च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रानिमित्ता—११ ॥ एवं वृत्तीर्व्याख्याय सोपायं निरोधं व्याख्यातुमाह—**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः—१२ ॥** अभ्यासवैराग्ये वक्ष्यमाणलक्षणे, ताभ्यां प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपा या वृत्तयस्तासां निरोधो भवतीत्युक्तं भवति, तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानामन्तर्मुखतया स्वकारणे एव चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्, तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण तद्वैमुख्यमुत्पाद्यते, अभ्यासेन च सुखजनकशान्तप्रवाहदर्शनद्वारेण दृढं स्थैर्यमुत्पाद्यते, इत्थं ताभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः—१२ ॥ अभ्यासं

---

मिथ्याज्ञानमित्यर्थांशव्याख्यामाह—अतद्रूपप्रतिष्ठमिति । एतच्च लक्षणस्य व्याख्यामात्रम् । रजतात्मकार्थस्य यद्रूपं—सामान्यविशेषधर्मोभयं स्वरूपं रजतत्वशुक्लत्वाद्यभिन्नं तद्रूपे—तद्रूपसामान्यविशेषात्मकत्वेनावलम्ब्य न प्रतितिष्ठति—'नेदं रजतमि'ति बाधज्ञानकाले 'इदं रजतमि'ति ज्ञानं बाधितं भवति, तज्ज्ञानं विपर्ययः, विपर्यये ज्ञानाऽऽकारस्याऽप्रतिष्ठितता । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशये स्थाणुपुरुषान्यतरात्मकविषयगताऽप्रतिष्ठितता, स्थाणुपुरुषान्यतरस्याऽसत्त्वाद्युत्तरकालीननिश्चयेन बाध्यत्वाच्च विपर्ययेऽन्तर्भाव इति—८ ॥ यत्र पाठशालादौ न कश्चिद्देवदत्तोऽस्ति न वा कश्चित्कम्बलोऽप्यस्ति तत्र तत्सापेक्षतयोर्भेदोऽपि न संभवति तत्पाठशालामागन्तुमुद्दिश्य वरिष्ठेन पाठशालीयजनेन कश्चिदागन्तुकं देवदत्तकम्बलवृत्तान्तप्रचारं प्रत्यभिहितं 'अथ देवदत्तस्य कम्बल' इति वाक्यं, तत्र वस्तूनां याथार्थ्यमनपेक्ष्योच्चारितशब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या निर्दिष्टो यः स्वामित्वात्मको भेदसम्बन्धः स अविद्यमानोऽपि तं समारोप्य शब्दमात्रेण श्रोतुः ज्ञानं भवतीति तद्विकल्पात्मकम्, अलीकप्रतियोगिकाऽलीकभेदारोपप्रदर्शनपरमिदं दृष्टान्तम् । अत्राऽलीकप्रतियोगिकस्य भेदादेरारोप एव विवादग्रस्त इत्यतो वास्तविकाऽभेदे भेदारोपदृष्टान्तमाह—वस्तुतस्त्विति । पुरुषस्य चैतन्यमित्यत्र पुरुषचैतन्ययोरेतन्मतेऽभेदेऽपि षष्ठ्या भेदारोपो विकल्प इति भावः । विपर्यये मिथ्याज्ञानेन मिथ्या एव व्यवहारः, विकल्पे तु यथार्थशब्दजन्यज्ञानादिना यथार्थव्यवहार इति व्यवहारात्मक—भिन्नफलजनकतया भिन्नस्वरूपतया च भिन्नवृत्तित्वं बोध्यम्—९ ॥ अभावप्रत्यय इति । जाग्रत्स्वप्नावस्थानियतवृत्तीनां योऽभावस्तस्य प्रत्ययः—कारणीभूतं यद् बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमः तदेवाऽऽलम्बनं—विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रेत्यर्थः ॥ अधिकमस्मद्योगभाष्ये द्रष्टव्यम्—१० ॥ अनुभूतविषयाणाम् असम्प्रमोषः—अस्तेयम्—अनतिरिक्तविषयाकारप्रत्ययः संस्कारद्वारा यो बुद्धावुपपद्यते सा स्मृतिरित्यर्थः—११ ॥ प्रकाशेति । प्रकाश—प्रवृत्ति—नियमस्वभावा या प्रमाणादिपञ्चवृत्तयस्तासां निरोधो लय इत्यर्थः । निरोधस्वरूपमाह—तासामिति ।

व्याख्यातुमाह—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः—१३ ॥ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिस्तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इत्युच्यते—१३ ॥ तस्यैव विशेषमाह—**स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः—१४॥** बहुकालं नैरन्तर्येणाऽऽदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमिः स्थिरो भवति दार्ढ्याय प्रभवतीत्यर्थः—१४ ॥ वैराग्यस्य लक्षणमाह—**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्—१५ ॥** द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च, दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः, देवलोकादावानुश्रविकः, अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदस्तत आगत आनुश्रविकः, तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतगर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमित्युच्यते—१५ ॥ तस्यैव विशेषमाह—**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्—१६ ॥** तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयं, द्वितीयं गुणविषयमुत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात्—१६ ॥ एवं योगस्य स्वरूपमुक्त्वा संप्रज्ञातस्वरूपभेदमाह—**वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः—१७ ॥** समाधिरिति शेषः, सम्यक्संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य स्वरूपं येन स संप्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः, स वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः—सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च, भावना—भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्, भाव्यं च द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च, तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात्, जडानि चतुर्विंशतिः, अजडः पुरुषः, तत्र यदा महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनाऽऽदाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखसंभेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः, अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने पूर्वापरानुसंधानशब्दोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः, तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः, तस्मिन्नेवालम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते, एवंपर्यन्तः समाधिर्ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते, यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति, अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहंकारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः, इयं ग्रहणसमापत्तिः, ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भा-

---

तद्वैमुख्यं—विषयवैमुख्यम्—१२ ॥ स तु—अभ्यासस्तु—१४ ॥ चित्तस्थरागादिदोषाणां क्षयाय यत्ने सति यतमानसंज्ञकं वैराग्यं प्रथमम्, क्षीणेभ्योऽक्षीणान् पृथगवधार्य तत्क्षयाय यत्ने सति—व्यतिरेकसंज्ञकं वैराग्यं द्वितीयम्, क्षीणानां सर्वदोषाणामिन्द्रियप्रवर्तनाऽशक्तानां मनस्यौत्सुक्यमात्रेणावस्थानम् एकेन्द्रियसंज्ञकं वैराग्यं तृतीयम्, दिव्याऽदिव्यसर्वविषयेषु औत्सुक्यस्याप्यभावो वशीकारसंज्ञकं वैराग्यं चतुर्थमिति बोध्यम्—१५ ॥ **प्रथममिति**—यतमानसंज्ञकं व्यतिरेकसंज्ञकम् एकेन्द्रियसंज्ञकं चेति त्रिविधं वैराग्यं विषयविषयमित्यर्थः । **द्वितीयम्**—अन्तिमं वशीकारसंज्ञकं तु त्रिगुणविषयं विवेकख्यात्या जायमानं निरोधात्मकप्रथमचित्तवृत्तिसमाध्यनुकूलं भवतीत्यर्थः—१६ ॥ **चतुर्विंशतिरिति ।** प्रकृतिर्महत्तत्त्वमऽहंकारमनः—श्रोत्र-त्वक् चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थ-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशानिलानलसलिलावनयः । अजडः—जीवात्मा परमात्मा चेति, षड्विंशतिपदार्थाः । स्थूलपदार्थेषु धर्मधर्मिभावपूर्वकं भावना सवितर्कसम्प्रज्ञातः, धर्मधर्मिभावशून्या च भावना निर्वितर्कसंप्रज्ञातः, सूक्ष्मेषु तन्मात्रकरणादौ देशकालधर्मादिभावपूर्वकं भावना सविचारः,

यच्चितिशक्तेरुद्रेकात्सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते, न चाहंकारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान्वेदयते सोऽहंकारः, यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता, अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते, ये परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्तन्ते तेषामियं विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरित्युच्यते, तत्र संप्रज्ञाते समाधौ चतस्रोऽवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते, तत्रैकैकस्यास्त्यागे उत्तरोत्तरेति चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञातः समाधिः–१७॥ असंप्रज्ञातमाह–**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः–१८॥** विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः, विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम्, तत्र या काचिद्वृत्तिरुल्लसति तस्या नेति नेतीति नैरन्तर्येण पर्युदसनं तत्पूर्वः संप्रज्ञातसमाधिः संस्कारशेषोऽन्यस्तद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः, न तत्र किंचिद्वेद्यं संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः, इह चतुर्विधश्चित्तस्य परिणामः–व्युत्थानं समाधिप्रारम्भ एकाग्रता निरोधश्च, तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानं, विक्षिप्ता भूमिः सत्त्वोद्रेकात्समाधिप्रारम्भः, एकाग्रत्वनिरुद्धते च पर्यन्तभूमी, प्रतिपरिणामं च संस्काराः, तत्र व्युत्थानजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यन्ते, तज्जाश्चैकाग्रताजैः, निरोधजनितैरेकाग्रताजाः संस्काराः स्वरूपं च हन्यन्ते, यथा सुवर्णसंवलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमलं च निर्दहति एवमेकाग्रताजनितान्संस्कारान्निरोधजाः स्वात्मानं च निर्दहन्ति–१८॥ तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदं संक्षेपेणोपायं चाभिधाय विस्तरेणोपायं योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते–**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्–१९॥** विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासूत्रे व्याख्याताः, तेषां समाधिर्भवप्रत्ययः, भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः, अयमर्थः–आविर्भूत एव संसारे ते तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति, तेषां परतत्त्वादर्शनाद्योगाभासोऽयम्, अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायां च मुक्तिकामेन महान्यत्नो विधेय इत्येतदर्थमुपदिष्टम्–१९ ॥ तदन्येषां तु–**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्–२० ॥** विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिनां श्रद्धादिपूर्वकः श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः, ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते, तत्र श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः, वीर्यमुत्साहः, स्मृतिरनुभूतासंप्रमोषः, समाधिरेकाग्रता, प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः, तत्र श्रद्धावतो वीर्यं जायते योगविषय उत्साहवान्भवति, सोत्साहस्य

---

तत्र च धर्मिमात्रे भावना निर्विचारः । ग्राह्याणां विषयाणां समापत्तिः–भावनया समाधिः । इन्द्रियाणां सात्त्विकतया तत्कारणीभूतोऽहंकारोऽपि सत्त्वप्रधान आनन्दपूर्णो बुद्धिश्चापि तथैवानन्दे चित्तैकाग्रता सानन्दसम्प्रज्ञातः । ग्रहणस्य–सत्त्वप्रधानानन्दस्य समापत्तिः–भावनया समाधिः । आनन्दमपि विहाय बुद्ध्यहङ्कारयोरभेदाध्यासकर्तृयोगात्मनैकात्म्यतायां चित्तैकाग्रता सास्मितसंप्रज्ञातः । एवं संसर्गस्य समापत्तिः । ग्रहीतुः पुरुषस्य समापत्तिः–१७ ॥ सर्वासां वृत्तीनां विरामस्य–अत्यन्तविलयस्य, प्रत्ययः–कारणं यत् परं वैराग्यं गुणवैतृष्ण्याख्यं, तदभ्यासः–तत्सञ्चीलनम् , तत्पूर्वः–तदुद्भावकः, असम्प्रज्ञातसमाधिः, स च संस्कारशेष इति कथ्यते, तदानीं वृत्तीनां लयेऽपि प्रारब्धसंस्कारलेशसत्त्वात्–१८ ॥ विदेहाः स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनावस्थानक्षमा हिरण्यगर्भादयः, प्रकृत्युपासनया तत्कार्यमहदादीश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वाऽऽवरणेषु लयं गताः प्रकृतिलयाः। भवः–संसारः–जन्म इति यावत् । अधिमात्राः–तीव्रवेगवदुपायवत्सु योगिषु गणनां लब्धाः॥ परतत्त्वं–शुद्धात्मा परमात्मा वा तस्याऽदर्शनात्–१९॥ जीवेश्वरमुक्तस्वरूपमहोत्सेष्वन्यथाख्येषु

वा पश्चात्तस्यां भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते, तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते, समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति, त एते संप्रज्ञातसमाधेरुपायाः, तस्याभ्यासात्पराच्च वैराग्याद्भवत्यसंप्रज्ञातः–२०॥ उक्तोपायवतां योगिनामुपायभेदाद्भेदानाह–**तीव्रसंवेगानामासन्नः**–२१॥ समाधिलाभ इति शेषः, संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः, स तीव्रो येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः, समाधिफलं चाऽऽसन्नं भवति शीघ्रमेव संपद्यत इत्यर्थः–२१॥ के ते तीव्रसंवेगा इत्यत आह– **मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः**–२२॥ तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भवति, मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः, ते प्रत्येकं मृदुसंवेगमध्यसंवेगतीव्रसंवेगभेदात्त्रिधा, तद्भेदेन च नव योगिनो भवन्ति, मृदूपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च, मध्योपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च, अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च, अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान्यत्नः कर्तव्य इति भेदोपदेशः–२२॥ इदानीमेतदुपायविलक्षणं सुगममुपायान्तरमाह–**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**–२३॥ ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः, तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं विषयसुखादिकं फलमनिच्छन्सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति तत्प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपायः–२३॥ ईश्वरस्य प्रणिधानात्समाधिलाभ इत्युक्तं, तत्रेश्वरस्य स्वरूपं प्रमाणं प्रभावं वाचकमुपासनाक्रमं तत्फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह– **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**–२४॥ क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः, विहितप्रतिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्माणि, विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः, आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः, पुरुषविशेषः, अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः, ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः, यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथाऽपि चित्तगतास्तेषामुपदिश्यते, यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः, अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति, अतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः, तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात्, सत्त्वोत्कर्षश्चास्य प्रकृष्टज्ञानादेव, न चानयोर्ज्ञानैश्वर्ययोरितरेतराश्रयत्वं, परस्परानपेक्ष-

---

विभागात् तत्रोक्तं यद्ब्रह्म अक्षरपदवाच्यं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं परमव्योमगततेजोविशिष्टमक्षरधामसंज्ञकं महामुक्तादीनामाधारभूतं चेतनं ब्रह्मतयैव वर्तमानं तत्र क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वस्य त्रिकालं सर्वदैव सत्त्वादतिव्याप्तिवारणाय 'विशेष'पदम् , विशेषत्वं च सर्वेशत्वस्य सर्वनियन्तृत्वस्य सर्वेशनशीलत्वस्य पराकाष्ठा–वत्त्वमित्यमिति यावत्, ब्रह्मणः परब्रह्माधीनत्वात् सर्वेशनशीलत्वाभावात्रातिव्याप्तिरिति बोध्यम् ॥ तस्य चेति । परमेश्वरस्य अनादेः–मुक्तानामिवाऽऽदिशून्यात् नित्यात् स्वकीयात् न तु मायिकात्, सत्त्वोत्कर्षात्–उत्कृष्टसत्त्वात्—निरवधिकातिशयसत्त्वस्वरूपात्, तथाविधं–सकलजगदुद्धरणक्षमत्वाद्यात्मकमैश्वर्यं वर्तते, एवं तस्य प्रकृष्टज्ञानात्–नित्यसार्वज्ञ्यात्, सत्त्वोत्कर्षश्च–स्वकीयं निरवधिकातिशयसत्त्वं च वर्तत–इत्यर्थः । तथा च सत्त्वोत्कर्षवशात् 'तापत्रयपरीतान्जीवानुद्धरामी'ति ज्ञान–संकल्पसामर्थ्यमपि युक्तमेवेति भावः । ननु–नित्यसार्वज्ञ्याद् उद्धरणार्थैश्वर्यमैश्वर्याच्चोद्धरामीतिज्ञानसामर्थ्यं–यथार्थज्ञानमित्यन्योन्याश्रयदोषः स्यादित्यत्रोक्तं–न चाऽनयोरिति । उद्धरामीति ज्ञानस्य उद्धरणक्षमत्वाद्यैश्वर्यस्य चेत्यर्थः । समाधत्ते परस्परानपेक्षत्वादिति । परस्पराधीनोत्पत्तिकत्वाऽभावात्, परस्पराधीनस्थितिकत्वाऽभावाच्चेतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः । परमेश्वरस्य नित्यसत्त्वे स्वकीयस्वातन्त्र्येण द्वयोः सर्वदा सहावस्थानतयाऽनिशवर्तमानत्वात्, परमेश्वरेण स्वेच्छयैव यथाविधेये नियोक्ष्यत्वात्, नान्योन्याश्रय इत्याशयेन

त्वात्, ते द्वे ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे वर्तमाने अनादिभूते, तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव संबन्धः, प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः; यथेतरेषां प्राणिनां सुखदुःखमोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मप्रख्ये योगिशरीरे प्रतिसंक्रान्तं चिच्छायासंक्रान्तं संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य, तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षवाननादिसंबन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः, अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एवेश्वरः, मुक्तात्मनां तु पुनः क्लेशादियोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्तितः, अस्य पुनः सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्मतुल्यत्वम्, न चेश्वराणामनेकत्वं, तेषां तुल्यत्वे भिन्नाभिप्रायत्वात्कार्यस्यैवानुपपत्तेः, उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे च य एवोत्कृष्टः स एवेश्वरस्तत्रैव काष्ठाप्राप्तत्वादैश्वर्यस्य—२४ ॥ एवमीश्वरस्य स्वरूपमभिधाय प्रमाणमाह—**तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्**—२५ ॥ तस्मिन्भगवति सर्वज्ञत्वस्य यदतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वं च मूलत्वाद्बीजमिव बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्, दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्माणां सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः, यथा परमाणावल्पत्वस्याऽऽकाशे परममहत्त्वस्य, एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति, यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः, यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः संभवति तथाऽपि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः, तस्य स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगावापादयतीति नाऽऽशङ्कनीयं, तस्य कारुणिकत्वाद्भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्, कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान्संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यवसायः, यद्यस्येष्टं तत्तस्य प्रयोजनम्—२५ ॥ एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह—**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**—२६ ॥ आद्यानां स्रष्टॄणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा, यतः स कालेन नावच्छिद्यते, अनादित्वात्, तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः—२६ ॥ एवं प्रभावमुक्त्वोपासनोपयोगाय वाचकमाह—**तस्य वाचकः प्रणवः**—२७ ॥ इत्थमुक्तस्वरूपस्येश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारस्तयोश्च वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते न तु केनचित्क्रियते, यथा पितापुत्रयोर्विद्यमान एव संबन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित्प्रकाश्यते—२७ ॥ उपासनमाह—**तज्जपस्तदर्थभावनम्**—२८ ॥ तस्य सार्धत्रिमात्रस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य चेश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनमेकाग्रताया उपायः, अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थ ईश्वरश्च भावनीय इत्युक्तं भवति—२८ ॥ उपासनायाः फलमाह—**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च**—२९ ॥ तस्माज्जपात्तदर्थभावनाच्च योगिनः प्रत्यक्चेतनाधिगमो भवति विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति, अन्तराया वक्ष्यमाणास्तेषामभावः शक्तिप-

---

स्यादिति—ते द्वे इति ॥ वाचस्पत्ये तु—उद्दिधीर्षया भगवता सत्त्वमुपादेयं तदुपादानेन च—तदुद्दिधीर्षा इत्यन्योन्याश्रय इत्याशंक्य द्वयोः शाश्वतिकत्वान्नेतरेतराश्रयत्वमिति समाहितम्—२४ ॥ तथा चा-नुमानम्—'सर्वज्ञत्वं'—क्वचित्काष्ठाप्राप्तं, सातिशयत्वात्, परिमाणवदिति । शास्त्रं च—'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' 'यस्यैष महिमा भुवि' इति श्रुतयो बोध्याः । कल्पप्रलयः ब्रह्मणो दिवसान्ते प्रलयः, महाप्रलयः—ब्रह्मणः शतवर्षान्ते तन्नाशे सति प्रलयः, यत्र यावत्प्रकृतिकार्यलोप इति । वस्तुतस्तु—नित्य-नैमित्तिक-प्राकृताऽऽत्यन्तिकाश्चत्वारः प्रलयाः, नित्यप्रलयः प्रतिक्षणं भूतानां नाशः, नैमित्तिकः—ब्रह्मणो दिवसान्ते भूतानां नाशः, प्राकृतः—यावत्प्रकृतिकार्यलयः, आत्यन्तिकः—जीवानां मुक्तिप्राप्तिरिति बोध्यम् । वर्षादिपरिगणना स्वरमङ्गाध्ये द्रष्टव्या—२५ ॥ उपदेष्टा—वेदप्रदाता—२६ ॥

तिबन्धोऽपि भवति—२९ ॥ अथ केऽन्तराया इत्याशङ्कायामाह—**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः—३०** ॥ नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः, तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य, उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयो योगः साध्यो न वेति, प्रमादोऽनवधानता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्, आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभावहेतुः, अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः, भ्रान्तिदर्शनं शुक्तिकायां रजतवद्विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽसंप्राप्तिः, अनवस्थितत्वं लब्धायामपि भूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा, त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते—३० ॥ चित्तविक्षेपकारकानन्यानप्यन्तरायान्प्रतिपादयितुमाह—**दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः—३१** ॥ कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखादयः प्रवर्तन्ते, तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः, यद्बाधात्प्राणिनस्तदुपघाताय प्रवर्तन्ते, दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौःस्थ्यम्, अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनःस्थैर्यस्य बाधकः, प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः, यत्कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति स प्रश्वासः, त एते विक्षेपैः सह प्रवर्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या इत्येषामुपदेशः—३१ ॥ सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह—**तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः—३२** ॥ तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यः, यद्बलात्प्रत्युदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रशममुपयान्ति—३२ ॥ इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्मकथनमुपायान्तरमाह—**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्—३३** ॥ मैत्री सौहार्दम्, करुणा कृपा, मुदिता हर्षः, उपेक्षौदासीन्यम्, एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत्, तथा हि—सुखितेषु साधु एषां सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्यान्न तु ईर्ष्याम्, दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्यान्न ताटस्थ्यम्, पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्यान्न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम्, अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम्, सूत्रे सुखदुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः, तदेवं मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्ते प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति, परिकर्म चैतद्बाह्यं कर्म, यथा गणिते मिश्रकादिव्यवहारो गणितनिष्पत्तये संकलितादिकर्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं संपद्यते, रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः, तौ चेत्समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता—३३ ॥ उपायान्तरमाह—**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य—३४** ॥ प्रच्छर्दनं कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन बहिर्निः—

---

प्रत्यक्चेतना—आत्मा—२९ ॥ **यथा गणित इति ।** यथा गणिते—गणितशास्त्रे, गणितनिष्पत्तये जिज्ञासिताऽन्तिमफलीभूतसंख्यासिद्ध्यर्थं, मिश्रकादिव्यवहारः—खण्डशोऽङ्कानां मिश्रणं विरुद्धसमानांकानां छेदनम् अनुगुणांकानां गुणनं विभाजनमित्यादिरूपो व्यवहारः, संकलितादिकर्मोपपादकत्वेन-स्वोत्तरं मध्ये मध्ये लब्धानां जिज्ञासितसंख्यानां संकलनादिकर्मप्रतिपादकः सन्नेव, प्रधानकर्मनिष्पत्तये—शेषसंख्यामवतारयन् सन्नेव अन्तिमफलितसंख्याजनको भवति, तथा योगशास्त्रे सम्प्रज्ञातादिसमाधिसिद्ध्यर्थं योगाङ्गानुस्यूतचित्तव्यवहारो मध्ये मध्ये द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनां प्रकुर्वन् सन्नेव, क्लेशसत्त्वप्रसादमापादयन् सन्नेव अन्तिमात्मस्वरूपावस्थितिरूप-

सारणम्, विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्य बाह्यैर्बहिर्गतिविच्छेदः, स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां बाह्यस्याभ्यन्तरापूरणेन पूरितस्य वा तत्रैव निरोधेन, तदेवं रेचकपूरककुम्भकभेदेन त्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतया निबध्नाति, सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्, मनःप्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वाज्जीयमानः प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति, समस्तदोषक्षयकारित्वं चास्याऽऽगमे श्रूयते, दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः, अतो दोषनिर्हरणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम्–३४ ॥ इदानीमुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्गं कथयति–**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी–३५।** मनस इति वाक्यशेषः विषया गन्धरसरूपस्पर्शशब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यं करोति, तथा हि–नासाग्रे चित्तं धारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते, तादृश्येव जिह्वाग्रे रससंवित्, तालुन्यग्रे रूपसंवित्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्, जिह्वामूले शब्दसंवित्, तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन्दिव्ये विषये जायमाना संविच्चित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवति, अस्ति योगस्य फलमिति योगिनः समाश्वासोत्पादनात्–३५ ॥ एवंविधमेवोपायान्तरमाह–**विशोका वा ज्योतिष्मती–३६ ॥** प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्यशेषः, ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते, स प्रशस्तो भूयानतिशयवांश्च विद्यते यस्यां सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः, विशोका विगतः सुखमयसत्त्वाभ्यासवशाच्छोको रजःपरिणामो यस्याः सा विशोका चेतसः स्थितिनिबन्धिनी, अयमर्थः–हृत्पद्मसंपुटमध्ये प्रशान्तकल्लोलक्षीरोदधिप्रख्यं चित्तसत्त्वं भावयतः प्रज्ञालोकात्सर्ववृत्तिपरिक्षये चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते–३६ ॥ उपायान्तरप्रदर्शनद्वारेण संप्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति–**वीतरागविषयं वा चित्तम्–३७ ॥** मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति शेषः, वीतरागः परित्यक्तविषयाभिलाषस्तस्य यच्चित्तं परिहृतक्लेशं तदालम्बनीकृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति–३७ ॥ एवंविधमुपायान्तरमाह–**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा–३८ ॥** प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स्वप्नः, निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा, तदालम्बनं निद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्ब्यमानं चेतसः स्थितिं करोति–३८ ॥ नानारुचित्वात्प्राणिनां यस्मिन्कस्मिंश्चिद्वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भवति तस्य ध्यानेनाप्यभीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह–**यथाभिमतध्यानाद्वा–३९ ॥** यथाभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरी भवति–३९ ॥ एवमुपायान्प्रदर्श्य फलदर्शनायाऽऽह–

---

फलसम्पादको भवतीत्यर्थः–३३ ॥ **मात्राप्रमाणेनेति** । नासिकाग्रात् प्रादेश–द्वादशाङ्गुल–हस्तादिपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य विषयः, ईषीका–तूलादिक्रिययाऽनुमितो बाह्य इति । पूरकस्य चाऽऽपादतलमस्तकमाभ्यन्तरो विषयः, स च पिपीलिकास्पर्शतुल्यस्पर्शेन निश्चेयः, कुम्भकस्य बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुदितावेव विषयः । अत्र मार्कण्डेयेनोक्तं–'निमेषोन्मेषणे मात्रा, तालो लघ्वक्षरं तथा । प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रकः ॥ वशिष्ठसंहितायाम्–'आकृष्य श्वसनं बाह्यात् पूरयेदिडयोदरम् । शनैः षोडशमात्राभिरकारं तत्र संस्मरन् । मकारं मूर्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत् । धारयेत् पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया । यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम् । पूरितं रेचयेत् पश्चात् प्रणवं ह्यनिलान्वितम् । शनैः पिङ्गलया पुनः । द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः । ध्यायन्नाद्याक्षरं तत्र प्रणवस्य समाहितः । कौर्मे–मात्राद्वादशको मन्दः, चतुर्विंशतिमात्रकः । मध्यमः, प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रकोऽन्तिमः ॥ इति ॥ **स्वव्यापारे**=मनसः संकल्पो व्यापारः, प्राणस्य चेन्द्रियान्तःकरणजीवनं व्यापारः, इति द्वयोरेककार्यकारित्वम्–३४ ॥ **उपाधिवशात्**–उपाधिर्

**परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः**–४० ॥ एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते, न क्वचित्परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः, एवं स्थूलमाकाशादिपरममहत्त्वपर्यन्तं भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते, सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः–४० ॥ एवमेभिरुपायैः संस्कृतस्य चेतसः कीदृग्रूपं भवतीत्यत आह–**क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः**–४१ ॥ क्षीणा वृत्तयो यस्य तत्क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिर्भवति, तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयत्वं,–न्यग्भूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः। तथाविधा समापत्तिः तद्रूपः–परिणामो भवतीत्यर्थः। दृष्टान्तमाह–अभिजातस्येव मणेर्यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाधिवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूपापत्तिः, यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु इत्युक्तं तथाऽपि भूमिकाक्रमवशाद् ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु–इति बोध्यम्, यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिस्ततो ग्रहणनिष्ठस्ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासंभवात्, ततश्च स्थूलसूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समापन्नं भवति, एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं बोद्धव्यम्–४१॥ इदानीमुक्ताया एव समापत्तेश्चातुर्विध्यमाह–**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः**–४२ ॥ श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूपो वा शब्दः, अर्थो जात्यादिः, ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिवृत्तिः, विकल्प उक्तलक्षणः, तैः संकीर्णा यस्यामेते शब्दादयः परस्पराध्यासेन प्रतिभासन्ते गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यनेनाऽऽकारेण सा सवितर्का समापत्तिरुच्यते–४२ ॥ उक्तलक्षणविपरीतां निर्वितर्कामाह–**स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का**–४३॥ शब्दार्थस्मृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः–४३ ॥ भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह–**एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता**–४४ ॥ एतयैव सवितर्कया च समापत्त्या सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता, कीदृशी, सूक्ष्मविषया सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा तथोक्ता, एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति, सा हि महाभूतालम्बना, शब्दार्थविषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा, देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा–४४ ॥ अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किंपर्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह–**सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्**–४५ ॥ सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यवसानं न क्वचिल्लीयते न

---

भ्रान्तिविषयधर्मप्रकारक–धर्मीयविशेष्यतावत्त्वम्, यथार्थबाधविषयप्रतियोग्याश्रयत्वं वा बोध्यम्–४१॥ स्फोटरूप इति श्रोत्रग्राह्यः स्थूलशब्दः, स्फुटो भवति पदस्यार्थो यस्मात् स वर्णवृत्तिः स्फोटः सूक्ष्मपदार्थो वैयाकरणैरङ्गीकृतः ईश्वरैच्छात्मकशक्तिस्थानापन्न इति। परस्पराध्यासेनेति। गौरिति–शब्दा–ऽर्थ–ज्ञानानां वास्तविकभिन्नत्वेऽपि अभेदेन–अविभागेन प्रतिभासन्त इत्यर्थः॥ गोशब्दस्य गोशब्दे गवात्मकेऽर्थे गोत्वविज्ञाने च वक्त्रभिप्रायभेदेन संकेतात् गौरित्युक्ते त्रिके व्यत्यासो भवति, तादृशसंकेतस्य स्मरणे सति एवाध्यासो भवतीति भावः ४२ ॥ **शब्दार्थस्मृतिप्रविलये इति।** पूर्वसूत्रोक्तं यच्छब्दार्थज्ञानानाम् एकशब्देनाऽभिधेयानां संकेतस्य स्मरणमध्यासप्रयोजकं तस्यैव लये सति तु, न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन–शब्दस्य ज्ञानस्य च पृथग्भूतस्याऽनुपस्थितत्वात्–अस्फुरणेनाऽभेदारोपाऽसंभवात्, स्फुटीभूतो ग्राह्यो योऽर्थः गवाद्यात्मकस्तन्मात्रैकाऽऽलम्बना, स्वरूपशून्या-

वा किञ्चिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम्, तथा हि—गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि विशिष्टलिङ्गमविशिष्टलिङ्गं लिङ्गमात्रमलिङ्गं चेति, विशिष्टलिङ्गं भूतानि, अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गं प्रधानमिति। नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति—४५॥ एतासां समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह—**ता एव सबीजः समाधिः—४६॥** ता एवोक्तलक्षणाः समापत्तयः सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्तन्त इति सबीजः संप्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनत्वात्—४६॥ अथेतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वान्निर्विचारायाः फलमाह—**निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः—४७॥** निर्विचारत्वं व्याख्यातम्, वैशारद्यं नैर्मल्यम्, सवितर्कां स्थूलविषयामपेक्ष्य निर्वितर्कायाः प्राधान्यम्, ततोऽपि सूक्ष्मविषयायाः सविचारायाः, ततोऽपि निर्विकल्परूपाया निर्विचारायाः, तस्यास्तु निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते, चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थितिप्रवाहयोग्यं भवति, एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत्स्थितौ दार्ढ्यम्—४७॥ तस्मिन्सति किं भवतीत्याह—**ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा—४८॥** ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते सर्तंभरा प्रज्ञा तस्मिन्सति भवतीत्यर्थः, तस्माच्च प्रज्ञालोकात्सर्वं यथावत्पश्यन्योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति—४८॥ अस्याः प्रज्ञान्तराद्वैलक्षण्यमाह—**श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात्—४९॥** श्रुतमागमज्ञानम्, अनुमानमुक्तलक्षणम्, ताभ्यां या जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया, न हि शब्दलिङ्गयोरिन्द्रियवद्विशेषप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्, इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा विशेषविषयत्वात्, अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते, अतस्तस्यामेव योगिना परः प्रयत्नः कर्तव्य इत्युपदिष्टं भवति—४९॥ अस्याः प्रज्ञायाः फलमाह—**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी—५०॥** तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान्व्युत्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारान्प्रतिबध्नाति स्वकार्यकरणाक्षमान्करोतीत्यर्थः, यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा बलवत्त्वादतत्त्वरूपप्रज्ञाजनितान्संस्कारान्बाधितुं शक्नुवन्ति, अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति—५०॥ एवं संप्रज्ञातं समाधिमभिधायासंप्रज्ञातं वक्तुमाह—**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः—५१॥** तस्यापि संप्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद्या या संस्कारमात्राद्वृत्तिरुदेति तस्यास्तस्या नेति नेतीति केवलं पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिराविर्भवति, यस्मिन्सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठः शुद्धो भवति, तदत्राधिकृतस्य योगस्य लक्षणं चित्तवृत्तिनिरोधपदानां च व्याख्यानमभ्यासवैराग्यलक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूपं भेदं चाभिधाय संप्रज्ञा-

---

ग्राह्यस्वरूपं विकल्पशून्यं यत्र—विकल्पाऽसम्भिन्ना, इव—यथा सानन्दसास्मितसम्प्रज्ञाते एकमात्राऽऽलम्बने तथा, निर्वितर्कः समाधिर्भवतीति भावः—४३॥ विशिष्टलिङ्गम्—विशेषत्वे सति लिङ्गत्वम्, विशेषत्वं—ग्रहणयोग्य-शान्तघोरमूढस्वरूपत्वम्—पञ्चमहाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि च विशेषाः स्वशीलैः कारणानुमापका वा भवन्तीति। अविशिष्टलिङ्गम्—अविशेषत्वे सति लिङ्गत्वम्,—अविशेषत्वम्—शान्तघोरमूढत्वात्मकविशेषशून्यत्वम्,—तन्मात्रान्तःकरणानि,—सूक्ष्मशब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकतन्मात्राणि अहंकारात्मकमन्तःकरणं चेति॥ लिङ्गमात्रं—प्रकृतेः लिङ्गं ज्ञापकं बुद्धिरनुमानद्वारा भवति। अलिङ्गं—न कस्यचिज्ज्ञापकं न वा क्वचिल्लीनं प्रधानमिति—४५॥ भासते—यथावस्थतदर्थः प्रत्यक्षो भवति हृदये अतस्तस्यामेव प्रज्ञायामित्यर्थः—४९॥ व्युत्थानजान्—क्षिप्तमूढविक्षिप्तावस्थचित्तजन्यान्,—सम्प्रज्ञातसमाधिजांश्चेत्यर्थः—५०॥

इति भोजवृत्तिकिरणे प्रथमः समाधिपादः॥

तासंप्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदमुक्त्वा योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं विस्तरेणोपायान्प्रदर्श्य सुगमोपायप्रदर्शनपरतयेश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनानि तत्फलानि च निर्णीय चित्तविक्षेपांस्तत्सहभुवश्च दुःखादीन्विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेकतत्त्वाभ्यासमैत्र्यादीन्प्राणायामादीन्संप्रज्ञातासंप्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवती प्रवृत्तिरित्यादींश्चाऽऽख्यायोपसंहारद्वारेण च समापत्तीः सलक्षणाः सफलाः स्वस्वविषयसहिताश्चोक्त्वा संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सबीजपूर्वको निर्बीजः समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः—५१॥ इति श्रीमहाराजाधिराजभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधायां पातञ्जलयोगशास्त्रसूत्रवृत्तौ योगपादः प्रथमः ॥ १ ॥

## ॥ ❋ ॥ अथ द्वितीयः साधनपादः ॥ ❋ ॥

ते ते दुष्प्रापयोगर्द्धिसिद्धये येन दर्शिताः । उपायाः स जगन्नाथस्त्र्यक्षोऽस्तु प्राप्तिशान्तये—१॥ तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः सात्म्यमुपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह—**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**—१॥ तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टं कृच्छ्रचान्द्रायणादि; स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः; ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम्, एतानि क्रियायोग इत्युच्यते—१॥ स किमर्थ इत्यत आह—**समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च**—२॥ क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्यकरणप्रतिबन्धः, समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनःपुनर्निवेशनं सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः, एतदुक्तं भवति—एते तपःप्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन्क्लेशाञ्शिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते तस्मात्प्रथमं क्रियायोगाभ्यासपरेण योगिना भवितव्यमित्युपदिष्टम्—२॥ क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तं, तत्र के क्लेशा इत्यत आह—**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः**—३॥ अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च, ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति, ते हि चेतसि प्रवर्तमानाः संसारलक्षणं गुणपरिणामं द्रढयन्ति—३॥ सत्यपि सर्वेषां तुल्ये क्लेशत्वे मूलभूतत्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह—**अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्**—४॥ अविद्या मोहः, अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत्, सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्वादिभेदेन चतुर्विधानाम्, अतो यत्राविद्या विपर्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते, विपर्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात्स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः । प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामिति । तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नाऽऽरभन्ते ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते, यथा बाल्यावस्थायां, बालस्य हि वासनारूपेण स्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्यभावे नाभिव्यज्यन्ते, ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसंपादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यमारब्धुमक्षमाः, यथाऽभ्यासवतो योगिनः, ते विच्छिन्ना

---

## ❋ किरणम् ❋

येन शेषावतारपतञ्जलिना दुष्प्रापयोगसामर्थ्यप्राप्त्यर्थं ते ते उपाया दर्शिताः सः त्र्यक्षः—चार्मं चक्षुर्द्वयमान्तरं योगज्ञानात्मकं चैकं तद्वान्, जगतां नाथः पतञ्जलिः, शेषावतारः, अस्य ग्रन्थस्य समाप्तये मोक्षादेर्वा प्राप्तये सहकारी भवत्वित्यर्थः ॥ कृच्छ्रेति । शरीरकृशताकरं पूर्णिमात आरभ्य चन्द्रकलासमसंख्याककवलग्रहणेन मासपर्यन्तं व्रतं योगाऽविघ्नकरं बोध्यम्, आदिना ब्रह्मचर्यगुरुसेवामौनद्वन्द्वसहनादिकं ग्राह्यम् । मन्त्राणां—भगवद्द्वादशाक्षरषडक्षरादिमन्त्राणां जपः—१ ॥ अभि-

ये केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति, यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागावस्थायां वा, द्वेषः, न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्संभवोऽस्ति, त उदारा ये प्राप्तसहकारिसंनिधयः स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्तयन्ति, यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम्, एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताऽप्यविद्याऽन्वयित्वेन प्रतीयते, न हि कश्चिदपि क्लेशानां विपर्यासान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते, तस्यां च मिथ्यारूपायां सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दग्धबीजकल्पानामेषां न क्वचित्प्ररोहोऽस्ति, अतोऽविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैतेषां निश्चीयते, अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः, सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वाद्योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कार्य इति—४॥ अविद्याया लक्षणमाह—**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**—५॥ अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यायाः सामान्यलक्षणम्, तस्या एव भेदप्रतिपादनम्—अनित्येषु घटादिषु नित्यत्वाभिमानोऽविद्येति उच्यते, एवमशुचिषु कायादिषु शुचित्वाभिमानः, दुःखेषु च विषयेषु सुखत्वाभिमानः, अनात्मनि शरीर आत्मत्वाभिमानः, एतेनापुण्ये पुण्यभ्रमोऽनर्थे चार्थभ्रमो व्याख्यातः—५॥ अस्मितां लक्षयितुमाह—**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतै(ते)वास्मिता**—६॥ दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्ती रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्त्विकः परिणामोऽन्तःकरणरूपः, अनयोर्भोग्यभोक्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्तभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मितेति उच्यते, यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहिताऽपि कर्त्र्यहं भोक्त्र्यहमित्यभिमन्यते, सोऽयमस्मिताख्यो विपर्यासः क्लेशः—६॥ रागस्य लक्षणमाह—**सुखानुशयी रागः**—७॥ सुखमनुशेत इति सुखानुशयी सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसंज्ञकः क्लेशः—७॥ द्वेषस्य लक्षणमाह—**दुःखानुशयी द्वेषः**—८॥ दुःखमुक्तलक्षणं, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः—८॥ अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—**स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः**—९॥ पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद्भयरूपः समुपजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो मा भूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैवाऽऽकृमेर्ब्रह्मपर्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः—९ ॥ तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताभ्यासकामेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्तव्याः, न चाज्ञातानां तेषां परिहारः कर्तुं शक्य इति तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं क्षेत्रं विभागं लक्षणं चाभिधाय स्थूलसूक्ष्मभेदभिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह—**ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः**—

---

निवेशः—मरणादित्रासः—३ ॥ अनात्मनि—शरीरादौ आत्मत्वबुद्धिरविद्या—४ ॥ अतस्मिंस्तत्—तद्भिन्ने तज्ज्ञानम्—आत्मभिन्ने शरीरादावात्मत्वप्रकारकं ज्ञानमविद्येत्यर्थः अपुण्ये—पापे कर्मणि पुण्यकर्मत्वप्रकारकभ्रमः। अनर्थे—अपुरुषार्थे धर्मार्थकाममोक्षभिन्ने पानमृगयाद्यूतादौ, अर्थभ्रमः—पुरुषार्थत्वप्रकारकभ्रमः अविद्येत्यर्थः—५ ॥ पुरुषबुद्ध्योर्भोक्तृभोग्ययोर्भिन्नयोरेकताल्क्षणं संसर्गं प्रदर्शयितुमभिहितं—शक्तिरिति। शक्तिः—योग्यता ॥ त्रिगुणवैषम्योत्तरं समुत्पन्नबुद्धेः कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वात् मूलप्रकृतेस्त्रिगुणसाम्यावस्थात्मिकायास्तन्नास्तीति पुरुषे इव प्रकृतावपि कर्तृत्वाद्यभिमानमस्मितेति दर्शयति—यथा प्रकृतिरिति। यथा 'पुरुषः कर्ता' इत्यस्मिता तथा 'मूलप्रकृतिः कर्त्री' इत्यप्यस्मिता बोध्येति भावः। वस्तुतः कार्यकारणयोरैक्यात् प्रकृतावपि कर्तृत्वादिकं सूक्ष्मतया लीनं वर्तत एवेति 'प्रकृतौ कर्तृत्वादि' अस्मितादृष्टान्तं न युक्तं किन्तु 'पुरुषः कर्ता भोक्ता' इत्येवेति बोध्यम्—६ ॥ आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः—धर्माधर्मौ, कर्मणामाशयः—शुक्ल-कृष्णादिकर्मजन्यधर्माधर्मात्मकसंस्कारः वासनारूपः॥ यथा नन्दीश्वरो बालक एव मनुष्यदेहेन तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिः ईश्वराराधनं कृत्वा सद्य एव देवत्वमाप्ति दीर्घमायुः दिव्यभोगांश्च

१०॥ ते सूक्ष्माः क्लेशा ये वासनारूपेणैव स्थिता न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः, स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां संभवः–१० ॥ स्थूलानां हानोपायमाह–**ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः–११ ॥** तेषां क्लेशानामारब्धकार्याणां याः सुखदुःखमोहात्मिका वृत्तयस्ता ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन हेया हातव्या इत्यर्थः, चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेणैव स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिर्भवति, यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षालनमात्रेणैव निवर्तते, यस्तु तत्र सूक्ष्मः स तैस्तैरुपायैरुत्तापनप्रभृतिभिरेव निवर्तयितुं शक्यते–११ ॥ एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्याभिधातुमाह–**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः–१२ ॥** कर्माशय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम्, यतो वासनारूपाण्येव कर्माणि, क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितम्, यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम्, दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम्, अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः, जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः, तथाहि–कानिचित्पुण्यानि कर्माणि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेन कृतानीहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति, यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः, एवमन्येषां विश्वामित्रादीनां तपःप्रभावाज्जात्यायुषी, केषांचिज्जातिरेव, यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्मकृतां नहुषादीनां जात्यन्तरादिपरिणामः। उर्वश्याश्च कार्तिकेयवने लतारूपतया, एवं व्यस्तसमस्तरूपत्वेन यथायोगं योज्यम्–१२ ॥ इदानीं कर्माशयस्य स्वभेदभिन्नं फलमाह–**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः–१३ ॥** मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः, तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति, जातिर्मनुष्यत्वादिः, आयुश्चिरकालमेकशरीरसंबन्धः, भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंविद्दुःखसंविच्च कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य, इदमत्र तात्पर्यम्–चित्तभूमावनादिकालसंचिताः कर्मवासना यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्यमारभन्ते–१३ ॥ उक्तानां कर्मफलत्वेन जात्यादीनां स्वकारणकर्मानुसारेण कार्यकर्तृत्वमाह–**ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्–१४ ॥** ह्लादः सुखं, परितापो दुःखं, ह्लादपरितापौ फलं येषां ते तथोक्ताः, पुण्यं कुशलं कर्म, तद्विपरीतमपुण्यं, ते पुण्यापुण्ये कारणं येषां ते तेषां भावस्तस्मात्, एतदुक्तं भवति–पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगा ह्लादफला अपुण्यकर्मारब्धास्तु परितापफलाः, एतच्च प्राणिमात्रापेक्षया द्वैविध्यम्–१४ ॥ योगिनस्तु सर्वं दुःखमित्याह–**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः–१५ ॥** विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिविवेकस्य परिदृश्यमानं सकलमेव भोगसाधनं सविषं स्वाद्वन्नमिव दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयमेवेत्यर्थः, यस्मादत्यन्ताभिजातो

---

लब्धवान्, तथा विश्वामित्रो क्षत्रियोऽपि तपःप्रभावात् ब्राह्मणत्वं दीर्घमायुश्च लब्धवान्। नहुषनामकराजर्षिः मनुष्यवाहनस्थितस्य वाहकत्वेन नियुक्तस्याऽगस्त्यमहर्षेरपराधेन सर्पत्वमभवत्। उर्वशी च कामव्याप्ता विश्वामित्रमहर्षिशापात् लतारूपतां प्राप्ता–१२ ॥ कुशलं–पुण्यम्, अकुशलं–पापम् ॥ **कर्मकरणेति।** भुज्यन्ते इति कर्मव्युत्पत्त्या भोगाः विषयाः। भुज्यन्ते एभिरिति करणव्युत्पत्त्या भोगा इन्द्रियाणि, भुज्यते इति भावव्युत्पत्त्या भोगाः सुखदुःखादयः, भुज्यतेऽनेन साधनेनेति व्युत्पत्त्या शरीरादिर्भोगः–१३॥ अक्षिपात्रं–नेत्रम् ॥ ऐकान्तिकीम्–एकेन येनोपायेन सदैवास्ति अन्तः–तदुत्तराऽवश्यंभवनशीलत्वात्मको नियमो यस्य दुःखनिवृत्त्यात्मककार्यस्य इत्यैकान्तः सा ऐकान्तिकी–उपायानुष्ठानादनन्तरमवश्यंभवनशीलाम्। आत्यन्तिकीम्–अत्यन्तः–अति–अतिक्रम्य काले–भविष्यत्कालीन इति यावत्, अन्तः–दुःखाग-

योगी दुःखलेशेनाप्युद्विजते, यथाऽक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति नेतरदङ्गं तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुबन्धेनापि उद्विजते । कथमित्याह–परिणामतापसंस्कारदुःखैः । विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्यापरिहार्यतया दुःखान्तरसाधनत्वाच्चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् , उपभुज्यमानेषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखं दुष्परिहरमिति तापदुःखता, संस्कारदुःखत्वं च स्वाभिमतानभिमतविषयसंनिधाने सुखसंविद्दुःखसंविच्चोपजायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते, संस्काराच्च पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात्सर्वस्यैव दुःखत्वम् । गुणवृत्तिविरोधाच्चेति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां सर्वत्रैव दुःखानुवेधाद्दुःखत्वम् , एतदुक्तं भवति–ऐकान्तिकीमात्यन्तिकीं च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन उक्तरूपकारणचतुष्टयात्सर्वे विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति तस्मात्सर्वं कर्मविपाको दुःखरूप एवेत्युक्तं भवति–१५ ॥ तदेवमुक्तस्य क्लेशकर्माशयविपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात्सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात्तदभिधानायाऽऽह–**हेयं दुःखमनागतम्**–१६ ॥ भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च स्वक्षणापगतत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति–१६ ॥ हेयहेतुमाह–**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः**–१७ ॥ द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धिसत्त्वं, तयोरविवेकख्यातिपूर्वको योऽसौ संयोगो भोग्यभोक्तृत्वेन संनिधानं स हेयस्य दुःखस्य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं तन्निवृत्त्या संसारनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः–१७ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं, तत्र दृश्यस्य स्वरूपं कार्यं प्रयोजनं चाऽऽह–**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**–१८॥ प्रकाशः सत्त्वस्य धर्मः, क्रिया प्रवृत्तिरूपा रजसः, स्थितिर्नियमरूपा तमसः, ताः प्रकाशक्रियास्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम् । भूतेन्द्रियात्मकमिति । भूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधानि पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च । इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणभेदेन त्रिविधानि । उभयमेतद्ग्राह्यग्रहणरूपमात्मा स्वरूपाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथाविधमित्यनेनास्य कार्यमुक्तम् । भोगः कथितलक्षणः, अपवर्गो विवेकख्यातिपूर्विका संसारनिवृत्तिः, तौ भोगापवर्गावर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधं दृश्यमित्यर्थः–१८ ॥ तस्य च दृश्यस्य नानावस्थारूपपरिणामात्मकस्य हेयत्वेन ज्ञातव्यत्वादवस्थाः कथयितुमाह–**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि**–१९ ॥ गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्युपदिष्टं भवति, तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि, अविशेषास्तन्मात्रान्तःकरणानि, लिङ्गमात्रं

---

राऽसमानाधिकरणत्वरूपो नियमो यस्य दुःखनिवृत्त्यात्मककार्यस्य स दुःखनिवृत्त्यात्मककार्यविशेषः आत्यन्तः, सैव आत्यन्तिकी–भविष्यत्कालीनदुःखान्तराऽसमानाधिकरणनिवृत्तिम् । दुःखनिवृत्ति–निखिलदुःखाभावात्मकमोक्षम्–१५ ॥ साधनैर्योगादिभिर्हेयं दुःखं, उपादेयं च हानं दुःखात्यन्ताभावरूपं, तयोः निश्चयात्मकं यथार्थज्ञानमेव सम्यग्ज्ञानं, तेन च असम्यग्ज्ञानमविद्या नश्यतीति भावः ॥ तदभिधानाय–विस्तरतः सम्यग्ज्ञाननिरूपणाय–१६ ॥ बुद्धीन्द्रियाणि–श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणानि, कर्मेन्द्रियाणि–वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, अन्तःकरणं मनः । भोगः–सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः, कथितलक्षणः–अस्मिन्पादे त्रयोदशसूत्रे–कर्मफलभावसाधनप्रसङ्गे भोगशब्देन कथितः–विषयेन्द्रियसुखाद्यात्मकश्च । संसारस्य–मिथ्याज्ञानं संसारोऽविद्या तस्य निवृत्तिर्ध्वंसः–१८ ॥ विशेषाः–शान्तघोरमूढात्मकत्वं विशेषत्वम्, पञ्चभूतानामेकादशेन्द्रियाणां च तद्भवति । अविशेषाः–शान्त-

बुद्धिः, अलिङ्गमव्यक्तमित्युक्तम्, सर्वत्र त्रिगुणरूपस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यत्वेन योगकाले चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि–१९ ॥ एवं हेयत्वेन दृश्यस्य प्रथमं ज्ञातव्यत्वात्तदवस्थासहितं व्याख्यायोपादेयं द्रष्टारं व्याख्यातुमाह–**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः–२०** ॥ द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चेतनामात्रः, मात्रग्रहणं धर्मधर्मिनिरासार्थम्, केचिद्धि चेतनामात्मनो धर्ममिच्छन्ति, स शुद्धोऽपि परिणामित्वाद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रत्ययानुपश्यः प्रत्यया विषयोपरक्तानि ज्ञानानि, तानि अनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन पश्यति, एतदुक्तं भवति–जातविषयोपरागायामेव बुद्धौ संनिधिमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति–२०॥ स एव भोक्तेत्याह–**तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा–२१**॥ दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्याऽऽत्मा यत्स्वरूपं स तदर्थस्तस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसंपादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम्, न हि प्रधानं प्रवर्तमानमात्मनः किंचित्प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्तते किंतु पुरुषस्य भोगं संपादयामीति–२१ ॥ यद्येवं पुरुषस्य भोगसंपादनमेव प्रयोजनं तदा संपादिते तस्मिंस्तन्निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात्, तस्मिंश्च परिणामशून्ये शुद्धत्वात्सर्वे द्रष्टारो बन्धरहिताः स्युः, ततश्च संसारोच्छेद इत्याशङ्क्याऽऽह–**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्–२२** ॥ यद्यपि विवेकख्यातिपर्यन्तात्तद्भोगसंपादनात्कमपि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारं तथाऽपि सर्वपुरुषसाधारणत्वादन्यान्प्रत्यनष्टव्यापारमवतिष्ठते, अतः प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न कदाचिदपि विनाशः, एकस्य मुक्तौ वा न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्युक्तं भवति–२२ ॥ दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय संयोगं व्याख्यातुमाह–**स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः–२३** ॥ कार्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति, स्वशक्तिर्दृश्यस्य स्वभावः, स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं, तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः, स च सहजभोग्यभोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः, न हि तयोर्नित्ययोर्व्यापकयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित्संयोगः, यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोगः–२३ ॥ तस्यापि कारणमाह–**तस्य हेतुरविद्या–२४** ॥ या पूर्वं विपर्यासात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता सा तस्य विवेकाख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणम्–२४॥ हेयं हानक्रियाकर्मोच्यते–किं पुनस्तद्धानमित्यत आह–**तदभावे संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्–२५**॥ तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग्ज्ञानेनोन्मूलिताया योऽयमभावस्तस्मिन्सति तत्कार्यस्य संयोगस्याप्यभावस्तद्धानमित्युच्यते, अयमर्थः–नैतस्य मूर्तद्रव्यवत्परित्यागो युज्यते किंतु जातायां विवेकख्यातावविवेकनिमित्तः संयोगः स्वयमेव निवर्तत इति तस्य हानम्, यदेव च संयोगस्य हानं तदेव नित्यं केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते–२५ ।

---

योऽभूतानात्मकत्वम्–अविशेषत्वम्, सात्त्विकानां शब्दादिपञ्चतन्मात्राणाम् अहंकारस्यान्तःकरणस्य च तद् भवति। लिङ्गमात्रं–प्रधानस्यानुमापकं–'सुखाद्यात्मिका बुद्धिः,–स्वसमानकारणजन्या कार्यत्वे सति सुखाद्यात्मकत्वात्'–इति ॥ अलिङ्गं–न लयं गच्छति न वा स्वकारणत्वेन किमप्यनुमापयतीत्यलिङ्गं–प्रकृतिः, अव्यक्तम्–गुरुत्वात्मक-व्यक्तावस्थाशून्यम्। साम्यावस्थात्मकत्रिगुणम् अव्यक्तमिति भावः–१९ ॥ नित्ययोः–स्वरूपतो नाशाऽप्रतियोगिनोः, व्यापकयोः–सर्वत्रोपलब्धिविषययोः–अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगिनोरिति वा, व्यापकत्वं चानयोर्महत्परिमाणवत्त्वादिति ॥ अनादिसिद्धं स संयोगः, वस्तुतस्तु संयोगपरम्परा अनादिनी, संयोगपरम्पराया अनादित्वं च–अप्रतिसन्धिरस्योत्तरत्वोभयविशिष्टं यत् पारम्पर्यं तद्भिन्नपारम्पर्यत्वमिति बोध्यम्–२३ ॥ **विवेकाख्यातिरूपस्येति** । सहजभोग्यभोक्तृभावलक्षणस्य संयोगस्य द्रष्टुः पुरुषस्य दृश्यस्य–बुद्धितत्त्वस्य स्वरूपोपलब्धेः 'अहं पुरुषः–इयं च बुद्धि'रित्याकारिकाया अपि हेतुतया कार्यकारणयोरभेदात् तस्य

तदेवं संयोगस्य स्वरूपं कारणं कार्यं चाभिहितम्। अथ हानोपायकथनद्वारेणोपादेयकारणमाह—**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—२६** ॥ अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य विवेकस्य या ख्यातिः प्रख्या साऽस्य हानस्य दृश्यपरित्यागस्योपायः कारणम्, कीदृशी, अविप्लवा न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः साऽविप्लवा, इदमत्र तात्पर्यम्—प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखाया या चिच्छायासंक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरुच्यते, तस्यां च सन्ततत्वेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्तेर्भवत्येव कैवल्यम्—२६ ॥ उत्पन्नविवेकख्यातेः पुरुषस्य यादृशी प्रज्ञा भवति तां कथयन्विवेकख्यातेरेव स्वरूपमाह—**तस्य सप्तधा प्रान्तभूमौ प्रज्ञा—२७** ॥ तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलसालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते सप्तप्रकारा भवति, तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुष्प्रकारा—ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किंचिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किंचित्क्षेतव्यमस्ति, अधिगतं मया ज्ञानं, प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति। प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामीदृश्येव प्रज्ञा जायते ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्मलं ज्ञानं कार्यविमुक्तिरित्युच्यते, चित्तविमुक्तिस्त्रिधा—चरितार्था मे बुद्धिर्गुणा हताधिकारा गिरिशिखरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितिं यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणानां मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोहो भवेत्, सात्मीभूतश्च मे समाधिस्तस्मिन्सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति, ईदृशी त्रिप्रकारा चित्तविमुक्तिः, तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः केवल इत्युच्यते—२७ ॥ विवेकख्यातिः संयोगाभावहेतुरित्युक्तं, तस्यास्तूत्पत्तौ किं निमित्तमित्यत आह—**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः—२८** ॥ योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानाज्ज्ञानपूर्वकादभ्यासादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः—२८ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तं, कानि पुनस्तानि योगाङ्गानीति तेषामुद्देशमाह—**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—२९** ॥ इह कानिचित्समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तरङ्गाणि, यथा धारणादीनि। कानिचित्प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति, यथा यमनियमादीनि तत्राऽऽसनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वम्, तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्यम्, एवमुत्तरत्रापि योज्यम्—२९॥ क्रमेणैषां स्वरूपमाह—**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः—३०**॥ तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा, सा च सर्वानर्थहेतुः, तदभावोऽहिंसा हिंसायाः सर्वप्रकारेणैव परिहार्यत्वात्प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः, सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम्, स्तेयं परस्वापहरणं तदभावोऽस्तेयम्, ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः, अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः, त एतेऽहिंसा-

---

विवेकख्यातिपर्यवसानं भवतीत्यभिप्रायेण उक्तं—विवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्येति। वस्तुतस्तु न विवेकख्यातिः संयोगः, विवेकख्यातिपूर्वमपि तस्य अनादित्वात्। अविवेकख्यातिरूपस्येति पाठः साधुः—२४ ॥ चिच्छायासंक्रान्तिः—बुद्धौ वर्तमानमपि आत्मप्रतिबिम्बम् अन्यबुद्धिधर्माऽभिभूतमत एवाऽन्तर्मुखं विवेकख्यातिनामान्वितं शुद्धं स्वोन्मुखतां प्रतीक्षमाणं वर्तते, तदानीं चिच्छायायां—आत्मप्रतिबिम्बे तत्र, संक्रान्तिः—य एको धर्मः समारूढः सा विवेकख्यातिरित्यर्थः ॥ कैवल्यं—दुःखत्रयात्यन्ताभावरूपम् परमेश्वरसारूप्याप्तिरूपं च—२६ ॥ एवमुत्तरत्रापि—प्राणायामस्थैर्ये सति इन्द्रियवृत्तीनां विषयतः स्वकारणे प्रत्याहारो भवति, प्रत्याहारे सति चित्तस्यैकत्रस्थे धारणा, धारणायां च सत्यां तत्रैव ध्यानं, ध्याते विषये च समाधिरिति—२९ ॥

दयः पञ्च यमशब्दवाच्या योगाङ्गत्वेन निर्दिष्टाः—३०॥ एषां विशेषमाह—**एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्**—३१॥ जातिर्ब्राह्मणत्वादिः, देशस्तीर्थादिः, कालश्चतुर्दश्यादिः, समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिः, एतैश्चतुर्भिरनवच्छिन्नाः पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवा महाव्रतमित्युच्यते, तद्यथा—ब्राह्मणं न हनिष्यामि तीर्थे न कंचन हनिष्यामि चतुर्दश्यां न हनिष्यामि देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति, एवं चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किंचित्क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यनवच्छिन्नाः, एवं सत्यादिषु यथायोगं योज्यम्, इत्थमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः परिच्छिन्नावधारणम्—३१॥ नियमानाह—**शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः**—३२॥ शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च, बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम्, आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम्, संतोषस्तुष्टिः, शेषाः प्रागेव कृतव्याख्यानाः एते शौचादयो नियमशब्दवाच्याः—३२॥ कथमेषां योगाङ्गत्वमित्यत आह—**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्**—३३॥ वितर्क्यन्त इति वितर्का योगपरिपन्थिनो हिंसादयस्तेषां प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा भवति तदा योगः सुकरो भवतीति भवत्येव यमनियमानां योगाङ्गत्वम्—३३॥ इदानीं वितर्काणां स्वरूपं भेदप्रकारं कारणं फलं च क्रमेणाऽऽह—**वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्**—३४॥ एते पूर्वोक्ता वितर्का हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते कृतकारितानुमोदितभेदेन, तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः, कुरु कुर्विति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिताः, अन्येन क्रियमाणाः साध्वित्यङ्गीकृता अनुमोदिताः, एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामोहनिवारणायोच्यते, अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत न मया स्वयं हिंसा कृतेति नास्ति मे दोष इति, एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोभक्रोधमोहपूर्वका इति । यद्यपि लोभः प्रथमं निर्दिष्टस्तथाऽपि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मन्यात्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात्तस्मिन्सति स्वपरविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवान्मूलत्वमवसेयम्, मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः, लोभस्तृष्णा, क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः, प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादयो मोहादिकारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते, एषामेव पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह—मृदुमध्याधिमात्राः । मृदवो मन्दा न तीव्रा नापि मध्याः, मध्या नापि मन्दा नापि तीव्राः, अधिमात्रास्तीव्राः, पाश्चात्त्या नव भेदाः, इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति, मृद्वादीनामपि प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदात्त्रैविध्यं संभवति, तद्यथायोगं योज्यम्, तद्यथा—मृदुमृदुर्मृदुमध्यो मृदु-

---

¹**तद्यथेति** । यस्माद्यवसरादयो हि हिंसाया अवसरदातारो भवन्ति, ब्राह्मणातिरिक्तस्य पशोः अतीर्थे चतुर्दशीभिन्नकाले देवादिप्रयोजनार्थं हननं सर्वजीवनानामहिंसात्मकपालनार्थं भौममहाव्रतविरुद्धम्, तस्मात् सत्यादिविशेषैरनियमिता सर्वजात्यादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो महाव्रतम् । **सत्यादिष्विति** । ब्राह्मणार्थं तीर्थे पुण्यदिवसे देवादिप्रयोजनाय सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमपरिग्रहं च संरक्षिष्ये इति विशेषैरनियमिता एव सत्यादयो महाव्रतं भवन्तीति—३१ ॥ तपः—कायक्लेशाऽकरं चित्तप्रसादजनकं कृच्छ्रचान्द्रायणादि, स्वाध्यायः—स्वेष्टदेवताकाक्षरपञ्चाक्षरादिमन्त्रजपः, ईश्वरे—परमेश्वरे प्रणिधानं—सर्वक्रियासमर्पणम्—३२ ॥ **प्रतिपक्षभावने इति** । यदा पुरुषः हिंसादिभिर्वितर्कैर्बाध्यमानो भवेत् तदा तत्प्रतिपक्षानहिंसादीन् भावयेत् तेन बाध्यन्ते हिंसादय—इति भावः—३३ **तस्मिन् सति**—मोहे सत्येव, तथा च मोहलोभक्रोधपूर्विका इत्युक्तिः समुचिता । **तद्यथेति** । मृदुमध्याधिमात्रा अपि प्रत्येकं त्रिधा—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः,

तीव्र इति, एषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफला: । दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः, अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशयविपर्ययरूपं, ते दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ताः, इत्थं तेषां स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञातानां प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्तव्य इत्युपदिष्टं भवति—३४॥ एषामभ्यासवशात्प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा भवन्ति तथा क्रमेण प्रतिपादयितुमाह—**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः**—३५॥ तस्याहिंसां भावयतः संनिधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति, हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः—३५॥ सत्याभ्यासवतः किं भवतीत्याह—**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**—३६॥ क्रियमाणा हि क्रिया यागादिकाः फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति, तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति, तद्वचनादस्य कस्यचित्क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः—३६॥ अस्तेयाभ्यासवतः फलमाह—**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्**—३७॥ अस्तेयं यदाऽभ्यस्यति तदाऽस्य तत्प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि सर्वतो दिव्यानि रत्नानि उपतिष्ठन्ते—३७॥ ब्रह्मचर्याभ्यासस्य फलमाह—**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**—३८॥ यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति। वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति—३८॥ अपरिग्रहाभ्यासस्य फलमाह—**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः**—३९॥ कथमित्यस्य भावः कथंता जन्मकथंता तस्या संबोधः सम्यग्ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासं कीदृशः किंकार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः, न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य, तस्मिन्सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः, यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसंबोधः—३९॥ उक्ता यमानां सिद्धयः । अथ नियमानामाह—**शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः**—४०॥ यः शौचं भावयति तस्य स्वाङ्गेष्वपि कारणस्वरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायतेऽशुचिरयं कायो नात्राऽऽग्रहः कार्य इति, अमुनैव हेतुना परैरन्यैश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्जनमित्यर्थः, यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शनात्स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति—४०॥ शौचस्यैव फलान्तरमाह—**सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च**—४१॥ भवन्तीति वाक्यशेषः, सत्त्वं प्रकाशसुखाद्यात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः, सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः, एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्यम्, इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखानामिन्द्रियाणामात्मनि अवस्थानम्, आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम्, शौचाभ्यासवत एते सत्त्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति, तथा हि—सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यं सौमनस्यादैकाग्र्यमैकाग्र्यादिन्द्रियजय इन्द्रियजयादात्मदर्शनयोग्यतेति—४१॥ संतोषाभ्यासस्य फलमाह—**संतोषादनुत्तमः सुखलाभः**—४२॥ संतोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति, यस्य बाह्यविषयसुखं शतांशेनापि न समम्—४२॥ तपसः फलमाह—**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**—४३॥ तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति, अयमर्थः—चान्द्रायणादिना चित्त-

---

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र इति, एतादृशो लोभो नवधा क्रोधो नवधा मोहो नवधा, तत्पूर्वा कृता हिंसा सप्तविंशतिभेदा, कारिताऽपि सप्तविंशतिभेदाऽनुमोदिताऽपि सप्तविंशतिभेदा, मिलित्वैकाशीतिभेदा हिंसा, तथा असत्यम्, स्तेयं, अब्रह्मचर्यं, परिग्रहश्च—एकाशीतिभेदस्तथा योज्याः—३४ ॥

क्लेशक्षयस्तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति, कायस्य यथेच्छमणुत्वमहत्त्वादीनि-४३॥ स्वाध्यायस्य फलमाह-**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः-४४॥** अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टयाऽभिप्रेतया देवतया संप्रयोगो भवति, सा देवता प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः-४४॥ ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह-**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्-४५॥** ईश्वरे यत्प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात्समाधेरुक्तलक्षणस्याऽऽविर्भावो भवति, यस्मात्स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायरूपान्क्लेशान्परिहृत्य समाधिं संबोधयति-४५॥ यमनियमानुक्त्वाऽऽसनमाह-**स्थिरसुखमासनम्-४६ ॥** आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि, तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते-४६ ॥ तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह-**प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्-४७ ॥** तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनाऽऽनन्त्यसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति संबन्धः, यदा यदाऽऽसनं बध्नामीतीच्छां करोति प्रयत्नशैथिल्येऽपि अक्लेशेनैव तदा तदाऽऽसनं संपद्यते, यदा चाऽऽकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नाऽऽसनं दुःखजनकं भवति, अस्मिंश्चाऽऽसनजये सति समाध्यन्तरायभूता न प्रभवन्ति अङ्गमेजयत्वादयः-४७ ॥ तस्यैतदनुनिष्पादि फलमाह-**ततो द्वन्द्वानभिघातः-४८ ॥** तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभिहन्यत इत्यर्थः-४८ ॥ आसनजयानन्तरं प्राणायाममाह-**तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः-४९ ॥** आसनस्थैर्ये सति तन्निमित्तकः प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति । कीदृशः, श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः, श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ, तयोस्त्रिधा रेचनस्तम्भनपूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतेः प्रवाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते-४९ ॥ तस्यैव सुखावगमाय विभज्य स्वरूपं कथयति-**स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः-५०॥** बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः, अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः, अन्तःस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। तस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः, त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति, देशेनोपलक्षितो यथा-नासाद्वादशान्तादौ, कालेनोपलक्षितो यथा-षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः, संख्ययोपलक्षितो यथा-इयतो वारान्कृत एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति, एतज्ज्ञानाय संख्याग्रहणमुपात्तम्, उद्घातो नाम नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम्-५० ॥ त्रीन्प्राणायामानभिधाय चतुर्थमभिधातुमाह-**बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः-५१ ॥** प्राणस्य बाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः, आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः, तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः, तृतीयस्मात्कुम्भकाख्यादयमस्य विशेषः-स बाह्याभ्यन्तरविषयावपर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत्स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते, अस्य तु विषयद्वयाक्षेपको निरोधः, अयमपि पूर्ववद्देशकालसंख्याभिरुपलक्षितो द्रष्टव्यः-५१ ॥ चतुर्विधस्यास्य फलमाह-**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्-५२ ॥** ततस्तस्मा

---

सूक्ष्माणां परमाण्वादीनां व्यवहितानां-गृहान्तःस्थानां, विप्रकृष्टानां-दूरस्थानां, च प्रत्यक्षदर्शनप्रभृत्यादिसामर्थ्यमाविर्भवतीति-४३ ॥ सम्प्रयोगो-दर्शनम्-४४ ॥ स्वाभाविकः प्रयत्नश्चलत्वादासनविघातकस्तस्योपरमेणासनं सिध्यति, स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वमण्डले अनन्ते शेषनागे चित्तस्य स्थैर्येणासनं सिध्यतीति-४७॥ आदिना-सुखदुःखमानापमानैरिति ग्राह्यम्-४८॥ श्वासः प्राणप्रवेशः, प्रश्वासः प्राणनिर्गमः, आक्षेपणं-स्तम्भनम्-४९ ॥ मात्रा-निमेषोन्मेषौ-एकमात्रा-५० ॥ अस्य

प्राणायामात्प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत्क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः—५२ ॥ फलान्तरमाह—**धारणासु च योग्यता मनसः—५३ ॥** धारणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरी भवति न विक्षेपं भजते—५३ ॥ प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—**स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः—५४ ॥** इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहारः, स च कथं निष्पद्यत इत्याह—चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयो रूपादिस्तेन संप्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्तनं तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानं, तस्मिन्सति चित्तस्वरूपमात्रानुकारीणीन्द्रियाणि भवन्ति, यतश्चित्तमनु वर्तमानानि मधुकरराजमिव मक्षिकाः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्तेऽतश्चित्तनिरोधे तानि प्रत्याहृतानि भवन्ति, तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः—५४ ॥ प्रत्याहारफलमाह—**ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्—५५ ॥** अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यानि आयत्तानीन्द्रियाणि संपद्यन्ते यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थः, तदेवं प्रथमपादोक्तलक्षणस्य योगस्याङ्गभूतक्लेशतनूकरणफलं क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशं स्वरूपं कारणं क्षेत्रं फलं चोक्त्वा कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलं चाभिधाय विपाकस्य स्वरूपं कारणं चाभिहितम्, ततस्त्याज्यत्वात्क्लेशादीनां ज्ञानव्यतिरेकेण त्यागस्याशक्यत्वाज्ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वाच्छास्त्रस्य च हेयहानकारणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्व्यूहत्वाद्धेयस्य च हानव्यतिरेकेण स्वरूपानिष्पत्तेर्हानसहितं चतुर्व्यूहं स्वस्वकारणसहितमभिधायोपादेयकारणभूताया विवेकख्यातेः कारणभूतानामन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्थितानां योगाङ्गानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याकृत्याऽऽसनादीनां धारणापर्यन्तानां परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थितानामुद्देशमभिधाय प्रत्येकं लक्षणकरणपूर्वकं फलमभिहितम् । तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभाव आसनप्राणायामैरङ्कुरितः प्रत्याहारेण पुष्पितो ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्यतीति व्याख्यातः साधनपादः—५५ ॥ इति श्रीमहाराजाधिराजभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधायां पातञ्जलयोगशास्त्रसूत्रवृत्तौ साधनपादो द्वितीयः ॥ २ ॥

## ॥ ❀ ॥ अथ तृतीयः पादः ॥ ❀ ॥

यत्पादपङ्कजस्मरणादणिमादिविभूतयः । भवन्ति भविनामस्तु भूतनाथः स भूयसे—१ ॥ भूतये तदेवं पूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यङ्गत्रयं निर्णेतुं संयमसंज्ञाभिधानपूर्वकं बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते, तत्र धारणायाः स्वरूपमाह—**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा—१ ॥** देशे नाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्य बन्धो विषयान्तरपरिहारेण यत्स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणोच्यते, अयमर्थः—मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यमनियमवता जितासनेन परिहृतप्राणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामेण निर्बाधे प्रदेश ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन योगिना नासाग्रादौ संप्रज्ञातस्य समाधेरभ्यासाय चित्तस्य स्थिरीकरणं कर्तव्यमिति—१ ॥ धारणामभिधाय ध्यानमा॰-

---

तु—चातुर्थं प्राणायामस्य तु. विषयापेक्षकः—अन्तर्बहिरुभयदेशात्मकविषयापेक्षकः, निरोधः—स्तम्भनम् भवतीति—५१ ॥

इति भोजवृत्तिकिरणे द्वितीयः साधनपादः ।

### ❀ किरणम् ❀

भविनाम्—संसारिणां योगाभ्यासिनाम् । भूतानां प्राणिनां पृथिव्यादीनां वा नाथः—नायकः शेषावतारः पतञ्जलिः शङ्करो वा, भूतये निखिलेष्टसिद्धयेऽस्तु । जितद्वन्द्वेन—सुखदुःखक्षुत्पिपासाशोक-

धातुमाह–**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**–२ ॥ तत्र तस्मिन्प्रदेशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य यैकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते–२ ॥ चरमं योगाङ्गं समाधिमाह–**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**–३ ॥ तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थाकारसमावेशादुद्भूतार्थरूपं न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवाऽऽपद्यते स समाधिरित्युच्यते, सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः–३॥ उक्तलक्षणस्य योगाङ्गत्रयस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं संज्ञां कर्तुमाह–**त्रयमेकत्र संयमः**–४ ॥ एकस्मिन्विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥ ४ ॥ तस्य फलमाह–**तज्जयात्प्रज्ञालोकः**–५ ॥ तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात्प्रज्ञाया विवेकख्यातेरालोकः प्रसवो भवति, प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तस्योपयोगमाह–**तस्य भूमिषु विनियोगः**–६ ॥ तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कर्तव्यः, अधरामधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्यः, न ह्यनात्मीकृताधरभूमिरुत्तरस्यां भूमौ संयमं कुर्वाणः फलभाग्भवति ॥ ६ ॥ साधनपादे योगाङ्गान्यष्टावुद्दिश्य पञ्चानां लक्षणं विधाय त्रयाणां कथं न कृतमित्याशङ्क्याऽऽह–**त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः**–७॥ पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं संप्रज्ञातस्य समाधिरूपनिष्पादनात्–७ ॥ तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह–**तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य**–८ ॥ निर्बीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि योगाङ्गत्रयं बहिरङ्गं पारम्पर्येणोपकारकत्वात्॥८॥ इदानीं योगसिद्धीराख्यातुकामः संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्तुं क्रमेण परिणामत्रयमाह–**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः**–९ ॥ व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्, निरोधः प्रकृष्टसत्त्वस्याङ्गित्वा चेतसः परिणामः, ताभ्यां

---

मोहादिकस्त्रयपाशेन–१ ॥ विसदृशः–विषयान्तरविषयको यश्चित्तवृत्तेः परिणामस्तस्य परिहारः–दूरापसरणमनुद्भावो वा तत्पूर्वकत्वेन–२ ॥ उक्तलक्षणं–एकविषयचित्तवृत्तिप्रवाहात्मकं ध्यानं तस्य ध्येयार्थमात्रग्राहितया अर्थाकारमात्रावलम्बनात् समुद्भूतार्थाकारमात्रविषयकम्, अप्युतं–शब्दाद्यसंकीर्णं, ध्यातृध्यानवृत्तिशून्यमिति यावत् । ध्यानस्वरूपं यज्ज्ञानं तादृग्ध्यानत्वेनाऽनवस्थितम्, अतो ध्यानात्मकज्ञानस्वरूपशून्यभावमापद्यते समाधिस्वरूपं च लभते इति भावः–३ ॥ तान्त्रिकीं–योगशास्त्रीयसंकेतमात्रकृताम्–४ ॥ विवेकस्वरूपायाः–विवेकख्यातिरूपायाः 'अहमन्यः प्रकृतिरन्या' इत्याद्याकारिकायाः, प्रसवः–दार्ढ्यं, अविच्छिन्नोत्कृष्टसंवेगतया ज्ञेयजडचेतनविषयकत्वं भवतीत्यर्थः–५ ॥ अधरामधराम्–स्थूलविषयां, चित्तवृत्तिं विजित्य सूक्ष्मविषयां कुर्यात् तां विजित्यालिङ्गमात्रविषयां, ततो ध्येयादिमात्रविषयामिति क्रमेण विवेकमात्रविषयाम् स्व-स्वरूपमात्रविषयां च, कुर्यात्–६॥ सम्प्रज्ञातसमाधेः साक्षादङ्गत्वमन्तरङ्गत्वम्, संस्कृते चित्ते धारणाध्यानयोः समाधिपूर्वावस्थात्मकत्वात्, क्षणक्रमेणाऽवस्थानाच्च । परम्परयाऽङ्गत्वं बहिरङ्गत्वम्, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराणां चित्तस्य मलप्रक्षालनेन संस्करणद्वारा समाध्युपकारकत्वात्, कालान्तरेणाऽपि जननात् बहिरङ्गत्वम्–७ ॥ निर्बीजस्य योगावस्थाविशेषा अपि भणितावस्था यत्र, अत एव निरालम्बनस्य-निर्विषयस्य ध्येयस्वरूपमपि शून्यमिव भवति यत्रैतादृशस्याऽसम्प्रज्ञातसमाधेः त्रयं बहिरङ्गं भवति, विवेकख्यातिपरवैराग्यद्वारा परम्परयैव तद्धेतुत्वात् जन्मान्तरीयत्रयेणापि असम्प्रज्ञातसम्भवात्–८ ॥ योगसिद्धीः–योगस्य निष्पत्त्यात्मकसिद्धीः,–विभूत्यात्मकसिद्धीश्च–संयमस्य विषयपरिशुद्धिं–संयमाश्रितचि-

व्युत्थाननिरोधाभ्यां यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतः, अभिभवो न्यग्भूततया कार्यकरणासामर्थ्येनावस्थानम्, प्रादुर्भावो वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतयाऽऽविर्भावः, तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयक्षणवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते, अयमर्थः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोभूतो भवति, निरोधसंस्काररूपश्चाऽऽविर्भवति, धर्मिरूपतया च चित्तमुभयान्वयित्वेऽपि निरोधात्मनाऽवस्थितं प्रतीयते, तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते, चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथाऽपि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते–९ ॥ तस्यैव फलमाह–**तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्**–१० ॥ तस्य चेतस उक्तान्निरोधसंस्कारात् प्रशान्तवाहिता भवति, परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः–१० ॥ निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह–**सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः**–११ ॥ सर्वार्थता चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणं चित्तस्य विक्षेपो धर्मः, एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणामितैकाग्रता, साऽपि चित्तस्य धर्मः, तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ सर्वार्थतालक्षणस्य धर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभव एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिश्चित्तस्योद्रिक्तत्वेनान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते, पूर्वस्मात्परिणामादस्यायं विशेषः—तत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य व्युत्थानसंस्काररूपस्य न्यग्भावः, उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानम्, इह तु क्षयोदयाविति सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुत्पत्तिरतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षयः एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम्–११ ॥ तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह–**शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः**–१२ ॥ समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः, अपरस्तूदितो वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः, द्वावपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ प्रत्ययावुभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानं, स एकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते–१२ ॥ चित्तपरिणामोक्तं रूपमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह–**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः**–१३॥ एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मलक्षणभेदेनावस्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः, अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरापत्तिः परिणामः, यथा–मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते, लक्षणपरिणामो यथा–तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः, तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः, अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः क्षणयोरन्वयित्वेन, यतश्च गुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यस्ति–१३ ॥ ननु कोऽयं धर्मीत्याशङ्क्य धर्मिणो लक्षणमाह–**शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी**–१४ ॥ शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः, उदिता येऽनागतमध्वानं परित्यज्य वर्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति, अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुं न शक्यन्ते तेषां यथास्वं सर्वात्मकत्वमित्येवमादयो नियतकार्यकारणरूपयोग्यतयाऽवच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मशब्देनाभिधीयते, तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्ततेऽन्वयित्वेन स्वीकरोति स शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते, यथा सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतयाऽनुवर्तमानं

---

उपस्य निरोधे एकाग्रे–इत्यादिभूमौ पृथक्तया नाऽन्वयात्मिकां परिणामरूपतां 'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानमि'(१६)त्यादिसूत्रैरुक्तां विषयरूपतां चेत्यर्थः–९ ॥ संस्कारलक्षणयोः संस्कारात्मकयोर्धर्मयोः–चित्ते वर्तमानयोरित्यर्थः–११॥ अतीतवर्तमानभविष्यद्धर्मतावत्त्वात् धर्मीत्यर्थः–१४॥

तेषु धर्मेषु कथंचिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनावभासते-१४ ॥ एकस्य धर्मिणः कथमनेके परिणामा इत्याशङ्कामपनेतुमाह-**क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः-१५** ॥ धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमस्तस्य यत्प्रतिक्षणमन्यत्वं परिदृश्यमानं तत् परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे नानाविधत्वे हेतुर्लिङ्गं ज्ञापकं भवति । अयमर्थः-योऽयं नियतः क्रमो मृच्चूर्णान्मृत्पिण्डस्ततः कपालानि तेभ्यश्च घट इत्येवंरूपः परिदृश्यमानः परिणामस्यान्यत्वमावेदयति, तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षणपरिणामस्यावस्थापरिणामस्य वा क्रमः सोऽपि अनेनैव न्यायेन परिणामान्यत्वे गमकोऽवगन्तव्यः, सर्व एव भावा नियतेनैव क्रमेण प्रतिक्षणं परिणममानाः परिदृश्यन्ते, अतः सिद्धं क्रमान्यत्वात्परिणामान्यत्वम्, सर्वेषां चित्तादीनां परिणममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते, यथा सुखादयः संस्थानादयश्च, केचिच्चैकान्तेनानुमानगम्याः, यथा-धर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयः, धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगमः-१५ ॥ इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह-**परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्-१६** ॥ धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामत्रयमुक्तं तत्र संयमात्तस्मिन्विषये पूर्वोक्तसंयमस्य करणादतीतानागतज्ञानं योगिनः समाधेराविर्भवति, इदमत्र तात्पर्यम्—अस्मिन्धर्मिणि अयं धर्म इदं लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्तमानेऽध्वनि स्वं व्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयमं करोति तदा यत्किंचिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति, यतश्चित्तस्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिर्विक्षेपैरपक्रियते, यदा तु तैस्तैरुपायैर्विक्षेपाः परिह्रियन्ते तदा निवृत्तमलस्येवाऽऽदर्शस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमेकाग्रताबलादाविर्भवति-१६ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह-**शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्-१७** ॥ शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः, यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा शास्त्रसंस्कृतबुद्धिग्राह्यः, उभयथाऽपि पदरूपो वाक्यरूपश्च तयोरेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यात्, अर्थो जातिगुणक्रियादिः, प्रत्ययो ज्ञानं विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः, एषां शब्दार्थज्ञानानां

---

क्रमः—स्वाभाविकमानन्तर्यम्,—यथा मृदो पिण्डस्ततः कपाले ततो घट इति, न तु मृदो घटस्ततः कपाले ततः पिण्ड इति, तस्मात्—वास्तविकाऽऽनन्तर्यात्मकक्रमभेदात् परिणामाः भिद्यन्ते इत्यर्थः—चित्तादीनामित्यत्रादिना घटादयो ग्राह्याः, संस्थानादयश्च—अवयवसंयोगादयश्च, आदिना—रूपादिगुणा ग्राह्याः । एकान्तेन—बहुष्वेकरूपेणान्वितो यः अन्तः—व्याप्तिरूपो नियमस्तेन व्याप्तिज्ञानेनेत्यर्थः, अनुमानगम्याः—अनुमितेर्विषयीकर्तव्याः । यथा—चित्तं—पुण्यवत्,—सुखवत्त्वात्, इति पुण्यात्मकधर्मस्यानुमितिः । 'चित्तम्—ईश्वरप्रणिधानभावना(संस्कार)वत्,—तथा—विषयस्मरणात्, इति संस्कारानुमितिः । 'चित्तं—समाधिशक्ति(योग्यता)मत्,—ज्ञानाश्रयत्वात्, समाधेश्च ज्ञानात्मकत्वात्, इति शक्त्यनुमितिः, एवमन्यत्र ऊह्येऽपि—१५ ॥ नियतक्रमवर्णात्मा—वर्णानुपूर्व्यावच्छिन्नः, यथा 'घट' इति घोत्तराकारोत्तरटकारोत्तराऽकारात्मकानुपूर्व्यावच्छिन्नः, नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः—पृथुबुध्नोदराकारपदार्थस्तु घटः इत्येकस्मिन्नियतेऽर्थे संकेतेन तदर्थस्य प्रतिपत्तेः बोधस्य जनकः । यथा वा शास्त्रसंस्कृतबुद्धिग्राह्यः—वाक्यपदीयदर्शनात्मकशास्त्राध्ययनेन संस्कृता सूक्ष्मपदार्थग्राहिणी जाता या बुद्धिः—पाण्डित्यं तेन ज्ञातव्यः यः, क्रमरहितः—आनन्तर्याऽभिन्नाऽऽनुपूर्व्यात्मकक्रमेण रहितः तादृशक्रमभिन्नः तादृशक्रमस्थानापन्न इति यावत्, स्फोटाख्यः—नित्यशब्दात्मकस्फोटः वर्णाऽभिव्यङ्ग्यः पदार्थस्य स्फुटतासम्पादकः । पदरूपो शब्दः स्फोटश्च, वाक्यरूपो शब्दः स्फोटश्च, कार्यकारणयोरैक्यात् स्थूलसूक्ष्मयोरैक्यात् एकार्थबोधकत्वाच्च । अर्थो—वाच्यः घट-

व्यवहारे इतरेतराध्यासाद्भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात्संकीर्णत्वम्, तथा हि—गामानयेत्युक्ते कश्चिद्गोलक्षणमर्थं गोत्वजात्यवच्छिन्नं सास्नादिमत्पिण्डरूपं शब्दं च तद्वाचकं ज्ञानं च तद्ग्राहकमभेदेनैवाध्यवस्यति, न त्वस्य गोशब्दो वाचकोऽयं गोशब्दस्य वाच्यस्तयोरिदं ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति, तथा हि—कोऽयमर्थः कोऽयं शब्दः किमिदं ज्ञानमिति पृष्टः सर्वत्रैकरूपमेवोत्तरं ददाति गौरिति, स यद्येकरूपतां न प्रतिपद्येत कथमेकरूपमुत्तरं प्रयच्छति, एतस्मिन्स्थिते योऽयं प्रविभाग इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं नाम, इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वमिदं ज्ञानस्य यत्प्रकाशकत्वमिति प्रविभागं विधाय तस्मिन्प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां भूतानां मृगपशुपक्षिसरीसृपादीनां यद्रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञानमुत्पद्यतेऽनेनैवाभिप्रायेणैतेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति सर्वं जानाति—१७॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्—१८॥** द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः, केचित्स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः, केचिज्जात्यायुर्भोगलक्षणविपाकहेतवः, यथा धर्माधर्माख्याः, तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसंदधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेणोद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति, क्रमेण साक्षात्कृतेषूद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन्प्रत्यक्षेण पश्यति—१८॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्—१९॥** प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिङ्गेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागमस्य चित्तं विरागं वेति, परचित्तगतानपि धर्माञ्जानातीत्यर्थः—१९॥ अस्यैव परचित्तज्ञानस्य विशेषमाह—**न तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्—२०॥** तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनाऽऽलम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात्, लिङ्गाच्चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा, यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम्, तस्मात्परकीयचित्तं नाऽऽलम्बनसहितं गृह्यते, तस्याऽऽलम्बनस्यागृहीतत्वात्, चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव, यदा तु किमनेनाऽऽलम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव—२०॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्—२१॥** कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्मिन्नस्त्यस्मिन्काये रूपमिति संयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः स्तम्भे भावनावशात्प्रतिबन्धे चक्षुःप्रकाशासंयोगे चक्षुषः प्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्याऽसंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्धानं भवति, न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः, एतेनैव रूपाद्यन्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्—२१॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा—२२॥** आयुर्विपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमं च, तत्र सोपक्रमं यत्फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणाभिमुख्येन सह वर्तते, यथोष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रवासः शीघ्रमेव शुष्यति, तद्रूपविपरीतं निरुपक्रमं यथा तदेवाऽऽर्द्रवासः संवर्तितमनुष्णदेशे चिरेण शुष्यति, तस्मिन्द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं कर्म शीघ्रविपाकं चिरविपाकं वा, एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमस्यो-

---

स्वजातिः रूपरसादयो गुणाः कम्पनभ्रमणादिक्रियाः, घटत्वादिजातयः घटपटशब्दवाच्याः, अविविक्ततया तु तत्तद्गोत्वकशब्दवाच्या इत्यनुसन्धेयम्। इतरेतराध्यासात्—इतरस्येतरस्मिन् तादात्म्येनाध्यासात्—१७॥ प्रबोधकमन्तरेणेति—भावनाया एव उद्बोधकत्वात्—१८॥ स्वकीयेन—स्वं परचित्तं तदीयेन, आलम्बनेन—घटादिविषयात्मकालम्बनेन सहितम्—२०॥ शब्दादीनां श्रोत्रग्राह्यत्वरूपा शक्तिः संयमात्प्रतिब-

त्पद्यते, अपरान्तः शरीरवियोगस्तस्मिञ्ज्ञानममुष्मिन्कालेऽमुष्मिन्देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति, अरिष्टेभ्यो वा, अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन, तत्राऽऽध्यात्मिकानि पिहितकर्णः कोष्ठ्यस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि, आधिभौतिकानि अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादीनि, आधिदैविकानि अकाण्ड एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि; तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति, यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञानमुत्पद्यते तथाऽपि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां पुनर्नियतदेशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि–२२ ॥ परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह–**मैत्र्यादिषु बलानि–२३॥** मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितसंयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीनां संबन्धीनि प्रादुर्भवन्ति, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमयं प्रतिपद्यते–२३ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**बलेषु हस्तिबलादीनि–२४ ।** हस्त्यादिसंबन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्ति, अयमर्थः–यस्मिन्हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्ये वा तन्मयीभावेनायं संयमं करोति तत्तत्सामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य प्रादुर्भवतीत्यर्थः–२४ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्–२५ ॥** प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात्तद्वासितानां विषयाणां भावनात्तस्मिन्नन्तःकरणेषु इन्द्रियेषु प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु सूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूम्यन्तर्गतस्य निधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेर्वपरपार्श्ववर्तिनो रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते–२५ ॥ एतत्समानवृत्तान्तं सिद्ध्यन्तरमाह–**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्–२६ ॥** सूर्ये प्रकाशमये यः संयमं करोति तस्य सप्तसु भूर्भुवःस्वःप्रभृतिषु लोकेषु यानि भुवनानि तत्तत्संनिवेशभाञ्जि पुराणि तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते, पूर्वस्मिन्सूत्रे सात्त्विकप्रकाशालम्बनतयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः–२६ ॥ भौतिकप्रकाशालम्बनद्वारेणैव सिद्ध्यन्तरमाह–**चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्–२७ ॥** ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहो विशिष्टः संनिवेशस्तस्य चन्द्रे कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते, सूर्यप्रकाशेन हततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्यसंयमात्तज्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमिति पृथगुपायोऽभिहितः–२७ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्–२८ ॥** ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकाला नियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते, इयं ताराऽयं ग्रह इयता कालेनामुं राशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानाति, इदं कालज्ञानमस्य फलमित्युक्तं भवति–२८ ॥ बाह्याः सिद्धीः प्रतिपाद्याऽन्तराः सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपक्रमते–**नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्–२९ ॥** शरीरमध्यवर्ति नाभिसंज्ञकं षोडशारं चक्रं तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनः कायगतो योऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमलधातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते, इदमुक्तं भवति–नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतमतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रसंनिवेशो यथावदाभाति–२९ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः–३० ॥** कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूले जिह्वातन्तोरधस्तात्कूप इव कूपो गर्ताकारः प्रदेशः प्राणादेर्यत्संस्पर्शात्क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते, घण्टिकाधस्तात्स्रोतसा धार्यमाणे

---

भ्यते इति तच्छक्तिप्रतिबन्धः सर्वथा योग्यः–२१॥ अव्यभिचारि=प्रमाणम्, 'अरिष्टदर्शनमवश्यमरणफलकम्' इति नियमे भङ्गो न भवतीति तादृशनिश्चयात्मकमिति यावत् । विशिष्टाः रसमलाः–दोषाः–वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयः, धातवः–त्वग्रुधिरमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि सप्त । प्रधानगौणनाड्य इत्येषामिति–२९॥ घण्टिका–मुखान्तर्गलेऽधोमुखः कर्कटकः तस्याऽधस्तात् कण्ठमणिः कम्बुसमः तदधस्तात्

तस्मिन्भाविते भवत्येवंविधा सिद्धिः—३० ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्**—३१ ॥ कण्ठकूपस्याधस्ताद्या कूर्माख्या नाडी तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते, तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न भवतीत्यर्थः, यदि वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः—३१ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्**—३२ ॥ शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वाज्ज्योतिः, यथा गृहाभ्यन्तरस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्चिताकारेण सर्वप्रदेशे संघटते तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृतस्तत्र संपिण्डितत्वं भजते, तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनः सिद्धा दिव्याः पुरुषास्तेषामितरप्राणिभिरदृश्यानां तस्य दर्शनं भवति, तान्पश्यति तैश्च स संभाषत इत्यर्थः—३२ ॥ सर्वज्ञत्वे उपायमाह—**प्रातिभाद्वा सर्वम्**—३३ ॥ निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा, तस्यां संयमे क्रियमाणे प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकं ज्ञानमुदेति, यथा—उदेष्यति सवितरि पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति तद्वद्विवेकख्यातेः पूर्वं तारकं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते, तस्मिन्सति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः—३३ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**हृदये चित्तसंवित्**—३४ ॥ हृदयं शरीरस्य प्रदेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणसत्त्वस्य स्थानं तत्र कृतसंयमस्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते, स्वचित्तगताः सर्वा वासनाः परचित्तगतांश्च रागादीञ्जानातीत्यर्थः—३४ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—**सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्**—३५॥ सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामविशेषः, पुरुषो भोक्ताऽधिष्ठातृरूपः, तयोरत्यन्तासंकीर्णयोर्भोग्यभोक्तृरूपत्वाच्चेतनत्वाच्च भिन्नयोर्यः प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रतिभासनं तस्मात्सत्त्वस्यैव कर्तृताप्रत्ययेन या सुखदुःखसंवित्स भोगः, सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण परार्थः पुरुषार्थनिमित्तस्तस्मादन्यो यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहंकारसत्त्वे या चिच्छायासंक्रान्तिस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र तदेवंरूपं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानाति न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते, ज्ञेयत्वापत्तेर्ज्ञातृज्ञेययो-

---

कूपे गर्ते, स्रोतसा—अविच्छिन्नचित्तप्रवाहेण भाविते सति प्राणस्पर्शस्य तत्स्थानेऽनागमनात् क्षुत्पिपासे न भवत इत्यर्थः—३०॥ कूर्माख्या नाडी—कूर्माकारं हृदये नाडीचक्रम्—३१ ॥ अविसंवादकम्—सफलप्रवृत्तिजनकम्, यथाऽस्य ज्ञानमुत्पद्यते तथा कालान्तरेण देशान्तरेण विषयः अवश्यं वर्तन्त एव । तारकं—तारयति योगिनं सर्वज्ञत्वापादकत्वेनेति तत्—३३ ॥ प्रत्ययस्य—बुद्धिपरिणामस्य ज्ञानस्य, अविशेषः—बुद्धिपुरुषप्रतिबिम्बयोरैक्यविषयकत्वम्, तस्मात् ऐक्यभ्रमात्, सत्त्वस्य—बुद्धेः, कर्तृत्वात्, यः पुरुषप्रतिबिम्बे सुखादिसाक्षात्कारः सः भोगः स च स्वार्थनैरपेक्ष्येण—स्वस्याः बुद्धेः अर्थस्य प्रयोजनस्य विरहात्, परस्य—पुरुषस्य अर्थः प्रयोजनं तन्निमित्तः—पुरुषार्थ इति भवति, तस्माद्भोगाद् अन्यो यः प्रतिबिम्बः, स स्वार्थः—स्वस्याः बुद्धेः भोग्यत्वसम्पादनमेव अर्थः प्रयोजनं यस्य एतादृशः, बुद्धिः स्वस्या भोग्यत्वसम्पादनार्थमेव प्रतिबिम्बं गृह्णातीति प्रतिबिम्बे बुद्धेः स्वार्थः, पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः—पुरुषस्वरूपानुरूपः, परित्यक्ताहंकारसत्त्वे—विवेकेन अहंममभावानन्वितमधिकरणात्मकं बुद्धिसत्त्वं परित्यज्य, तत्र संक्रान्तः स्थितः यः चिच्छाया=पुरुषप्रतिबिम्बः, तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं—प्रतिबिम्बविषयकज्ञानम् तद्द्वारा च पुरुषज्ञानमुत्पद्यते—इत्यर्थः । स्वालम्बनं—पुरुषालम्बनं ज्ञानमपि प्रतिबिम्बालम्बनज्ञानाऽभिन्नमेव, सत्त्वनिष्ठं बुद्धिनिष्ठं भवति, ज्ञानविषयता सात्त्विके बुद्धिपरिणामे प्रतिबिम्बाऽभिन्ने आधारे वर्तते आधारस्य प्रतिबिम्बनिमित्तकारणत्वात्, कार्यकारणयोश्चाऽभेदात्, ज्ञातृता च आधाराऽभिन्ने प्रतिबिम्बे आधेये च वर्तते अतः प्रतिबिम्बनिरूपकबिम्बात्मकपुरुषे ज्ञातृता

ऽत्यन्तविरोधात्–३५ ॥ अस्यैव संयमस्य फलमाह–ततः **प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते–३६ ॥** ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानादुत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते, तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं तस्याऽऽविर्भावात्सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति, श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानं तस्मात्प्रकृष्टाद्दिव्यं=दिवि भवं शब्दं जानाति, वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं,–वेद्यतेऽनयेति कृत्वा तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते, तस्माद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानं समुपजायते, आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम्, आ समन्ताद्दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्दिव्यं रूपज्ञानमुत्पद्यते, आस्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा, तस्मिन्प्रकृष्टे दिव्ये रसे संविदुपजायते, वार्ता गन्धसंवित्, वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते, वर्तते गन्धविषय इति कृत्वा, वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्ता गन्धसंवित्, तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते–३६ ॥ एतेषां फलविशेषाणां विषयविभागमाह–ते **समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः–३७ ॥** ते प्राक्प्रतिपादिताः फलविशेषाः समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नकारिणः, तत्र हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिलीभवति, व्युत्थाने तु पुनर्व्यवहारदशायां विशिष्टफलदायकत्वात्सिद्धयो भवन्ति–३७ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः–३८ ॥** व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोर्भोक्तृभोग्यभावेन यत्संवेदनमुपजायते स एव शरीरे बन्ध इत्युच्यते, तद्यदा समाधिवशाद्बन्धकारणं धर्माधर्माख्यं शिथिलं भवति=तानवमापद्यते, चित्तस्य च योऽसौ प्रचारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी, अनया चित्तं वहति, इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति, स्वपरशरीरयोर्यदा संचारं जानाति तदा परकीयं शरीरं मृतं जीवच्छरीरं वा चित्तसंचारद्वारेण प्रविशति, चित्तं परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्तन्ते मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः, अथ परशरीरप्रविष्टो योगी स्वशरीरवत्तेन व्यवहरति, यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसंकोचे कारणं कर्म तच्चेत् समाधिना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः–३८ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च–३९ ॥** समस्तानामिन्द्रियाणां तुषज्वालावद्या युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवनशब्दवाच्या, तस्याः क्रियाभेदात्प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदेशः, तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात्प्राण इत्युच्यते, नाभिदेशात्पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपानः, नाभिदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात्समानः, कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः, व्याप्य नयनात्सर्वशरीरव्यापी व्यानः, तत्रोदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगमित्वेन जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न सज्जतेऽतिलघुत्वात्, तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽप्युद्गच्छतीत्यर्थः–३९॥ सिद्ध्यन्तरमाह–**समानजयाज्ज्वलनम्–४० ॥** अग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोर्जयात्संयमेन निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति–४० ॥

---

उपचर्यते इति ध्येयलक्षणात्मयोर्वैयधिकरण्यं सूचितम्–३५॥ **व्यापकत्वात्**–सर्वत्रोपलब्धिविषयत्वात् अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्वाच्च, व्यापकत्वं चानयोर्महत्परिमाणवत्त्वादुपपद्यते । **बन्धः**–दुःखादिभोगात्मकसंयोगः बन्धः इत्यर्थः–३८॥ **जीवनशब्दवाच्येति** । जीवनवाच्या वृत्तिःजीवप्रयत्नाक्रान्ता भवति अतः वायोरपि जीवनमित्युपचारो भवति, तस्याः–जीवनवृत्तेः प्राणाद्यभिधानायाः क्रियाभेदात् तदधिकरणवायोरपि क्रियाभेदः, तेन वायुरपि प्राणाद्यभिधानमादत्ते इति बोध्यम्–३९ ॥ **अग्निम्**–जाठरानलम् । **उद्भूतत्वात्**–शरीराद्बहिरपि चर्मणि ज्वालाभिः प्रकटीभा-

सिद्धयन्तरमाह—**श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्—४१ ॥** श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहंकारिकमिन्द्रियम्, आकाशं व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम्, तयोः सम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणस्तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते, युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः—४१॥ सिद्धयन्तरमाह—**कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम्—४२ ॥** कायः पाञ्चभौतिकं शरीरं तस्याऽऽकाशेनावकाशदायकेन यः सम्बन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्तिं तन्मयीभावलक्षणां च विधाय प्राप्तातिलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि जले सञ्चरन्क्रमेणोर्णनाभतन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन्यथेष्टमाकाशेन गच्छति—४२ ॥ सिद्धयन्तरमाह—**बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः—४३ ॥** शरीराद्बहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहंकारदार्ढ्यद्वारेणोच्यते, ततस्तस्यां कृतात्संयमात्प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि तस्य क्षयः=प्रविलयो भवति। अयमर्थः—शरीराहंकारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते, यदा पुनः शरीराहंकारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता, तस्यां संयमाद्योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते—४३ ॥ तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्यानन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः परिकर्मनिष्पन्नभूताश्च मैत्र्यादिषु बलानीत्येवमाद्याः समाध्युपयोगिनीश्चान्तःकरणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तदार्ढ्याय समाधौ समाश्वासोत्पत्तये प्रतिपाद्येदानीं स्वदर्शनोपयोगिसबीजनिर्बीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाऽऽह—**स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः—४४ ॥** पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्थाविशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति, भूतानि वश्यानि भवन्तीत्यर्थः। तथाहि—भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत्स्थूलरूपं, स्वरूपं चैषां यथाक्रमं कार्ष्यं गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं, सूक्ष्मं च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि, अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते, अर्थवत्त्वं तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः, तदेवं भूतेषु पञ्चसूक्तलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन्योगी भूतजयी भवति। तद्यथा—प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधाय तदनु स्वरूपे ( सूक्ष्मरूपे ) इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य संकल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्ति—४४ ॥ तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—**ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च—४५ ॥** अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः, महिमा महत्त्वम्, लघिमा तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः, गरिमा गुरुत्वम्, प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः, प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, शरीरान्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वम्, सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वं, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामित्वाद्यदुक्तं नातिक्रामन्ति, यत्र कामावसायो यस्मिन्विषयेऽस्य काम इच्छा भवति तस्मिन्विषये योगिनो व्यवसायो भवति तं विषयं स्वीकारद्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्यन्तं नयन्तीत्यर्थः, त एतेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनो भूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति, यथा परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति, एवं सर्वत्र योज्यम्। त एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते, कायसंपद्वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति, तद्धर्मानभिघातश्च—तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो न कुतश्चिद्भवति, नास्य रूपमग्निर्दहति न वायुः

यमुपगतत्वाद्—४० ॥ समापत्ति=भावनाम्—४२॥ अतीतादिज्ञानं पूर्वजातिज्ञानमित्याद्याः पूर्वान्ताः, अपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वेत्याद्याः परान्तविषयाः, हस्तिबलादीनि मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्येत्यर्थः—

शोपपत्त्यादि बोध्यम्-४५ ॥ कायसंपदमाह-**रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्-४६** ॥ रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि, वज्रसंहननत्वं वज्रवत्कठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः, इति कायस्याऽऽविर्भूतगुणसंपत्-४६ ॥ एवं भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकाविशेषस्येन्द्रियजयमाह-**ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः-४७**। ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः, स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्, अस्मिताऽहंकारानुगमः, अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत्, एतेषामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके पूर्ववत्संयमं कृत्वेन्द्रियजयी भवति-४७ ॥ तस्य फलमाह-**ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च-४८** ॥ शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम्, कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः, सर्ववशित्वं प्रधानजयः, एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति, ताश्चास्मिञ्छास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते, यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदत एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः-४८ ॥ इन्द्रियजयमभिधायान्तःकरणजयमाह—**सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च-४९** ॥ तस्मिञ्शुद्धे सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकख्यातिर्गुणानां कर्तृत्वाभिमानशिथिलीभावरूपा तन्माहात्म्यात्तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च समाधेर्भवति, सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वं, तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेनावस्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्, एषां चास्मिञ्छास्त्रे परस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते-४९ ॥ क्रमेण भूम्यन्तरमाह-**तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्-५०** ॥ एतस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्यादयस्तस्य क्षये निर्मूलने कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तौ स्वरूपप्रतिष्ठत्वम्-५० ॥ अस्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह-**स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्-५१** ॥ चत्वारो योगिनो भवन्ति, तत्राभ्यासवान्प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः, ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः, भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः, तत्र चतुर्थस्य (अ) समाधेः प्राप्तसप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञो भवति, ऋतंभरप्रज्ञस्य द्वितीयां मधुमतीसंज्ञां भूमिकां साक्षा-

---

४४ ॥ रूपं-चक्षुःप्रियाकारः। लावण्यं-सर्वाङ्गसौन्दर्यम्। बलं-वीर्यं पराक्रमः-४६ ॥ वृत्तिः-निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनलक्षणाद्या वृत्तयः। स्वरूपं सामान्यं यत् प्रकाशकत्वं-प्रकाशः-इन्द्रियाणां सत्त्वभावः-इन्द्रियाण्येव सात्त्विकानीति यावत्। अन्वयः-सर्वत्र अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिशीलाः। अर्थवत्त्वं-तेषु गुणेषु भोगापवर्गसम्पादिका शक्तिः-४७ ॥ शान्ताः-लीनाः, उदिताः-वर्तमानाः, अव्यपदेश्याः-अनागताः, धर्मितादात्म्यतया स्थितानां तेषामित्यर्थः-४९ ॥ आत्यन्तिकी-दुःखान्तराऽसमानाधिकरणिका, ऐकान्तिकी-अपार्थैरवश्यंभाविनी चेति बोध्यम्। अधिकारस्य-भोगाधिकारितायाः समाप्तौ-५० ॥ प्रवृत्तमात्रज्योतिः-ज्योतिः-आत्मप्रतिबिम्बाढ्यसात्त्विकबुद्धिवृत्तिः-ज्ञानप्रकाशः,-सः संयमे प्रवृत्तिमात्रः, न किञ्चिज्जानाति-सः प्रथमः। ऋतं-भूतेन्द्रियादिसाक्षात्कारात्मकं सर्वं सत्यं बिभर्ति जानाति यः तद्विज्ञपुरुष स द्वितीयः। भूतेन्द्रियाणां लब्धजयी पुरुषमात्रिष्यासुस्तृतीयः। अतिक्रान्ताः-स्वायत्तीकृताः, भावनीयाः,-सप्तप्रान्तभूमिविशेषाः येन सः-लब्धविवेकख्यातिः परवैराग्यसम्पन्नः चतुर्थः। सप्तविधाः प्रान्तभूमयः-'परिज्ञातं ज्ञेयं, नास्ति किञ्चित्परिज्ञेयम् १, क्षीणा हेयहेतवो न क्षेतव्यं किञ्चिदस्ति २, साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् ३, प्राप्तो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः ४, चरितार्था बुद्धिः ५, गुणाः प्रलयाऽ-

स्कुर्वतः स्थानिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति, दिव्यस्त्रीरसायनादिकं ढौकयन्ति, तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन सङ्गः कर्तव्यः, नापि स्मयः, सङ्गकरणे पुनर्विषयभोगे पतति, स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधावुत्सहते, अतः सङ्गस्मययोस्तेन वर्जनं कर्तव्यम्—५१॥ अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह—**क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्—५२॥** क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवो यस्य कलाः प्रभवितुं न शक्यन्ते, तथाविधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामस्तत्र संयमात्प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते, अयमर्थः—अयं कालक्षणोऽमुष्मात्कालक्षणादुत्तरोऽयमस्मात्पूर्व इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारस्तदाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्पत्तिः—५२॥ अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपक्षेपणायाऽऽह—**जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः—५३॥** पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति, क्वचिद्भेदहेतुर्जातिः, यथा गौरियं महिषीयमिति, जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदहेतुः, इयं कर्बुरेयमरुणेति, जात्या लक्षणेन चाभिन्नयोर्भेदहेतुर्देशो दृष्टः, यथा तुल्यपरिमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः, यत्र पुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य भेदेन ज्ञानमुत्पद्यते तदा तदभ्यासात्सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यते। एतदुक्तं भवति—यत्र येन केनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद्भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः—५३॥ सूक्ष्माणां तत्त्वानामुक्तस्य विवेकजन्यज्ञानस्य संज्ञाविषयस्वभावान् व्याख्यातुमाह—**तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्—५४॥** उक्तसंयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारयत्यगाधात्संसारसागराद्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते, अस्य विषयमाह—सर्वविषयमिति। सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयो यस्येति सर्वविषयम्। स्वभावश्चास्य सर्वथाविषयत्वम्। सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन तैस्तैः परिणामैः सर्वेण प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयो यस्येति सर्वथाविषयम्, स्वभावान्तरमाह—अक्रमं चेति। निःशेषनानावस्थापरिणतद्व्यात्मकभावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम्, सर्वं करतलामलकवद्युगपत्पश्यतीत्यर्थः—५४॥ अस्माच्च विवेकजात्तारकाख्याज्ज्ञानात्किं भवतीत्याह—**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्—५५॥** सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप-

---

भिमुखा न पुनरेषामुदयः ६, स्वात्मीभूतः समाधिः स्वरूपमात्रज्योतिरिदं पुरुष इति ७। चतुर्थः विघ्नशंकाकलंकशून्यः। तृतीयः जितभूतेन्द्रियत्वात् महेन्द्रादिभिरक्षोभ्यः। प्रथमोऽयोग्यत्वात् न तस्योपनिमन्त्रयिता भवति कश्चित्। द्वितीयस्य ऋतम्भरस्य तु स्थानिनः—शक्रादयः उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति दिव्यस्त्रीरसायनासनयानादिकम् अर्पयन्ति। सङ्गः—आसक्तिः—भोगः। स्मयः—'अहो मम योगप्रभावः' इत्याद्यात्मकः—५१॥ क्षणः—परमाणुश्चलितो यावता समयेन स्वपरिमितं देशमतिक्रामति तावत्समयः क्षणः, क्रिया एव क्षणस्योपाधिः, यथा स्व(क्रिया)जन्यविभागप्रागभावावच्छिन्ना क्रिया, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्ना क्रिया वेति—५२॥ निःशेषा ये नानाऽवस्थाः बाल्ययौवनवार्धक्य—समुत्पत्तिस्थितिलय—पक्वाऽपक्व—मृदुकठिनादिविशिष्टिकाः पदार्थास्तेषां ये धर्मलक्षणाऽवस्थाभेदेन त्रिविधाः परिणामाः भावाः—भवन्ति जायन्ते इति—धर्मा इति यावत्, तेषां युगपद्ग्रहणे तारकस्य क्रमप्रयुक्तबाधो न भवतीत्यर्थः। त्रिकालीनं सर्वमेकदैव परमेश्वरवद् विषयीकरोतीत्यर्थः॥ इति भोजवृत्तिकिरणे तृतीयो विभूतिपादः।

वेशः शुद्धिः, पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभाव इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवतीत्यर्थः, तदेवमन्तरङ्गं योगाङ्गत्रयमभिधाय तस्य च संयमसंज्ञां कृत्वा संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धीरुपदर्श्य समाध्याश्वासोत्पत्तये बाह्या भुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयेन्द्रियजयसत्त्वजयोद्भवाश्च व्याख्याय विवेकज्ञानोत्पत्तये तांस्तानुपायानुपन्यस्य तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणेऽनुप्रवेशात्कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमिति निर्णीतो विभूतिपादस्तृतीयः–५५ ॥ इति श्रीभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधायां पातञ्जलवृत्तौ विभूतिपादस्तृतीयः ॥ ३ ॥

## ॥ * ॥ अथ चतुर्थः कैवल्यपादः ॥ * ॥

यदात्मैव कैवल्यं विनोपायैः प्रकाशते । तमेकमजमीशानं चिदानन्दमयं स्तुमः–१ ॥ इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यस्वरूपज्ञानाय कैवल्यपादोऽयमारभ्यते । तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादिकारणप्रतिपादनद्वारेणैवं बोधयति, यदि वा या एताः सिद्धयस्ताः सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिबलाज्जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाऽऽश्रित्य प्रवर्तन्ते, तत्रश्चानेकभवसाध्यस्य समाधेर्न क्षतिरस्तीत्याश्वासोत्पादनाय समाधिसिद्धेश्च प्राधान्यख्यापनार्थं कैवल्योपयोगार्थं चाऽऽह–जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः–१॥ काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः, यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादयः, यथा वा कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः, ओषधिसिद्धयो यथा–पारदादिरसायनाद्युपयोगात् । मन्त्रसिद्धिर्यथा–मन्त्रजपात्केषांचिदाकाशगमनादि, तपःसिद्धिर्यथा–विश्वामित्रादीनाम्, समाधिसिद्धिः प्राक्प्रतिपादिता, एताः सिद्धयः पूर्वजन्मक्षपितक्लेशानामेवोपजायन्ते, तस्मात्समाधिसिद्धाविवान्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणं, मन्त्रादीनि निमित्तमात्राणि–१॥ ननु नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामोऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य समाधेः कारणत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह–जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्–२ ॥ योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामः स प्रकृत्यापूरात्, पाश्चात्या एव हि प्रकृतयोऽमुष्मिञ्जन्मनि विकारानापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणमयन्ति–२॥ ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कथं प्रकृतीनामापूरकत्वमित्याह–निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्–३ ॥ निमित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीनामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम्, नहि कार्येण कारणं प्रवर्त्यते, कुत्र तर्हि तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह–वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । ततस्तस्मादनुष्ठीयमानाद्धर्मादावरणमात्रकमधर्मादि

---

## * किरणम् *

यदात्मैवेति–यदात्मा...योगोपायैः, न त्वन्योपायाऽपेक्षा तत्र । यद्वा यदात्मैव तत्संकल्पेन, न तु तत्र योगदर्शितोपायाऽपेक्षापीति । एकम्–स्वरूपस्वभावैश्वर्यादिना स्वसमानप्रतियोगिकभेदशून्यम् । अजम्–नित्यम् । ईशानम्–निरवधिकैश्वर्यवन्तम्–चिन्मात्रं नित्यानन्दात्मकं च, स्तुमः ॥ विप्रतिपत्तीति । कैवल्यभागीयं चित्तं न वा, चित्तं क्षणिकं न वा, प्रकृतिरेका न वा ॥ ओषधिसिद्धिः–शरीरस्वास्थ्यं कामादिवृद्धिश्च । तपःसिद्धिः–संकल्पानुसारेण त्रिशङ्क्वादीनां स्वर्गप्रापयितृत्वं विश्वामित्रस्य–१॥

तस्यैव विरोधित्वाद्भेदः क्षयः क्रियते, तस्मिन्प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्याय प्रभवन्ति। दृष्टान्तमाह–क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात्केदारान्तरं जलं निनीषुर्जलप्रतिबन्धकावरणभेदमात्रं करोति, तस्मिन्भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणामं गृह्णाति न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित्प्रयत्नः एवं धर्मादेर्बोद्धव्यम्–३॥ यदा साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्मफलभोगायाऽऽत्मीयनिरतिशयविभूत्यनुभावाद्युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा कुतस्तानि चित्तानि प्रभवन्तीत्याह–**निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्–४॥** योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत्परिणमन्ति–४॥ ननु बहूनां चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्यत आह–**प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्–५॥** तेषामनेकेषां चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वेन, तेन न भिन्नमतत्वम्, अयमर्थः–यथाऽऽत्मीयशरीरे मनश्चक्षुःपाण्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति अधिष्ठातृत्वेन तथा कायान्तरेष्वपीति–५॥ जन्मादिप्रभवत्वात्सिद्धीनां चित्तमपि तत्प्रभवं पञ्चविधमेव, ततो जन्मादिप्रभवाच्चित्तात्समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यमाह–**तत्र ध्यानजमनाशयम्–६॥** ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत्पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः–६॥ यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह–**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्–७॥** शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम्, अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम्, उभयसंकीर्णं शुक्लकृष्णम्, तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणानां दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम्, कृष्णं कर्म नारकिणाम्, शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम्, योगिनां तु संन्यासवतां त्रिविधकर्मविपरीतं यत्फलत्यागानुसंधानेनैवानुष्ठानान्न किंचित्फलमारभते–७॥ अस्यैव कर्मणः फलमाह–**ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्–८॥** इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफला जात्यायुर्भोगफलाश्च, तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः, यास्तु स्मृतिमात्रफलास्तास्तु ततः कर्मणो येन कर्मणा यादृक्शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्यगादिभेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेवाभिव्यक्तिर्वासनानां भवति। अयमर्थः–येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्याऽऽरम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति, लोकोत्तरेष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते, इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञास्तिष्ठन्ति न तस्यां दशायां नारकादिशरीरोद्भवा वासना व्यक्तिमायान्ति–८॥ आसामेव वासनानां कार्यकारणभावानुपपत्तिमाशङ्क्य समर्थयितुमाह–**जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्–९॥** इह नानायोनिषु भ्रमतां संसारिणां कांचिद्योनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन पुनस्तामेव योनिं प्रतिपद्यते तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां योनौ तथाविधशरीरादिव्यञ्जकापेक्षया वासना याः प्रकटीभूता आसंस्तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोहिताः पुनस्तथाविधव्यञ्जकशरीरादिलाभे प्रकटीभवन्ति, जातिदेशकालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुरूपस्मृत्यादिफलसाधन आनन्तर्यं नैरन्तर्यम्, कुतः, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। तथा ह्यनुष्ठीयमानात्कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते, स च स्वर्गनरकादीनां फलानामङ्कुरीभावः कर्मणां वा यागादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्, कर्तुर्वा तथाविधभोग्यभोक्तृत्वरूपं सामर्थ्यम्, संस्कारात् स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगस्तदनुभवाच्च पुनरपि

---

अस्मितामात्रात्–अहंकारात्–४॥ तत्र पञ्चसु मध्ये जन्मादिचतुःप्रभवात् पंचमस्य समाधिजस्य–६॥ आनन्तर्यमिति–समानविषयकसंस्कारस्य समानविषयकस्मृतिं प्रति कारणत्वात् कालान्तरीणसं-

संस्कारस्मृत्यादयः, एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्तथाऽऽनन्तर्याभावे दुर्लभः कार्यकारणभावः, अस्माकं तु यदाऽनुभव एव संस्कारी भवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानुसन्धातृत्वेन स्थितत्वात्कार्यकारणभावो न दुर्घटः–९ ॥ भवत्वानन्तर्यं कार्यकारणभावश्च वासनानां यदा तु प्रथममेवानुभवः प्रवर्तते तदा किं वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इति शङ्कां व्यपनेतुमाह–**तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्–१०** ॥ तासां वासनानामनादित्वं न विद्यत आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तासामादिर्नास्तीत्यर्थः। कुत इत्यत आह–आशिषो नित्यत्वात्। येयमाशीर्महामोहरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुर्मा कदाचन तैर्मे वियोगो भूदिति यः संकल्पविशेषो वासनानां कारणं तस्य नित्यत्वादनादित्वादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति–कारणस्य संनिहितत्वादनुभवसंस्कारादीनां कार्याणां प्रवृत्तिः केन वार्यते, अनुभवसंस्काराद्यनुविद्धं संकोचविकासधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकविपाकलाभात्तत्तत्फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः–१० ॥ तासामानन्त्याद्धानं कथं संभवतीत्याशङ्क्य हानोपायमाह–**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः–११** ॥ वासनानामनन्तरानुभवो हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात्पारम्पर्येण हेतुः, फलं शरीरादि स्मृत्यादि च, आश्रयो बुद्धिसत्त्वम्, आलम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव वासनानामतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनानां संगृहीतत्वात्तेषां हेत्वादीनामभावे ज्ञानयोगाभ्यां दग्धबीजत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति न कार्यमारभन्त इति तासामभावः–११ ॥ ननु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वात्तत्तत्क्षणोपलब्धेर्वासनानां तत्फलानां च कार्यकारणभावेन युगपदभावित्वाद्भेदे कथमेकत्वमित्याशङ्क्यैकत्वसमर्थनायाऽऽह—**अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्––१२** ॥ इहात्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती तेषां सत्त्वसंबन्धायोगात्, न हि शशविषाणादीनां कचिदपि सत्त्वसंबन्धो दृष्टः, निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तेरन्, न हि विषयमनालोच्य कश्चित्प्रवर्तते, सतामपि विरोधान्नाभावसंबन्धोऽस्ति, यत्स्वरूपेण लब्धसत्ताकं तत्कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते न विरुद्धं रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः, तस्मात्सतामभावासंभवादसतां चोत्पत्त्यसंभवात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते, धर्मास्तु त्र्यध्वकत्वेन त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः स्वस्मिन्स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति, वर्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भोग्यतां भजन्ते। तस्माद्धर्माणामेवातीतानागताध्वभेदस्तेनैव रूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन्दर्शने प्रतिपाद्यते। तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्तमानं न निह्नोतुं पार्यते–१२ ॥ त एते धर्मधर्मिणः किंरूपा इत्यत आह–**ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः–१३** ॥ य एते धर्मधर्मिणः प्रोक्तास्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपास्तदात्मानस्तत्स्वभावास्तत्परिणामरूपा इत्यर्थः, यतः सत्त्वरजस्तमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नानां भावव्यक्तीना-

---

स्कारैरपि समुद्बोधकवशात् समानं स्मरणमुत्पाद्यत इति–९ ॥ वासनात्मकसंस्काराणाम्, अनन्तरः–अव्यवहितपूर्वः, अनुभवः कारणम्। आलम्बनं–विषयः–११ ॥ विज्ञानं क्षणिकं सर्ववस्त्वात्मकमिति, प्रयोगस्तु–'यद् येन ज्ञानेन वेद्यते न तद् ततो भिद्यते यथा ज्ञानस्यात्मा, वेद्यन्ते च भूतादीनि तस्मादभिन्नानीत्यादिविज्ञानवादी बौद्धः शंकते–ननु चेति। वासनावशात्–स्व(चित्त) वृत्तिसंस्कारवशात्। विभिन्नो मार्गः–वस्तुतो भेद इत्यर्थः, प्रयोगः–'यज्ज्ञानत्वेऽपि यस्यैकत्वं तत्ततोऽत्यन्तभिन्नं यथैकं चैत्रज्ञानं नानाभूतमैत्रादिज्ञानेभ्यो भिन्नम्, दृश्यते च ज्ञाननानात्वेऽप्यर्थस्यैकत्वं तस्मादर्थो ज्ञानेभ्यो भिन्नः, अर्थस्यैकत्वं तु प्रमातॄणां ज्ञानभेदेऽपि स एव त्वया मया दृश्यते इति परस्परप्रतिस-

मन्वयानुगमो दृश्यते, यथाऽन्वयि तथा परिणामरूपं दृष्टं यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः–१३ ॥ यद्येते त्रयो गुणाः सर्वत्र मूलकारणं कथमेको धर्मीति व्यपदेश इत्याशङ्क्याऽऽह–**परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्–१४** ॥ यद्यपि त्रयो गुणास्तथाऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावगमनलक्षणो यः परिणामः क्वचित्सत्त्वमङ्गि क्वचिद्रजः क्वचिच्च तम इत्येवंरूपस्तस्यैकत्वाद्वस्तुनस्तत्त्वमेकत्वमुच्यते, यथेयं पृथिवी, अयं वायुरित्यादि–१४ ॥ ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते, यदा विज्ञानमेव वासनावशात्कार्यकारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति तदा कथमेतच्छक्यते वक्तुमित्याशङ्क्याऽऽह–**वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः–१५** ॥ तयोर्ज्ञानार्थयोर्विविक्तः पन्था विविक्तो मार्ग इति यावत्, कथं ? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्, समाने वस्तुनि स्त्र्याद्युपलभ्यमाने नानाप्रमातॄणां चित्तस्य भेदः सुखदुःखमोहरूपतया समुपलभ्यते । तथाहि–एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुखमुत्पद्यते सपत्न्यास्तु द्वेषः परिव्राजकादेर्घृणेत्येकस्मिन्वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात्कथं चित्तकार्यत्वं वस्तुन एकचित्तकार्यत्वे वस्त्वेकरूपतयैवावभासेत । किं च चित्तकार्यत्वे वस्तुनो यदीयस्य चित्तस्य तद्वस्तु कार्यं तस्मिन्नर्थान्तरव्यासक्तेऽतद्वस्तु न किंचित्स्यात् । भवत्विति चेन्न, तदेव कथमन्यैर्बहुभिरुपलभ्येत, उपलभ्यते च, तस्मान्न चित्तकार्यम् । अथ युगपद्बहुभिः सोऽर्थः क्रियते, तदा बहुभिर्निर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिताद्वैलक्षण्यं स्यात्, यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते तदा कारणभेदे सति कार्यभेदस्याभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत्स्यात् । एतदुक्तं भवति–सत्यपि भिन्ने कारणे यदि कार्यस्याभेदस्तदा समग्रं जगन्नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात्, कारणभेदाननुगमात्स्वातन्त्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात् । यद्येवं कथं तेन त्रिगुणात्मनाऽर्थेनैकरूपेण प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते । मैवम् । यथाऽर्थस्त्रिगुणस्तथा चित्तमपि त्रिगुणं तस्य चार्थप्रतिभासोत्पत्तौ धर्मादयः सहकारिकारणं तदुद्भवाभिभववशात्कदाचिच्चित्तस्य तेन तेन रूपेणाभिव्यक्तिः, तथा च कामुकस्य संनिहितायां योषिति धर्मसहकृतं चित्तं सत्त्वस्याङ्गितया परिणममानं सुखमयं भवति, तदेवाधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति, तीव्राधर्मसहकारितया परिणममानं तमसोऽङ्गित्वेन कोपनायाः सपत्न्या मोहमयं भवति, तस्माद्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽस्ति बाह्योऽर्थः । तदेवं न विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यं विरोधान्न कार्यकारणभावः, कारणाभेदे सत्यपि कार्यभेदप्रसङ्गादिति ज्ञानाद्व्यतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थापि-

---

-न्वानाद्वा अवसीयते इति । बौद्ध आह–अथ'''क्रियते इति । युगपद्बहुभिः–बहुप्रमातृभिः । **स्वातन्त्र्येणेति** । कारणानां बहुत्वेन अननुगमात् यदि स्वातन्त्र्येण–कारणमनपेक्ष्य स्वस्मादुत्पद्येत इति पक्षेऽपि निर्हेतुकं–अकारणकत्वापत्तिः स्यात् तस्मादेकस्मात्कारणादेकं कार्यमुत्पद्यत इति भावः । बौद्ध आक्षिपति–**यद्येवमिति** । अनेककारणपक्षे स्वतन्त्रोत्पत्तिकल्पे च दोषात् एककारणकत्वमेककार्यस्येति यदि स्वीक्रियते तदेत्यर्थः । अर्थस्य त्रिगुणात्मकतया सत्त्वेन सुखं रजसा दुःखं तमसा मोह इति तज्ज्ञानानि वा प्रत्येकेन प्रत्येकं कार्यमेकस्मिन्प्रमातरि युगपदुत्पादितमापद्येत इत्याक्षेपार्थः ॥ परिहरति–**मैवमिति** । उद्बोधकस्य सहकारिणो धर्मादेः उद्भवाऽभिभव( गौणप्रधानभाव )वशात् प्रत्येकघटकसमुदायेन कारणेन प्रत्येकघटकसमुदितकार्यस्य नोत्पत्तिरितिभावः । तत्त्वज्ञानवद्योगिचित्ते तु न नियमः तस्य समाधिजत्वात् सर्वविषयत्वात् सर्वथाविषयत्वात् अक्रमाच्चेति द्रष्टव्यम् ॥ **विरोधादिति** । विज्ञानस्यैकत्वं पदार्थानामनेकत्वं तद्विपरीतं वेति धर्मविरोधात् शीतत्वपीतत्वादीनां विज्ञाने विरोधाच्चेत्यर्थः । अतएव विज्ञानार्थयोः कार्यकारणभावोऽप्यसिद्धः, कारणस्य विज्ञानस्याऽभेदे ऐक्ये सति कार्याणाम्–जगतः पदार्थानां भेदेन 'एककारणात् एककार्यमि'ति प्रत्यक्षादिसिद्धनि-

तम्–१५ ॥ ('न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्'–१६ +) यद्येवं ज्ञानं चेत्प्रकाशकत्वाद्ग्रहणस्वभावमर्थश्च प्रकाश्यत्वाद्ग्राह्यस्वभावस्तत्कथं युगपत्सर्वानर्थान्न गृह्णाति न स्मरति चेत्याशङ्क्य परिहारं वक्तुमाह–तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्–१६ ॥ तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणाच्चित्ते बाह्यं वस्तु ज्ञातमज्ञातं च भवति । अयमर्थः–सर्वः पदार्थ आत्मलाभे सामग्रीमपेक्षते, नीलादिज्ञानं चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया समागतमर्थोपरागं सहकारिकारणत्वेनापेक्षते, व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभावाद्ग्रहीतुमशक्यत्वात्, ततश्च येनैवार्थेनास्य ज्ञानस्य स्वरूपोपरागः कृतस्तमेवार्थं ज्ञानं व्यवहारयोग्यतां नयति, ततश्च सोऽर्थो ज्ञात इत्युच्यते, येन चाऽऽकारो न समर्पितः स न ज्ञातत्वेन व्यवह्रियते, यस्मिंश्चानुभूतेऽर्थे सदृशादिरर्थः संस्कारमुद्बोधयन्सहकारिकारणतां प्रतिपद्यते तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुत्पद्यत इति न सर्वत्र ज्ञानं नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कश्चिद्विरोधः–१६ ॥ यद्येवं प्रमाताऽपि पुरुषो यस्मिन्काले नीलं वेदयते न तस्मिन्काले पीतमतस्तस्यापि कादाचित्कत्वं, ग्रहीतृरूपस्याकारग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तमित्याशङ्कां परिहर्तुमाह–**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्**–१७ ॥ या एताश्चित्तस्य प्रमाणविपर्ययादिरूपा वृत्तयस्तास्तत्प्रभोश्चित्तस्य ग्रहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः, तस्य चिद्रूपतयाऽपरिणामि( त्वा )त्परिणामित्वाभावादित्यर्थः । यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्प्रमातुस्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत । अयमर्थः–पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद्येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावस्तस्यां सत्यां सिद्धं सदा ज्ञातृत्वमिति न कदाचित्परिणामित्वाशङ्का–१७ ॥ ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात्प्रकाशकं तदा स्वपरप्रकाशकत्वादात्मानमर्थं च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तेः किं ग्रहीत्रन्तरेणेत्याशङ्कामपनेतुमाह–**न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्**–१८॥ तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यं भवतीति यावत्, कुतः, दृश्यत्वात्, यत्किल दृश्यं तद्द्रष्टृवेद्यं दृष्टं यथा घटादि, दृश्यं च चित्तं तस्मान्न स्वाभासम्–१८ ॥ ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः, दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम्, किंच स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते, तथाहि–क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे राग इत्येवमाद्या संविद्बुद्धेरसंवेदने नोपपद्येतेत्याशङ्कामपनेतुमाह–

---

भ्रमस्य भ्रमप्रसंगादित्यर्थः–१५॥ ( न चैकमित्यादि सूत्रमिदं विज्ञानभिक्षुभावागणेशनागोजीभट्टप्रभाकरादिभिर्व्याख्यातम्, वाचस्पतिना भोजराजेन च न व्याख्यातम्–'ननु मा भूज्ज्ञानार्थयोरैक्यं, किंतु द्वयोः समकालत्वं स्यादित्याक्षेपे सति सूत्रावतारः 'न चैकमि'त्यादि । एकचित्ततन्त्रम्=एकचित्तनियतं, वस्तु=पदार्थः, न भवितुमर्हति, यतो हि तत्=एकचित्तसमकालनियतवस्तु स्याच्चेत्, तदा=तच्चित्ते विषयान्तरसञ्चारिणि निरुद्धे वा सति तद्वस्तुस्वरूपमेव, अतस्तदानीम्–अप्रमाणकम्=केनचिदगृहीतस्वभावकम्, तत् किं=किंस्वरूपं स्यात्, ग्राहकस्याऽस्वरूपत्वे ग्राह्यस्याऽलीकत्वापत्तिरिति भावः–१६ )॥ अर्थोपरागम्–अर्थसन्निकर्षम्–१६ ॥ आत्मानं–स्वम्, अर्थं च घटादिकम्, किं गृहीत्रन्तरेण–किं पुरुषस्य चेतनस्य स्वीकारेणेत्यर्थः ॥ प्रयोगः–'चित्तम्,–पुरुषवेद्यम्,–दृश्यत्वात्, घटवत्–इति–१८ ॥ **बौद्धः** शङ्कते–**ननु साध्याऽविशिष्ट इति** । दृश्यत्वादिति हेतुः साध्याऽविशिष्टः–पक्षे साध्याभावो बाधः–इति साध्याभाववत्पक्षकत्वात्मकबाधदोषविशिष्टः । स्वरूपाऽसिद्धिमाह–**दृश्यत्वमेवेति**–पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिरिति ॥ पुरुषस्यापि वृत्तिरूपपरिणाममाह–**क्रुद्धेति** । पुरुषः बुद्ध्यात्मनोरैक्यभ्रमात् क्रुद्धो

**एकसमये चोभयानवधारणम्**–१९॥ अर्थस्य संवित्तिरिदन्तया व्यवहारयोग्यतापादनमयमर्थः सुखहेतुः दुःखहेतुर्वेति । बुद्धेश्च संविदहमित्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम्, एवंविधं च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षताकाले न युगपत्कर्तुं शक्यं विरोधात्, न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत्संभवोऽस्ति, अत एकस्मिन्काल उभयस्य स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वान्न चित्तं स्वप्रकाशमित्युक्तं भवति, किं चैवंविधव्यापारद्वयनिष्पाद्यस्य फलद्वयस्यासंवेदनाद्बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनार्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः–१९॥ ननु मा भूद्बुद्धेः स्वयं ग्रहणं बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–**चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च**–२० ॥ यदि हि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्यते तदा साऽपि बुद्धिः स्वयमबुद्धा बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्या ग्राहकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयं तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात्पुरुषायुषेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात्, न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति, स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्बह्व्यः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धेरपर्यवसानाद्बुद्धिस्मृतीनां च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्स्मृतीनां संकरः स्यात्, इयं रूपस्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न ज्ञायेत–२० ॥ ननु बुद्धेः स्वप्रकाशत्वाभावे बुद्ध्यन्तरेण चासंवेदने कथमयं विषयसंवेदनरूपो व्यवहार इत्याशङ्क्य स्वसिद्धान्तमाह–**चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्**–२१ ॥ पुरुषश्चिद्रूपत्वाच्चितिः साऽप्रतिसंक्रमा न विद्यते प्रतिसंक्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा तथोक्ता, अन्येनासंकीर्णेति यावत्, यथा गुणा अङ्गाङ्गिभावलक्षणे परिणामेऽङ्गिनं गुणं संक्रामन्ति तद्रूपतामिवाऽऽपद्यन्ते, यथा वा लोके परमाणवः प्रसरन्तो विषयमारूषयन्ति नैवं चितिशक्तिस्तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वात्, अतस्तत्संनिधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छक्तिर्बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते तदा बुद्धेः स्वस्याऽऽत्मनो वेदनं भवतीत्यर्थः–२१ ॥ इत्थं स्वसंविदितं चित्तं सर्वार्थग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहारनिर्वाहक्षमं भवतीत्याह–**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्**–२२ ॥ द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरक्तं तत्संनिधानेन तद्रूपतामिव प्राप्तं दृश्योपरक्तं विषयोपरक्तं गृहीतविषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति, यथा

---

'अहं सुखी'त्यादिवृत्तिस्तां स्वीयां कृत्वा स्वनियतबुद्धिधर्माऽवच्छिन्नत्वाभिमानं विधाय हितस्य सुखकर-धर्मस्य प्राप्तिः अहितस्य दुःखकरधर्मस्य त्याग इत्येवमादिवृत्तिमान् भवति । वृत्तीर्दर्शयति–कर्त्ताऽहमिति । तथा च पुरुषः परिणामी क्षणिकचित्तात्मक एव नान्यः, चित्तं चार्थात्मकं द्रष्टृ च-भवति वैनाशिकाऽभिप्रायः ॥ समाधत्ते–अर्थस्येति । इदंकारगोचरो विषयः, अहमाकारगोचरा बुद्धिः द्वयोरेकदाऽसंभवो युगपच्चाऽसंभवः कर्तृकर्मणोर्विरोधात्, अतश्चित्तस्वरूपस्य अर्थात्मकत्वं च चित्तस्य स्वद्रष्टृत्वानुपपत्तेः द्रष्टृत्वं स्वस्मिन्नैव भवति, तथा चान्यः तद्द्रष्टा भाव्यः, सः पुरुषः तन्निरूपितं द्रष्टृत्वं चित्तेऽध्यारोपितम्, अतो न स्वरूपाऽसिद्धिदोषः, अतएव च न साध्याभावात्मकबाधोऽपीति भावः ॥ पुरुषस्य वृत्तिमत्त्वं परिहरति–किं चैवंविधेति । इदमहमितिव्यापारद्वयस्य फलस्यान्तर्मुखतयैवाऽनुभवात् अर्थनिष्ठं फलं बोध्यम्, तच्च चित्तवृत्तेरेव संक्रमात्, पुरुषस्तु प्रतिबिम्बरूपां चित्तवृत्तिं स्वामभिमन्यतेऽतश्चिद्रूपया वृत्तिमान् न तु स्ववृत्तिमानिति भावः-१९॥ बुद्धेरपर्यवसानात्=बुद्धिधाराणां तदानीमपि प्रचारप्रतिबन्धात्–२० ॥ विषयमारूषयन्ति=स्थूलपदार्थं प्रति-भासयन्ति । बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता=बुद्धिस्थं प्रतिबिम्बं वृत्तिभिराक्रान्तं भवति यदा तदेत्यर्थः । बिम्बच्छायाग्राहित्वसम्बन्धेन चिदुपरक्तं चिद्ग्राह्यं चित्तं भवतीति भावः ॥ स्वस्याऽऽत्मनः=स्वा-

निर्मले स्फटिकदर्पणाद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थमेवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छाया-ग्रहणसमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद् रजस्तमसी, तन्न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीप-शिखाकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादामोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते, यथाऽयस्कान्त-संनिधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति एवं चिद्रूपपुरुषसंनिधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम्, अत एवास्मिन्दर्शने द्वे चिच्छक्ती नित्योदिताऽभिव्यङ्ग्या च, नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषस्तत्संनि-धानादभिव्यक्तमभिव्यङ्ग्यचैतन्यं सत्त्वमभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः, तदत्यन्तसंनिहितत्वादन्तरङ्गं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते, तदेव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःख-भोक्तृतया व्यपदिश्यते, यत्तनुद्रिक्तत्वादेकस्यापि गुणस्य कदाचित्कस्यचिदङ्गित्वात्त्रिगुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुखदुःखमोहात्मकमनिर्मलं तत्तस्मिन्कर्मानुरूपे शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्य-तामापादयति, तच्छुद्धमार्थं चित्तसत्त्वमेकतः प्रतिसंक्रान्तचिच्छायमन्यतो गृहीतविषयाकारेण चित्तेनोप-ढौकितस्वाकारं चित्संक्रान्तिबलाच्चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखभोगमनुभवति स एव भोगोऽत्यन्तसंनिधानेन विवेकाग्रहणादभोक्तुरपि पुरुषस्य भोग इति व्यपदिश्यते, अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तं 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्' इति । अन्यत्रापि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छाया-सदृशच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते, एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रति-संक्रान्तिशब्दार्थः । ननु प्रतिबिम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणामस्य निर्मले दृष्टं, यथा मुखस्य दर्पणे, अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्यापरिणामिनः पुरुषस्य तस्मादत्यन्तनिर्मलात्पुरुषादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रतिबिम्बनमुपपद्यते । उच्यते—प्रतिबिम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवतेदमभ्यधायि, यैव सत्त्वगताया अभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेः पुरुषस्य सांनिध्यादभिव्यक्तिः सैव प्रतिबिम्बनमुच्यते, यादृशी पुरुषगता चिच्छक्तिस्तच्छाया तथाऽऽविर्भवति, यदप्युक्तमत्यन्तनिर्मलः पुरुषः कथमनिर्मले सत्त्वे प्रतिसंक्रामतीति तदप्यनैकान्तिकं, नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादित्यादयः प्रतिसंक्रान्ताः समुपल-

---

रमेकस्य—२१ ॥ स्वसंविदितं—स्वचिच्छायायाहित्वसम्बन्धेन चिद्रूपकम् ॥ सत्त्वस्याऽभिव्यङ्ग्यं चैत-न्यमभिव्यज्यते—शुद्धया प्रकाशितुं योग्यं प्रतिबिम्बं प्रदर्श्यत इत्यर्थः । अभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः—प्रति-बिम्बः । अन्तरङ्गं—साक्षात्सम्बन्धसाधनम् ॥ शुद्धस्मातिरिक्तो न कश्चित्परमेश्वर इति—वादिसांख्यैः निरीश्वरवादिभिरिति यावत् ॥ पुरुषस्य परमात्मनः—शान्तब्रह्मणः शुद्धात्मनः ॥ अधिष्ठेयं—तदेव प्रतिबिम्बं भोगाधिष्ठानम् ॥ अनुद्रिक्तत्वादिति—गौणत्वादपि गुणस्य कदाचिदुद्रेके सति तु अङ्गि भूत्वा परिणमत् बुद्धिसत्त्वे स्वा(गुणा)कारभोगं सम्पादयति, तेनैवातः सप्रतिबिम्बम् अपरतश्च विषया-कारान्वितं, अतो जडचेतनात्मकं चित्तं भूत्वा भोगमनुभवति, शुद्धपुरुषे तूपचर्यते ॥ सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्—चित्तदुःखमेव पुरुषदुःखम् ॥ अन्यत्राऽपि प्रतिबिम्बे । प्रतिबिम्बस्थले नाट्कोप-पटादावपि, प्रतिबिम्बस्य—पट्टिकादौ प्रतिष्ठितस्य बिम्बस्य संक्रान्तस्य प्रतिकृतिरूपस्य मूलबिम्बानुरूप-स्य मनुष्याद्याकृतेर्भानं यस्याः पटे दृश्यमानाया आकृतेर्भवति तादृशी पटीयच्छाया यथा प्रतिबिम्बं कथ्यते, एवं बुद्धौ तु संक्रान्ते प्रतिबिम्बे प्रतिसंक्रमणं बुद्धिवृत्तीनां यत् सा प्रतिसंक्रान्तिरुच्यते, तथाहि—सत्त्वात्मकबुद्धितत्त्वेऽपि पुरुषनिरूप्या या चिच्छाया—पुरुषप्रतिबिम्बाख्या या पुरुषाकृतिः तत्र, तत्सदृशी च चिदभिव्यक्तिः—तदन्वितबुद्धिवृत्त्यारोपद्वारा पुरुषस्वरूपाविर्भावः, विषयमादाय बुद्धिवृत्तीनां प्रतिबिम्बे गतत्वनियमात् प्रतिबिम्बयुक्ता बुद्धिवृत्तिः प्रतिबिम्बे समारोहति इति प्रति-बिम्बे प्रतिबिम्बान्वितबुद्धिवृत्तेः संक्रमणं प्रतिसंक्रान्तिरुच्यत इत्यर्थः ॥ एतद्ग्रन्थेन प्रतिबिम्बस्य प्रति-संक्रान्तेश्च निरूपणं कृतं, न तु प्रतिबिम्बदृष्टान्तसाम्यस्वरूपया प्रतिसंक्रान्तिः स्पष्टीकृता इति

श्यते । यदप्युक्तमनवच्छिन्नस्य नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति तदप्ययुक्तं, व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात्, एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिबिम्बदर्शनस्य । ननु सात्त्विकपरिणामरूपे बुद्धिसत्त्वे पुरुषसंनिधानादभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेर्बाह्यार्थाकारसंक्रान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपो भोग इत्युक्तं तदनुपपन्नम् । तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृतावपरिणतायां कथं संभवति किमर्थश्च तस्याः परिणामः । अथोच्येत पुरुषस्यार्थोपभोगसंपादनं तया कर्तव्यम्, अतः पुरुषार्थकर्तव्यतया तस्या युक्त एव परिणामः, तच्चानुपपन्नं, पुरुषार्थकर्तव्यताया एवानुपपत्तेः, पुरुषार्थो मया कर्तव्य इत्येवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्तव्यतोच्यते जडायाश्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवैवंविधोऽध्यवसायः, अस्ति चेदध्यवसायः कथं जडत्वम्, अत्रोच्यते—अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति तदेव पुरुषार्थकर्तव्यतोच्यते, सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव, तत्र महदादिमहाभूतपर्यन्तोऽस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्तः परिणामः प्रतिलोमः, इत्थं पुरुषस्याऽऽभोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात्कृतार्था प्रकृतिर्न पुनः परिणाममारभते, एवंविधायां च पुरुषार्थकर्तव्यतायां जडाया अपि प्रकृतेर्न काचिदनुपपत्तिः, ननु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः क्रियते, मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याऽऽनर्थक्यं स्यात् । उच्यते—योऽयं प्रकृतिपुरुषयोरनादिर्भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः संबन्धस्तस्मिन्सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद्दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यादिति भवत्येवाध्यवसायः, अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षाऽस्त्येव प्रधानस्य, तथाभूतमेव च कर्मानुरूपं बुद्धिसत्त्वं शास्त्रोपदेशस्य विषयः, दर्शनान्तरेष्वप्येवंविध एवाविद्यास्वभावः शास्त्रेऽधिक्रियते, स च मोक्षाय प्रयतमान एवंविधमेव शास्त्रोपदेशं सहकारिणमपेक्ष्य मोक्षाख्यं फलमासादयति, सर्वाण्येव कार्याणि प्राप्तायां सामग्र्यामात्मानं लभन्ते, अस्य च प्रतिलोमपरिणामद्वारेणैवोत्पाद्यस्य मोक्षाख्यस्य कार्यस्येदृश्येव सामग्री प्रमाणेन निश्चिता प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः, अतस्तां विना कथं भवितुमर्हति, अतः स्थितमेतत्, संक्रान्तविषयोपरागमभिव्यक्तचिच्छायं बुद्धिसत्त्वं विषयनिश्चयद्वारेण समस्तां लोकयात्रां निर्वाहयतीति, एवंविधमेव चित्तं पश्यन्तो भ्रान्ताः स्वसंवेदनं चित्तं चित्तमात्रं च जगदित्येवं ब्रुवाणाः प्रतिबोधिता भवन्ति—२२ ॥

ननु यद्येवंविधादेव चित्तात्सकलव्यवहारनिष्पत्तिः कथं प्रमाणशून्यो द्रष्टाऽभ्युपगन्तव्य इत्याशङ्क्य द्रष्टुः प्रमाणमाह—**तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्—२३ ॥** तदेव चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयतीति, कुतः, संहत्यकारित्वात्, संहत्य संभूय मिलित्वाऽर्थक्रियाकारित्वात्, यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टं, यथा शयनासनादि, सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणाम-

---

विभावनीयम् ॥ **अनैकान्तिकम्**—यत्र निर्मलत्वं तत्र प्रतिबिम्बनमिति नियमे मलेनमले व्यभिचार इति । दर्शनान्तरेषु—वेदान्तसांख्यगौतमीयेषु ॥ गौतमेन मिथ्याज्ञानमविद्या कथिता ॥ प्रमाणेन—सुनाल्पकान्वयप्रमाणेनाऽनुमानयुक्त्या च ॥ प्रकारान्तरेण—प्रमाणशून्यदृष्टान्तादिना ॥ ब्रुवाणाः—ब्रुवन्तो बौद्धाः 'भ्रान्ता' इति शिक्षिता ज्ञापिता भवन्ति—२२॥ अर्थक्रियाकारित्वात्—अर्थः प्रयोजनं शयनकर्तुः सुखादिकं, क्रिया च तदनुगुणा मृदुभावः शरीरस्य यथापेक्षाऽवस्थित्यादिरूपा, तत्कारित्वात् ॥ इष्टविघातकृद्धेतुः—'बुद्धिः—परार्था—संहत्याऽर्थक्रियाकारित्वात्' इत्यत्र असंहतपरप्रयोजनकत्वात्मकसाध्यस्य विरुद्धं यत् संहतपरप्रयोजनकत्वं तस्य साधकत्वाद्ध विरोधदोषदुष्ट इति भावः ॥ संहतपरप्रयोजनकत्वं तु—'संघातान्तरार्थत्वे हि तस्यापि संघातत्वात् तेनापि संघातान्तरा-

भाञ्जि संहत्यकारीणि अतः परार्थानि, यः परः स पुरुषः, ननु यादृशेन शयनादिना परेण शरीरस्था
पारार्थ्यमुपलब्धं तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः सिध्यति, यादृशश्च भवता परोऽसंहतरूपोऽभिप्रे-
तस्तद्विपरीतस्य सिद्धेरयमिष्टविघातकृद्धेतुः, उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे व्याप्तिर्गृहीता
तथापि सत्त्वादिविलक्षणधर्मिपर्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति, यथा
चन्दनवनान्विते शिखरिणि विलक्षणाद्धूमाद्वह्निरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चन्दनप्रभव एव
प्रतीयते, एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने तथाविध
एव भोक्ताऽधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहतः सिध्यति, । यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमेव
प्रतीयते तथाऽपि तामसेभ्यो विषयेभ्यः प्रकृष्यते शरीरं, प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात्, तस्मादपि
प्रकृष्यन्त इन्द्रियाणि, ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपं, तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः
स चिद्रूप एव भवतीति कुतस्तस्य संहतत्वम्—२३ ॥ इदानीं शास्त्रफलं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः
सूत्रैरुपक्रमते—**विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः—२४॥** एवं सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वे साधिते
यस्तयोर्विशेषं पश्यति अहमस्मादन्य इत्येवं रूपं, तस्य विज्ञातचित्तस्वरूपस्य चित्ते याऽऽत्मभावभा-
वना सा निवर्तते चित्तमेव कर्तृ ज्ञातृ भोक्तृ इत्यभिमानो निवर्तते—२४ ॥ तस्मिन्सति किं
भवतीत्याह—**तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्—२५॥** यदस्याज्ञाननिम्नपथं बहिर्मुखं
विषयोपभोगफलं चित्तमासीत्तदिदानीं विवेकनिम्नमार्गमन्तर्मुखं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलं
कैवल्यप्रारम्भं वा संपद्यत इति—२५ ॥ अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति
तेषां हेतुप्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—**तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः—२६ ॥**
तस्मिन्समाधौ स्थितस्य छिद्रेष्वन्तरालेषु यानि प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि तानि
प्राग्भूतेभ्यो व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्योऽहं ममेत्येवंरूपाणि क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रभवन्ति
अन्तःकरणोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति—२६ ॥ हानोपायश्च पूर्वमेवोक्त
इत्याह—**हानमेषां क्लेशवदुक्तम्—२७ ॥** यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तं तथा
संस्काराणामपि कर्तव्यम् । यथा ते ज्ञानाग्निना प्लुष्टा दग्धबीजकल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं
लभन्ते तथा संस्कारा अपि—२७ ॥ एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृश ( शाद )-
स्य योगिनः समाधिप्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा
विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः—२८ ॥** प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां
परस्परविलक्षणस्वरूपविभावनं तस्मिन्सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्व-
प्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति, प्रकृष्टमशुक्लाकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति
सिञ्चतीति धर्ममेघः, अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति—२८ ॥ तस्माद्धर्ममेघात्किं
भवतीत्यत आह—**ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः—२९ ॥** क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणां
च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात्पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति—२९ ॥ तेषु निवृत्तेषु
किं भवतीत्यत आह—**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्—३० ॥**
आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशास्त एव मलास्तेभ्योऽपेतस्य तद्रहितस्य ज्ञानस्य शरद्ग-
गननिभस्याऽऽनन्त्यादनवच्छेदाज्ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं न भवत्यक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः-३०॥

---

र्षेण भवितव्यम् एवं तेन हेतुनेत्यनवस्थादोषपराहतमिति बोध्यम् ॥ यदि चेति शंकापक्षे परत्वं-
सजातीयं सर्वोत्कृष्टत्वं, तथापीत्युत्तरपक्षे सात्त्विकप्रकाशतोऽपि निरवधिकविलक्षणप्रकाशत्वं सर्वोत्कृष्-
टत्वं परत्वं ग्राह्यमिति—२३ ॥ विवेकनिम्नं = विवेकमार्गसञ्चारि ॥ कैवल्ये प्राग्भारः अभिमुखता यस्य

ततः किमित्यत आह—**ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्**—३२ ॥ कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां परिणाम आ—पुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन चाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षणस्तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुद्भव इत्यर्थः—३२ ॥ क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह—**क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः**—३३ ॥ क्षणोऽल्पीयान्कालस्तस्य योऽसौ प्रतियोगी क्षणविलक्षणः परिणामापरान्तनिर्ग्राह्योऽनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात्संकलनबुद्ध्यैव यो गृह्यते स क्षणानां क्रम उच्यते, न ह्यननुभूतेषु क्षणेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः—३३ ॥ इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह—**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति: ३४ ॥** समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोमस्य परिणामस्य समाप्तौ विकारानुद्भवः, यदि वा चितिशक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत्कैवल्यमुच्यते, न केवलमस्मद्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्थायामेवंविधश्चिद्रूपो यावद्दर्शनान्तरेष्वपि विचार्यमाण एवंरूपोऽवतिष्ठते, तथाहि—संसारदशायामात्मा कर्तृत्वभोक्तृत्वानुसन्धातृत्वमयः प्रतीयतेऽन्यथा यद्ययमेकः क्षेत्रज्ञस्तथाविधो न स्यात्तदा ज्ञानक्षणानामेव पूर्वापरानुसन्धातृशून्यानामात्मभावे नियतः कर्मफलसम्बन्धो न स्यात्कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च । यदि येनैव शास्त्रोपदिष्टमनुष्ठितं कर्म तस्यैव भोक्तृत्वं भवेत्तदा हिताहितप्राप्तिपरिहाराय सर्वस्य प्रवृत्तिर्घटेत सर्वस्यैव व्यवहारस्य हानोपादानलक्षणस्यानुसन्धानेनैव व्याप्तत्वाज्ज्ञानक्षणानां परस्परभेदेनानुसन्धानशून्यत्वात्तदनुसन्धानाभावे कस्यचिदपि व्यवहारस्यानुपपत्तेः कर्ता भोक्ताऽनुसन्धाता यः स आत्मेति व्यवस्थाप्यते, मोक्षदशायां तु सकलग्राह्यग्राहकलक्षणव्यवहाराभावाच्चैतन्यमात्रमेव तस्यावशिष्यते, तच्चैतन्यं चितिमात्रत्वेनैवोपपद्यते न पुनरात्मसंवेदनेन, यस्माद्विषयग्रहणसमर्थत्वमेव चितेः रूपं नाऽऽत्मग्राहकत्वम्, तथाहि—अर्थग्रहणे गृह्यमाणोऽयमिति गृह्यते स्वरूपं गृह्यमाणमहमिति न पुनर्युगपद्बहिर्मुखतान्तर्मुखतालक्षणव्यापारद्वयं परस्परविरुद्धं कर्तुं शक्यम्, अत एकस्मिन्समये व्यापारद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वाच्चिद्रूपतैवावशिष्यते, अतो मोक्षावस्थायां निवृत्ताधिकारेषु गुणेषु चिन्मात्ररूप एवाऽऽत्माऽवतिष्ठत इत्येवं युक्तम्, संसारदशायां त्वेवंभूतस्यैव कर्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसन्धातृत्वं च सर्वमुपपद्यते, तथाहि—योऽयं प्रकृत्या सहानादिर्नैसर्गिकोऽस्य भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः सम्बन्धोऽविवेकख्यातिमूलस्तस्मिन्सति पुरुषार्थकर्तव्यतारूपशक्तिद्वयसद्भावे या महदादिभावेन परिणतिस्तस्यां संयोगे सति महदात्मनोऽधिष्ठातृत्वं चिच्छायासमर्पणसामर्थ्यं बुद्धिसत्त्वस्य च संक्रान्तचिच्छायाग्रहणसामर्थ्यं चिदवष्टब्धायाश्च बुद्धेर्योऽयं कर्तृत्वभोक्तृत्वाध्यवसायस्तत एव सर्वस्यानुसन्धानपूर्वकस्य व्यवहारस्य निष्पत्तेः; किमन्यैः फल्गुभिः कल्पनान्तरैः, यदि पुनरेवंभूतमार्गव्यतिरेकेण पारमार्थिकमात्मनः कर्तृत्वाद्यङ्गीक्रियेत तदाऽस्य परिणामि-

---

तत्—३३। क्षणप्रतियोगी=क्षणाद् भिन्नपदार्थः क्षणेष्वनुस्यूतः, क्षणप्रचयाश्रय इति यावत् । परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः—यथा नवस्य वस्त्रस्य सुयत्नरक्षितस्यापि चिरेण पुराणता दृश्यते सोऽयं परिणामस्य अपरान्तः—पर्यवसानं तेन च पूर्वापेक्षया वस्त्रस्य परिणामस्य अपरान्तेन अनवच्छिन्नपरिणामधाराऽनुमीयते इति भावः—३३ ॥ विकारानुद्भवस्य मोक्षत्वे विवादमाह—यदि वेति । अन्यथा—इत्यस्यैवार्थमाह—यद्ययमेक इति । किन्तु क्षणिकं ज्ञानमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वानुसन्धातृ आत्मा स्यात् इति वाक्यशेषः बौद्धमतेन पूरणीयः । कृतहानं—पूर्वक्षणे क्षणिकचिदात्मना कृतस्य कर्मणः भोक्तृत्वं क्षणान्तरे चिदात्मनाशात् तस्य न स्यादिति अभोक्तृत्वात्मकं हानं स्यात्, नवीनोत्पन्नेन च पूर्वं कृतमेव नहि इति अकृते सत्यपि भोगार्थम् आगमः स्यात् । कृतस्य फलाऽ-

व्यवसक्तः परिणामित्वात्मानित्यत्वे तस्याऽऽत्मत्वमेव न स्यात्, न ह्येकस्मिन्नेव समये एकेनैव रूपेण परस्परविरुद्धावस्थानुभवः सम्भवति, तथाहि—यस्यामवस्थायामात्मसमवेते सुखे समुत्पन्ने तस्यानुभवितृत्वं न तस्यामेवावस्थायां दुःखानुभवितृत्वम्, अतोऽवस्थानां नानात्वात्तदभिन्नस्यावस्थावतोऽपि नानात्वं, नानात्वेन च परिणामित्वान्नाऽऽत्मत्वम्, नापि नित्यत्वम्, अत एव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैरात्मनः सदैव संसारदशायां मोक्षदशायां चैकरूपत्वमङ्गीक्रियते ॥ ये तु वेदान्तवादिनश्चिदानन्दमयत्वमात्मनो मोक्षे मन्यन्ते तेषां न युक्तः पक्षः, तथाहि—आनन्दस्य सुखरूपत्वात्सुखस्य च सदैव संवेद्यमानतयैव प्रतिभासात्संवेद्यमानत्वं च संवेदनव्यतिरेकेणानुपपन्नमिति संवेद्यसंवेदनयोरभ्युपगमादद्वैतहानिः। अथ सुखात्मकत्वमेव तस्योच्यते तद्विरुद्धधर्माध्यासादनुपपन्नम्, न हि संवेदनं संवेद्यं चैकं भवितुमर्हति, किञ्चाद्वैतवादिभिः कर्मात्मपरमात्मभेदेनाऽऽत्मा द्विविधः स्वीकृतः, ततश्च तत्र येनैव रूपेण सुखदुःखभोक्तृत्वं कर्मात्मनस्तेनैव रूपेण यदि परमात्मनः स्यात्तदा कर्मात्मवत्परमात्मनः परिणामित्वमविद्यास्वभावत्वं च स्यात्, अथ न तस्य साक्षाद्भोक्तृत्वं किन्तु तदुपढौकितमुदासीनतयाऽधिष्ठातृत्वेन स्वीकरोति तदाऽस्मद्दर्शनानुप्रवेशः, आनन्दरूपता च पूर्वमेव निराकृता, किं चाविद्यास्वभावत्वे निःस्वभावत्वात्कर्मात्मनः कः शास्त्राधिकारी, न तावन्नित्यनिर्मुक्तत्वात्परमात्मा, नापि अविद्यास्वभावत्वात्कर्मात्मा, ततश्च सकलशास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः, अविद्यामयत्वे च जगतोऽङ्गीक्रियमाणे कस्याविद्येति विचार्यते, न तावत्परमात्मनो नित्यमुक्तत्वाद्विद्यारूपत्वाच्च, कर्मात्मनोऽपि परमार्थतो निःस्वभावतया शशविषाणप्रख्यत्वे कथमविद्यासंबन्धः, अथोच्यते, एतदेवाविद्याया अविद्यात्वं यदविचाररमणीयत्वं नाम, यैव हि विचारेण दिनकरस्पृष्टनीहारवद्विलयमुपयाति साऽविद्येत्युच्यते, नैवं, यद्वस्तु किञ्चित्कार्यं करोति तदवश्यं कुतश्चिद्भिन्नमभिन्नं वा वक्तव्यम्, अविद्यायाश्च संसारलक्षणकार्यकर्तृत्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, तस्मिन्सत्यपि यद्यनिर्वाच्यत्वमुच्यते तदा कस्यचिदपि वाच्यत्वं न स्यात्, ब्रह्मणोऽप्यवाच्यत्वप्रसक्तिः, तस्मादविद्याकृतरूपव्यतिरेकेण नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते, अधिष्ठातृत्वं च चिद्रूपमेव तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्य कस्यचित्प्रमाणानुपपत्तेः। यैरपि नैयायिकादिभिरात्मा चेतनायोगाच्चेतन इत्युच्यते, चेतनाऽपि तस्य मनःसंयोगजा, तथा हि—इच्छाज्ञानप्रयत्नादयो गुणास्तस्य व्यवहारदशायामात्ममनःसंयोगादुत्पद्यन्ते, तैरेव च गुणैः स्वयं ज्ञाता कर्ता भोक्तेति व्यपदिश्यते, मोक्षदशायां तु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलानां दोषाणामपि निवृत्तेस्तेषां बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तेः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठत्वमात्मनोऽङ्गीकृतं, तेषामयुक्तः पक्षः, यतस्तस्यां दशायां नित्यत्वव्यापकत्वादयो गुणा आकाशादीनामपि सन्ति अतस्तद्वैलक्षण्येनाऽऽत्मनश्चिद्रूपत्वमवश्यमङ्गीकार्यम्, आत्मत्वलक्षणजातियोग इति चेत्? न, सर्वस्यैव हि तज्जातियोगः संभवति, अतो जातिभ्यो वैलक्षण्यमात्मनोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, तच्चाधिष्ठातृत्वं, तच्च चिद्रूपतयैव घटते नान्यथा ॥ यैरपि मीमांसकैः कर्मकर्तृरूप आत्माऽङ्गीक्रियते तेषामपि न युक्तः पक्षः। तथाहि—अहंप्रत्ययग्राह्य आत्मेति तेषां प्रतिज्ञा, अहंप्रत्यये च कर्तृत्वं कर्मत्वं चाऽऽत्मन एव, न चैतद्विरुद्धत्वादुपपद्यते, कर्तृत्वं प्रमातृत्वं, कर्मत्वं च प्रमेयत्वम्, न चैतद्विरुद्धधर्माध्यासो युगपदेकस्य घटते, यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं न तदेकं, यथा भावाभावौ, विरुद्धे च कर्तृत्वकर्मत्वे। अथोच्यते—न कर्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधः किंतु कर्तृत्वकरणत्वयोः। केनैतदुक्तं विरुद्धधर्माध्यासस्य तुल्यत्वात्कर्तृत्वकरणत्वयोरेव विरोधो न कर्तृत्वकर्मत्वयोः। तस्मादहंप्रत्ययग्राह्यत्वं परिहृत्याऽऽत्मनोऽधिष्ठातृत्वमेवोपपन्नम्, तच्च चेतनत्वमेव ॥ यैरपि द्रव्यबोधपर्यायभेदेनाऽऽत्मनोऽव्यापकत्व

---

भोक्तृत्वम्, अकर्तुश्च फलभोक्तृत्वमित्यव्यवस्थाप्रसंगः स्यादिति यावत्।। जैनमतेनाह—यैरपि

शरीरपरिमाणस्य परिणामित्वमिष्यते तेषामुत्थानपराहत एव पक्षः, परिणामित्वे चिद्रूपताहानिः, चिद्रूपताभावे किमात्मन आत्मत्वम्, तस्मादात्मन आत्मत्वमिच्छता चिद्रूपत्वमेवाङ्गीकर्तव्यम्, तच्चाधिष्ठातृत्वमेव। ये चिच्छक्तिं कर्तृरूपमेवाऽऽत्मानमिच्छन्ति। तथा हि–विषयसांनिध्ये या ज्ञानलक्षणा क्रिया समुत्पन्ना तस्या विषयसंवित्तिः फलं, तस्यां च फलरूपायां संवित्तौ स्वरूपं प्रकाशरूपतया प्रतिभासते, विषयश्च ग्राह्यतया, आत्मा च ग्राहकतया, घटमहं जानामीत्याकारेण तस्याः समुत्पत्तेः, क्रियायाश्च कारणं कर्तैव भवतीत्यतः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चाऽऽत्मनो रूपमिति। तदनुपपन्नं, यस्मात्तासां संवित्तीनां स किं कर्तृत्वं युगपत्प्रतिपद्यते क्रमेण वा, युगपत्कर्तृत्वे क्षणान्तरे तस्य कर्तृत्वं न स्यात्, अथ क्रमेण कर्तृत्वं तदैकरूपस्य न घटते, एकेन रूपेण चेत्तस्य कर्तृत्वं तदैकस्य रूपस्य सदैव संनिहितत्वात्सर्वं फलमेकरूपं स्यात्। अथ नानारूपतया तस्य कर्तृत्वं तदा परिणामित्वं, परिणामित्वाच्च न चिद्रूपत्वम्, अतश्चिद्रूपत्वमेवाऽऽत्मन इच्छद्भिर्न साक्षात्कर्तृत्वमङ्गीकर्तव्यम्, यादृशमस्माभिः कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादितं कूटस्थस्य नित्यस्य चिद्रूपस्य तदेवोपपन्नम्॥ एतेन स्वप्रकाशस्याऽऽत्मनो विषयसंवित्तिद्वारेण ग्राहकत्वमभिव्यज्यत इति ये वदन्ति तेऽपि अनेनैव निराकृताः॥ केचिद्विमर्शात्मकत्वेनाऽऽत्मनश्चिन्मयत्वमिच्छन्ति। ते ह्याहुर्न विमर्शव्यतिरेकेण चिद्रूपत्वमात्मनो निरूपयितुं शक्यम्, जडाद्वैलक्षण्यमेव चिद्रूपत्वमुच्यते, तच्च विमर्शव्यतिरेकेण निरूप्यमाणं नान्यथाऽवतिष्ठते,। तदनुपपन्नम्। इदमित्थमेवंरूपमिति यो विचारः स विमर्श इत्युच्यते। स चास्मितान्यतिरेकेण नोत्थानमेव लभते। तथाहि—आत्मन्युपजायमानो विमर्शोऽहमेवंभूत इत्यनेनाऽऽकारेण संवेद्यते, तत्र चाहंशब्दसंभिन्नस्यात्मलक्षणस्यार्थस्य तत्र स्फुरणान्न विकल्परूपतातिक्रमः, विकल्पश्चाध्यवसायात्मा बुद्धिधर्मो न चिद्धर्मः, कूटस्थनित्यत्वेन चितेः सदैकरूपत्वान्नाहंकारानुप्रवेशः, तदनेन सविमर्शत्वमात्मनः प्रतिपादयता बुद्धिरेवाऽऽत्मत्वेन भ्रान्त्या प्रतिपादिता न प्रकाशात्मनः परस्य पुरुषस्य स्वरूपमवगतमिति।

इत्थं सर्वेष्वपि दर्शनेष्वधिष्ठातृत्वं विहाय नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते, अधिष्ठातृत्वं च चिद्रूपत्वम्, तच्च जडाद्वैलक्षण्यमेव, चिद्रूपतया यदधितिष्ठति तदेव भोग्यतां नयति, यच्च चैतन्याधिष्ठितं तदेव सकलव्यापारयोग्यं भवति, एवं च सति कृतकार्यत्वात्प्रधानस्य व्यापारनिवृत्तौ यदात्मनः कैवल्यमस्माभिरुक्तं तद्विहाय दर्शनान्तराणामपि नान्या गतिः, तस्मादिदमेव युक्तमुक्तं वृत्तिसारूप्यपरिहारेण स्वरूपे प्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यम्। तदेवं सिद्धान्तरेभ्यो विलक्षणां सर्वसिद्धिमूलभूतां समाधिसिद्धिमभिधाय जात्यन्तरपरिणामलक्षणस्य च सिद्धिविशेषस्य प्रकृत्यापूरणमेव कारणमित्युपपाद्य धर्मादीनां प्रतिबन्धकनिवृत्तिमात्र एव सामर्थ्यमिति प्रदर्श्य निर्माणचित्तानामस्मितामात्रादुद्भव इत्युक्त्वा तेषां च योगिचित्तमेवाधिष्ठापकमिति प्रदर्श्य योगिचित्तस्य चित्तान्तरवैलक्षण्यमभिधाय तत्कर्मणामलौकिकत्वं चोपपाद्य विपाकानुगुणानां च वासनानामभिव्यक्तिसामर्थ्यं कार्यकारणयोरैक्यप्रतिपादनेन व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमुपपाद्य तासामानन्त्येऽपि हेतुफलादिद्वारेण हानमुपदर्श्यातीतादिष्वध्वसु धर्माणां सद्भावमुपपाद्य विज्ञानवादं निराकृत्य साकारवादं च प्रतिष्ठा-

---

प्यैवेति। तेषां पक्षः–उत्थाने प्रारम्भे एव पराहतः खण्डनतां गच्छति। तदेवाह–परिणामित्वे इति। विशिष्टाद्वैतद्वैतमतवादिप्रभृतीनां मतमाह–केचित् कर्तृरूपमेवेति। औपनिषदैकदेशिमतमाह–एतेन स्वप्रकाशस्येति। वैयाकरणमतमाह–केचिद्विमर्शात्मकत्वेनेति। केचित्–शब्दविमर्शबिन्दु-नादध्वन्यादिक्रमेण जगदुत्पत्तिमिच्छन्तः शब्दब्रह्मवादिनो विमर्शवत्त्वेनैवात्मनश्चिन्मयतावादिन इति।

प्राप्य पुरुषस्य शान्तत्वमुक्त्वा चित्तद्वारेण सर्वव्यवहारनिष्पत्तिमुपपाद्य पुरुषसत्त्वे प्रमाणमुपदर्श्य कैवल्यनिर्णयाय दशभिः सूत्रैः क्रमेणोपयोगिनोऽर्थानभिधाय शास्त्रान्तरेऽप्येतदेव कैवल्यमित्युपपाद्य कैवल्यस्वरूपं निर्णीतमिति व्याकृतः कैवल्यपादः—३३ ॥

तत्त्वं यस्य वशाः प्रतापवसतेः पादान्तसेवानतिप्रभ्रश्यन्मुकुटेषु मूर्धसु दधत्याशां धरित्रीभृतः, ।
यद्वक्त्राम्बुजमाप्य गर्वमसमं वाग्देवताऽपि श्रिता स श्रीभोजपतिः फणाधिपतिकृत्सूत्रेषु वृत्तिं व्यधात् ॥१॥

इति श्रीधारेश्वरभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधायां पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ
कैवल्यपादश्चतुर्थः ॥४॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

---

अथेदं बोध्यम्—कैवल्यं—दुःखत्रयात्यन्ताभावः, स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनदुःखध्वंसः, स्वम्—अस्मदादिदुःखध्वंसः । दुःखध्वंसविशिष्टान्यदुःखध्वंसः इति यावत्, वैशिष्ट्यं च स्वतादात्म्य—स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्वोभयसम्बन्धेन, स्वम्—अस्मदादिदुःखध्वंसः, निरुक्तोभयसम्बन्धेन तद्विशिष्टः स एव, तदन्यः आत्यन्तिकदुःखध्वंस इति । यद्वा—स्वरूपप्रतिष्ठत्वं मुक्तित्वम्, स्वविशिष्टत्वमिति यावत्, वैशिष्ट्यं च—स्वतादात्म्य—स्वेतरसत्प्रतियोगिकत्वतादात्म्योभयसम्बन्धेन, स्वं—चितिस्वरूपम् । यद्वा—परमात्मशरणावाप्तिर्मुक्तिः, यद्वा—परमात्मशरणे स्वस्य नित्यानन्दानुभवस्थितिः मुक्तिरिति बोध्यम् । अधिकम् आत्म—बन्ध-ख्याति-साकारत्वादिविचार—विस्तरस्तु योगसूत्राणामस्मद्विरचित'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य'स्वामिनारायण'-भाष्यादेवाऽवगन्तव्य इति ।

भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसङ्गते ।
रैवताद्रिसमाधारे कच्छसौराष्ट्रविश्रुते ॥ १ ॥
वीरविद्वद्गणाऽऽपूर्ण—'जीर्णदुर्ग'निवासिभिः ।
'श्रीकृष्णवल्लभाचार्यैः'स्वामिनारायणाऽऽश्रितैः ॥ २ ॥
विषमस्थलमालम्ब्य स्फुटार्थानां प्रकाशकम् ।
'किरणं' योगसूत्राणां भोजवृत्तेर्निरूपितम् ॥ ३ ॥
आषाढे वैक्रमे काश्यां वेदाङ्काऽऽङ्केन्दुसम्मिते ।
विरचय्यार्पितं यस्मै भगवान् स प्रसीदतु ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्दार्शनिकप्रधानम-षड्दर्शनाचार्य—नव्यन्यायाचार्य—सांख्य-योग—वेदान्त—मीमांसा
तीर्थ—पण्डित'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य'स्वामिनारायणविरचित—पातञ्जल-
योगशास्त्रीयभोजवृत्तेः 'किरणम्' समाप्तम् ।

## ॥ * ॥ अथ पातञ्जलयोगसूत्रपाठः ॥ * ॥

### ❀ तत्र प्रथमः समाधिपादः ❀

ॐ। अथ योगानुशासनम्-१ ॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः-२ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्-३॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र-४ ॥ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः-५॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः-६॥ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि-७ ॥ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्-८ ॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः-९ ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा-१० ॥ अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः-११ ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः-१२ ॥ तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः-१३ ॥ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः-१४ ॥ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्-१५ ॥ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्-१६ ॥ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः-१७॥ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः-१८ ॥ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्-१९ ॥ श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्-२० ॥ तीव्रसंवेगानामासन्नः-२१ ॥ मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः-२२ ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वा-२३ ॥ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः-२४ ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्-२५ ॥ स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्-२६ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः-२७ ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम्-२८ ॥ ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च-२९ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः-३० ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः-३१ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः-३२ ॥ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्-३३ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य-३४ ॥ विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी-३५ ॥ विशोका वा ज्योतिष्मती-३६ ॥ वीतरागविषयं वा चित्तम्-३७ ॥ स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा-३८ ॥ यथाभिमतध्यानाद्वा-३९ ॥ परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः-४० ॥ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः-४१ ॥ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः-४२ ॥ स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का-४३ ॥ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता-४४ ॥ सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्-४५ ॥ ता एव सबीजः समाधिः-४६ ॥ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः-४७॥ ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा-४८ ॥ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्-४९ ॥ तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी-५० ॥ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः-५१ ॥

## ॥*॥ अथ द्वितीयः साधनपादः ॥*॥

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः-१ ॥ समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च-२ ॥ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः-३ ॥ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्-४ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या-५ ॥ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता-६ ॥ सुखानुशयी रागः-७ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः-८ ॥ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः-९ ॥ ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः-१० ॥ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः-११ ॥ क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः-१२ ॥ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः-१३ ॥ ते ह्लादपरिता-

पफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्–१४ ॥ परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः–१५ ॥ हेयं दुःखमनागतम्–१६ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः–१७ ॥ प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्–१८ ॥ विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि–१९ ॥ द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः–२० ॥ तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा–२१ ॥ कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्–२२ ॥ स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः–२३॥ तस्य हेतुरविद्या–२४ ॥ तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्–२५॥ विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः–२६ ॥ तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा–२७ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः–२८ ॥ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि–२९ ॥ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः–३० ॥ एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्–३१ ॥ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः—३२ ॥ वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्–३३ ॥ वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्–३४॥ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः–३५ ॥ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्–३६ ॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्–३७ ॥ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः–३८ ॥ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः–३९॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः–४० ॥ सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च–४१ ॥ सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः–४२॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः–४३ ॥ स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः–४४॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ४५॥ स्थिरसुखमासनम् ४६॥ प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ४७॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः–४८॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः–४९॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः–५० ॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः–५१॥ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्–५२ ॥ धारणासु च योग्यता मनसः–५३ ॥ स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः–५४ ॥ ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्–५५ ॥

## ॥❀॥ अथ तृतीयो विभूतिपादः ॥❀॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा–१ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्–२ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः–३ ॥ त्रयमेकत्र संयमः–४ ॥ तज्जयात्प्रज्ञालोकः–५ ॥ तस्य भूमिषु विनियोगः–६ ॥ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः–७ ॥ तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य–८ ॥ व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः–९ ॥ तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्–१० ॥ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः–११ ॥ शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः–१२॥ एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः–१३॥ शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी–१४॥ क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः–१५॥ परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्–१६॥ शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्–१७ ॥ संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्–१८॥ प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्–१९॥ न तत्सालम्बनं तस्याऽविषयीभूतत्वात्–२० ॥ कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्–२१ ॥ सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा–२२ ॥ मैत्र्यादिषु बलानि–२३ ॥ बलेषु हस्तिबलादीनि–२४ ॥ प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्–२५ ॥ भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्–२६ ॥ चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्–२७ ॥ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्–२८ ॥ नाभिचक्रे कायव्यूह-

ज्ञानम्-२९ ॥ कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः-३० ॥ कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्-३१ ॥ मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्-३२ ॥ प्रातिभाद्वा सर्वम्-३३ ॥ हृदये चित्तसंवित्-३४ ॥ सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्-३५ ॥ ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते-३६ ॥ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः-३७ ॥ बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः-३८ ॥ उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च-३९ ॥ समानजयात्प्रज्वलनम्-४० ॥ श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्-४१ ॥ कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम्-४२ ॥ बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः-४३ ॥ स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः-४४ ॥ ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च-४५ ॥ रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्-४६ ॥ ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः-४७ ॥ ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च-४८ ॥ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च-४९ ॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्-५० ॥ स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्-५१ ॥ क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्-५२ ॥ जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः-५३ ॥ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्-५४॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति-५५॥

## ॥*॥ अथ चतुर्थः कैवल्यपादः ॥*॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः-१ ॥ जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्-२ ॥ निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्-३ ॥ निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्-४ ॥ प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्-५ ॥ तत्र ध्यानजमनाशयम्-६ ॥ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्-७ ॥ ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्-८ ॥ जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्-९ ॥ तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्-१० ॥ हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः-११ ॥ अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्-१२ ॥ ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः-१३ ॥ परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्-१४ ॥ वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः-१५ ॥ न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्-१६ ॥ तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्-१७ ॥ सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्-१८ ॥ न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्-१९ ॥ एकसमये चोभयानवधारणम्-२० ॥ चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च-२१ ॥ चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्-२२ ॥ द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्-२३ ॥ तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्-२४ ॥ विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः-२५ ॥ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्-२६ ॥ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः-२७ ॥ हानमेषां क्लेशवदुक्तम्-२८ ॥ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः-२९ ॥ ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः-३० ॥ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्-३१ ॥ ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्-३२ ॥ क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः-३३ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति-३४॥

**समाप्तोऽयं श्रीमत्पतञ्जलिप्रणीतो योगसूत्रपाठः ॥**

## ❋ पातञ्जलभोजवृत्तौ प्रश्नाः ❋

'अथ' शब्दस्य कोऽर्थः ? अत्र शास्त्रेऽनुबन्धचतुष्टयं कीदृशं दर्शितम् ॥ उत्तरम्- १ सूत्रम् । योगः कीदृशः ?, चित्तवृत्तयश्चित्तभूमयश्च प्रदर्शनीयाः ?, निरोधस्य कोऽर्थः ? कुत्र भूमौ योगस्य सम्भवः ? । उ० २ सू० ॥ योगकाले द्रष्टुः क स्थितिः ?, द्रष्टुः स्वरूपं कीदृशं स्वीकृतम् ? । उ० ३–सू०॥ योगशून्यकाले पुरुषस्य का स्थितिः ? उ० ४ सू० प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रत्यक्षानुमानागमलक्षणानि च सोदाहरणानि दर्शनीयानि उ० ७ सू० ॥ विपर्ययविकल्पस्वरूपे च प्रदर्शनीये ?, संशयस्य कुत्रान्तर्भावः ?, विपर्ययसंशययोः को भेदः ?, उ० ८,९, सू० ॥ निद्रावृत्तिर्विवेचनीया ? उ० १० सू० । स्मृतिं निरूप्य वृत्तिनिरोधकारणं दर्शनीयम् ? । अभ्यासवैराग्ये किं स्वरूपे ? ॥ उ० १३,१४,१५,१६, ॥ 'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञात–' इति सूत्रं स्पष्टं व्याख्यायताम् ? १७ ॥ असम्प्रज्ञातस्य स्वरूपं दर्शनीयम् ? १८ ॥ सम्प्रज्ञाते भिन्नोपायाः प्रदर्शनीयाः ? उ० १९,२० सू०। शीघ्रं समाधिलाभः कस्य भवति ? उ० २१,२२, सू० ॥ ईश्वरलक्षणं दर्शनीयं, तत्र 'विशेष'पदं कथमुपात्तम् ?, ईश्वराऽनेकत्वस्वीकारे किं दूषणम् ? 'तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात्' इत्यत्र कीदृशमैश्वर्यमभिप्रेतम् ? अनादित्वं कीदृशम् ?, ज्ञानैश्वर्ययोरितरेतराश्रयत्वमुपपाद्य परिहरणीयम् ?, ईश्वरस्य चित्तसत्त्वं स्वकीयं वा प्राकृतिकम् ? ॥ उ० २४ सू० ॥ ईश्वरस्य स्वप्रयोजनाभावात् कथं प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्यापादकत्वम् ? उ० २५ सू० ॥ प्रणवजपेन किं भवति ? उ० २९ सू० ॥ केऽन्तरायाः ? के च विक्षेपसहभुवः ? स्पष्टं व्याख्येयाः ? उ० ३०, ३१ सू० ॥ विक्षेपाणां निषेधार्थं क उपायः ? उ० ३२ सू० ॥ 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' ३३, 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य, ३४, 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी' ३५, 'विशोका वा ज्योतिष्मती' ३६, 'वीतरागविषयं वा चित्त'मि'ति ३७, सूत्राणि स्पष्टतया व्याख्येयानि' ॥ चित्तस्थैर्यस्य किं फलम् ? उ० ४० सू० ॥ उपायैः संस्कृतचित्तस्य कीदृग्रूपं भवति ? उ० ४१ सू० ॥ सवितर्कातो निर्वितर्कायाः को भेदः ? उ० ४२, ४३, सू० ॥ सविचारनिर्विचारयोः को भेदः ? उ० ४४ सू०॥ 'गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि विशिष्टलिङ्गमविशिष्टलिङ्गं लिङ्गमात्रमलिङ्गं चेति'ग्रन्थः स्पष्टं संज्ञाचतुष्टयबीजप्रदर्शनपूर्वकं व्याख्येयः ? उ० ४५ सू० ॥ 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' ४७, 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'४८, इति सूत्रे व्याख्येये ?॥ अन्यप्रज्ञात ऋतम्भरायाः को विशेषः ? उ० ४९ सू० ॥ असम्प्रज्ञातसमाधिः कदा जायते ? उ० ५१ सू० ॥ प्रथमपादोक्तविषयाः संक्षेपेण प्रदर्शनीयाः ?॥ ५१ सू० ॥

द्वितीयपादोत्थाने किं बीजम् ?, क्रियायोगः किमात्मकः ?, किमर्थश्च ? उ० १, २, सू० ॥ के पञ्च क्लेशाः ? अविद्यादीनां कथं क्लेशत्वम् ? उ० ३ सू०॥ 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामि'ति ४ सूत्रं व्याख्यायताम् ? ॥ अविद्याया लक्षणमुपपाद्यताम् ? ५ सू०॥ अस्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां लक्षणान्युपपाद्य क्लेशानां तद्वृत्तीनां च प्रहाणोपायाः प्रदर्शनीयाः ? ६,७,८,९,१०, ११सू०॥ कर्माशयस्य कोऽर्थः ? तन्मूलं च किम् ? तस्य किं फलम् ? सोदाहरणं सर्वं व्याख्येयम् ॥ उ० १२, १३, १४, सू०॥ 'परिणामतापसंस्कारदुःखैः सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' १५ इतिसूत्रं स्पष्टं व्याख्येयम् ? 'ऐकान्तिकीम् आत्यन्तिकीं च दुःखनिवृत्तिमि'तिग्रन्थः स्फुटं प्रतिपाद्यताम् ? १५ सू० भो०॥ हेयं किम् ?, तद्धेतुश्च कः ?, १७ सू० ॥ दृश्यस्य स्वरूपकारणप्रयोजनानि निरूपणीयानि ? १८ सू०॥ 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि' १९ इतिसूत्रं स्पष्टं व्याख्यायताम् ॥ द्रष्टा कीदृशः,

निर्धर्मकस्य कथं द्रष्टृत्वधर्मः ? उ० २० सू०॥ आत्मनो भोक्तृत्वं केन सूत्रेण प्रतिपादितम् ? २१ सू०॥ प्रकृतेः कृतार्थत्वे सति संसारोच्छेदापत्तिरित्याशंकायां किमुत्तरम् ? योगमते पुरुषाणामनेकत्वं केन सूत्रेण प्रतिपाद्यते ? उ० २२ सू० ॥ संयोगलक्षणं प्रदर्श्य हानं प्रतिपादनीयम् ? हानकैवल्ययोः को भेदः ? उ० २४, २५ सू०॥ हानोपायः कः ?, विवेकख्यातेः कीदृश आकारः ?, उ० २५ सू० ॥ विवेकज्ञानवतः सप्तधा प्रज्ञा किंस्वरूपा ? उ० २७, सू०॥ विवेकख्यातेर्हेतुर्दर्शनीयः ?, उ० २८ सू०॥ अष्टाङ्गेषु यमनियमौ प्रतिपाद्य तत्फलानि प्रतिपादनीयानि ? ३०,३२,३५,३६,३७,३८,३९,४०,४१ ४२,४३,४४,४५, सू०॥ अहिंसादीनां महाव्रतत्वमुपपाद्यताम् ? उ० ३१ सू० ॥ स्वरूप-भेद फल-प्रदर्शनपुरःसरं वितर्का हिंसादयः प्रतिपादनीयाः ? उ० ३४ सू०॥ आसनस्य स्थिरसुखत्वे क उपायः ? किंच फलम् ? उ० ४७ सू०॥ 'स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' इतिसूत्रं स्पष्टं व्याख्याय चतुर्थः प्राणायामो निरूपणीयः ? ५०,५१, सू०॥ प्राणायामस्य किं फलम् ? ५२,५३, सू० ॥ प्रत्याहारस्य किं लक्षणम् ? किं च फलम् ? उ० ५४,५५, सू० ॥ द्वितीयपादोक्तविषयाः संक्षेपेण प्रदर्शनीयाः ? ५१॥

द्वितीयतृतीयपादयोः कः सम्बन्धः ? धारणायाः किं स्वरूपम् ? उ० १ सू० ॥ ध्यानसमाध्योर्लक्षणे स्वरूपे च प्रदर्शनीये ? उ० २,३ सू० ॥ संयमः कस्य संज्ञा ?, संयमजयस्य किं फलम् ? उ० ४,५, सू० ॥ त्रयं कस्यान्तरङ्गं कस्य च बहिरङ्गं, कथं चान्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वे ? उ० ७, ८, सू० ॥ 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः' ९ इति सूत्रं स्पष्टं व्याख्याय निरोधपरिणामस्य फलं प्रदर्श्यताम् ? ९, १०, सू० ॥ समाधिपरिणामैकाग्रतापरिणामौ निरूपणीयौ ? ११,१२, सू० ॥ भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः स्पष्टं व्याख्येयाः ? १३ सू० ॥ धर्मिणः किं लक्षणम् ? शान्तत्वादिकं स्पष्टमुपपाद्यताम् ? १४ सू० ॥ परिणामभेदे को हेतुः ? क्रमः किं स्वरूपः ? 'केचिच्चानुमानगम्याः धर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयः' अत्र कीदृशान्यनुमानानि ? उ० १५ सू० ॥ परिणामत्रयसंयमस्य किं फलम् ? १६ सू० ॥ सर्वभूतरुतज्ञानं कुत्र संयमाद्भवति ? इतरेतराध्यासः कीदृशः ? १७ सू० ॥ पूर्वजातिज्ञानं कस्माद्भवति ? संस्काराः कतिविधाः ?, १८ सू० ॥ परचित्तं सालम्बनं कथं न ज्ञायते ? २० सू० ॥ अन्तर्धानसिद्धिः कथं भवति ? २१ सू० ॥ मरणज्ञानं कुत्र संयमाद्भवति ? अरिष्टानि कतिविधानि ? अरिष्टजन्ये मरणज्ञाने योगिनामन्येषां च को विशेषः ? ॥ २२ सू० ॥ प्रवृत्त्यालोकन्यासात् किं भवति ?, २५ सू० ॥ सूर्ये ध्रुवे नाभिचक्रे कण्ठकूपे कूर्मनाड्यां मूर्धज्योतिषि च संयमात् कीदृश्यः सिद्धयो जायन्ते ? उ० २६……३२ सू० ॥ सर्वज्ञत्वस्य क उपायः ? स्वपरचित्तज्ञानस्य क उपायः ? ३४ सू० ॥ 'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्' इत्यत्र भोगः तत्कारणं परार्थः स्वार्थश्चेति निरूपणीयाः ? पुरुषज्ञानं कीदृशम् ? पुरुषस्य ज्ञेयत्वापत्त्या दृश्यत्वापत्तिः कथं न ? ३५ सू० ॥ पुरुषसंयमाभ्यासस्य किं फलम् ? ३६ सू० ॥ संयमफलानां कुत्रोपसर्गत्वं कुत्र च सिद्धित्वम् ? ३७ सू० ॥ चित्तस्य परशरीरप्रवेशः कस्माद्भवति ?, बन्धः कीदृशः ?, ३८ सू० ॥ उदानजयस्य किं फलम् ?, इन्द्रियवृत्तीनां जीवनपदवाच्यत्वे प्राणादीनां कथं जीवनत्वम् ? ३९ . सू० ॥ श्रोत्रस्य दिव्यता, आकाशगतिश्च कुत्र संयमाद्भवतिः ? ४१, ४२, सू० ॥ महाविदेहा वृत्तिः किं स्वरूपा ? तत्फलं कीदृशम् ? ४३ सू० भूतजयः कस्माद् भवति ? भूतजयस्य च किं फलम् ४४,४५ सू० ॥ इन्द्रियजयः कुत्र संयमाद्भवति ? इन्द्रियजयस्य च किं फलमुक्तम् ? ४७,४८, सू० ॥ 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधि-

प्रातुर्यं सर्वज्ञातृत्वं चेति सूत्रं व्याख्येयम् ? ४९ सू० ॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' अत्र कीदृशं कैवल्यमुक्तम् ? ५० सू० ॥ विवेकजज्ञानं कथमुत्पद्यते ? ५२ सू० ॥ तारकज्ञानं कीदृशम् ? ५४ सू० ॥ 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमि'त्यत्र शुद्धिः कीदृशी कैवल्यं च कीदृशम् ? ५५ सू० ॥ तृतीयपादस्य विषयाः संक्षेपतो निरूपणीयाः ? ॥ ५५ सू० ॥

कीदृश्यो विप्रतिपत्तयस्तत्समुत्थाश्च भ्रान्तयो यन्निराकरणार्थं कैवल्यपादारम्भः ? सिद्धयः कतिप्रकारजाः ? च० १ सू० ॥ जात्यन्तरपरिणामो कथं केन जायते ? २ सू० ॥ धर्मादीनां जात्यन्तरपरिणामजनकत्वेनैव सामञ्जस्ये प्रकृत्यापूरः कथमपेक्ष्यते ? ३–सू० ॥ निर्माणचित्तानि कस्माद्भवन्ति ?, ४–सू० ॥ कथं बहूनां चित्तानामेकचित्तानुसारिणी प्रवृत्तिर्भवति ? ५–सू० ॥ ध्यानजं चित्तं कीदृशं भवति ?, ६ सू० ॥ चतुर्विधकर्माणि प्रदर्श्य योगिनस्तत्प्रतिपादनीयम् ७ सू० ॥ कर्मणः फलं प्रदर्श्यताम् ? कतिविधाः कर्मवासनाः ? स्पष्टं प्रतिपादनीयाः ? ८ सू० ॥ व्यवहितानां कालान्तरीणसंस्काराणामिदानीन्तनस्मृतिजनकत्वं कथमुपपद्यते ? ९ सू० ॥ प्रथमानुभवो वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इत्याशंकायां किमुत्तरम् ? १० सू० ॥ वासनानां लयः कया रीत्योपपादितः ? ११ सू० ॥ प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वात् तस्य 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्ते'रिति सिद्धान्तमनुसृत्य चित्तस्यैक्यं कथं प्रतिपादितं भवति ? १२ सू० 'ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः' १३ 'परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्' १४ इति सूत्रे व्याख्येये ? ॥ क्षणिकविज्ञानात्मकत्वेन सर्वस्यैक्यं निरस्य स्वमतेन ज्ञानार्थयोर्विविक्तत्वमुपपाद्यताम् ? १५ सू० ॥ ग्राह्यग्रहणयोः सहभूत्वे किं दूषणम् ? १६ सू० ॥ ज्ञानस्य प्रकाशकत्वे युगपत्सर्वग्रहणं कथं न भवति ? १७–सू० ॥ पुरुषस्याऽपरिणामित्वे का युक्तिः ? १८ सू० ॥ चित्तस्य स्वप्रकाशत्वं न वा ? १९ सू० ॥ 'ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः, दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम्, इति ग्रन्थो व्याख्येयः ? क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमित्यादिवृत्त्या बुद्धेरपि द्रष्टृत्वं कथं नाङ्गीक्रियते ? २० सू० ॥ बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरग्रहणे किं दूषणम् ? २१ सू० ॥ 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थमि'ति सूत्रं व्याख्यायताम् ? चिच्छक्तिः कतिविधा किंस्वरूपा च ?, 'अन्यत्रापि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते, एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसंक्रान्तिशब्दार्थः' इति ग्रन्थ उपपाद्यताम् ? व्यापकस्यातिनिर्मलस्य मलिनायां बुद्धौ कथं प्रतिबिम्बसंभवः ? प्रतिबिम्बं किं वस्तु ?, प्रकृतिर्यदि पुरुषार्थकर्त्री तदा मोक्षोपदेशकशास्त्रानर्थक्यम् मोक्षाविषयत्वश्च निष्फलः स्यादित्याशंकायां किं समाधानम् ? २३ सू० ॥ द्रष्टुः स्वीकारे किं प्रमाणम् ? २४ सू०॥ आत्मभावभावनानिवृत्तौ चित्तं कीदृशं भवति ? २५,२६ सू० ॥ 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' 'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्' २८, इतिसूत्रे व्याख्येये ? ॥ धर्ममेघः समाधिः कदा भवति ? २९ सू० ॥ धर्ममेघाच्च किं भवति ? ३० सू० ॥ क्लेशनिवृत्तौ योगिनः को लाभः ? ३१ सू० ॥ गुणानां विकारकरणशालित्वात् सर्वज्ञकल्पस्य योगिनोऽपि ते देहादिकमारभेरन्त एवेत्याशंकायां किमुत्तरम् ? ३२ सू०॥ क्रमस्वरूपमुपपाद्यताम् ? ३३ सू० ॥ 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ते'रितिसूत्रे प्रतिप्रसवः स्वरूपप्रतिष्ठा वेति कथने किं तात्पर्यम् ?, ॥ मोक्षदशायां पुरुषस्य चैतन्यं कथमुपपद्यते ?, आत्मनः पारमार्थिककर्तृत्वे का हानिः ? ॥ अस्मन्मतवद्वेदान्तमतेऽप्यन्तःकरणधर्मत्वात्कर्तृत्वादेस्तन्मततोऽत्र किं वैलक्षण्यं ? तन्मतेऽप्याविद्योपाधिकस्यात्मनः स्वीकारे योगशास्त्रदृष्ट्या काऽऽपत्तिः ? अविद्या च कथं खण्ड्यते ? अद्वैतियोगिनोरविद्यायां को विशेषः ?॥ योगशास्त्रदृष्ट्या न्यायमते पुरुषस्य स्वरूपमात्रप्रतिष्ठितत्वं मोक्षदशायां समीचीनं न वा ?, ॥ मीमांसकाङ्गीकृतं कर्मकर्तृत्वमात्मनोयोग

मतेन कथं तन्निरासः ?॥ पंचमकोशात्मा प्रतिपाद्य निरस्यताम् ? ॥ विशिष्टाद्वैतद्वैतादिमते कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपाद्य तदनुपपन्नत्वे का युक्तिरिति निरूप्यताम् ? ॥ 'एतेन स्वप्रकाशस्यात्मनो विषयसंविच्छिद्वारेण ग्राह्यकत्वमभिव्यज्यत इति ये वदन्ति तेऽप्यनेनैव निराकृताः' इति केषां मतं कया रीत्या निराकृतं तद्विविच्यताम् ? शून्यवादक्षणिकविज्ञानवादिनामात्मनश्छिन्नस्वरूपं प्रदर्श्य तन्निरस्यताम् ?॥ चतुर्थपादविषयाः संक्षेपेण प्रदर्शनीयाः ?॥ कैवल्यप्रतिपादकानि सूत्राणि समुल्लेखनीयानि ?॥ इतिशम् ॥

---

# अशुद्धशुद्धपत्रम् ।

| अशुद्धम्, | शुद्धम्, | पृष्ठम्, | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| क्षिप्तावस्थ | विक्षिप्तावस्थ | २ | १ |
| मत्वा देवं | देवं मत्वा | ५ | २७ |
| दत्वपरि | दत्त्वपरि | ८ | ४ |
| प्रमाणामर्थ | प्रमाणमर्थ | १४ | २९ |
| तद्देतद्द | तद्देतद्द | १६ | १६ |
| स्वरशरीर | स्वशरीर | १६ | २३ |
| संप्रज्ञान | संप्रज्ञात | १६ | ३१, ३२ |
| प्रसन्ना | प्रसन्न | २२ | १० |
| घनतय | घनतया | ,, | ११ |
| गीतायात्मनः | गीतायामात्मनः | २४ | १२ |
| स्त्रुतिश्रुति | श्रुति | २५ | १९ |
| स्यास्याऽ | अस्याऽस्याऽ | ३२ | ९ |
| प्रत्ययो | प्रत्ययो | ,, | २० |
| पिषया | विषया | ३५ | ३२ |
| दत्तात्म | दात्म | ३९ | १८ |
| परस्पर | परस्पर | ४२ | १३ |
| शिक्षाव | शिक्षावद्ध | ४४ | १६ |
| तद्रूपेण | तद्रूपेण | ५३ | ३२ |
| मुत्वा | भूत्वा | ६१ | २५ |
| स्त्रोतः | स्रोतः | ६२ | ७ |
| व्यापत्वा | व्याप्यवत्वा | ६३ | २३ |
| कुन्तबोधिका | कुन्तकबोधिका | ६६ | १४ |
| मानाधि | मात्रधि | ६९ | २१ |
| संज्ञायो | संज्ञावयो | ७३ | १४ |
| विपिर्यय | विपर्यय | ,, | २० |

| अशुद्धम्, | शुद्धम्, | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| मिधानस्थ | मिधानस्य | ७४ | २ |
| त्यात्रापि | त्यत्रापि | ७५ | २४ |
| ममेति | मेवेति | ७८ | २० |
| सम्बधितया स्सरणं | सम्बन्धितया स्मरणं | ७९ | १ |
| प्रज्ञायते | प्रज्ञायन्ते | ८५ | १८ |
| र्मानवे | त्मनिवे | ९४ | १९ |
| प्रतन्न | प्राप्य | ९६ | ४ |
| न्युन | न्यून | ,, | ८ |
| तदाडु | तदाहु | ९७ | २० |
| ताससौथः | तामसौथः | १०२ | २९ |
| सितप्रायो | स्तप्रायो | ११० | २२ |
| मद्य | मद्य | ११५ | १ |
| कृतिर्नामि | कृतिर्नाम | १२२ | ४ |
| घटस्प | घटस्य | १२५ | १७ |
| निपय | निधिय | १३१ | २७ |
| क्षणिकतय | क्षणिकतया | १३४ | २० |
| साक्तत्वं | साकारत्वं | १५७ | ९ |
| धर्ण | धर्म | ,, | २१ |
| देकत्वं | संयोगस्य द्वैधत्वं | २०८ | २२ |
| गृह्णन्ति | गृह्णन्ति | २२३ | ७ |
| स्थैर्य | स्थैर्यं | २३० | २४ |
| सासु | पुंसासु | २३२ | १४ |
| यथाऽतेय | यथाऽस्तेय | २३६ | १० |
| दक्षिमागो | दक्षिणमागो | २४९ | ६ |
| वेनमिति | वेष्टनमिति | २४९ | २२ |
| व्याहकारेण | कोहकारेण | २५४ | १९ |
| शुन्याकार | शून्याकारं | २६५ | २६ |
| र्हसं | हंसं | २६६ | ३० |
| सुर्व | सूर्यं | २७९ | १० |
| विसुन्धरा | वसुन्धरा | ,, | १५ |
| पश्चपदार्थं | पश्चात्तत्पदार्थं | २८२ | २७ |
| निरञ्जन | निरञ्जन | २८७ | २४ |
| विभुतयो | विभूतयो | २८९ | ९ |
| वर्णितु | वर्णमितु | ,, | १२ |
| मेमवस्यै | मेमवस्यै | २९३ | ३ |

| अशुद्धम्, | शुद्धम्, | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| मावदि | मावादि | ,, | १२ |
| ध्वङ्ग | ध्वसङ्ग | २९६ | २५ |
| शब्देनाकृष्टं | शब्देनाऽऽकृष्टं | २९७ | २४ |
| स्थलं | स्थूलं | २९९ | १४ |
| नयनाव | नयनाय | ३०३ | २२ |
| ऽएव | ऽत एव | ३०४ | ५ |
| तद्ववविधे | तद्देवंविधे | ३०५ | १४ |
| मनेकषाम् | मनेकेषाम् | ३०९ | २४ |
| प्रह्णेत | गृह्णेत | ३१८ | २६ |
| चेततन | चेतन | ३२० | २२ |
| स्त्वदिदं | स्विदिदं | ३२० | २३ |
| इत्यकारिका | इत्याकारिका | ,, | २४ |
| निवर्तत– | निवर्तते– | ,, | २६ |
| भिमुख्यं | भिमुखं | ,, | ३० |

## भोजवृत्तावशुद्धिशुद्धिपत्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम | प्रथमं | ३२७ | १६ |
| तद्वैराग्य | तद्वैराग्यं | ३३० | ९ |
| प्रतीबन्धी | प्रतिबन्धी | ३३७ | १९ |
| गन्धन्तमात्रादीनि | गन्धतन्मात्रादीनि | ३४१ | २१ |
| पादः | विभूतिपादः | ३४७ | २२ |
| सम्प्रज्ञातस्य | सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं | ३४८ | १५ |
| महं | महः | ३५२ | २४ |
| यस्मिन् | तस्मिन् | ३५२ | ३२ |
| पचसु | पञ्चसु | ३५५ | २३ |
| महद्दानीनि | महदादीनि | ३५७ | १९ |

# श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषत्

ॐ ध्यायिनो ह काश्यपीशस्य मानसिंहस्य प्रपौत्रः कुमारोऽर्जुनसिंहः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुसत्संगप्रख्यः श्रीस्वामिनारायणनिदेशोपास्तिजीवनो निर्गुणस्वामिभक्तो जयन्ते वै त्रिकूटोदयसितस्य वास्त्वासे परब्रह्मणः प्रतिमां धातवीं यां श्रीस्वामिनारायणाख्यां प्रतिष्ठापयामास ॥ १ ॥

तन्महे नैकजानपदेभ्यः समवेतानां महाश्रोत्रियाणां ब्रह्मिष्ठानां सद्गुरूणां ब्रह्मवर्चसां सतां गृहमेधिनां च समितिमेत्याऽर्जुनो ह कुमारः परिपप्रच्छ न्यायाचार्याय श्रीकृष्णवल्लभाचार्याय बहुविद्याय मे ॥ २ ॥

किंस्वरूपं परंब्रह्म ?, कतिरूपं ह वा ?, किं गुणशक्तिकम् ?, तल्लब्धेरुत कान्ययकानीति। यद्वाऽक्षरं ब्रह्म तद्वा किं कतिरूपम् ?, तद्वै कथमाप्यतेऽनेन पुरुषेण ?, कोऽसौ तदाप्ता पुरुषः, यद्गत्यागती भवतः ?, तदेतद्वै जिज्ञासमानाय ह श्रद्धालवे बहु ब्रूहीत्योमिति ॥ ३ ॥

तं ह वा स उवाच–परब्रह्म श्रीस्वामिनारायणः सर्वविद्याप्रतिष्ठां परब्रह्मविद्यां मूलाक्षरब्रह्मणे श्रीगुणातीतानन्दाय प्राह, स च सत्यसंकल्पाय श्रीबालमुकुन्दमहामुक्ताय प्रेष्ठाय ज्येष्ठशिष्याय तां परावरां प्राह ॥ ४ ॥

स च ककुभस्तोत्रः श्रीबालमुकुन्दमहामुक्तः श्रीनिर्गुणमुनये वचनसिद्धाय प्राह, परमकारुणिकः स बहुविद्याचार्याय श्रीकृष्णवल्लभाचार्याय मह्यं प्राह, तां सम्प्रदायाऽवगतां तात्त्विकीम् अपरोक्षां ह वै ते ब्रवीमीति ॥५॥

सत्यं ब्रवीमि तथ्यं ब्रवीमि सत्पुरुषेभ्यः प्रत्यक्षोपास्तिभ्यो ब्रह्मिष्ठेभ्यो दिव्यचक्षुर्भ्यः सुब्रह्मव्रतेभ्य एवेयमात्मविद्या ब्रह्मविद्या परब्रह्मविद्या प्राप्यते नाऽन्येभ्यो नाऽन्येभ्य इति ॥ ६ ॥

परब्रह्मणो बहुधोपास्यस्य सहजानन्दस्य सन्त एवाऽस्या जन्मभुवः, त एवाऽस्या गोत्रम्, सा वै नाऽन्यगन्त्री, तां ते सद्गोत्राय ब्रवीमीति ॥७॥

तां त्वं ब्रह्मपात्रो ह भूत्वा ब्रह्मवित्तिरुशन्वैः परंब्रह्म सन्धारय, इयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या सदन्यान् गच्छति, त्वत्त एव सर्वेषु लोकेषु गमिष्यतीति यया ह उ परंब्रह्म समवाप्यते परंब्रह्म समवाप्यते ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ।

ॐनमः परब्रह्मणे भ्राजद्भ्राजद्धर्मणे ।
ब्रह्मसवित्रेऽक्षरब्रह्मादिवास्याथ त्रिकणे ॥ १ ॥
दिव्ये ब्रह्मपुरे यो ह दिव्यमूर्तिः प्रतिष्ठितः ।
अमूर्तमूर्तेष्वन्तर्यामी मूर्तश्च परं हि तत् ॥ २ ॥
विप्रासो विदुरत्रपुरुषमद्भरूपमतिज्ञम् ।
कमनास्यं कम्याक्षं युगमहगं पुरुषोत्तमम् ॥ ३ ॥
पराणस्वरूणिम्नीभिर्भ्राजते परि य उच्यः ।
ह्रद्रुहदक्षभ्राकनं यमेते सन्तो विदुः ॥ ४ ॥
ब्रह्मगया विविदुरेतमीश्वरीन्दुभप्रभालम् ।
तिलसुमनोनासं नृरूपं विभान्तमापूर्णम् ॥ ५ ॥
हिरण्यकेशमकुण्ठहस्यं यत्तेऽन्तराऽभितः ।
किशोरप्रतिमं सच्चिदानन्दमयोगं प्रेयुः ॥ ६ ॥
ब्रह्मपात्राणि ह वै समुपासत श्रेयःक्षणेयम् ।
षोडशकलं पत्कजान्तराभं परस्य पूष्णः ॥ ७ ॥
कला भवन्तेऽष्टास्यूल्लेखास्वस्तिकादिका दक्षे ।
व्योमार्धेन्दुशफराद्या दक्षेतरेऽस्य चरणे ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ।

एको ह्येषः सर्वयन्ता सुरूपो रूपं रूपं रूप्यमाणोऽधिशेते ।
सहस्रधा चाऽप्यथ नाऽन्यथा सन् समानरूपो रूप्यतेऽक्षय्यलोके ॥ १ ॥
सर्वा जीवा ईश्वराश्चाऽथ मुक्ता गुणातीतं चाऽक्षरं ब्रह्म मूलम् ।
यस्याऽऽनन्दं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवन्ति ह्येषः सहजानन्दभूमिः परात्मा ॥२॥
सर्वा जीवा ईश्वराश्चाऽथ मुक्ता गुणातीतं चाऽक्षरं ब्रह्म मूलम् ।
यस्यैश्वर्यं लब्ध्वा ईशा भवन्ति ह्येषः सहजैश्वर्यभूमिः परात्मा ॥ ३ ॥

सर्वां जीवा ईश्वराश्चाथ मुक्ता गुणातीतं चाऽक्षरं ब्रह्म मूलम् ।
यस्य चित्तिं लब्ध्वा विदो भवन्ति ह्येषः सहजचित्तिभूमिः परात्मा ॥ ४ ॥
सर्वां जीवा ईश्वराश्चाऽथ मुक्ता गुणातीतं चाऽक्षरं ब्रह्म मूलम् ।
यस्य सत्तां लब्ध्वा सन्तो भवन्ति ह्येषः सहजसत्यभूमिः परात्मा ॥ ५ ॥
सर्वां जीवा ईश्वराश्चाथ मुक्ता गुणातीतं चाऽक्षरं ब्रह्म मूलम् ।
यस्य तृप्तिं लब्ध्वा तृप्ता भवन्ति ह्येषः सहजतृप्तिभूमिः परात्मा ॥ ६ ॥
अरं दासो न मीह्ळुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥ ७ ॥
वेशोभग्यस्य शान्तातेः कणे भूमा रमन्ता ईशनानि कत् तम् !
स्तवामनेनसं गृभं तरुपेम एनः प्रयुञ्ज्मः त्वत्कृपणीशीभिः ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

पराञ्चि तत्त्वानि परात्मरूपाण्यभिन्नतत्त्वान्यपि भक्तिचारात् ।
पृथक् च ध्येयानि हरन्ति तद्धा रसैकशक्तीन्यपृथग्भूतं हि तत् ॥ १ ॥
श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनस्तद् वाचो ह वाक् चक्षुषस्तद्धि चक्षुः ।
त्वचस्त्वगित्येव तदीयशक्त्यो मुक्तस्य खानाम् उत ब्रह्मणस्तत् ॥ २ ॥
ज्ञानस्वरूपोऽथ मनस्स्वरूपो ज्ञानस्य चित्तिर्मन एव तस्य ।
तदेव धीर्ह्रीश्च तदेव कामो मेधा तथेच्छा धिषणा कृतिश्च ॥ ३ ॥
पुमङ्गपूर्णोऽपि रतिर्न गुप्ता प्राकाम्यसेव्येऽपि न रूपतः स्त्री ।
मोहेऽपि तस्मिन्न हृतिः स्वचित्तैर्वियोगयोगेऽपि न तत्त्वव्याहतिः ॥ ४ ॥
अमातृजत्वान्नहि कोषषट्कं अनन्नकोषान्नहि चित्यचित्यतिः ।
प्राणः स्वशक्तिस्तदप्राणकस्य काशोऽपि निरावरणात्मभावः ॥ ५ ॥
अनन्नमासान्नहि मेहनादिकं ततो न गुर्वादि कुतो हि निद्रा ।
नित्यप्रसन्नस्य कुतोऽप्रसन्नता श्रेष्ठ्यैकभावान्न परेष्टधीनता ॥ ६ ॥
हिरण्यकेशाश्च हिरण्यवन्नखाः सुकुन्ददन्ता नहि योगभागिनः ।
चिदैकरूपा रमणीयस्वात्मकाः सदैकमानाः प्रविभान्ति तस्य ॥ ७ ॥
अगोऽपि गन्ता मनसो जवीयोऽविप्रांस एनं नाऽऽप्नुवन् प्रागुपास्तेः ।
विश्रेष्ठकोऽन्यानत्येति जवीयः सिद्धमचिति चिति चाऽपि ईशः ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

तदभ्याशे न भयं किञ्चनाऽस्ति न तत्राऽन्यत् किञ्चनाऽपूर्णमस्ति ।
उभौ तीर्त्वा जीवभावेशभावौ धृतात्मनो मोदते तत्सयुजः ॥ १ ॥
श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
नियाम्यक्षं तमीशयम् उ विदित्वा निचाय्य तां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ २ ॥
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो पुण्यपापे जहाति ॥ ३ ॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् लघोर्लघीयाँश्च गुरोर्गरीयान् ।
तमक्रियः पश्यति धूतपापो हरेः प्रसादात् प्रपूरितसत्त्वः ॥ ४ ॥
न स परात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्य परात्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ ५ ॥
अशुक्लमकृष्णमलोहितं तं नियामकं नित्यमनन्तपारम् ।
अनादि ब्रह्मपरं ध्रुवं हरिं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ ६ ॥
स ब्रह्मसत् मुक्तसदीशसद् वसुरन्यत्तसज्जीवसदेव कार्यसत् ।
तथापि न लिप्यते ह्यन्तरात्मा अलेप्यशक्तिः प्रतिरूपकोऽसौ ॥ ७ ॥
वश्यद्वितीयः सर्वभूतान्तरात्मा बीजं प्रधानं बहुरूपं व्याकरोति ।
तमान्तरं ये परिपश्यन्ति मुक्तास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि द्वितीयाऽध्याये प्रथमः पादः ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कल्पान् ।
तमान्तरस्थं ये परिपश्यन्ति मुक्तास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १ ॥
न भाति सविता तदग्रे न कौमुदीशो, न सौदामिन्यो भान्ति कुतोऽनलोऽयम् ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तदन्तः, तस्य भासा सर्वमिदं प्रविभाति तत् सत् २
अश्वत्थलोके भयादस्य सूर्यस्तपत्यग्निर्वहति वाऽप्यनिलः ।
ईशा अप्यण्डं परिकुर्वन्ति यद्भयाद् तं स्वामिनारायणं यान्ति तद्विदः ॥ ३ ॥
तमच्छायं शुभ्रं स्नेहमूर्तिं शीलभ्राजत नित्यविज्ञानधर्मम् ।
स्वेष्टं देवं वेदयते यस्तु विद्वान् स तत्प्रसादात् तद्वत् सार्वज्ञ्यमेति ॥ ४ ॥
तमद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तमपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तमव्ययं कार्ययोनिं परिपश्यन्ति मुक्ताः ॥ ५ ॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि भवन्ति तथा परात्मनः संभवतीह विश्वम् ॥ ६ ॥
परंब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् परंब्रह्म पश्चाद् दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं व्यापकं ब्रह्मद्वारा परब्रह्मव्याप्तमिदं विश्वं वरिष्ठम् ॥ ७ ॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहाऽन्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ १ ॥
सत्येन लभ्यस्तपसा स परात्मा माहात्म्यज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
स्वस्य स्वरूपे दिव्यरूपो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ २ ॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ४ ॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ५ ॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ६ ॥
तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, न स पुनरावर्तते कर्मप्रत्ययात् ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ७ ॥
यदन्वितो ह प्रतिबुद्ध आत्मा अस्मिन् शरीरे गुहायां प्रविष्टः ।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ।

विदन्ति सन्तोऽर्जुन ! विद्मो वयं तं, न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाऽपि यन्ति ॥ १ ॥
एष नित्यो महिमा परात्मनो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥ २ ॥

सच यस्य ह्यक्षरे ब्रह्मणि यत् सर्वं तस्य मुक्तवृन्देऽनुपक्रम् ।
तद्धै सर्वम् ईश्वरेषु प्रविष्टं तदेवाऽस्मिन् जीवभूतेऽथ चाऽन्ये ॥ ३ ॥
यदक्षरे तद् भवत्येव केवले, तथा हैव शबले निरञ्जनेऽपि ।
हिरण्मये महाविष्ण्वाख्येऽथ विष्णौ, रौद्रेऽथाऽपि वर्तमाने विराजे ॥ ४ ॥
अष्टस्वेवाऽऽवरणेषु वद्धि चतुर्दशस्वपि तदीय-तत्त्वम् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ५ ॥
तस्माद्धि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टात् स्थूलं हि चिदचिद्विशिष्टं प्रजायते ।
उपादानोपादेययोरभेदात् सर्वं तस्यं परब्रह्मैकमेव ॥ ६ ॥
परात्मनस्तस्य मूलाऽवतारिणः काचिच्छक्तिर्भूसंज्ञामुपैति ।
क्रमान्न्यूना सैव विभवाऽवतारा पूर्णाऽशमुख्याऽऽवेशगौणादिका च ॥७॥
तत्तद्योगात् तत्स्वरूपस्य व्याप्तिस्तस्मिन् लीनाऽलीनभावम् उपैति ।
परात्मन उपासनया परेशं परां मुक्तिमाप्नुवन्तीति तत्त्वम् ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि द्वितीयाऽध्याये चतुर्थः पादः ।

## अथ तृतीयोऽध्यायः

मुक्ताधारं परब्रह्मव्याप्यचेतनमक्षरम् ।
सर्वाधारं परब्रह्मशरीरं धाम उच्यते ॥ १ ॥
ह्येतदेवाऽक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाऽक्षरं परम् ।
यावद्वेदतपोब्रह्मचर्यचीर्णं पदं हि तत् ॥ २ ॥
अशरीरं शरीरं च मूर्तं चाऽमूर्तमुच्यते ।
शुद्धं नित्यं चाऽविकारि मायादीनां प्रकाशकम् ॥ ३ ॥
सच्चिदानन्दरूपं यद् ब्रह्म निर्गुणमक्षरम् ।
अनाद्यन्तं हरेर्धाम द्विधा सद् वर्तते हि तत् ॥ ४ ॥
यदर्चिमत् परब्रह्मतेजोभिन्नं सनातनम् ।
योऽस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् तदक्षरं रजसः परोके ॥ ५ ॥
हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥ ६ ॥
मूर्तं गुणातीतानन्दात्मकं दिव्यं हि साकृति ।
परब्रह्मनिभं रूपं सेवायां संस्थितं हि तत् ॥ ७ ॥

सच्चिदानन्दरूपं तत् सगुणं त्वाकृति प्रभु ।
गोलोमाकृतिप्रत्यङ्गान्यभिन्नात्मकशक्तयः ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ।

न वै भागो न वै त्यागो रसैक्यं हि परेशवत् ।
सार्वज्ञ्यं स्वेशसापेक्षं श्रेष्ठत्वं चापि तत्तथा ॥ १ ॥
द्वेधाऽप्येकं हि तत्त्वं तत् मूलमक्षरमद्वयम् ।
परब्रह्माऽतिरिक्तं तत्समं चाऽप्यधिकं न सत् ॥ २ ॥
स्थूलं निरञ्जनं ब्रह्म, सूक्ष्मं शबलमुच्यते ।
तृतीयं केवलं ब्रह्म, तुर्यं चाऽक्षरब्रह्म यत् ॥ ३ ॥
तद्धि साकाररूपेण सेवते श्रीहरिं सदा ।
निराकारं परं धाम यस्मान्नान्यत्परं भवेत् ॥ ४ ॥
मुक्ता ह्यनादिनो नित्या निवसन्ति निरन्तरम् ।
तत्रस्थः श्रीहरिः सेव्यः स काष्ठा स परागतिः ॥ ५ ॥
एतदेवाऽक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाऽक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाऽक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ ६ ॥
यः सेतुः सर्वधर्माणाम् अक्षरं ब्रह्म यस्य भूः ।
तमक्षरपरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ७ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं त्वधिगच्छति ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि तृतीयाऽध्याये द्वितीयः पादः ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ १ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
स मायापारमाप्नोति श्रीहरेः परमं पदम् ॥ २ ॥
जीवेभ्यस्तु परा ईशा ईशेभ्यः परमक्षरम् ।
अक्षरात्परमं देवं ज्ञात्वा तद्धाम प्राप्यते ॥ ३ ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ५ ॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ६ ॥
अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाखः एषोऽश्वत्थो महाँस्तरुः ।
तद्धामाक्षरं ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि तृतीयाऽध्याये तृतीयः पादः ।

यद्भयाद्वह्निस्तपति सूर्यस्तपति यद्भयात् ।
ईशा ईशत्वमापन्ना यद्बलाद् ब्रह्म तद्धा इति ॥ १ ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ २ ॥
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठम् ।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया ॥ ३ ॥
द्वे विद्ये वै वेदितव्ये अपराऽथ पराऽपि च ।
अपरा साऽङ्गवेदा ह परयाऽक्षरमाप्यते ॥ ४ ॥
यः सर्वज्ञः स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥ ५ ॥
ये वै परात्मनः प्रेष्ठां वाचं सद्धचाहरन्ति ते ।
तेषां हि पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोक उदीर्यते ॥ ६ ॥
ब्रह्मविद् आप्नोति परं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।
यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् परात्परः ॥ ७ ॥
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।
योऽन्नं प्राणं मनो विज्ञानमानन्दं तमीक्षते ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि तृतीयाऽध्याये चतुर्थः पादः ।

## अथ चतुर्थोऽध्यायः

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ १ ॥
विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ॥ २ ॥
विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति ।
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते ॥ ३ ॥
असन्ने स भवति असद्ब्रह्मेति चेद्वेद ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥ ४ ॥
सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय, स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ॥ ५ ॥
तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत् ।
निरुक्तं चाऽनिरुक्तं च निलयनं चाऽनिलयनं च ॥ ६ ॥
विज्ञानं चाऽविज्ञानं च सत्यं चाऽनृतं च ।
सत्यम् अभवद् यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते ॥ ७ ॥
यस्य परात्मनो योगाद् अक्षरेऽप्युपचर्यते ।
तं ज्ञात्वेदं परं ब्रह्म परमां मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि चतुर्थाऽध्याये प्रथमः पादः ।

असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद् अजायत ।
तदात्मानं स्वयम् अकुरुत तस्मात् सुकृतमुच्यते ॥ १ ॥
रसो वै सः रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वा आनन्दीभवति ।
एष ह्येवाऽऽनन्दयाति सोऽभयं गतो भवति ॥ २ ॥
यत्र वाचः प्रवर्तन्ते दिव्येन मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ ३ ॥
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रत्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥ ४ ॥
परात्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकान् असृजत ॥ ५ ॥

स ईक्षत इमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति ।
सोऽक्षरात् पुरुषद्वारा नैकाण्डान्युत्पादयत् ॥ ६ ॥
यत्किञ्चिदिदं स्थावरं जङ्गमं प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।
प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ७ ॥
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म तदेव कम् ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ।

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषम् अभिसंभवन्ति अर्चिषोऽहः अह्नः आपूर्यमाणपक्षम् आपूर्यमाणपक्षात् यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् । मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यम् आदित्याचन्द्रमसम् , चन्द्रमसो विद्युतं विद्युतो वरुणलोकं वरुणलोकादिन्द्रलोकम इन्द्रलोकात्प्रजापतिलोकं प्रजापतिलोकाद् विराजलोकं विराजलोकाद् रुद्रलोकं रुद्रलोकाद् विष्णुलोकं विष्णुलोकात् महाविष्णुलोकम् , तस्मान्निरञ्जनब्रह्मलोकं तस्मात् शबलब्रह्मलोकं तस्मात् केवलब्रह्मलोकं तस्मात् अक्षरब्रह्मलोकं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् परब्रह्म गमयति एष देवयानः पन्थाः ॥ १ ॥

अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूमम् अभिसंभवन्ति धूमाद् रात्रिं रात्रेरपरपक्षम् अपरपक्षात् याम षड् दक्षिणैति मासाँस्तान् एते सम्वत्सरम् अभिप्राप्नुवन्ति, सम्वत्सरात् पितृलोकं पितृलोकाद् आकाशम् आकाशाच्चन्द्रमसं ततो वा पुण्यबलात् प्रजापतिलोकं तत्र तत्र यावत्पुण्यमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, अथैनं चन्द्रमसं तस्मादाकाशम् आकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधयस्तिलमाषा जायन्ते तान् योऽत्ति अत्त्वा रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥२॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् सद्योनिं ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा । अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्य-

सकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्यते तस्मात् जुगुप्सेत ॥ ३ ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयं, तद्धैके आहुः—असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयं, तस्मादसतः सज्जायते, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तद् अक्षरं ब्रह्म अदृश्यत, तद्पुरुषं, स प्रकृतिं महत्तत्त्वं प्रत्युन्मुखीं करोतीति, तत ईशलोका जीवलोकाश्चेदं सर्वम् अजायत, तदनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोदिति, तस्मात् सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, यत् सत्प्रतिष्ठं तस्य त्वमसीति ॥ ४ ॥

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः, स एषः सत्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते एतदमृतम् अभयम् एतद्ब्रह्म, तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितं अक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः, ते सर्वे पाप्मानो यतो निवर्तन्ते अपहतपाप्मा ह्येषो ब्रह्मलोकः ॥ ५ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणाऽनुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः, ततोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते, स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणो यद्यदेवेच्छति तद्भवति तथा रमते ब्रह्मलोके न पुनरावर्तते न पुनरावर्तते ॥ ६ ॥

नैवेह किञ्चनाऽग्र आसीत मृत्युनैवेदमावृतमासीत्, अशनाया हि मृत्युरिति, सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति, आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नाऽन्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहं नामाऽभवत । स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् तदा सर्वमिदमकरोत्, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते असौ नामाऽयम् इदं रूपमिति, तथा जायते ॥ ७ ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तत् आत्मानमेव अवेत्—अहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्, तर्हि य एवं वेद—अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति, इदं सर्वं यदयमात्मा, अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽह-

मस्मीति न स वेद, सोऽयमात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । तस्यैव निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गीरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीति । स एव सर्वेषाम् एकायनम् ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः ।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यस्य वा सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येदिति, सोऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वमिति, सोऽयमात्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाऽराः सर्वे समर्पिता एवमेवाऽस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एते आत्मानः समर्पिताः ॥१॥

अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः, यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः, तदन्विता जीवलोका ईश्वरलोके ओताश्च प्रोताश्च, ईश्वरलोका ब्रह्मलोकेष्वोताश्च प्रोताश्चेति ते पुरुषोत्तमेन ओताश्च प्रोताश्चेति, यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, तद्वै यस्याऽऽपः शरीरं तेजः शरीरम् अन्तरीक्षः शरीरं वायुः शरीरम आदित्यः शरीरं सर्वाणि भूतानि शरीरं स आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २ ॥

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद, नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति, सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति । ये ते यावन्तो जीवेशमुक्तानामानन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दः परम आनन्दः, एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति ॥ ३ ॥

यो ह्यवाप्तकामः परब्रह्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति, यदा हृदि श्रिताः कामाः प्रमुच्यन्ते अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्रैव ब्रह्म समश्नुते, मनसैवाऽनुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, इदं सर्वं यदयमात्मा ॥ ४ ॥

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन मृण्मयं सर्वं विज्ञातं स्याद् वाचाऽऽरम्भणं

विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, तथा येन अश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवति अविज्ञातं विज्ञातं भवति सोऽक्षरात्परतः परः ॥ ५ ॥

प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्माऽस्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, स यश्चाऽयं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, स एवमेव पुरुषो ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, एकमेवाऽद्वितीयम् ॥ ६ ॥

एवं यो ब्रह्म वेत्ति स आत्मानं ब्रह्म वेत्ति, व्यापके बृहत्यचिद्गुणस्याऽलेपो यथा, तद्वदात्मानम् अलेपं विजानाति, साकारे ब्रह्मणि परात्मनः सेवकत्वं यथा, तद्वदात्मानं सेवकं विजानाति, विभाव्य चैवं परब्रह्माधिगच्छति ॥ ७ ॥

सोऽयं ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, सह ब्रह्मणा सर्वान् कामान् समश्नुते, परे ब्रह्मणि सर्वान् सदर्थान् सुविन्दते, सर्वार्थसमृद्धो भवति, परब्रह्मसमृद्धो भवति, नाऽनवाप्तं किञ्चिच्छिष्यते नाऽनवाप्तं किञ्चित् शिष्यते, सैषा परब्रह्ममीमांसा निरूपिताऽर्जुन ! ॥ ८ ॥

इति श्रीगुणातीतब्रह्मोपनिषदि चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ।

❀ समाप्तेयमुपनिषत् ❀

c.8

## हमारे प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| १. | अष्टाविंशत्युपनिषद् २८ उप० मूल ( गुटका ) | १५.०० |
| २. | ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् १११ उप० मूल | ५०.०० |
| ३. | सांख्यकारिका ( तत्वकौमुदी एवं किरणावलि टीकाओं सहित ) | १५०.०० |
| ४. | भुवनेश लौकिक न्यायसाहस्री ( पं० ठाकुरदत्त शर्मा द्वारा संग्रहित ) | ८०.०० |
| ५. | वेदस्तुति ( श्रीधरी एवं श्रीधरप्रकाश व्याख्या सहित ) | २०.०० |
| ६. | दीक्षाप्रकाशिका ( निर्णय सागर संस्करण ) | १५.०० |
| ७. | यज्ञ कर्म पद्धति | २५.०० |
| ८. | तर्कसंग्रह ( दीपिका, किरणावलि न्यायबोधनी एवं पदकृत्य टीका एवं टिप्पणियों सहित ) | ३५.०० |
| ९. | श्रीशिवपुराण भाषा टीका सहित पत्राकार | १००.०० |
| | ” ” ” सजिल्द | १२५.०० |
| १०. | न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ( श्रीनृसिंहदेव शास्त्री ) | २००.०० |
| ११. | प्रातः नित्य कर्मविधिः | १०.०० |
| १२. | वैशेषिकदर्शनम् उपस्कार, विवृति एवं वैशेषिक भाष्य सहित | ३००.०० |

[ शीघ्र छप रहा है ]

विवरणप्रमेयसंग्रह—स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती की "उज्वला" नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या।

---

प्राप्ति स्थान—व्यास प्रकाशन
डी० १६/१२ मानमन्दिर, वाराणसी